उपोद्धात

चिकित्सा-पद्धति की उत्पत्ति तथा प्राचीनता—संसार में जब से मानव-सृष्टि हुई है तभी से मनुष्य का शरीर व्याधियों का ग्रास रहा है। इसी से कवियों ने 'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' वाक्य की रचना कर डाली है। नाना भाँति के रोग सदा ही से मनुष्य को पीड़ित करते आये हैं। ज्वर, क्षय, कास, सन्निपात, कुष्ठ, अस्थिभग्न, विद्रधि, उदर-शूल आदि रोगों का वर्णन अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इसी प्रकार रोगों के मरक भी सदा से फैलते रहे हैं।

इस कारण रोगों के निवारण करने तथा उनकी चिकित्सा करने की आयोजना भी रोगों ही के समान प्राचीन है। सृष्टि के प्रारंभ में संसार के समस्त देशों में वहाँ के आदिम निवासियों ने रोगों की चिकित्सा के उपकरण तथा विधि को तैयार कर लिया था, यद्यपि यह आयोजना उतनी ही परिमित और रूढ़ थी जितना कि उस समय मनुष्य का ज्ञान था। अत्यन्त प्राचीन काल में और इस समय में भी उन जातियों तथा देशों में, जहाँ विद्या के प्रकाश ने प्रवेश नहीं किया है, रोगों को दैविक माना जाता है। रोगों की उत्पत्ति के कारण भूत, प्रेत इत्यादि समझे जाते हैं। यह धारणा, कि रोग पापों के दण्ड-स्वरूप दैव-कृत विधान हैं, बहुत फैली हुई है। पश्चिमी अफ्रीका के बहुत से गाँवों के मार्ग में रोगों की मूर्तियाँ रखी हुई हैं, जिनकी वहाँ के निवासी पूजा करते हैं। यह माना जाता है कि यह मूर्त्तियाँ ग्राम की रोगों से रक्षा करती हैं। लङ्का, चीन, जावा, सुमात्रा इत्यादि संसार के अनेक भागों में अभी तक इस प्रकार के विश्वास प्रचलित हैं। इस कारण जब कोई व्यक्ति रोग-ग्रस्त हो जाता है तो उसकी चिकित्सा भी इसी प्रकार की जाती है। देवता की पूजा, चढ़ावा, पशुवध इत्यादि से उस मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट प्रेतात्मा को निकालने का उद्योग किया जाता है। 'सर्प को जगाना' हमारे देश के ग्रामों में भी साधारण बात है।

आयुर्वेद का इतिहास—यद्यपि संसार के भिन्न-भिन्न देशों में नाना प्रकार की चिकित्सा-पद्धति प्रचलित हैं, किन्तु सभ्य पद्धतियों में आयुर्वेद सबसे प्राचीन है। यह वेदों का एक उपाङ्ग माना जाता है—

"अथर्ववेदस्य आयुर्वेद उपवेदः।"—चरणव्यूह।

"इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपांगमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्याय-सहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः।"—सुश्रुत-संहिता।

आयुर्वेद का मूल वेद है। वेदों ही की यह एक शाखा है। इसका जन्म ब्रह्मा से हुआ है। ब्रह्मा ने आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष को प्रदान किया। दक्ष से यह ज्ञान अश्विनी-कुमारों को मिला, जिन्होंने इन्द्र को इस विद्या में दीक्षित किया। इन्द्र ने ऋषि भरद्वाज को इस उपवेद की शिक्षा दी। भरद्वाज से आत्रेय मुनि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया, जिन्होंने ईसा के छः शताब्दी पूर्व तक्षशिला के समीप अपने छः शिष्यों को इस विद्या में

यश्च कर्मसु निष्णातो धाष्ट्यच्छास्त्रबहिष्कृतः।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः॥
उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि।
अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ॥" —सुश्रुत।

अर्थात् शास्त्राध्ययन कर लेने पर भी यदि वैद्य को ओषधि और रोगों का पूर्ण ज्ञान नहीं है तो वह सज्जनों के द्वारा आदरणीय नहीं है और राजा के द्वारा वध्य है। उस समय वैद्यों को अपने कर्त्तव्य का उच्च कोटि का ज्ञान था।

"भिषगप्यातुरान् सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान्।
आबाधेभ्यो हि संरक्षेदिच्छन् धर्ममनुत्तमम्॥"— चरक।

अर्थात् वैद्य को अपने रोगी की पुत्रवत् रक्षा करनी चाहिए।

शस्त्र-चिकित्सा का उत्कर्ष—शल्य-तन्त्र तथा शालाक्य-तन्त्र आयुर्वेद के मुख्य अङ्ग हैं। अतएव शस्त्र-चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद ही के समान प्राचीन है।

जो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं उनमें सुश्रुत-संहिता ही शस्त्र-चिकित्सा का मुख्य ग्रन्थ है। यह लगभग दो सहस्र वर्ष से अधिक प्राचीन है। किन्तु इस संहिता में बहुत से ऐसे ग्रन्थों का नाम आता है, जिनका आज तक पता नहीं लगता। औपधेनव, औरभ्र, वृद्ध, सुश्रुत-तन्त्र, पौष्कलावतन्त्र, वैतरणतन्त्र, भोजतन्त्र इत्यादि शस्त्र-चिकित्सा के मुख्य ग्रंथ थे।

"औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत्॥" —सुश्रुत।

तथापि दैव-दुर्विपाक से आज इनमें से एक भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, जिससे संसार के ज्ञान की अक्षम्य क्षति हुई है। इसके कारण भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास से स्पष्ट हैं। जो जातियाँ पुस्तकों को नष्ट करके संसार की ज्ञानहानि करती हैं वे असभ्य कही जाती हैं। आधुनिक समय में दुर्धर्ष संग्राम होने पर भी एक सभ्य जाति दूसरी जाति की पुस्तकों तथा ऐसी ही आदरणीय वस्तुओं के संग्रह की रक्षा करने का पूर्ण प्रयत्न करती है।

शस्त्र-चिकित्सा के उपर्युक्त ग्रन्थों के न मिलने पर भी अन्य ग्रन्थों से यह पता लगता है कि प्राचीन काल में इस चिकित्सा-पद्धति का पूर्ण उत्कर्ष हुआ था। आर्य-संस्कृति के अति प्राचीन काल में शल्य-तन्त्र के पण्डितों को कुछ उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। (तैत्तिरीय-संहिता ६-४-९-१, ऐतरेय ब्राह्मण १-१८)। उनको न तो वैसा सम्मान प्राप्त था जैसा सामान्य चिकित्सकों का होता था, और न उन्हें यज्ञ ही में भाग मिलता था। अश्विनीकुमारों के दृष्टान्त से इस मत का समर्थन होता है। प्रारम्भ में उनको यज्ञ में भाग नहीं मिलता था। किन्तु जब से उन्होंने यज्ञ का शिरसन्धान किया तब से उन्हें भाग मिलने लगा। इसकी कथा सुश्रुत में इस प्रकार वर्णित है:—

"एतद्धि अंगं प्रथमम्, प्रागभिघातव्रणसंरोहात् यज्ञशिरःसन्धानाच्च श्रूयते हि, यथा रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति। ततो देवा अश्विनावभिगम्योचुः—'भगवन्तौ! नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः, भवद्भ्यां यज्ञस्य शिरः सन्धातव्यमिति।' तावूचतुरेवमस्तु। अथ तयोरर्थे देवा इन्द्रं यज्ञभागेन प्रासादयन्। ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संहितमिति।" —सुश्रुत।

उक्त विवरण से यह मालूम होता है कि कुछ समय के पश्चात् शल्य-तन्त्र को भी समाज में ऊँचा आसन दिया गया और उस विद्या के पण्डितों का भी वैसा ही सम्मान होने लगा। जनता ने शल्य-तन्त्र के महत्त्व को पूर्णतया समझ लिया था। उस प्राचीन काल में प्रायः युद्ध हुआ करते थे। आर्यों को अपने देश का विस्तार करने के लिए तथा अन्य कारणों से बहुधा युद्ध करने पड़ते थे। जब वह लोग लड़ाई पर जाते थे तो उनकी सेना के साथ सदा शल्य-चिकित्सा में निपुण वैद्य रहते थे। प्राचीन ग्रन्थों—महाभारत, रामायण, पुराण इत्यादि—में इसका वर्णन पाया जाता है।

"उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः।
सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलैः साधु शिक्षिताः।"—महाभारत, भीष्मपर्व।

"स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्।
भवेत् सन्निहितो नित्यं सर्वोपकरणान्वितः॥"—सुश्रुत।

इस प्रकार संग्राम में आहत हुए व्यक्तियों की तुरन्त चिकित्सा करने के लिए सब साधन उपस्थित रहते थे। उस समय आर्य्य लोग कृत्रिम अंगों को प्रयोग करने और बनाने की विधि भी जानते थे*।

"चरित्रम् हि वेरिवाच्छेदि पर्णम्।
आजा खेलस्य परितक्म्यायायाम्॥
सद्यो जंघ्यामायसीं विशपलायै।
धने हिते सर्त्तवे प्रत्यधत्तम्॥"—ऋग्वेद ऋचा १५ मंडल १ सूत्र ११६।

इस सूक्त से प्रत्यक्ष है कि अश्विनीकुमारों ने खेल राजा की सम्बन्धिनी स्त्री विशपला के कृत्रिम अंग लगाया था।

महाभारत के युद्ध में जिस समय भीष्म आहत हुए थे उस समय शल्यतन्त्र के पण्डितों द्वारा उनकी चिकित्सा का आयोजन किया गया था, जैसा महाभारत के उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है।

इसी प्रकार अन्य प्राचीन ग्रन्थों में शल्य-कर्मों की आयोजना का वर्णन मिलता है।

चरक-संहिता विशेषकर रोग-विज्ञान तथा निदान-सम्बन्धी ग्रन्थ है। शल्य-तन्त्र-सम्बन्धी विषयों का उसमें बहुत कम विवेचन किया गया है। तो भी चरक ने आवश्यकता के समय शस्त्र-चिकित्सा का आदेश किया है, यद्यपि उसने इस कर्म के लिए शस्त्र-चिकित्सा-निपुण पण्डितों के पास जाने के लिए कहा है।

(१) "दाहे धान्वंतरीयाणामत्रापि भिषजां बलम्।
क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम्॥"—चरक।

(२) "प्रमेहिणां या पिडका मयोक्तास्ताः शल्यविद्भिः कुशलैश्चिकित्स्याः।"
× × × "इदं तु शल्यहन्तॄणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणाम्।"—चरक।

(३) पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः—चरक।

---

* देखो—चरक-संहिता १–११६–१५–१६।

इससे प्रतीत होता है कि चरक के समय में शल्यविद् व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से अपना व्यवसाय करते थे।

इस समय सुश्रुत-संहिता ही शल्य-तन्त्र का मुख्य ग्रन्थ प्राप्य है। इसमें शल्य-चिकित्सा का साङ्गोपाङ्ग विचार किया गया है। सुश्रुत के आदेशानुसार शल्य-तन्त्र में विशेषता प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को प्रथम शव-विच्छेद द्वारा शरीर की रचना का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। आयुर्वेद के प्राचीन काल में, जब यह विद्या जीवित-विज्ञान थी, इस आदेश का पूर्ण अनुकरण किया जाता था। चिकित्सा के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए शवच्छेद करना आवश्यक था।

"तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता।
शोधयित्वा मृतं सम्यग् द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः॥
तस्मात् समस्त गात्रं……देहं……लक्षेच्चक्षुषा।"

—सुश्रुत, शारीरस्थान।"

विद्यार्थी को शवच्छेद द्वारा शरीर के अंगों का पूर्ण ज्ञान हो चुकने पर फल, मृत शरीर, पुस्तमय पुरुष (Dummy) हरिण अथवा जन्तुओं के शरीरों पर शस्त्र-कर्म का अभ्यास कराया जाता था। जब इस प्रकार शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर गुरु शिष्य को सिद्धहस्त समझ लेता था तो उसको शस्त्रचिकित्सा करने की अनुज्ञा देता था।

सुश्रुत में शल्य-चिकित्सा के लिए चौबीस तीव्र धारवाले छेदन के और १०१ साधारण शस्त्रों का वर्णन मिलता है इनमें से बहुत से शस्त्र आधुनिक शस्त्रों ही के समान हैं। नाद-यन्त्रों (Tubular instruments) का आकार ठीक वैसा ही है। नासिका, मुख, मूत्र मार्ग, गुदा, अर्श, योनि इत्यादि की परीक्षा के लिए यन्त्रों (Specula) का वर्णन है। उनका आकार आधुनिक शस्त्रों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। बिना धारवाले शस्त्र छः श्रेणियों में विभाजित हैं जो स्वस्तिक[१], संदंश[२], ताल[३], नादि[४], शलाका[५], और उपयन्त्र[६] के नाम से अभिहित किये गये हैं। इन शस्त्रों के भी अनेक उपभेद बताये गये हैं। स्वस्तिक चौबीस, संदंश दो, ताल दो, शलाका अट्टाईस और उपयन्त्र पचीस प्रकार के लिखे हैं।

"तानि षट् प्रकाराणि। तद्यथा स्वस्तिकयन्त्राणि, संदंशयन्त्राणि, तालयन्त्राणि, नाड़ीयन्त्राणि, शलाकायन्त्राणि, उपयन्त्राणि चेति। तत्र चतुर्विंशतिः स्वस्तिकयन्त्राणि, द्वे संदंशयन्त्रे, द्वे एव तालयन्त्रे, विंशतिर्नाड्यः, अष्टाविंशतिः शलाकाः, पञ्चविंशति-रुपयन्त्राणि।" —सुश्रुत।

काटनेवाले शस्त्र बीस प्रकार के बताए गये हैं जिनके नाम ये हैं—मण्डलाग्र, करपत्र, वृद्धिपत्र, नखशस्त्र, मुद्रिका, उत्पलपत्र, अर्धधारा, सूची, कुशापत्र, अतिमुख, शारीरमुख अन्तर्मुख, त्रिकुर्चक, कुठारिका, व्रीहिमुख (Trocar), अरा, वेतसपत्रक, वाडिश, दन्तशंकु, ऐषिणी। वास्तव में शस्त्र शब्द केवल तीव्र धारवाले उपकरणों के लिए प्रयुक्त किया गया है। यह शस्त्र उत्तम लोह तथा अन्य धातुओं के बनाए जाते थे। सुश्रुत ने सुवण तथा

---

१. Cruciform. २. Forceps. ३. Picklock-like. ४. Tubular. ५. Rod-like. ६. Accessory.

रजत के शस्त्र बनाने की भी अनुमति दी है, किन्तु उनके लिए उत्तम प्रकार के लोह ही को उपयुक्त बताया है। उत्तम शस्त्रों के गुण और निकृष्ट शस्त्रों के अवगुण बताये गये हैं।

"समाहितानि यन्त्राणि खरश्लक्ष्णसुखानि च।
सुदढानि सुरूपाणि सुग्रहाणि च कारयेत् ॥
यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम्।
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्म्मसु योजयेत् ॥"—सुश्रुत।

उस समय आर्य्य लोग अत्युत्तम लोह बनाने की विधि भी जानते थे। 'फ़ौलादे हिन्द' और 'जवाबी हिन्द' फ़ारस में विख्यात थे। लोह और फ़ौलाद पर नागार्जुन ने ग्रन्थ लिखा है। चक्रपाणि की टीका करते हुए शिवदास ने पतंजलि को लोह के सम्बन्ध में अत्यन्त विशेषज्ञ बताया है।

इस प्रकार से अत्युत्तम लोह के बने हुए उपयुक्त शस्त्रों से अनेक प्रकार के शल्यकर्म किये जाते थे, जिनका संक्षिप्त वर्णन सुश्रुत तथा अन्य ग्रन्थों में मिलता है। उनमें से प्रधान ये थे—विद्रधिभेदन[१], अस्थिभङ्ग[२], तथा सन्धिविश्लेष[३] का लक्षणों द्वारा निश्चय करके आंछन, पीड़न और ऋजूकरण द्वारा चिकित्सा, जलोदर, मूत्रज-वृद्धि[४] का जल निकालना, अर्श[५], भगन्दर[६], अश्मरी[७] की शस्त्र-क्रिया, मूढ़गर्भ में उत्कर्षण, अपकर्षण, ऋजूकरण इत्यादि क्रियाओं द्वारा स्वाभाविक मार्ग से प्रसूति कराना, मूढ़गर्भ में उदर का छेदन करके गर्भ को निकालना (Cæsarean Section), मोतियाबिन्द की शस्त्र-क्रिया (Couching of lens), गर्भ के मृत होने पर छेदन, भेदन इत्यादि द्वारा गर्भ को निकालना और शिरावेध। नासिका तथा कर्ण के कट जाने पर शरीर के किसी स्थान से चर्मारोपण द्वारा कटे हुए अङ्गों को फिर से बनाने के कर्म कुशलतापूर्वक किये जाते थे। वास्तव में नासा-सन्धान की रीति सुश्रुत में ऐसी उत्तमता से दी गई है कि पाश्चात्य विज्ञान में उसका अनुकरण किया गया है और इस विधि का Indian Method के नाम से उल्लेख किया गया है। महाशय वेबर अपने ग्रन्थ में लिखते हैं—"In Surgery, too, the Indians seem to have attained a special proficiency and in this department European Surgeons might perhaps, even at the present day, still learn some-thing from them, as indeed, they have already borrowed from them the operation of Rhinoplasty."

इसी प्रकार श्लीपद से वंक्षण-त्वचा के विकृत हो जाने पर मुष्क-ग्रंथि के वहाँ पर प्रयोग करने की विधि सुश्रुत ने दी है। पाश्चात्य चिकित्सा में भी इसी का उपयोग होता है।

"पादौ निरस्तमुष्कस्य जलेन प्रोक्ष्य चाक्षिणी
प्रवेश्यौ तुन्नसेवन्यां मुष्कौ सीव्येत्ततः परम्।"—सुश्रुत।

---

१. Incising an abscess. २. Fracture of bones. ३. Dislocation of joints. ४. Hydrocele. ५. Piles. ६. Fistula-in-ano. ७. Stone in bladder.

प्राचीन ग्रन्थों में कपाल के शस्त्र कर्मों का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि सुश्रुत में इसका कहीं वर्णन नहीं है, किन्तु वह मोहावग्ग नामक बौद्ध ग्रन्थ और वल्लभ-कृत भोजप्रबन्ध में पाया जाता है।

"ततस्तावपरिजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरः कपालमादाय तत्करोटिकापुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने निक्षिप्य सन्धानं कृत्वा कपालं यथावदारचय्य सञ्जीवन्या च तं जीवयित्वा तस्मै तद्दर्शयताम्।"

—भोजप्रबन्ध।

आधुनिक काल में शल्य-विज्ञान की विशेष उन्नति संज्ञाहारी वस्तुओं के उपयोग से हुई है। क्लोरोफ़ार्म के आविष्कर्त्ता ने समस्त मानव-जाति को और शल्य-वैज्ञानिकों को विशेषकर ऐसी अलभ्य वस्तु प्रदान की है कि उसके द्वारा कठिन से कठिन शल्य-कर्म सहज में हो जाते हैं जिनसे शरीर की पीड़ा और दुःख का अन्त होता है; और वैज्ञानिक लोग विकृतियों का अध्ययन कर लेते हैं। किन्तु प्राचीन काल में इस प्रकार की संज्ञाहारी वस्तुओं का ज्ञान नहीं था। यदि था भी तो शास्त्रों में इस प्रकार की किसी वस्तु का वर्णन नहीं मिलता। भोजप्रबन्ध में शस्त्र-कर्मों में मोहनीचूर्ण के प्रयुक्त होने का उल्लेख है। किन्तु यह चूर्ण किस प्रकार से बनता था, उसमें कौन-कौन सी वस्तुएँ पड़ती थीं तथा वह कितनी मात्रा में और किस प्रकार प्रयुक्त होता था, इसका कुछ वर्णन नहीं है। उस समय शस्त्र-कर्म से पूर्व रोगी को धतूरे और मद्य का प्रयोग करवाते थे। इससे रोगी कुछ मूर्च्छित हो जाता था। अत एव शस्त्र-कर्म करने की उस समय आजकल की सी सुविधा न थी। इस कारण शल्य-कोविदों के अनुसन्धान करने के मार्ग में बहुत से अवरोध थे, जो इस समय में नहीं हैं। उस समय सूक्ष्मदर्शक यन्त्र भी उपलब्ध नहीं था। इन सब त्रुटियों के देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि समयानुसार आर्य-जाति ने शल्य-तन्त्र में असीम उन्नति की थी। वह व्रण सीने के लिए आँत (Gut) का प्रयोग करते थे।

"अजमेषादीनां शुष्कान्त्रं ताँत इति ख्यातं शस्त्रछेदनानन्तरं सूक्ष्मशिरादिबन्धनादिषु युज्यते।"—वाग्भट्टार्थ कौमुदी।

यह कहना कठिन है कि उस समय रोगों के जीवाणुओं का वैसा ही ज्ञान था जैसा कि आज है। उस समय सूक्ष्मदर्शक अथवा उसके समान किसी यन्त्र की सम्भावना नहीं मालूम होती। कहीं ऐसे यन्त्र का वर्णन या लेख नहीं पाया जाता। इस कारण उन लोगों को जीवाणुओं का ज्ञान होना असम्भव सा प्रतीत होता है। हाँ, उनको कृमियों का ज्ञान अवश्य था और वह यह भी जानते थे कि कृमियों द्वारा व्रणों में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण वह व्रणों का विषहारी वस्तुओं से प्रक्षालन करते थे और व्रणों, रोगी की शय्या तथा रोगी के रहने के स्थान को धूपन द्वारा शुद्ध करने का प्रयत्न करते थे।

"सुरसादिर्हितस्तत्र धावने पूरणे तथा।
सप्तपर्णकरञ्जार्कनिंबं राजादनस्य च॥
हिता गोमूत्रपिष्टाश्च सेकः क्षारोदकेन च।
व्रणे निम्बवचाद्यं च धूपनं संप्रयुज्यते॥
सक्षौमार्णसर्पिभिर्धूपनाङ्गैश्च धूपयेत्॥

सर्षपारिष्टपत्राभ्यां सर्पिषा लवणेन च।
द्विरह्नः कारयेत् धूपं दशरात्रमतन्द्रितः॥"—सुश्रुत।

शल्य-तन्त्र की अवनति—इतनी उन्नति होने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि सुश्रुत के पश्चात् ही शल्य-तन्त्र की अवनति प्रारम्भ हो गई। सुश्रुत के पश्चात् जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाली कोई विशेषता नहीं है। किसी नये शस्त्र-कर्म का वर्णन नहीं मिलता। न किसी नवीन विधि ही का विधान है। केवल सुश्रुत के उपदेशों को लेखकों ने अपने ही शब्दों में लिखने का प्रयत्न किया है। किन्तु इस विषय के पण्डित न होने से उनके लेखों में बहुत सी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। न केवल यही किन्तु स्वयं सुश्रुत-संहिता ही में भिन्न-भिन्न टीकाकारों और संस्करण-कर्त्ताओं द्वारा इसी प्रकार के लेख समाविष्ट हो गये हैं। सुश्रुत के शारीरस्थान में ऐसी भूलें बहुत हुई हैं। संस्करणकर्त्ताओं ने स्वयं शवच्छेद नहीं किया। इस कारण उनको शरीर-रचना का उचित ज्ञान न हो सका। केवल पुस्तकों के पाठ ही पर उनका ज्ञान परिमित था। इस कारण मूल में भी अनेकों भ्रान्तियाँ आ गईं।

(१) शल्य-तन्त्र की इस अवनति के कई कारण हैं जिनमें शवच्छेद क्रिया को छोड़ देना मुख्य है। मनु के समय ही से हिन्दू शवच्छेद से घृणा करने लगे। शवच्छेद के बिना शरीर-शास्त्र में पारङ्गत होना, जो शस्त्र-चिकित्सक के लिए अनिवार्य है, असम्भव है। सुश्रुत-काल में शवच्छेद किये बिना किसी को शल्य-तन्त्र का व्यवसाय करने की अनुमति नहीं मिलती थी। किन्तु मनु ने अपनी स्मृति में शवच्छेद तथा शल्य-कोविदों के विरुद्ध ऐसे नियम बना दिये, जिनसे यह विद्या गर्हणीय समझी जाने लगी। मनु का यह विधान, कि 'चिकित्सकों का छुआ भोजन अग्राह्य है', शल्य-कोविदों के सम्बन्ध में है।

"चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः॥"—मनु० ३।१५२।
"चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः।
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दिशम्॥"—मनु० ४।११२।
"पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम्॥—मनु० ४।२२०।

मनु के इस आदेश का समाज पर जो प्रभाव पड़ा वह समझा जा सकता है। चिकित्सकों का स्थान समाज में गिर गया। उच्च कोटि के व्यक्तियों ने इस विद्या का पठन-पाठन तथा अभ्यास त्याग दिया। वह अन्य व्यवसायों को ग्रहण करने लगे। इस विद्या से घृणा उत्पन्न होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि केवल निम्न तथा मध्य श्रेणी के व्यक्ति इस व्यवसाय के लिए रह गये। आज भी नाई इत्यादि फोड़ों को चीरने का काम करते हैं। ज़र्राह इसी श्रेणी के व्यक्ति होते हैं। इस कारण विद्या की उन्नति रुक गई।

(२) मन्दिरों के पुजारियों और साधुओं इत्यादि ने भी इस विद्या की अवनति में सहयोग दिया। इन लोगों ने मन्त्र, झाड़-फूँक तथा अन्य प्रकार के उपचारों द्वारा चिकित्सा करनी आरम्भ कर दी। प्रत्येक मन्दिर में व्यक्तिगण चिकित्सा के लिए जाने

लगे, जहाँ मन्त्र, देवता के चढ़ावे, भस्म, चरणामृत इत्यादि से उनकी चिकित्सा की जाती थी। साधु लोग अब भी अपनी धूनी की भस्म से चिकित्सा करते हैं। रोगग्रस्त अवस्थाओं में अभी तक मन्दिर और देवता की शरण ली जाती है। मिस्र और ग्रीस में भी यह प्रथा बहुत प्रचलित थी।

(३) रोगी को शस्त्र-कर्म से सदा भय लगता है। शस्त्र-कोविद का वेधसपत्र उसके लिए अत्यन्त भयानक वस्तु है। विशेषकर प्राचीन समय में, जब किसी संज्ञाहारी वस्तु का प्रयोग किया जाता था, शस्त्र-कर्म से भय-भीत होना अत्यन्त स्वाभाविक था। तिस पर उपनाह इत्यादि से विद्रधि से मुक्त हो जाने के कारण लोग शस्त्र-कर्म के लिए नितान्त आवश्यकता ही के समय, जब कोई दूसरा उपाय न रह जाता था, सहमत होते थे। वैद्यक-ग्रन्थों से पता लगता है कि स्वयं शल्य-कोविद भी शस्त्रों के प्रयोग की अपेक्षा उपनाह, औषधि तथा दाह-कर्म इत्यादि को उत्तम समझते थे। इस कारण साधारण जनता को यह विश्वास हो गया था कि शस्त्र-कर्म अनावश्यक है।

"दिव्यौषधिं बिना देवि शस्त्रविद्या सुनिष्फला।
वैरूप्यं कुरुते या च दुश्चिकित्स्ये व्यधान्तरे॥
जायन्ते हि यथार्शांसि पातितानि पुनः पुनः।
किं तत्र शस्त्रसाध्यं स्यात् सुसंचभेंषजैर्विना॥
धातूनां व्यापदि यच्च भेषजं नैव सिद्ध्यति।
ह्यामये दुस्तरे तस्मिन् शस्त्रमेव विधीयते॥
पुनः संशमनं तत्र धातूनां हि प्रशान्तये।
प्रदातव्यं महादेवि शस्त्रादर्वाक् ब्रवीमि ते॥"

— महानिल तन्त्र।

(४) शस्त्र-चिकित्सा की अवनति में बौद्ध धर्म का भी कम हाथ नहीं है। दो सहस्र वर्ष से अधिक हुए, जब भारतवर्ष में यह धर्म फैला था। सारा देश, राजे, महाराजे, सब इसके अनुयायी हो गये थे। आज भी संसार में बौद्धधर्म्मानुयायी अन्य धर्म्मों के अनुयायियों की अपेक्षा अधिक हैं। यह धर्म अहिंसाभूयिष्ठ था। किसी भी प्राणी को तनिक सा भी कष्ट देना इनके धर्म के विरुद्ध था। इस कारण शस्त्र-कर्म का भी निषेध था। मानवी और दैवी चिकित्सा ने यद्यपि उन्नति की, किन्तु शस्त्र-चिकित्सा की अवनति हो गई। शवविच्छेदन तथा पशु-वध राजाज्ञा से बन्द कर दिये गये, जिससे शल्यचिकित्सा में निपुणता प्राप्त करने का अवसर जाता रहा। बौद्ध के पूर्वकाल में गुरु और शिष्य मिलकर शवच्छेदन करते थे और पशुओं पर शस्त्र-क्रिया का अभ्यास करते थे। किन्तु बौद्धकाल में यह सब बन्द हो गया। स्वयं बुद्ध भगवान् ने, यद्यपि विद्रधि को वेधस-पत्र से चीरने की अनुमति दे दी थी किन्तु, गुदा के समीप शस्त्रकर्मों का निषेध कर दिया था। बौद्धग्रन्थ मोहावग्ग में एक कथा है। किसी समय राजगृह नगर में वेलुवन स्थान में बुद्ध भगवान् ठहरे हुए थे। एक दिन प्रातःकाल भ्रमण करते हुए वह भिक्षुओं के निवास-स्थान पर पहुँचे। वहाँ एक भिक्षु भगन्दर से पीड़ित था और आकाशगोत्त नामक शल्य-कोविद शस्त्र-क्रिया द्वारा उसकी चिकित्सा कर रहा था। बुद्ध भगवान् ने अपने शिविर में लौटकर भिक्षुओं को बुलाकर रोग-ग्रस्त भिक्षु के सम्बन्ध में पूछा। जब उनको

मालूम हुआ कि चिकित्सा शस्त्र-क्रिया द्वारा हो रही है तो उन्होंने भिक्षुओं की भर्त्सना करते हुए आज्ञा दी कि "तुम अपने शरीर के उस स्थान पर कभी शस्त्र-कर्म न करवाओ। जो ऐसा करने की अनुमति देता है वह अपराधी है ।" "मलद्वार के दो इंच के भीतर शस्त्र-कर्म करना वर्जित है ।" इस कारण इन शस्त्र-कर्मों का इतना त्याग कर दिया गया था कि जब शङ्कराचार्य्य को भगन्दर हुआ तो चिकित्सक शस्त्र-कर्म न करके केवल साधारण चिकित्सा करते रहे, यद्यपि उनकी चिकित्सा करनेवाले देश के उच्चतम वैद्य थे।

(५) हमारे देश में प्राचीन वस्तुओं का, जिनको ऋषि-प्रणीत कहा जाता है, इतना आदर है कि उनमें कोई त्रुटि निकालना पाप समझा जाता है । वैद्यक ग्रन्थों की भी यही दशा है। इस समय केवल दो ही प्राचीन ग्रन्थ हैं—चरक और सुश्रुत। इनमें भी समय-समय पर संस्करण-कर्त्ताओं द्वारा नवीन श्लोक और अध्याय मिला दिये गये हैं। बहुत से प्राचीन श्लोकों का पाठ बदल दिया गया है। सुश्रुत का उत्तर-तन्त्र इसका उदाहरण है। किन्तु तो भी इन ग्रन्थों में खोज करके त्रुटि का निकालना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता है। चरक और सुश्रुत के परवर्ती लेखकों के प्रति, जिन्होंने केवल इन ग्रन्थों को उद्धृत किया है और जहाँ उद्धृति के अतिरिक्त अपना कौशल दिखाने की चेष्टा की है वहाँ भयङ्कर भूलें की हैं, इसी प्रकार की अन्धश्रद्धा है। इससे न केवल शल्य-तन्त्र ही की, किन्तु समस्त चिकित्सा-विज्ञान की असीम अवनति हुई है।

(६) अन्य विषयों और विद्याओं की भाँति आयुर्वेद के ह्रास का सबसे बड़ा कारण हुआ है भारतवर्ष की परतन्त्रता। प्रथम देश पर जङ्गली जातियों के आक्रमण होते रहे, जिन्होंने पुस्तकालयों को जलाकर ज्ञान-राशि का नाश कर डाला। जब देश पर मुसलमानों का आधिपत्य हुआ तो आयुर्वेद का स्थान हिकमत ने लिया । राजा की ओर से हिकमत को प्रोत्साहन मिला और उसको सार्वजनिक चिकित्सा-पद्धति बनाया गया । आयुर्वेद अन्धकार में चला गया। जब देश अँगरेजों के चंगुल में आया तो हिकमत और आयुर्वेद दोनों का भाग्य एक समान हुआ। पश्चिमी चिकित्सा राजकीय-पद्धति होने के कारण सारे देश में फैल गई। मुसलमान और अँगरेज़ों के विदेशी होने के कारण उन्होंने आयुर्वेद की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। दूसरी ओर वैद्य और कविराजों ने, अन्ध-परम्परा के विश्वास और संकुचित दृष्टि के कारण, पश्चात्य विद्या से उसकी प्रमाणित और उत्तम ओषधियों और विधियों को न सीखा। परिणाम यह हुआ कि आयुर्वेद में किसी नवीन वस्तु अथवा ज्ञान का समावेश होने के स्थान में उसका बराबर ह्रास होता गया और हो रहा है। यद्यपि आयुर्वेद के आचार्यों का सदा से यह मत रहा है कि जहाँ भी जो उत्तम वस्तु मिले उसको ग्रहण किया जाय और परीक्षा से जो ओषधि दोषयुक्त प्रमाणित हो उसको त्याग दिया जाय, तो भी आधुनिक वैद्य-संसार इस आदेश से पूर्णतया वञ्चित है। तीन सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए हैं जब भाव मिश्र द्वारा रचित भावप्रकाश में अनेक नवीन ओषधियों का समावेश किया गया, जैसा कि आयुर्वेद में उपदिष्ट है । किन्तु इस समय का वैद्यसमाज इसके लिए प्रस्तुत नहीं दीख पड़ता।

आधुनिक वैद्य-समाज का कर्त्तव्य—यद्यपि आयुर्वेद पर सहस्रों वर्ष से आपत्तियाँ आ रही हैं और वह द्वेषियों के कुठाराघातों की सामग्री बना हुआ है, किन्तु तो भी अभी

तक वह नष्ट नहीं हुआ है। उन सब आपत्तियों का सामना करके अभी तक वर्तमान है। ऐसी-ऐसी आपत्तियों और उन कारणों के, जिनको गत पृष्ठों में बताया जा चुका है, रहते हुए भी अपनी स्थिति को बनाये रखना सचमुच ही आश्चर्य-जनक है। यह सब इस विद्या के प्रणेता ऋषियों की तपस्या का फल है जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम, अनुसन्धान तथा अन्वेषण करने के पश्चात् आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों का निर्देश किया है। किन्तु क्या आयुर्वेद प्रेमियों को आयुर्वेद की साम्प्रतिक दशा से सन्तुष्ट होना चाहिए? क्या आयुर्वेद इस दशा में है कि उसको एक जीवित विज्ञान कहा जा सके? और वह पाश्चात्य विद्याओं के साथ टक्कर ले सके? जीवित-विज्ञान वह है जो रात-दिन उन्नति करता जाय, जिसमें निरन्तर नवीन अन्वेषण होते रहें और जिसके ज्ञान का भण्डार नित्य-प्रति बढ़ता रहे। जितनी पश्चिमी विद्याएँ हैं उन सबकी ऐसी ही प्रगति है। रात-दिन नवीन अन्वेषणों द्वारा प्रत्येक विद्या की वृद्धि हो रही है। उनमें रोग-चिकित्सा-विज्ञान (शल्य-विज्ञान सहित) की तो इतनी तीव्र गति से वृद्धि हुई है कि यहाँ उसका वर्णन करना असम्भव है। गत पचीस या तीस वर्षों में चिकित्सा-विज्ञान का रूप पूर्णतया परिवर्त्तित हो गया है। यही जीवन का लक्षण है। जिस विज्ञान के भण्डार में वृद्धि नहीं होती, नवीन अन्वेषण और अनुसन्धान नहीं होते, वह जीवित-विज्ञान नहीं कहा जा सकता।

सम्प्रति वैद्य-समाज का कर्त्तव्य है कि आयुर्वेद के पुनरुत्थान का पूर्ण प्रयत्न करे। पुनरुत्थान का अर्थ यह नहीं है कि ग्रन्थों के प्रत्येक श्लोक का निरूपण करके उनकी सत्यता ही प्रदर्शित की जावे। उनका वास्तविक अर्थ चाहे सत्य हो या असत्य, किन्तु उसको सत्य ही माना और बताया जाय। इससे लाभ की अपेक्षा हानि होगी। आवश्यकता इस बात की है कि पक्षपात से रहित होकर प्रत्येक वाक्य का अनुसन्धान किया जाय। उससे जो सत्य निकले उसको माना जाय और जो असत्य प्रमाणित हो उसको छोड़ दिया जाय। पाश्चात्य पण्डितों का यही सिद्धान्त है। उन्होंने हमारी देशी ओषधियों में से कितनी को, परीक्षा करने के पश्चात्, अपने ओषधि-विज्ञान में शामिल कर लिया है। इसी प्रकार हमको भी पाश्चात्य विज्ञान से शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता है। जो शास्त्रों में नहीं लिखा है उसको असत्य समझना और उससे द्वेष रखना भूल है। द्वेष अज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है।

आयुर्वेद का अर्थ—'जीवन का ज्ञान'। आयुर्वेद शब्द से किसी विशेष ग्रन्थ का बोध नहीं होता, किन्तु उससे विज्ञान की उस महती शाखा का ज्ञान होता है जिसका सम्बन्ध जीवन-मरण से है। जो कोई विद्या रोगग्रस्त व्यक्ति को रोग से मुक्त करनेवाली, आतुरों का कष्ट निवारण करनेवाली और मानवी जीवन को बढ़ानेवाली है, वही आयुर्वेद है। वह चाहे पश्चिम से आवे चाहे पूर्व से, आयुर्वेद ही की शाखा है। चरक और सुश्रुत में आयुर्वेद को परिमित कर देना भूल है। यह केवल आयुर्वेद की विशेष शाखाओं से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थ हैं, आयुर्वेद नहीं हैं। आयुर्वेद का उत्थान करने के लिए संसार के प्रत्येक भाग में जो उपयोगी ज्ञान मिलेगा वह लेना होगा और पक्षपात-रहित होकर उसका आत्मीकरण करना पड़ेगा। ज्ञान—कहीं से मिले, वह पवित्र, आदरणीय और ग्राह्य है।

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"—गीता।
"म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यग् ज्ञानमिदं स्थितम्।
ऋषिभिस्तेपि पूज्यन्ते।"—वराहमिहिर।

आयुर्वेद की अवनति के कारण, जो ऊपर बताये जा चुके हैं, बहुत कुछ दूर हो चुके हैं। केवल एक या दो के अतिरिक्त अन्य सब हट गये हैं। शवच्छेद में कोई बाधा नहीं है और न चिकित्सा तथा शल्यकोविद उपेक्षा की दृष्टि ही से देखे जाते हैं। उनका तो आदर होता है। राजाज्ञा भी आयुर्वेद के विरुद्ध नहीं है यद्यपि उसे पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं दिया जाता है। किन्तु प्रत्येक बात के लिए सरकार के ऊपर निर्भर करना अपने चारित्र्य-बल की दुर्बलता है और अशक्ति को बढ़ानेवाला है। योरप तथा अमरीका में अस्पताल तथा कालेज सरकार की ओर से नहीं खुले हुए हैं। उनका आधार जनता का दान है। उसी दान से वहाँ इतने बड़े और ऐसे उपयोगी चिकित्सालय बनाये गये हैं जैसे अभी तक हमारे देश में गवर्नमेंट की सहायता होते हुए भी नहीं हैं। प्रत्येक चिकित्सालय के साथ अन्वेषण करने के लिए प्रयोगशालाएँ हैं जहाँ रोग-सम्बन्धी परीक्षाएँ करके नई-नई खोज की जाती हैं। इसी प्रकार के चिकित्सालय हमारे देश में भी होने चाहिएँ जो खोज और अन्वेषण के प्रधान केन्द्र हों।

अवनति का एक सबसे बड़ा कारण, जो अभी तक शेष है, प्राचीन कृति में परम भक्ति और अन्ध दृढ़ विश्वास है। जब तक यह धारणा रहेगी कि जो कुछ प्राचीन है वह सत्य है, अत्युत्तम है, उससे उत्तम या परे कुछ हो ही नहीं सकता, उस समय तक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध रहेगा। मनुष्य की बुद्धि अपरिमित है। उसकी कोई सीमा नहीं। जो बात कल नहीं मालूम हुई वह आगे चलकर मालूम हो सकती है। विज्ञान की खोजों का आधार ही यह है। विज्ञान और बुद्धि दोनों ही निस्सीम हैं। इस कारण सदा नई-नई खोजों का पता लगता रहेगा। इन वैज्ञानिक खोजों ही के कारण गत पचास वर्ष में संसार का स्वरूप बदल गया है।

अतएव पक्षपात-रहित होकर धैर्य और परिश्रम के साथ नीर-क्षीर-विवेक-बुद्धि से जहाँ से जो तथ्य मिले वह लेकर सम्प्रति आयुर्वेद में उसका समावेश करने से आयुर्वेद की उन्नति होगी। सौभाग्य से इस प्रकार के लक्षण उदय होने लगे हैं।

पाश्चात्य शल्य-विज्ञान अति गहन और विस्तृत है। इसकी अनेकों शाखाएँ हैं। प्रत्येक शाखा पर अनेकों ग्रन्थ हैं। इस पुस्तक में केवल उन आवश्यक कर्मों का वर्णन किया गया है जो अति साधारण होने के कारण, चिकित्सक को नित्य प्रति करने पड़ते हैं; जैसे व्रण, रक्त-स्राव, क्षत इत्यादि की चिकित्सा। बृहत् शस्त्र-कर्म प्रत्येक स्थान पर नहीं किये जाते और न प्रत्येक व्यक्ति कर ही सकता है। किन्तु व्रणोपचार, विद्रधि-भेदन, क्षत को सीना, रक्त-स्राव इत्यादि की चिकित्सा में प्रत्येक वैद्य को निपुण होना चाहिए। यह ऐसे रोग तथा दुर्घटनाएँ हैं जो प्रत्येक स्थान में रात-दिन हुआ करती हैं। इनकी चिकित्सा में असमर्थ होना चिकित्सक के लिए अक्षम्य है।

कुछ साधारण किन्तु बृहत् शल्य-रोगों, जैसे बद्धान्त्र, के भी लक्षण इत्यादि का वर्णन किया गया है। किन्तु उनके शस्त्र-कर्मों की पूरी व्याख्या नहीं की गई है। इसका

प्रयोजन यह है कि चिकित्सक उन रोगों के लक्षणों को देख रोग को पहचानकर रोगी को उपयुक्त स्थान में चिकित्सा के लिए भेज सके। इन रोगों के शस्त्र-कर्म केवल बड़े-बड़े अस्पतालों ही में होते हैं। इस कारण यह आवश्यक है कि रोग के प्रारम्भ ही में चिकित्सक रोग को पहिचान ले और रोगी को उचित सम्मति दे सके।

पुस्तक में यतस्ततः आयुर्वेद में वर्णित रोग-सम्बन्धी श्लोकों को फुटनोट में दिया गया है। जिन स्थानों में रोग-सम्बन्धी श्लोकों की संख्या अधिक है या वर्णन विस्तृत है वहाँ पर वह छोड़ दिये गये हैं।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे जिन मित्रों से सहायता मिली है वह मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। इनमें डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय नष्ट करके पुस्तक के लिखने में सहायता दी है।

इस पुस्तक के बहुत से चित्र अँगरेज़ी की पुस्तकों से लिये गये हैं जिसके लिए पुस्तकों के प्रकाशकों ने अनुमति देकर मेरी सहायता की है। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

शल्य-विज्ञान से गम्भीर विषय पर पुस्तक लिखना, और विशेषकर हिन्दी भाषा में लिखना, अत्यन्त कठिन है। उपयुक्त शब्दों की न्यूनता, जिसके कारण अनेक नवीन शब्द बनाने पड़े हैं, ग्रन्थ लिखने में विशेष अवरोध है। इसके अतिरिक्त मुझे अवकाश भी कम मिलता है। दैनिक व्यवसाय-सम्बन्धी तथा चिकित्सालय और कालेज-सम्बन्धी कार्यों को करने के पश्चात् जो समय मिला है उसी में यह ग्रन्थ लिखा गया है। इस कारण त्रुटियों के रह जाने की सम्भावना है। इसके लिए विद्वज्जनों से क्षमाप्रार्थी हूँ। जो मित्र इन त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करेंगे उनका मैं विशेषतया कृतज्ञ हूँगा।

काशी विश्व-विद्यालय
विजयादशमी—संवत् १९८८

मुकुन्दस्वरूप वर्म्मा

विषय-सूची

पहिला परिच्छेद

जीवाणु-विद्या (Bacteriology)

जीवाणु और रोगों का सम्बन्ध—जीवाणु-विद्या के ज्ञान का शल्यरोगों में महत्व—जीवाणु—जीवाणुओं की उत्पत्ति, विभजन तथा स्पोरों द्वारा जीवाणुओं का वर्गीकरण—कोकाई, बैसिलाई और स्पिरिल्ला—जीवाणुओं का भोजन—जल, ताप और सूर्य-प्रकाश का जीवाणुओं पर प्रभाव—जीवाणु-विष—प्रकृति में जीवाणुओं का कर्म—जीवाणुओं की स्थिति—शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में जीवाणुओं की उपस्थिति—जीवाणुओं की जाँच की विधि—संक्रामण—रोग-क्षमता—सहज और उपलब्ध—सक्रिय और निष्क्रिय—रोग-क्षमता और रोग का सम्बन्ध—रोगोत्पत्ति के कारण—श्वेताणुओं की जीवाणु-भक्षक शक्ति—पूयोत्पादक जीवाणु—निमोनिया, आन्त्रिक ज्वर, पूयमेह इत्यादि के जीवाणु। १

दूसरा परिच्छेद

रोगी की परीक्षा

परीक्षा-विधि—परीक्षा-विधि का महत्व—परीक्षा में क्रम की आवश्यकता—शल्य तथा साधारण रोगों की परीक्षा-विधि में भिन्नता—विद्यार्थियों के लिए ध्यान देने योग्य बातें—रोगी का कष्ट—पारिवारिक तथा सम्प्रति रोग का इतिहास—प्रश्नावली तथा परीक्षा। १५

तीसरा परिच्छेद

निर्विषत्व, विषहरण और विसंक्रामक

(Asepsis, antisepsis, disinfection)

निर्विष तथा विषहारी चिकित्सा—लार्ड लिस्टर का कार्य—प्रक्षालन द्रव्य तथा विलयन—कार्बोलिक अम्ल-रसकर्पूर-बिन-आयोडाइड-आफ़ मर्करी (पारद)-लाइसोल—पुटेशियम परमैंगनेट—हाइड्रोजन-पर-आक्साइड—सेनीटास—आयोडीन—प्रतिशत अलकोहल तथा रेक्टीफ़ाइड स्पिरिट—बोरिक अम्ल—हाइपोक्लोरस अम्ल और उसके लवण—यूसौल—यूपैड—ऐक्रीफ़्लेवीन—आइडोफ़ार्म—बोरिक प्रलेप—यशद प्रलेप—शस्त्रों का विसंक्रामण—व्रणोपचार-वस्त्र—वस्त्रों का विसंक्रामण—विसंक्रमित वस्त्रों को रखने के डिब्बे—विषहारी वस्त्र—हाथों की शुद्धि—ब्रश की शुद्धि—रबर के दस्ताने—रोगी के चर्म की शुद्धि—टाँके और कैटगट—कैटगट, रेशम, घोड़े के बाल, चाँदी के तार इत्यादि—कैटगट की शुद्धि—कैटगट इत्यादि को रखने के पात्र। १८

चौथा परिच्छेद

व्रण-शोथ तथा पाक

(Inflammation and suppuration)

शोथ की उत्पत्ति के कारण—शोथ में धातुओं में परिवर्त्तन—पूयोत्पादन—शोथ के लक्षण—ताप, रक्तिमा, सूजन, पीड़ा और शारीरिक लक्षण—शोथ की चिकित्सा—कारण का नाश—अङ्ग तथा शोथ-युक्त स्थान को विश्राम—अङ्ग में रक्त-संचार—शीत, उष्णता, ऊष्मस्वेद तथा उपनाह के द्वारा रक्त-सञ्चार की वृद्धि—बायर की रक्त-परिपूर्णता की विधि—चूषक-यन्त्र—शारीरिक लक्षणों की चिकित्सा—जीर्ण अथवा मन्द शोथ—पूय—विद्रधि—विद्रधि के लक्षण, चिह्न तथा चिकित्सा—व्रण—व्रण का निर्हरण—जीर्ण विद्रधि—गलपश्चिम-विद्रधि—स्तन विद्रधि—कक्ष की विद्रधि—भिन्न-भिन्न प्रकार की अंगुलि-विद्रधि तथा चिकित्सा—नाड़ी-व्रण—अधस्त्वक् शोथ—लक्षण तथा चिकित्सा—पूय-सञ्चार—जीवाणु-सञ्चार—विष-सञ्चार। ३९

पाँचवाँ परिच्छेद

व्रणोत्पादन और व्रण (Ulceration and ulcer)

व्रणोत्पत्ति—व्रणों के प्रकार—पूयोत्पादक जीवाणुज व्रण—व्रणों में ध्यान से देखने योग्य बातें—व्रण की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ—मन्द तथा दुष्ट व्रण—चिकित्सा—स्पर्शासह्य व्रण—कुटिल-शिरीय व्रण—नाड़ीविकार से उत्पन्न हुए व्रण—दीर्घकालिक व्रण—भेदक व्रण—शय्याव्रण तथा चिकित्सा—उपदंश—फिरङ्ग रोग के व्रण—प्रथम, द्वितीय और तृतीयावस्था—क्षयजन्य व्रण—घातक व्रण। ५५

छठा परिच्छेद

क्षत (Wounds)

पिच्चित अभिघात—छिन्न क्षत-चिकित्सा—विद्ध क्षत-चिकित्सा—विदीर्ण अथवा पिच्चित क्षत-चिकित्सा—क्षत को सीना—भिन्न-भिन्न प्रकार की सीवन—गोफनिका, विच्छिन्न तथा अविच्छिन्न सीवन—कण्डराओं की सीवन—आशय की भित्तियों की सीवन—सीवन तथा बन्धन में ग्रन्थि लगाना—उदर तथा वक्ष के अङ्गों का विदार—क्षत की पश्चात्-चिकित्सा—सन्धियों के क्षत—दाह तथा तरल-दाह—प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पाँचवीं और छठी अवस्था के दाह—दाह की चिकित्सा—त्वक्-स्थापना—थीर्श, वूल्फे तथा रिवर्डिन की विधि—विद्युत्-दाह—अचैतन्यता के कारण, कारण की निश्चिति—मस्तिष्कसंक्षोभ (concussion of brain) के लक्षण—चिकित्सा—मस्तिष्क-सन्ताप (cerebral irritation) के लक्षण—चिकित्सा—मस्तिष्क का संपीड़न (compression of brain)—आगन्तुक शल्य—पेशी, नेत्र, कर्ण-गुहा, नासिका, स्वरयन्त्र, श्वास-प्रणाली, अन्न-प्रणाली तथा मूत्र-प्रणाली का शल्य और उनकी चिकित्सा। ६९

सातवाँ परिच्छेद

रक्त-प्रवाह (Haemorrhage)

धमनी, शिरा तथा केशिकाओं से रक्त-प्रवाह—रक्त-प्रवाह की आपत्ति—उसकी चिकित्सा—बाह्य रक्त-प्रवाह—अंगुलि-भार—शरीर की मुख्य रक्त-नलिकाओं के भार-स्थान—महामातृका, बहिः और अन्तर्मातृका, बहिर्हनिव्या, अनुशंखा, उत्ताना, कपाल-मूलनी, अक्षकाधरा, कक्षाधरा, बाहवी, प्रकोष्ठीया, और्वी, जंघिका इत्यादि धमनियों के भारस्थान—यन्त्रण-रज्जु या टूर्निके का प्रयोग—रक्त-प्रवाह को रोकने के साधारण नियम—आन्तरिक रक्त-प्रवाह—नासिका, फुस्फुस, आमाशय, उदर-गुहा तथा वक्ष-गुहा में रक्त-प्रवाह। ९२

आठवाँ परिच्छेद

रक्त-प्रवाह (Haemorrhage)

शस्त्र-कर्म में रक्तप्रवाह को रोकने की रीति—धमनियों का बन्धन—धमनी-संदंश—बन्धन लगाना—भाराधिक्य—दाह-कर्म—शीतोपचार—रक्त-स्तम्भक ओष-धियाँ—शरीर के भीतर तरल द्रव्यों को प्रविष्ट करने की रीति—रक्तप्रक्षेपण—साधा-रण लवण-विलयन का प्रक्षेपण—धमनी से रक्त-प्रवाह—आ द रक्त-प्रवाह—गौण अथवा प्रतिकारक रक्त-प्रवाह—पश्चात् रक्त-प्रवाह—शस्त्र-कर्मों में रक्त-प्रवाह—दन्तो-त्पाटन, उपजिह्विका छेदन, जिह्वा के कर्म तथा गुदा के कर्मों में रक्त-प्रवाह और चिकित्सा—रोगों से रक्त-प्रवाह—तापदाहक—विद्युत्-दाहक—नासा-रक्त-प्रवाह—गुदा, मूत्र-मार्ग, प्रकुपित शिराओं से रक्त-प्रवाह तथा चिकित्सा—दुर्घटनाओं से रक्त-प्रवाह—शिर, मुख, ओष्ठ, कर्ण, जिह्वा, गल-वेधन, उदर-वेधन इत्यादि से रक्त-स्राव और चिकित्सा—पैतृक रक्त-स्राव। १०७

नवाँ परिच्छेद

बन्धेज लगाना (Bandaging)

बन्धेज के नियम—अनुवेल्लित बन्धेज—स्वस्तिक बन्धेज—पाँव, अँगूठे, जंघा तथा गुल्फ का बन्धेज—गुल्फ का स्वस्तिक बन्धेज—जानुसन्धि का सुपाशा बन्धेज—उदर का सुपाशा बन्धेज—अण्डकोष का बन्धेज—अँगुली, अँगूठे, हाथ, बाहु, अग्रबाहु, कूर्पर, कक्ष, स्कन्ध, ग्रीवा, शिर, नेत्र, कर्ण तथा शङ्खास्थि का बन्धेज—ठूँठ पर बन्धेज लगाना—स्तन तथा स्तन-छेदन के पश्चात् बन्धेज लगाना—विबन्ध बन्धेज—गोफण बन्धेज—कैथिटर बाँधना इत्यादि। १२६

दसवाँ परिच्छेद

लघु शस्त्र-कर्म

उदर से तरल द्रव्य निकालना—वक्ष से तरल द्रव्य निकालना—पोटेन का

चूषक-यन्त्र—यन्त्र को प्रयोग करने की विधि—उरःपूयचिकित्सा—व्रण-शोधन विधि—अण्डकोष-तरलातिवृद्धि (हाइड्रोसील)—कोषों से तरल निकालने की विधि—रक्त-प्रक्षेपण—गुदा के द्वारा प्रक्षेपण—उपजिह्विका छेदन—ग्रन्थियों का सम्पूर्ण छेदन—नासापश्चिम-ग्रन्थियाँ—निरुद्ध प्रकर्ष (Phimosis)—मणिच्छद-छेदन (circumscission)—परिवर्त्तिका (Paraphymosis)—चिकित्सा—दाँत निकालना—शिरा-छेदन (venesection)—कटिवेधन (Lumbar Puncture)—सिस्ट—गैंग्लियन—रक्तार्बुद—रक्तगुल्म (Nævus)—विद्युत्कर्म (Electrolysis)—सूचिकाभरण—इंजेक्शन—अधस्त्वक्, अन्तर्पेशीय तथा अन्तर्शिरीय—आमाशय का प्रक्षालन। १४५

ग्यारहवाँ परिच्छेद

अस्थि-भग्न (Fracture)

अस्थि-भग्न के कारण—प्रकार—भग्न के लक्षण—उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा—अस्थि-संयोजन—भग्नों की चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त—अस्थि-संधान—स्थिरीकरण—कुशाओं का प्रयोग—भिन्न-भिन्न प्रकार के कुशा—कङ्काल कुशा—उनके द्वारा प्रसारण—चिकित्सा में त्रुटि से उत्पन्न हुए दोष—उनकी चिकित्सा—कुसंयोजन—संयुक्त-भग्न—उनकी चिकित्सा—उद्वर्त्तन और चालन। १७०

बारहवाँ परिच्छेद

ऊर्ध्वशाखा के भग्न

कपालास्थियों के भग्न—करोटि के तल के भग्न (Fr. of base of skull)—पूर्व खात, मध्य खात तथा पश्चात् खात के भग्नों के लक्षण—उनकी चिकित्सा—अक्षकास्थि का भग्न तथा चिकित्सा—सायर की विधि—अंसफलक का भग्न—प्रगण्डास्थि के शिर, ग्रीवा तथा गात्र के भग्न—उनकी चिकित्सा—कङ्काल-कुशाओं का प्रयोग—प्रगण्डास्थि के अधःप्रान्त के अर्बुदोपरि तथा अर्बुदान्तरिक भग्न—अन्तःप्रकोष्ठास्थि का भग्न—वहिःप्रकोष्ठास्थि का भग्न—दोनों प्रकोष्ठास्थियों का भग्न तथा चिकित्सा—कौलज़ी भग्न—मणिवन्ध की विकृति—चिकित्सा—करभास्थियों और अंगुल्यास्थियों के भग्न तथा चिकित्सा। १८२

तेरहवाँ परिच्छेद

निम्नशाखा के भग्न

श्रोणिचक्र के भग्न—ऊर्व्वस्थि के भग्न—भग्नों का निर्णय करने की विधि—उर्व्वस्थि के शिर, ग्रीवा तथा शिखरकों का भग्न—चिकित्सा की विधि—शस्त्र-कर्म की आवश्यकता—ऊर्व्वस्थि के गात्र के भग्नों की भिन्न-भिन्न स्थिति—उनकी चिकित्सा—प्रसारण की विधि—कङ्काल कुशाओं का प्रयोग—उर्व्वस्थि के अधःप्रान्त का भग्न—अर्बुदोपरि भग्न—अर्बुदों का भिन्न होना—जान्वस्थि का भग्न—शस्त्र-कर्म द्वारा

चिकित्सा—जंघा प्रान्त के भग्न—अन्तः तथा बहिर्जंघिका के भग्न—दोनों अस्थियों के भग्न—कुशाओं का प्रयोग—गुल्फ प्रान्त के भग्न—पौट का भग्न—डुपिट्रन का भग्न पार्ष्णि का भग्न—कूर्च शिर का भग्न—प्रपादास्थियों और अंगुल्यास्थियों का भग्न। १९९

चौदहवाँ परिच्छेद

सन्धियों के अभिघात

सन्धि-विवर्त्त (contusion)—सन्धि-विश्लेष (Dislocation)—लक्षण—चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त—अधोहन्विका का विश्लेष—अक्षकास्थि का विश्लेष—स्कन्ध-सन्धि का विश्लेष—चिकित्सा की भिन्न-भिन्न विधियाँ—कूर्पर-सन्धि का विश्लेष—लक्षण—विकृति—चिकित्सा—मणिबन्ध का विश्लेष तथा चिकित्सा—वंक्षण संन्धि का विश्लेष—कारण—लक्षण—भेद—चिकित्सा—पश्चात् चिकित्सा—जान्वस्थि का विश्लेष—गुल्फ सन्धि का विश्लेष तथा चिकित्सा—कूर्च शिर का विश्लेष—प्रपादास्थियों का विश्लेष। २१७

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

श्वास-नलिका-वेधन तथा अङ्गच्छेदन

(Tracheotomy, amputations)

श्वास-नलिका की रचना—श्वास-नलिका-वेधन कर्म की आवश्यकता—कर्म की विधि—उच्च वेधन कर्म (High Tracheotomy)—अधःवेधन कर्म (Low Tracheotomy)—वेधन में प्रयुक्त होनेवाले शस्त्र—वेधन-नलिकाएँ (Tracheotomy tubes)—उनको भीतर प्रविष्ट करने की रीति—शस्त्र-कर्म के पश्चात् चिकित्सा—स्वरयन्त्र-भेदन (Laryngotomy)—अंगछेदन (amputation)—अंगछेदन की आवश्यकता—अंगछेदन की विधि—प्रालम्ब काटने की भिन्न-भिन्न विधियाँ—अंगछेदन के शस्त्र। २३३

सोलहवाँ परिच्छेद

कोथ या निर्जीवाङ्गत्व (Gangrene)

रोग के लक्षण—रोग के प्रकार—शुष्क और आर्द्र कोथ—जरा-जन्य-कोथ-लक्षण—चिकित्सा—रक्तावरोध-जन्य कोथ—लक्षण तथा चिकित्सा—इक्षुमेह-जन्य कोथ—रक्त-नलियों के आक्षेपक-युक्त कोथ—अर्गट-जन्य कोथ—धमनियों के बन्धन से उत्पन्न हुआ कोथ—चिकित्सा—जीवाणुजन्य कोथ—तरुण संक्रामक कोथ—घातक कोथ—विषवात-जन्य कोथ—ओष्ठ का कोथ—शय्याव्रण—क्षतज विसर्प (Erysipelas)—लक्षण—चिकित्सा। २४३

सत्रहवाँ परिच्छेद

मूत्रकृच्छ्, मूत्रावरोध इत्यादि

(Incontinence and retention of Urine)

रोगी की परीक्षा—मूत्रकृच्छ्—कारण—लक्षण—चिकित्सा—मूत्रावरोध—व्याख्या—कारण—चिकित्सा—कैथिटर तथा उनका प्रयोग—कैथिटर की शुद्धि—संकिरण शलाका (sound) तथा कैथिटर को मूत्राशय में प्रविष्ट करना—भिन्न-भिन्न भाँति कैथिटर—कैथिटर के प्रवेश से उत्पन्न हुए उपद्रव—स्तब्धता—ज्वर—रक्तप्रवाह—असत्यमार्ग—मूत्राशय-वेधन—मूत्र का परिविसार (extravasation of Urine)—चिकित्सा—मूत्र-मार्ग का परिशोधन (Urethral irrigation)—मूत्राशय का प्रक्षालन—पौरुष-ग्रन्थि का उद्वर्त्तन (Prostatic Message)—मूत्राशय का शोथ—मूत्राशय-अश्मरी (Stone in bladder)—कारण—लक्षण—चिकित्सा—शस्त्र-कर्म। २५१

अठारहवाँ परिच्छेद

हर्निया इत्यादि

रोग की व्याख्या—कारण—सहज तथा जातोत्तर—हर्निया की रचना—कोष (sac) के अवयव—लक्षण तथा चिह्न—भिन्न-भिन्न प्रकार की हर्निया की विकृत दशाएँ—अवरुद्ध हर्निया (Strangulated Hernia)—लक्षण और चिह्न—स्थानिक लक्षण—चिकित्सा—कर्षण (Taxis)—शस्त्र-कर्म-शोथयुक्त हर्निया (Inflamed Hernia) चिकित्सा—साधारण हर्निया की चिकित्सा—ट्रस अथवा आँत की पेटी—उसकी नाप—शस्त्र-कर्म—बद्धान्त्र (Intestinal obstruction)—कारण—लक्षण-चिकित्सा—शस्त्र-कर्म—आन्त्र-परिशिष्ट शोथ (appendicitis)—कारण—लक्षण—रोग-निश्चिति—रोगों में भिन्नताएँ—चिकित्सा—शस्त्र-कर्म—भगन्दर (Fistula-in-ano)—प्रकार—लक्षण—चिकित्सा—शस्त्र-कर्म के पश्चात् चिकित्सा—अर्श (Piles)—प्रकार—बाह्य अर्श—चिकित्सा—आन्तरिक अर्श—शस्त्र-कर्म—गुद-भ्रंश (Prolapse of Rectum)—गुदा-विदार (Anal fissure)। २७१

उन्नीसवाँ परिच्छेद

अण्डकोष के रोग

अण्डकोषाति-वृद्धि (Hydrocele)—कारण—लक्षण—चिकित्साविधि—शस्त्र-कर्म—अण्डशोथ (Orchitis)—चिकित्सा—उपाण्ड-शोथ (Epidiymits)—कारण तथा चिकित्सा—शिरा-वृद्धि (Varicocele)—चिकित्सा— अण्ड-ग्रन्थि के अर्बुद। ३०१

बीसवाँ परिच्छेद

अर्बुद (Tumours)

साधारण तथा घातक अर्बुद—गौण उत्पत्तियाँ—कारण—अर्बुद के उत्पत्ति-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न सिद्धान्त—कैंसर—कैंसर के भिन्न-भिन्न प्रकार—भिन्न-भिन्न स्थानों के कैंसर—चिकित्सा के सिद्धान्त—भिन्न-भिन्न स्थानों की चिकित्सा। ३१५

इक्कीसवाँ परिच्छेद

शस्त्र-कर्म इत्यादि

अस्पतालों में शस्त्र-चिकित्सा का प्रबन्ध—हाउस-सर्जन का कर्त्तव्य—शस्त्र-कर्म का आयोजन—रोगी की पूर्व चिकित्सा—शस्त्र-कर्मागार (Operation Theatre)—शस्त्र-कर्म में हाउस-सर्जन का स्थान—शस्त्र-कर्म में भाग लेनेवाले व्यक्तियों की शुद्धि—शुद्ध और अशुद्ध सहायक—शस्त्र-कर्म—शस्त्रकर्म के पश्चात् चिकित्सा—व्रणोपचार—उपद्रवों की चिकित्सा—स्तब्धता और अवसन्नता—पीड़ा—प्यास—वमन—कोष्ठबद्धता और आध्मान—मूत्र-त्याग—आरोग्य लाभ करने के पश्चात् कुछ समय तक रोगी का निरीक्षण। ३३१

बाईसवाँ परिच्छेद

संज्ञाहरण (Anaesthesia)

संज्ञाहरण का इतिहास—भिन्न-भिन्न प्रकार का संज्ञाहरण—स्थानिक, प्रान्तीय—सौषुम्निक तथा शारीरिक मूर्च्छा—मूर्च्छा के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले पदार्थ—नायट्रस-आक्साइड गैस—ईथर—क्लोरोफ़ार्म—क्लोरोफ़ार्म सुँघाने की विधि—क्लोरोफ़ार्म को सुँघाने के यन्त्र—क्लोरोफार्म की मूर्च्छा की चार अवस्थाएँ—क्लोरोफार्म सुँघाने से दुर्घटनाएँ—क्लोरोफ़ार्म-सम्बन्धी कुछ विशेष बातें—अलकोहल, ईथर तथा क्लोरोफार्म का मिश्रण—मूर्च्छा उत्पन्न करने की अन्य विधि—मूर्च्छासम्बन्धी विशेष बातें—रोगी की तैयारी—मूर्च्छा में उपद्रव—श्वासावरोध—हृदयावसाद—कृत्रिम श्वास-क्रिया—शेफ़र तथा सिल्वेस्टर की विधि। ३३८

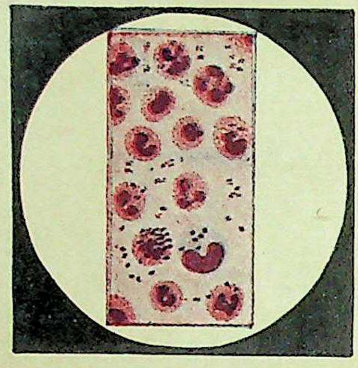

मस्तिष्क-सौषुम्नीय ज्वर के जीवाणु

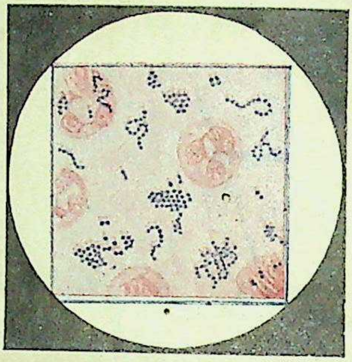

पूय के जीवाणु—स्ट्रिप्टो तथा स्टेफिलो-कोकाई और पूयकोषाणु

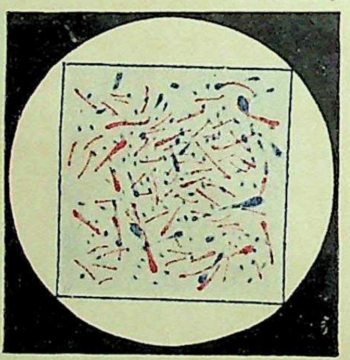

डिप्थीरिया के जीवाणु

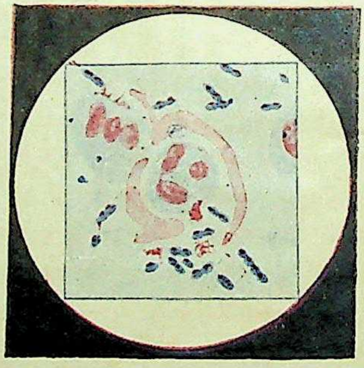

निमोनिया के जीवाणु

संक्षिप्त शल्य-विज्ञान

पहिला परिच्छेद

जीवाणु-विद्या

आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के अनुसार बहुत से रोगों का कारण जीवाणु हैं। न केवल साधारण रोग ही, जिनकी गणना रोग-विज्ञान में की जाती है परन्तु बहुत से शल्य रोग भी जिनकी चिकित्सा केवल शल्य कर्म[१] द्वारा होती है, जीवाणुओं के कारण उत्पन्न होते हैं। यह जीवाणु सब स्थानों में पाये जाते हैं। साधारणतया किसी भी वस्तु को, जब तक वह विशेष साधनों द्वारा शुद्ध नहीं कर ली गई है, जीवाणुओं से पूर्णतया मुक्त नहीं कह सकते। यह वायु में काफ़ी संख्या में पाये जाते हैं। शरीर में मुख, नासिका, त्वचा इत्यादि पर भी यह उपस्थित रहते हैं। इस कारण देह पर जब कोई भी घाव हो जाता है या किसी क्षत के द्वारा यह जीवाणु धातुओं में प्रवेश करते हैं तो वहाँ पर शोथ उत्पन्न हो जाता है और साथ में कुछ शारीरिक लक्षण, ज्वर इत्यादि, भी प्रगट हो जाते हैं। इस कारण शस्त्र कर्म करने में चिकित्सक को इस बात का पूर्व ही से आयोजन करना होता है कि जीवाणु क्षत में प्रवेश न करने पावें। आधुनिक शस्त्र-चिकित्सा प्रणालीकी उत्तमता और उसका लाभ इसी पर निर्भर करता है। जब तक जीवाणु सम्बन्धी ज्ञान इतना पूर्ण नहीं था, उस समय तक शस्त्र कर्म के क्षतों में बहुधा पूय पड़ जाया करती थी, जिससे रोगियों की मृत्यु तक हो जाती थी। किन्तु जब से पूयोत्पादन के कारणों का ठीक ठीक पता लग गया है तब से उसको रोकने के उपाय भी भली-भाँति मालूम हो गये हैं। आजकल पूय-संचार से यह समझा जाता है कि क्षत के उपचार इत्यादि में किसी प्रकार की असावधानता हुई है। आधुनिक शस्त्र-चिकित्सा की सफलता बहुत कुछ जीवाणुशास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करती है। इस कारण प्रारम्भ ही से जीवाणुओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

जीवाणु—जीवित पदार्थों के वर्ग क्रम में इन जीवाणुओं का स्थान सब से नीचे है। यह जीवाणु जीवन के अत्यन्त सूक्ष्म और साधारण रूप हैं। यह आकार में अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। छोटे जीवाणु $\frac{१}{२५०००}$ इंच से अधिक बड़े नहीं होते, इनका शरीर केवल एक केन्द्र-रहित कोषाणु का बना होता है जिसके भीतर प्रोटोप्लाज्म होता है और उसके

---

१. Operation.

चारों ओर एक सेल्यूलोज़[१] का बना हुआ आवरण रहता है। कुछ जीवाणुओं के इस आवरण के चारों ओर एक और परिधान[२] होता है। छोटे जीवाणुओं के शरीर में इनके अतिरिक्त और कोई अङ्ग नहीं पाये जाते। किन्तु कुछ बड़े जीवाणुओं के शरीर से सूक्ष्म बाल से निकले हुए दिखाई देते हैं जिनको फ़्लैजिला[३] कहते हैं। जीवाणु शरीर के आकार को देखते हुए इनकी लम्बाई अधिक होती है। यह हिलते हैं और जीवाणु इनके द्वारा गति करने में समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त बड़े जीवाणुओं में उत्पत्ति उनके एक विशेष भाग से होती है।

उत्पत्ति[४]—ऊँची श्रेणी के सदस्यों की भाँति जीवाणुओं में भी उत्पत्ति होती है जिससे उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ा करती है। किन्तु उनकी उत्पत्ति-विधि बहुत ही साधारण और विचित्र होती है। अनुकूल दशाओं के मिलने पर जीवाणुओं में उत्पत्ति होने लगती है। उत्पत्ति-विधि को विभजन[५] कहते हैं। प्रत्येक जीवाणु के शरीर के बीच में एक झिल्ली बन जाती है जिसके द्वारा वह दो भागों में विभक्त हो जाता है। जिस स्थान पर झिल्ली बनती है वहाँ प्रथम जीवाणु के शरीर के चारों ओर एक हलकी सी रेखा दिखलाई देती है। यह रेखा गहरी होने लगती है और अन्त में इसी स्थान पर जीवाणु में विभाग होता है जिससे एक जीवाणु के दो हो जाते हैं। प्रथम यह दोनों भाग जुड़े रहते हैं। किन्तु अन्त को एक दूसरे से पृथक् होकर स्वतन्त्र जीवन आरम्भ कर देते हैं।

कुछ समय के पश्चात् इन जीवाणुओं में भी उसी प्रकार उत्पत्ति होनी आरम्भ होती है। एक जीवाणु के दो होते हैं, दो के चार होते हैं, चार से आठ बन जाते हैं, आठ के सोलह होते हैं, इसी प्रकार चक्र चलता है। एक जीवाणु २० या ३० मिनट में युवा होकर उत्पत्ति आरम्भ कर देता है। यदि एक घण्टे में एक बार उत्पत्ति होना या जीवाणु का विभक्त होना मान लिया जावे तो एक जीवाणु से चौबीस घंटे के पश्चात् १७,०००,००० जीवाणु बन जायँगे। कुछ जीवाणु, जैसे राजयक्ष्मा[६] के जीवाणु, उत्पादन में अधिक समय लेते हैं; कुछ कम समय लेते हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि जिस रोगी के क्षत या व्रण में जीवाणुओं का प्रवेश हो गया है उसके शरीर में थोड़े ही समय के पश्चात् जीवाणुओं की कितनी अधिक संख्या हो जायगी।

प्रतिकूल दशाओं में उत्पन्न होनेवाले जीवाणुओं के रूप, आकार इत्यादि में परिवर्तन हो जाता है जिससे वह मातृ-जीवाणुओं से भिन्न दीखते हैं।

स्पोरों की उत्पत्ति[७]—यह उत्पत्ति की दूसरी विधि है। यह विधि विशेषकर दण्डाकार जीवाणुओं में, जिनको बेसिलाई कहते हैं, पाई जाती है। कुछ दशाओं में जीवाणु के प्रोटोप्लाज़्म में कुछ ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं कि उसमें एक बहुत चमकीला गोल दाना बन जाता है। यह दाना पहिले बहुत छोटा होता है, फिर धीरे धीरे बढ़ने लगता है। जीवाणु के सारे गुण इस दाने में रहते हैं। इसको स्पोर कहा जाता है। धीरे धीरे इसका आकार बढ़कर गोल अण्डे या दण्ड के समान हो जाता है। इस स्पोर के

१. Cellulose. २. Capsule. ३. Flagella. ४. Reproduction. ५. Simple Fission. ६. Bacillus Tuberculosis. ७. Spore Formation.

बनने के पश्चात् कुछ जीवाणुओं में प्रोटोप्लाज़्म पहिले ही की भाँति स्वच्छ[1] रहता है। किन्तु कुछ जीवाणुओं में प्रोटोप्लाज़्म सूख जाता है जिससे स्पोर पर केवल एक आवरण रह जाता है। किसी जीवाणु में यह स्पोर बिलकुल बीच में बनते हैं। किन्तु दूसरे जीवाणुओं में शरीर के एक कोने में बनते हैं। स्पोरों में जीवाणुओं की अपेक्षा जल की मात्रा कम होती है। उनके आकार से जीवाणुओं को पहिचानने में बड़ी सहायता मिलती है। किसी जीवाणु के स्पोर दण्डाकार होते हैं; किसी के अण्डाकार या गोल होते हैं। इसके अतिरिक्त जीवाणुओं के शरीर में इनकी स्थिति भी एक विशिष्ट स्थान पर होती है। कोई स्पोर जीवाणु के मध्य में रहते हैं, कोई एक सिरे पर रहते हैं, और कोई सिरे से कुछ दूरी पर स्थित होते हैं।

जिस समय जीवाणु को अपने जीवन के लिए अनुकूल दशाएँ नहीं मिलतीं, जैसे कि भोजन की कमी, ताप की अधिकता, जल की न्यूनता इत्यादि, उस समय जीवाणु स्पोरों को बनाता है। साधारणतया उनमें विभाजन द्वारा उत्पत्ति होती है। किन्तु प्रतिकूल दशाओं में स्पोरों द्वारा उत्पत्ति होने लगती है। दशाओं के अनुकूल होने पर स्पोरों से फिर जीवाणु बनते हैं और उनमें फिर विभाजन द्वारा उत्पत्ति होती है। इन स्पोरों में असाधारण सहन-शक्ति होती है। ताप का इन पर अधिक प्रभाव नहीं होता। जल की कमी से भी इन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। एनथ्रेक्स के स्पोरों को प्रयोगशालाओं में बीस वर्ष तक जीवित रक्खा गया है। किन्तु इस समय में उनकी शक्ति में किसी भी प्रकार की क्षति नहीं हुई। साधारण जीवाणु ६०° सेन्टीग्रेड के ताप-क्रम से आधे घण्टे में नष्ट हो जाते हैं, किन्तु स्पोर इससे अधिक समय तक उबालने से भी नहीं मरते। विसंक्रामक या जीवाणु-नाशक वस्तुओं का भी स्पोरों पर अधिक प्रभाव नहीं होता। १ : २०[२] की शक्ति के कारबोलिक विलयन से जीवाणुओं का थोड़े ही समय में नाश हो जाता है। किन्तु स्पोरों को नष्ट करने के लिए उनको कई दिन तक इस विलयन में रखना पड़ता है।

जीवाणुओं का वर्गीकरण—प्रकृति में असंख्य जीवाणु उपस्थित हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो हमारे जीवन के लिए लाभदायक ही नहीं वरन् आवश्यक हैं। रोगोत्पादक जीवाणुओं की अपेक्षा इनकी संख्या अधिक है।

जीवाणुओं को दो बड़े विभागों में विभक्त किया गया है, एक निम्न श्रेणी के जीवाणु और दूसरे उच्च श्रेणी के जीवाणु। निम्न श्रेणी के जीवाणुओं के शरीर केवल एक कोषाणु के बने होते हैं जिनमें केवल प्रोटोप्लाज़्म और आवरण होता है। उच्च श्रेणी के जीवाणुओं के शरीर कई कोषाणुओं के मिलने से बनते हैं। उनमें कहीं कहीं शाखाएँ भी निकलती दिखाई देती हैं। निम्न श्रेणी के जीवाणुओं के तीन बड़े विभाग हैं, कोकाई[४], बेसिलाई[५] और स्पिरिला[६]।

(१) कोकाई—इनका आकार गोल होता है। यह अत्यन्त साधारण रूप के जीवाणु हैं। इनमें कोई विशेष रचना नहीं दिखाई देती। इनमें उत्पत्ति स्पोरों द्वारा न

---

१. जैसे टिटेनस (Tetanus) का जीवाणु। २. एनथ्रेक्स (Anthrax) का जीवाणु। ३. एक भाग कारबोलिक एसिड और बीस भाग स्रुत जल। ४. Coccii. ५. Bacilli. ६. Spirilla.

होकर विभजन ही से होती है। यदि उत्पत्ति केवल एक ही ओर को होती है तो कोकाई की एक श्रृङ्खला बन जाती है। इस प्रकार के जीवाणु स्ट्रिप्टोकोकस[1] कहलाते हैं। यदि भाग चारों दिशाओं में होता है और वह किसी विशेष क्रम से नहीं होता जिससे कि भाग के पश्चात् एक अंगूरों के गुच्छे के समान जीवाणुओं का एक समूह बन जाता है तो वह स्टेफ़िलोकोकस[2] कहलाते हैं। कभी-कभी विभजन से उत्पन्न हुए जीवाणु अपने बाहरी आवरण द्वारा आपस में मिले भी रहते हैं।

जब केवल दो कोकाई इस प्रकार मिले रहते हैं तो वह द्वि-कोकाई[3] कहलाते हैं। इसी प्रकार जब दो दिशाओं में विभाजित हुए कोकाई मिलकर चार दीखते हैं तो चतुष्कोकाई[4] कहाते हैं।

(२) बेसिलाई—इनका आकार एक छोटे से अण्डे के समान होता है। कभी कभी ये कुछ मुड़े भी दीखते हैं। इनकी लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा अधिक होती है। कुछ बेसिलाई के शरीरों से अत्यन्त सूक्ष्म तन्तु निकले रहते हैं, जिनके द्वारा जीवाणु में गति होती है। इस कारण इस समूह के कुछ सदस्य गमन-शक्ति-सम्पन्न होते हैं। इन जीवाणुओं में स्पोरों द्वारा उत्पत्ति नहीं होती। इस समूह के कुछ जीवाणुओं पर एक परिधान चढ़ा रहता है।

(३) स्पिरिला—इन जीवाणुओं के शरीर का आकार बेल्लीतक होता है। इनमें से कुछ के शरीर बड़े होते हैं, जिनमें अधिक मोड़ होते हैं, कुछ के शरीर छोटे होते हैं और उनमें मोड़ कम होते हैं। किसी-किसी में केवल एक ही मोड़ होता है जिससे वह एक छोटा सा मुड़ा हुआ डण्डा दिखाई देता है। इनमें बहुत से जीवाणु गमनशील होते है।

संसार के अन्य जीवों की भाँति इन जीवाणुओं को भी जीवित रहने के लिए भोजन, वायु इत्यादि की आवश्यकता होती है।

भोजन—जीवाणुओं में वृक्षों की भाँति स्वयं अपना भोजन तैयार करने की शक्ति नहीं है। मनुष्य की भाँति उन्हें भी बना हुआ तैयार भोजन चाहिए। वह अपना भोजन जीवित या मृत सेन्द्रिय[5] पदार्थों से ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यह जीवाणु दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। जो केवल जीवित सेन्द्रिय पदार्थों ही से अपना भोजन ग्रहण कर सकते हैं उनको **पराश्रयी**[6] कहते हैं। जो केवल मृत सेन्द्रिय वस्तुओं से अपना भोजन प्राप्त करते हैं वह **मृताश्रयी**[7] कहलाते हैं, जीवित पदार्थों से वह अपना पोषण ग्रहण नहीं कर सकते। कुछ जीवाणु जीवित और मृत दोनों भाँति के पदार्थों से अपना भोजन ले सकते हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि सारे पराश्रयी जीवाणु रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। बहुत से जीवाणु शरीर के भीतर बिना किसी प्रकार का रोग उत्पन्न किये हुए रहते हैं। कुछ जीवाणु किसी-किसी विशेष जन्तु के रक्त में सदा पाये जाते हैं। किन्तु उस जन्तु को उनसे कोई हानि नहीं होती। इस प्रकार यह जीवाणु अपने लिए आवश्यक भोजन को दूसरे जीवों या वस्तुओं से ग्रहण करते हैं। उनको कुछ खनिज

---

१. Streptococcus. २. Staphylococcus. ३. Diplococci. ४. Tetracocci. ५. Organic. ६. Parasites. ७. Saprophytes.

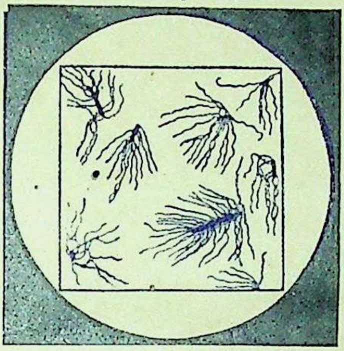

आन्त्रिक ज्वर—टाइफाइड के जीवाणु

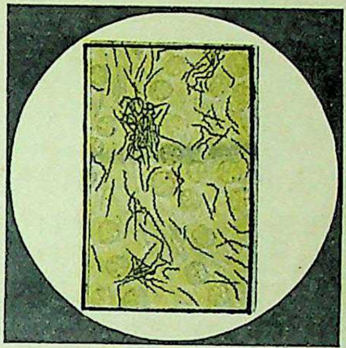

फिरंगरोग—सिफ़िलिस के जीवाणु

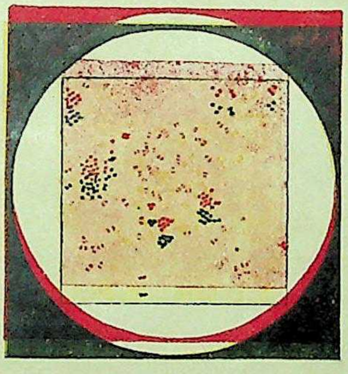

पूयमेह के जीवाणु

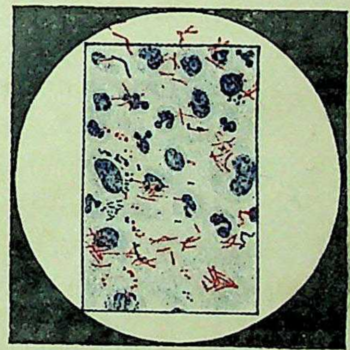

राजयक्ष्मा के जीवाणु

होकर विभजन ही से होती है। यदि उत्पत्ति केवल एक ही ओर को होती है तो कोकाई की एक शृङ्खला बन जाती है। इस प्रकार के जीवाणु स्ट्रिप्टोकोकस[१] कहलाते हैं। यदि भाग चारों दिशाओं में होता है और वह किसी विशेष क्रम से नहीं होता जिससे कि भाग के पश्चात् एक अंगूरों के गुच्छे के समान जीवाणुओं का एक समूह बन जाता है तो वह स्टेफ़िलोकोकस[२] कहलाते हैं। कभी-कभी विभजन से उत्पन्न हुए जीवाणु अपने बाहरी आवरण द्वारा आपस में मिले भी रहते हैं।

जब केवल दो कोकाई इस प्रकार मिले रहते हैं तो वह द्वि-कोकाई[३] कहलाते हैं। इसी प्रकार जब दो दिशाओं में विभाजित हुए कोकाई मिलकर चार दीखते हैं तो चतुष्कोकाई[४] कहाते हैं।

(२) बेसिलाई—इनका आकार एक छोटे से अण्डे के समान होता है। कभी कभी ये कुछ मुड़े भी दीखते हैं। इनकी लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा अधिक होती है। कुछ बेसिलाई के शरीरों से अत्यन्त सूक्ष्म तन्तु निकले रहते हैं, जिनके द्वारा जीवाणु में गति होती है। इस कारण इस समूह के कुछ सदस्य गमन-शक्ति-सम्पन्न होते हैं। इन जीवाणुओं में स्पोरों द्वारा उत्पत्ति नहीं होती। इस समूह के कुछ जीवाणुओं पर एक परिधान चढ़ा रहता है।

(३) स्पिरिल्ला—इन जीवाणुओं के शरीर का आकार बेल्लीतक होता है। इनमें से कुछ के शरीर बड़े होते हैं, जिनमें अधिक मोड़ होते हैं, कुछ के शरीर छोटे होते हैं और उनमें मोड़ कम होते हैं। किसी-किसी में केवल एक ही मोड़ होता है जिससे वह एक छोटा सा मुड़ा हुआ डण्डा दिखाई देता है। इनमें बहुत से जीवाणु गमनशील होते है।

संसार के अन्य जीवों की भाँति इन जीवाणुओं को भी जीवित रहने के लिए भोजन, वायु इत्यादि की आवश्यकता होती है।

भोजन—जीवाणुओं में वृक्षों की भाँति स्वयं अपना भोजन तैयार करने की शक्ति नहीं है। मनुष्य की भाँति उन्हें भी बना हुआ तैयार भोजन चाहिए। वह अपना भोजन जीवित या मृत सेन्द्रिय[५] पदार्थों से ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यह जीवाणु दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। जो केवल जीवित सेन्द्रिय पदार्थों ही से अपना भोजन ग्रहण कर सकते हैं उनको **पराश्रयी**[६] कहते हैं। जो केवल मृत सेन्द्रिय वस्तुओं से अपना भोजन प्राप्त करते हैं वह **मृताश्रयी**[७] कहलाते हैं, जीवित पदार्थों से वह अपना पोषण ग्रहण नहीं कर सकते। कुछ जीवाणु जीवित और मृत दोनों भाँति के पदार्थों से अपना भोजन ले सकते हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि सारे पराश्रयी जीवाणु रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। बहुत से जीवाणु शरीर के भीतर बिना किसी प्रकार का रोग उत्पन्न किये हुए रहते हैं। कुछ जीवाणु किसी-किसी विशेष जन्तु के रक्त में सदा पाये जाते हैं। किन्तु उस जन्तु को उनसे कोई हानि नहीं होती। इस प्रकार यह जीवाणु अपने लिए आवश्यक भोजन को दूसरे जीवों या वस्तुओं से ग्रहण करते हैं। उनको कुछ खनिज

---

१. Streptococcus. २. Staphylococcus. ३. Diplococci. ४. Tetracocci. ५. Organic. ६. Parasites. ७. Saprophytes.

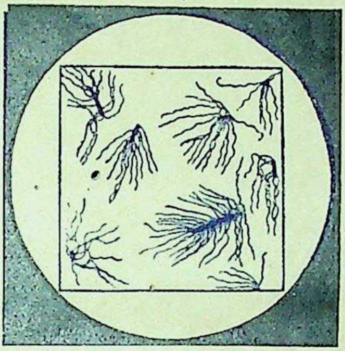

आन्त्रिक ज्वर—टाइफाइड के जीवाणु

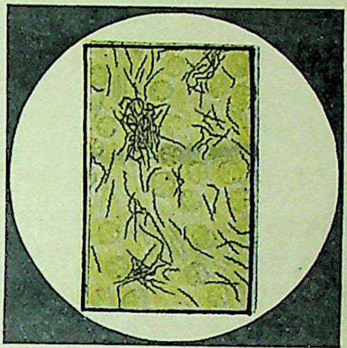

फिरंगरोग—सिफिलिस के जीवाणु

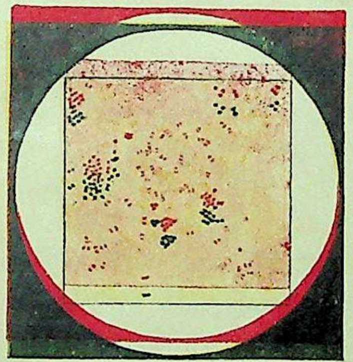

पूयमेह के जीवाणु

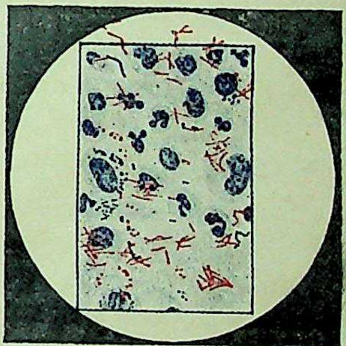

राजयक्ष्मा के जीवाणु

लवणों, विशेषकर सल्फ़ेट, क्लोराइड और फ़ास्फ़ेट[1] और लोह के लवणों की भी आवश्यकता होती है। कुछ जीवाणुओं के लिए हाइड्रोजन सल्फ़ाइड[2] भी आवश्यक है।

जल—जीवाणुओं को जीवित रहने, बुद्धि और उत्पत्ति करने के लिए जल की आवश्यकता होती है। जल की कमी होने पर या शुष्कता में उनकी वृद्धि नहीं होती। कुछ जीवाणु शुष्कता को दूसरे जीवाणुओं की अपेक्षा अधिक सहन कर सकते हैं। विशूचिका का जीवाणु, यदि उसे जल न दिया जावे अथवा उसको शुष्क किया जाय तो वह कुछ ही घण्टों में नष्ट हो जायगा। किन्तु स्टेफ़िलोकोकस जाति का जीवाणु दस दिवस तक जीवित रहेगा और डिफ्थीरिया का बैसिलस इससे अधिक समय में भी नष्ट न होगा। स्पोरों में ऐसी अवस्थाओं में जीवित रहने की असाधारण क्षमता होती है। एन्थ्रेक्स के स्पोर शुष्क स्थानों में भी कई वर्ष तक जीवित रहते हैं।

ताप—भिन्न-भिन्न जीवाणुओं में भिन्न-भिन्न अंश के ताप-क्रम पर पूर्ण वृद्धि होती है। अधिकतर रोगोत्पादक जीवाणु ३५° से ३९° सेन्टीग्रेड तक उत्तम वृद्धि करते हैं। पूयोत्पादक जीवाणुओं में अधिकतर २०° से २४° सेन्टीग्रेड पर वृद्धि होती है। साधारणतया १२° से लेकर १४° से कम उष्णता पर वृद्धि नहीं होती। इसी प्रकार ४०° से ४५° सें० से ऊपर भी वृद्धि नहीं हो सकती। कहीं-कहीं ५०° से ६०° सें० पर भी वृद्धि होती है। परन्तु ऐसे जीवाणु बहुत ही कम हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि इन अंशों से अधिक व न्यून तापक्रम होने से वह जीवाणु मर जाते हैं। केवल उनकी वृद्धि कम या बन्द हो जाती है।

५७° सेन्टीग्रेड की उष्णता पर अधिकांश जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

सूर्यप्रकाश का प्रभाव—सूर्यप्रकाश का जीवाणुओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। एन्थ्रेक्स के स्पोर, जो कई वर्षों के शुष्कीकरण से नहीं मरते, सूर्यप्रकाश से डेढ़ घण्टे में मर जाते हैं। आन्त्रिक ज्वर[3] के जीवाणु भी डेढ़ घण्टे तक सूर्यप्रकाश में रहने से नष्ट हो जाते हैं। किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक जीवाणु पर किरणें पड़ें। राजयक्ष्मा के जीवाणु का भी यही हाल है। सूर्यप्रकाश उसका सबसे बड़ा बैरी है। प्रयोगों से मालूम हुआ है कि सूर्यप्रकाश के हरे, बैंगनी और अल्ट्रा-वायलेट[4] भाग में जीवाणुओं के नाश करने की विशेष शक्ति है। विद्युत् के तीव्र प्रकाश में भी जीवाणुओं को नाश करने की सूर्यप्रकाश ही के समान शक्ति है।

कुछ रोगोत्पादक जीवाणुओं को उत्पत्ति और वृद्धि करने के लिए आक्सिजन[5] की आवश्यकता होती है। आक्सिजन के अभाव में उनकी वृद्धि बन्द हो जाती है। कुछ ऐसे जीवाणु हैं जो आक्सिजन की उपस्थिति में उत्पत्ति और वृद्धि नहीं कर सकते। कुछ इस

---

१. Sulphates, Chlorides and Phosphates. २. Hydrogen Sulphide. ३. Typhoid. ४. Green, violet and ultra-violet. ५. आक्सिजन—इसको प्राणवायु या अम्लजन भी कहते हैं। कुछ लोगों ने इसको ओषजन भी लिखा है। प्लेग, राजयक्ष्मा, पूयमेह, निमोनिया, इत्यादि के जीवाणु आक्सिजन के बिना वृद्धि नही कर सकते। टिटैनस, गैस निर्जीवांगत्व (Gas gangrene) इत्यादि के जीवाणु आक्सिजन के उपस्थित होने पर वृद्धि नहीं कर सकते। पूयोत्पादक जीवाणु अथवा विशूचिका, आन्त्रिक ज्वर तथा ऐन्थ्रेक्स के जीवाणु दोनों दशाओं में वृद्धि कर सकते हैं।

भाँति के होते हैं कि उनका काम दोनों अवस्थाओं में चल जाता है। वह आक्सिजन की उपस्थिति और अनुपस्थिति दोनों दशाओं में वृद्धि कर सकते हैं।

वृद्धि या उत्पत्ति के समय यह जीवाणु कुछ ऐसी वस्तुएँ बनाते हैं जिनका स्वयं उन पर और रोगी पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यह देखा गया है कि एक माध्यम[1] में वह अनन्त काल तक वृद्धि नहीं कर सकते। कारण यह है कि वृद्धि करते समय उनके शरीर से कुछ ऐसी वस्तुएँ निकलती हैं जिनसे उनको हानि पहुँचती है। जिस प्रकार मनुष्य भोजन करके कई प्रकार के मल त्याग करता है इसी भाँति यह जीवाणु भी वृद्धि-क्रिया से कुछ ऐसे विष उत्पन्न करते हैं जो उनकी वृद्धि के बाधक होते हैं। जीवाणुओं की क्रिया से कई प्रकार की वस्तुएँ बनती हैं, जैसे अम्ल, क्षार, गैस, रञ्जक वस्तुएँ इत्यादि। इनमें जीवाणु-विष विशेष हैं क्योंकि रोगी को इनसे बहुत हानि पहुँचती है।

जीवाणु-विष[2]—किसी भी विशेष अङ्ग में प्रविष्ट होने पर जीवाणु विष उत्पन्न करते हैं, जिनसे सारे शरीर को हानि पहुँचती है। जैसे गर्भाशय में पूय-सञ्चार होने से ज्वर, अरुचि, शरीर में पीड़ा, क्षीणता इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार यद्यपि जीवाणु किसी एक विशेष स्थान पर स्थित होते हैं किन्तु उनसे उत्पन्न हुए विष सारे शरीर में फैल जाते हैं। यदि इन विषों को स्वस्थ मनुष्य के शरीर में रुधिर द्वारा प्रविष्ट कर दिया जाय तो उसके शरीर में भी विष के सारे लक्षण उत्पन्न हो जायँगे। किन्तु यदि इस विष को मुख द्वारा खिलाया जाय तो उसका कुछ भी प्रभाव न होगा, क्योंकि पाचक रसों द्वारा उसका नाश हो जायगा।

प्रकृति में जीवाणुओं का कर्म—प्रकृति में जीवाणुओं का मुख्य कर्म गूढ़ रचना-वाले पदार्थों को छोटे-छोटे भागों में विभक्त करना है। जो वस्तुएँ सड़ने लगती हैं वह इन जीवाणुओं की क्रिया द्वारा सूक्ष्म सरल भागों में विभक्त होती हैं। सड़ना इन जीवाणुओं की क्रिया का बहुत बड़ा उदाहरण है, जिससे वह गूढ़ रचनावाली वस्तुओं को छोटे-छोटे कणों में परिणत कर देते हैं। यदि किसी प्रकार वस्तु को इन जीवाणुओं से सुरक्षित रक्खा जा सके तो वह वस्तु कभी न सड़ेगी। गुड़ से सिरका बनाना, शक्कर से शराब बनाना, दूध का खट्टा होना, दूध से दही जमाना यह सब जीवाणुओं की क्रिया का परिणाम है। बहुत से जीवाणु हमारे लिए अत्यन्त लाभदायक हैं। यह भूमि को उर्वरा कर देते हैं। उसकी उपजाऊ शक्ति बढ़ जाती है। कुछ जीवाणु हमारी अन्त्रियों में रहकर पाचन-क्रिया में सहायता देते हैं।

जीवाणुओं की स्थिति—जीवाणु सर्वत्र विद्यमान हैं। वायु-मण्डल में इनकी बहुत बड़ी संख्या उपस्थित है। नगर के समीप की वायु, गलियों की वायु, जहाँ सदा

---

१. प्रयोगशालाओं में जीवाणुओं की संख्या की वृद्धि करने के लिए विशेष-विशेष वस्तु जैसे अगर-अगर या जिलेटिन का प्रयोग किया है। इन वस्तुओं को पिघलाकर परीक्षा-नलिकाओं में भर देते हैं और नलिका को टेढ़ा करके रख देते हैं, जिससे तरल वस्तु जम जाती है। तत्पश्चात् प्लेटिनम की एक सुई की नोक को पूय या अन्य वस्तु में, जिसमें विशेष जीवाणु सम्मिलित होते हैं, डुबाकर नलिका के भीतर की वस्तु पर फेर देते हैं। उचित ताप पर रखने पर जीवाणुओं की वृद्धि होने लगती है। इन वस्तुओं को माध्यम कहा जाता है। २. Toxins.

धूल उड़ा करती है वहाँ, और मकानों के पास की वायु में पर्वत तथा समुद्र की वायु की अपेक्षा अधिक जीवाणु होते हैं। पर्वत और समुद्र पर की वायु जीवाणुओं से बहुत कुछ मुक्त होती हैं। जिस स्थान में मनुष्यों या पशुओं के चलने से धूल उड़ती है वहाँ शान्त निस्तब्ध स्थानों की अपेक्षा अधिक जीवाणु होते हैं। बातचीत में मुख से जो वायु निकलती है उसमें उपस्थित थूक के छोटे-छोटे कणों में यह जीवाणु मिले रहते हैं। नासिका द्वारा फुस्फुस से निकलनेवाली वायु जीवाणु-रहित होती है। जल में भी वायु की भाँति अनेकों जीवाणु पाये जाते हैं। शस्त्र कर्म में जल का प्रयोग करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए। जो जल छनकर और शुद्ध होकर आता है उसको भी उबालकर काम में लाना चाहिए, किन्तु यदि किसी कुएँ, तालाब, नदी या स्रोत से जल लिया गया है तो उसको बिना उबाले हुए कदापि प्रयोग न करना चाहिए।

भूमि में जीवाणुओं की बहुत बड़ी संख्या उपस्थित है और विशेषकर उस भूमि में, जिसमें बहुत समय से खाद दी जा रही है। ऐसी भूमि में टिटेनस के जीवाणु बहुतायत से मिलते हैं। मल द्वारा जो बहुत से जीवाणु शरीर से बाहर निकलते हैं वह सब पृथ्वी ही में मिल जाते हैं। इस कारण पृथ्वी में जीवाणुओं की बहुत अधिक संख्या उपस्थित रहती है। मनुष्य के शरीर में भी जीवाणु बहुतायत से पाये जाते हैं। चर्म पर अनेकों जीवाणु उपस्थित रहते हैं, क्योंकि उस पर सदा धूल पड़ा करती है। इनमें बहुत से जीवाणु तो केवल धो देने से दूर होते हैं। किन्तु कुछ जीवाणु, जो चर्म में भीतर घुस जाते हैं, कठिनता से दूर होते हैं। मुख में कई प्रकार के जीवाणु रहते हैं। आमाशय में अम्ल के कारण जीवाणु नहीं रहने पाते। क्षुद्र और बृहत् अन्त्रियों में असंख्य जीवाणु-समूहों का निवास है जो सदा मल के द्वारा निकला करते हैं। इसके अतिरिक्त नासिका में, कर्ण के बाहरी भाग में, नेत्र के बाहरी भाग में तथा ऐसे ही अन्य स्थानों में भी जीवाणु रहते हैं। स्वस्थ्य मनुष्य के रक्त या भीतरी धातुओं में जीवाणु नहीं मिलते। किन्तु कभी-कभी देखा गया है कि यह जीवाणु अन्त्रियों से पास के धातुओं में पहुँच जाते हैं। जब तक स्वास्थ्य उत्तम रहता है तब तक यह जीवाणु किसी प्रकार का उपद्रव नहीं मचा पाते, किन्तु स्वास्थ्य का ह्रास होते ही रोग उत्पन्न कर देते हैं।

बहुधा यह जीवाणु शरीर के भीतर या शरीर पर बहुत काल तक अकर्मण्य पड़े रहते हैं। किन्तु ज्यों ही शरीर की शक्तियों का ह्रास होता है त्यों ही यह अपना उग्र स्वरूप धारण कर लेते हैं और रोग उत्पन्न हो जाता है। यदि स्वस्थ्य मनुष्यों के शरीरों की पूर्णतया परीक्षा की जाय तो उनमें एक भी ऐसा न निकलेगा जिसके शरीर में किसी न किसी स्थान पर कोई रोगोत्पादक जीवाणु उपस्थित न हों। राजयक्ष्मा के जीवाणु बहुतों के गले या थूक में मिलेंगे। किन्तु वह सब रोग-ग्रस्त नहीं होते। जीवाणु अकर्मण्य रहते हैं। देखने में आया है कि घाव अच्छे हो जाते हैं परन्तु कुछ समय के पश्चात् उनसे फिर पूय निकलने लगती है। ऐसी दशा में यह होता है कि प्रथम बार घाव के भरते समय उसमें कुछ जीवाणु भीतर रह जाते हैं जो उस समय निरुपद्रव रहते हैं। किन्तु उस स्थान की शक्ति का ह्रास होते ही फिर वह अपना काम आरम्भ कर देते हैं। राजयक्ष्मा का जीवाणु निस्सन्देह ही बहुत काल तक इस दशा में रह सकता है। कुछ मनुष्यों के शरीर में रोग के जीवाणु बहुत काल तक इसी भाँति पड़े रहते हैं। उनसे उनकी किसी प्रकार की

हानि नहीं होती। किन्तु दूसरे मनुष्यों को उनसे रोग उत्पन्न हो सकता है। ऐसे मनुष्यों को रोग-वाहक[1] कहते हैं।

जीवाणु की जाँच की विधि—यह जीवाणु इतने छोटे होते हैं कि साधारण-तया नेत्रों से नहीं दिखाई देते। इसलिए इनको सूक्ष्मदर्शक[2] के द्वारा देखा जाता है। जिस वस्तु की जाँच करनी होती है, जैसे किसी घाव या पिड़िका की, तो वहाँ की पूय इत्यादि के एक बिन्दु को काँच के एक टुकड़े पर, जिसको स्लाइड[3] कहते हैं, फैला देते हैं। इसके पश्चात् स्पिरिट लम्प की ज्वाला में तनिक गरम करके उसे रञ्जक द्रव्यों[4] से रँगा जाता है जिससे जीवाणुओं के शरीर रञ्जित हो जाते हैं। और दर्शक यन्त्र के द्वारा कई सौ गुणा (८०० से २००० गुणा तक या इससे भी अधिक) बड़े दिखाई देते हैं। स्लाइड के रँगने के लिए अनेकों प्रकार की रञ्जक वस्तुएँ होती हैं। इन सबों का वर्णन किसी जीवाणु-विद्या की पुस्तक में विस्तार-पूर्वक मिल सकता है। कभी-कभी बिना रँगे हुए भी इन जीवाणुओं को देखा जाता है।

संक्रामण—शरीर के किसी अङ्ग की धातुओं में जीवित रोगोत्पादक जीवाणुओं के प्रवेश करने को संक्रमण कहते हैं। यदि किसी स्थान पर जीवाणु प्रविष्ट होकर पूय इत्यादि बनाने लगें तो कहा जायगा कि वहाँ संक्रमण पहुँच गया है। पहिले कहा जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु में जो पूर्णतया शुद्ध नहीं कर ली गई है, रोगोत्पादक जीवाणु उपस्थित रहते हैं। अतएव प्रत्येक घाव में किसी भी अशुद्ध वस्तु द्वारा संक्रमण पहुँच सकता है। अशुद्ध वस्त्र, अशुद्ध हाथ, धूल इत्यादि से घाव में संक्रमण पहुँचकर वहाँ पूय अथवा किसी दूसरे प्रकार का रोग उत्पन्न कर सकता है।

शरीर में संक्रमण को रोकने की असाधारण क्षमता है। प्रथम तो सम्पूर्ण अथवा अक्षत चर्म द्वारा कोई जीवाणु शरीर के भीतर प्रवेश नहीं कर सकता। इसी प्रकार अक्षत श्लैष्मिक कला भी संक्रमण के लिए अभेद्य है। शरीर में जब क्षत हो जाता है तो उससे रुधिर निकल-कर वहाँ जम जाता है और उस क्षत को बन्द कर देता है। यह संक्रमण के रोकने का दूसरा उपाय है। रक्त में स्वयं ऐसी शक्ति होती है कि वह जीवाणुओं का नाश कर सकता है। इसके अतिरिक्त शरीर में कुछ और भी ऐसी शक्तियाँ हैं जो जीवाणु के हानिकारक प्रभाव को रोकती हैं। आमाशय का अम्ल जीवाणुओं का नाश करता है। इस प्रकार शरीर में संक्रमण के रोकने की बहुत शक्ति है। किन्तु जब यह शक्तियाँ काम नहीं कर पातीं अथवा संक्रमण इतना प्रबल होता है कि यह शक्तियाँ उसके लिए पर्याप्त नहीं होतीं तब संक्रमण के प्रभाव से शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है।

इसलिए यह याद रखना चाहिए कि तनिक सी भी, हाथों या वस्त्र की, अशुद्धि शुद्ध घाव में भी संक्रमण को पहुँचा सकती है।

रोग-क्षमता—बहुधा देखा जाता है कि यदि किसी व्यक्ति को एक बार किसी रोग का तीव्र आक्रमण होता है तो उस बार रोग से मुक्त होने के पाश्चात् फिर उसी रोग का आक्रमण नहीं होता। यदि होता भी है तो वह बहुत मन्द होता है। सब रोगों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता, किन्तु अधिकतर रोगों में ऐसा ही देखा जाता है। इसका

---

१. Carriers. २. Microscope. ३. Glass slide. ४. Stains.

कारण यह है कि रोगी के शरीर में रोग के आक्रमण से कुछ ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो उस रोग के कारण का नाश करती हैं। रोगी के निरोग हो जाने पर भी यह वस्तुएँ उसके शरीर में उपस्थित रहती हैं और रोग के जीवाणु यदि शरीर में फिर प्रवेश करते हैं तो वह वस्तुएँ उनका प्रतिरोध करती हैं। इस रोग को निवारण करने की शक्ति का नाम रोग-क्षमता है।

रोग-क्षमता दो प्रकार की होती है—स्वभाविक या सहज और उपलब्ध।

स्वाभाविक रोग-क्षमता वह है जो शरीर में स्वाभाविकतया उपस्थित हो। वह किसी रोग के आक्रमण या किन्हीं कृत्रिम साधनों का फल नहीं होती, किन्तु जन्म-सिद्ध होती है। इस कारण यह क्षमता एक जाति के सारे सदस्यों में समान रूप से पाई जाती है। किन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्ति में क्षमता की सीमा भिन्न हो सकती है। सम्भव है कि रोग के जीवाणुओं की एक मात्रा से किसी व्यक्ति में रोग के कुछ भी लक्षण उत्पन्न न हों, किन्तु उसी मात्रा से दूसरे व्यक्ति में तीव्र रोग उत्पन्न हो जाय। रोग उत्पन्न होना क्षमता और शरीर की शक्ति दोनों पर निर्भर करता है।

सहज शक्ति का एक बड़ा उदाहरण निम्न श्रेणी के जन्तुओं में मिलता है जो पूय-मेह के विरुद्ध पूर्णतया रोग-क्षम होते हैं। इस रोग के जीवाणुओं को उनके शरीर में प्रविष्ट करने से किसी भाँति के कोई लक्षण नहीं उत्पन्न होते। इसी भाँति मनुष्यों में कुछ ऐसे रोगों के विरुद्ध क्षमता होती है जो जन्तुओं को होते हैं।

उपलब्ध क्षमता दो प्रकार की होती है;—एक सक्रिय और दूसरी निष्क्रिय। सक्रिय क्षमता रोग के आक्रमण या रोग के कारण के शरीर में प्रवेश करने से उत्पन्न होती है। आन्त्रिक ज्वर के एक आक्रमण से मनुष्य इस ज्वर से अक्षत हो जाता है। दूसरी बार यदि आक्रमण होता भी है तो वह मन्द होता है। शीतला के होने से रोगी के शरीर में उस रोग के प्रति क्षमता उत्पन्न हो जाती है जो भविष्य में उसको रोग से बचाती है। शीतला का जो टीका लगाया जाता है उससे भी रोग का हलका सा आक्रमण होता है जिसके परिणाम-स्वरूप शरीर में रक्षक वस्तुएँ बन जाती हैं। इस प्रकार कृत्रिम साधनों द्वारा भी क्षमता उत्पन्न की जाती है। यह कृत्रिम क्षमता बहुत उपयोगी है। रोगों की चिकित्सा में यही अधिक काम में आती है। रोगों को रोकने के लिए जो इंजेक्शन दिये जाते हैं उनसे शरीर में कृत्रिम सक्रिय क्षमता उत्पन्न होती है।

रोग को रोकने के लिए जिस वस्तु का इंजेक्शन देते हैं वह वेक्सीन कहलाती है। उसमें जिस रोग के विरुद्ध क्षमता उत्पन्न करनी है उसी के जीवाणु रहते हैं। किन्तु जीवाणुओं की शक्ति का ह्रास कर दिया जाता है। इससे रोग तो उत्पन्न होता है किन्तु तीव्र नहीं होता; बहुत हलका होता है। इस कारण शरीर में कुछ रक्षक वस्तुएँ बन जाती हैं। इसके पश्चात् दूसरे इंजेक्शन में अधिक जीवाणु प्रविष्ट किये जाते हैं; इसी प्रकार प्रत्येक बार उनकी संख्या बढ़ाते जाते हैं। यहाँ तक की प्रथम संख्या के कई सौ गुणा जीवाणु शरीर में प्रविष्ट किये जा सकते हैं। इस प्रकार क्षमता की मात्रा बहुत बढ़ जाती है।

निष्क्रिय क्षमता उत्पन्न करने के लिए उन पशुओं के रक्त के सीरम[1] को, जिनके

---

१. इसको रक्त-रस भी कहते हैं।

शरीर में सक्रिय क्षमता उत्पन्न कर दी गई है, इंजेक्शन दिये जाते हैं। इसके लिए खर-गोश, चूहे, बन्दर और घोड़ों का अधिक प्रयोग किया जाता है। रोग के जीवाणुओं की विशेष मात्रा, जो उस पशु के लिए घातक नहीं होती, उसके शरीर में प्रविष्ट कर दी जाती है। उससे उसके शरीर में कुछ क्षमता उत्पन्न होती है। कुछ समय के पश्चात् फिर दूसरा इंजेक्शन दिया जाता है जिसमें जीवाणुओं की पहिली बार से अधिक मात्रा होती है। इस प्रकार क्रमशः मात्रा को बढ़ाते जाते हैं जिससे पशु के शरीर पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु क्षमता की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। इस पशु के कुछ रक्त को शरीर से निकालकर उससे सीरम अलग किया जाता है। रक्षक वस्तुएँ इसी सीरम में सम्मि-लित होती हैं।

जब इस सीरम को रोगी के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है तो वह रक्षक वस्तुएँ उस सीरम द्वारा रोगी के शरीर में पहुँच जाती हैं। इससे निष्क्रिय क्षमता उत्पन्न होती है। अर्थात् शरीर स्वयं क्षमता को उत्पन्न नहीं करता किन्तु पूर्व उत्पन्न हुई रक्षक वस्तुओं को अपने में धारण कर लेता है। रोगों के आक्रमण के समय रोगी को रोग-मुक्त करने के लिए जो इंजेक्शन दिए जाते हैं वह सीरम के होते हैं। रोग को रोकने के लिए वेक्सीन का इंजेक्शन देते हैं।

रोग उसी समय उत्पन्न होता है जब शरीर की क्षमता-शक्ति का ह्रास हो जाता है। क्षमता का ह्रास करनेवाले बहुत से कारण होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो सारे शरीर पर प्रभाव डालते हैं। कुछ केवल उसी स्थान पर, जिस पर रोग उत्पन्न होता है, प्रभाव करते हैं। इस प्रकार इनको दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं, एक साधारण और दूसरे स्थानिक।

साधारण कारणों में भीगना और शीत दो मुख्य हैं। दोनों अवस्थाएँ शरीर की शक्ति को कम कर देती हैं। यदि यह दोनों अवस्थाएँ एक साथ मिल जाती हैं तो उनका प्रभाव भयानक होता है। भूखा रहना, भोजन की कमी, शरीर का भोजन को उचित रूप से ग्रहण न करना इत्यादि दशाएँ भी शरीर की शक्तियों को क्षीण कर रोग की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती हैं। रक्त-स्राव भी क्षमता को बहुत कम करता है। मद्य का भी यही प्रभाव होता है। बहुत से दूसरे विष भी ऐसा ही करते हैं। दूषित वायुमण्डल और गन्दे स्थानों में रहना भी शरीर को दुर्बल करके उसकी क्षमता घटा देता है। मधुमेह, वृक्क के रोग इत्यादि शरीर की शक्ति का ह्रास कर देते हैं, जिससे अनेकों दूसरे उपद्रव खड़े हो जाते हैं। आयु भी इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ प्रभाव डालती है।

स्थानिक कारणों में आघात, स्थान का छिल जाना, जलना इत्यादि मुख्य हैं। रासा-निक द्रव्यों—जैसे अम्ल, क्षार इत्यादि—से स्थान की शक्ति बहुत घट जाती है। विसंक्रा-मक-वस्तुओं के द्वारा व्रणों का उपचार करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए। यह सब वस्तुएँ स्थान की शक्ति को कम करनेवाली होती हैं। इसलिए इनके विलयन के

---

१. द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्यापि संस्कृतिः—वाग्भट्ट सूत्र-स्थान, अध्याय ७२ श्लोक ४६।

• जब किसी वस्तु को जल में घोल दिया जाता है जिससे वह पूर्णतया जल में मिलकर एकरस हो जाती है तो वह विलयन या घोल के नाम से पुकारी जाती है।

अधिक शक्तिमान् होने से लाभ के स्थान में हानि होने की सम्भावना है। बहुत समय तक इन वस्तुओं के प्रयोग करने से भी यही परिणाम होता है। विलयनों के बहुत गरम या ठण्डे होने से भी हानि होती है। इसलिए इनका तापक्रम सदा शरीर के तापक्रम के बराबर होना चाहिए।

शुद्ध रक्त की कमी या अशुद्ध शिरीय रक्त का कुछ समय तक रुका रहना भी स्थान की शक्ति का ह्रास करता है। इस कारण व्रण पर पट्टी इतनी कसकर न बाँधनी चाहिए कि उससे वहाँ के रक्त-संचालन में अवरोध उत्पन्न हो जाय।

श्वेताणुओं की जीवाणु-भक्षक शक्ति—रक्त के श्वेताणुओं में जीवाणुओं के नाश करने की बहुत शक्ति है। यह जीवाणुओं का भक्षण कर लेते हैं। भक्षण किये हुए जीवाणु श्वेताणु के शरीर में यन्त्र द्वारा दिखाई देते हैं। यह श्वेताणु रक्त के प्रवाह में चारों ओर फिरते हैं। ज्योंही किसी भी स्थान पर जीवाणु प्रवेश करते हैं, त्योंही श्वेताणुओं की उस स्थान की ओर दौड़ मच जाती है। जीवाणुओं और श्वेताणुओं में उस स्थान पर युद्ध ठन जाता है। युद्ध में जिसकी विजय होती है वही शरीर पर अपना प्रभाव डालता है। यदि जीवाणुओं की संख्या कम और श्वेताणुओं की अधिक होती है तो वे जीवाणुओं का नाश कर देते हैं। किन्तु यदि जीवाणुओं की संख्या अधिक होती है अथवा वे अधिक शक्तिमान् होते हैं तो शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है। किसी व्रण से निकली हुई पूय में उसकी स्लाइड बनाकर और रँगकर श्वेताणुओं में स्थित अनेकों जीवाणु देखे जा सकते हैं। ये श्वेताणु शरीर की रक्षक सेना का काम करते हैं; जहाँ शत्रु का आक्रमण होता है वहाँ तुरन्त ही पहुँचकर उसके नाश का उपाय करते हैं।

रक्षा के इतने साधनों के सम्पन्न होने पर भी कभी-कभी शरीर रोगोत्पादक जीवाणुओं से आक्रान्त हो जाता है। जब जीवाणुओं की संख्या अधिक होती है अथवा वह प्रबल श्रेणी के होते हैं अथवा अस्वस्थता के कारण शरीर की शक्तियाँ मन्द होती हैं तभी ऐसा होता है और शरीर में रोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह जीवाणु नाना प्रकार के होते हैं। कुछ रोगोत्पादक होते हैं। शेष किसी प्रकार का भी विकार नहीं उत्पन्न करते। यहाँ पर सारे रोगोत्पादक जीवाणुओं का विचार करने का अभिप्राय नहीं है; केवल उन्हीं जीवाणुओं का, जो पूयोत्पादन में भाग लेते हैं, संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

जब यह जीवाणु किसी स्थान पर धातुओं में प्रविष्ट हो जाते हैं तो प्रथम वहाँ शोथ उत्पन्न करते हैं। शोथयुक्त स्थान में रक्त का प्रवाह बढ़ जाता है जिससे वहाँ पर श्वेताणु अधिक संख्या में पहुँच जाते हैं। इन श्वेताणुओं और जीवाणुओं में युद्ध होता है जिसमें अनेकों श्वेताणु और जीवाणु नष्ट हो जाते हैं और वहाँ पर एकत्रित हुए तरल में मिलकर 'पूय' का रूप धारण कर लेते हैं। पूय के उत्पन्न करने में निम्नलिखित जीवाणु विशेष भाग लेते हैं:—

(1) **पूयोत्पादक स्टैफ़िलोकोकस**[1]—यह जीवाणु प्रायः पूय में सदा पाये जाते हैं और पूयोत्पादन का सबसे बड़ा कारण हैं। चर्म के ऊपर उत्पन्न होनेवाली विद्रधि अथवा

---

1. Staphylococcus Pyogenes.

अनेक अन्य स्थानों में उत्पन्न हुई पूय में यह जीवाणु मिलते हैं। कभी-कभी अधस्त्वक शोथ भी इनसे उत्पन्न हो जाता है। अस्थि मज्जा-शोथ[१] भी इन जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न हो सकता है। औदर्य्याकला[२] का शोथ तथा उरःपूय[३] भी इन जीवाणुओं से उत्पन्न होते देखे गये हैं। वास्तव में ये जीवाणु शरीर के किसी भी भाग में पूय उत्पन्न कर सकते हैं। चर्म पर या उसके नीचे उत्पन्न होनेवाली पूय में तो वह सदा ही पाये जाते हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि पूयोत्पादन किन्हीं दूसरे जीवाणुओं के कारण होता है, किन्तु ये जीवाणु पीछे से वहाँ पर पहुँच जाते हैं और पूय की परीक्षा करने पर उसमें कई प्रकार के जीवाणु मिलते हैं। शस्त्र कर्मों के पश्चात् जो उपचारकों की असावधानी से व्रणों में पूय उत्पन्न हो जाती है उसका कारण भी यही जीवाणु होते हैं। ये जीवाणु प्रकृति में बहुतायत से मिलते हैं। वायु, धूल तथा शरीर के चर्म पर भी वे प्रायः उपस्थित रहते हैं।

ये जीवाणु गुच्छों में एकत्रित रहते हैं और पूय की परीक्षा करने पर उसमें यतस्ततः समूहों में एकत्रित मिलते हैं। प्लेट नं० १ को देखने से इनके आकार का सहज में अनुमान किया जा सकता है। इन जीवाणुओं के समूहों की बहुधा अंगूर के गुच्छों से तुलना की जाती है। यह साधारण रङ्ग, जैसे मिथीलीन ब्ल्यू[४], 'जीम्सा'[५] रञ्जक अथवा 'ग्राम'[६] विधि से रँगे जा सकते हैं। भिन्न-भिन्न माध्यमों में इनकी सहज में उत्पत्ति हो जाती है। किन्तु आक्सिजन की उपस्थिति में उत्तम वृद्धि होती है।

यह जीवाणु तीन प्रकार के होते हैं जिनको Staphylococcus Pyogenes Aureus, Citreus और Albus कहते हैं। उत्पत्ति के समय प्रथम जीवाणु का रंग नारङ्गी, दूसरे का पीला और तीसरे का श्वेत होता है। किन्तु यह देखा गया है कि किसी-किसी दशा में एक जीवाणु दूसरे रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। यह माना जाता है कि यह तीनों जीवाणु वास्तव में एक ही श्रेणी के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

(२) पूयोत्पादक स्ट्रिप्टोकोकस[७]—यह स्टैफ़िलोकोकस की अपेक्षा अधिक प्रबल है। इसका आकार भी भिन्न होता है। पूय की परीक्षा करने से इसकी लम्बी-लम्बी शृङ्खलाएँ दिखाई देती हैं, जिनकी लम्बाई में भिन्नता होती है। कभी-कभी एकदेशीय विद्रधि भी इससे उत्पन्न हो जाती है। किन्तु प्रायः इससे जो शोथ उत्पन्न होता है वह प्रबल होता है और थोड़े ही समय में चारों ओर फैल जाता है। विसर्प[८] का कारण भी यही जीवाणु होता है। पूय-संचार[९] और विष-संचार[१०] का कारण भी यही जीवणु हैं। व्रणयुक्त हृदयान्तर्कलाशोथ[११] साधारणतया इसी जाति के जीवाणुओं से उत्पन्न होता है।

इसकी उत्पत्ति स्टैफ़िलोकोकस के समान सहज नहीं होती। इसके लिए शारीरिक ताप सब से अनुकूल होता है। इस जाति की अधिक प्रबल श्रेणी एक प्रकार की वस्तु उत्पन्न करती है जिससे रक्त के लाल कण घुल जाते हैं।

(३) पायोसिनियस जीवाणु[१२]—इस जीवाणु के द्वारा उत्पन्न हुई पूय वायु में रखने

---

१. Osteomyelitis. २. Peritonitis. ३. Empyema. ४. Methylene Blue. ५. Giemsa's stain. ६. Gram Method. ७. Streptococcus Pyogenes. ८. Erysepelas. ९. Pyaemia. १०. Scepticaemia. ११. Ulcerative Endocarditis. १२. B. Pyocaenens.

से नीले-हरे रंग की हो जाती है। यह जीवाणु प्रबल नहीं होता। साधारण उपचार से इसके पूय का बनना रुक जाता है। किन्तु कभी-कभी यह जीवणु रक्त में पहुँच जाता है और मध्य-कर्ण-शोथ अथवा अतिसार इत्यादि उत्पन्न कर देता है। कभी-कभी इससे विष-संचार और मृत्यु होते देखा गया है। किन्तु साधारण व्रणों में यह बहुत कम पाया जाता है। योरप के महायुद्ध में सैनिकों के व्रण प्रायः इस जीवाणु से संक्रमित पाये जाते थे।

(४) निमोनिया के जीवाणु[1]—यह जीवाणु फुस्फुस के सम्बन्ध में जहाँ भी पूयोत्पादन होता है वहाँ पाया जाता है। उरःपूय[2] का यह जीवाणु विशेष कारण माना जाता है। राजयक्ष्मा में फुस्फुस के भीतर पिड़िकाओं में इन्हीं जीवाणुओं से पूयोत्पादन होता है। मध्यकर्णशोथ[3], जिसमें कर्ण से पूय निकला करती है, प्रायः इस जीवाणु के कारण उत्पन्न होता है। निमोनिया के पश्चात् जो कभी-कभी सन्धिशोथ हो जाता है उसका कारण भी यही जीवाणु होता है। इससे विष-संचार भी होता देखा गया है।

इस जीवाणु के सदा जोड़े पाये जाते । इनके ऊपर एक आवरण या परिधान चढ़ा रहता है।

(५) साधारण आन्त्रिक जीवाणु[4]—ये जीवाणु अन्त्रियों में पाये जाते हैं और साधारण दशा में किसी प्रकार का रोग नहीं उत्पन्न करते। किन्तु यह देखा गया है कि जब अन्त्रियों में अन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं जैसे शोथ, व्रण, आन्त्रबद्धता इत्यादि तो इन जीवाणुओं की रोगोत्पादक शक्ति बढ़ जाती है और वह चारों ओर के धातुओं में फैल जाते हैं। आन्त्र परिशिष्टशोथ[5], उदर्याकला का शोथ इत्यादि का यह जीवाणु विशेष कारण होते हैं। इसी प्रकार मूत्राशय का शोथ भी प्रायः इन्हीं के कारण उत्पन्न होता है। जो पूय इन जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होती है उससे मल के समान दुर्गन्धि निकलती है। कभी-कभी वे पित्त-नलिकाओं में होकर पित्ताशय में पहुँचकर वहाँ शोथ उत्पन्न करते देखे गये हैं।

यह जीवाणु छोटे और गति-सम्पन्न होते हैं। आकार में आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु और इन जीवाणुओं में बहुत समानता होती है। इस कारण शर्करा इत्यादि पर क्रिया के द्वारा इन जीणुओं में भिन्नता की जाती है। आन्त्रिक ज्वर का जीवाणु शर्करा के साथ मिलकर केवल अम्ल उत्पन्न करता है। किन्तु यह जीवाणु वायु और अम्ल दोनों उत्पन्न करते हैं। यह ग्राम विधि से रङ्ग नहीं लेते।

(६) आन्त्रिक ज्वर का जीवाणु[6]—यह लम्बा और गति-सम्पन्न जीवाणु होता है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसके शरीर से सूक्ष्म बाल सरीखे निकलते हुए दिखाई देंगे। इनकी संख्या छः से दस तक होती है। इन्हीं के द्वारा जीवाणु गति करता है। आन्त्रिक ज्वर के पश्चात् यह जीवाणु शरीर में बहुत समय तक रह सकता है। कुछ व्यक्तियों के मल या मूत्र में ज्वर के आक्रमण के कई वर्ष पश्चात् तक जीवाणु मिला करते हैं।

यह जीवाणु ज्वर के आक्रमण के पश्चात् कभी-कभी अस्थि इत्यादि में पूयोत्पादन कर देते हैं। कभी-कभी कई वर्ष के पश्चात् जीवाणुओं द्वारा पूयोत्पादन होते देखा गया है।

---

१. Pneumococcus. २. Empyema., ३. Otitis media. ४. B. Coli. ५. Appendicitis. ६. B. Typhosus.

(७) पूयमेह का जीवाणु[1]—यह जीवाणु मूत्र-मार्ग के भीतर व्रणों द्वारा पूयोत्पादन करता है। निमोनिया के जीवाणुओं की भाँति इनके भी जोड़े पाये जाते हैं। इनका आकार सेम के बीज के समान होता है जिसका एक किनारा नतोदर और दूसरा उन्नतोदर होता है। प्रत्येक जोड़े में दोनों जीवाणुओं के नतोदर किनारे एक दूसरे के सामने रहते हैं। इस जीवाणु की उत्पत्ति कठिनता से होती है। इसको रक्त की आवश्यकता होती है। जीवाणुओं को सूत्रमार्ग में प्रविष्ट करने पर पूय बहुतायत से निकलती है।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य जीवाणु भी पूयोत्पादन करते देखे गये हैं। कभी दो या इससे अधिक जीवाणु एक ही स्थान पर पूयोत्पादन में भाग लेते पाये जाते हैं। इसको 'मिश्रित संक्रमण' कहते हैं। कभी कभी एक जीवाणु से विद्रधि उत्पन्न होने के पश्चात् उसमें अन्य जीवाणु प्रविष्ट हो जाते हैं। मिश्रित संक्रमण द्वारा उत्पन्न हुई विद्रधि या शोथ का दूर करना अधिक कठिन होता है।

दूसरा परिच्छेद

रोगी की परीक्षा

षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः । तद्यथा पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन च ।—सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ११।

रोगी की चिकित्सा रोग-निश्चिति पर निर्भर करती है। रोग को पूर्णतया ठीक प्रकार से निश्चय किये बिना चिकित्सा करना उचित नहीं है और न उससे सन्तोषजनक फल ही हो सकता है।

रोग-निश्चिति के दो विशेष साधन हैं। प्रथम, रोगी का स्वयं अपनी व्यथा का कथन और उसके लक्षणों का उत्तम और पूर्ण निरीक्षण। और दूसरे निरीक्षित किये हुए लक्षण तथा चिह्न और रोगी के कथन का पूर्ण विचार।

रोगी के कथन से यह मालूम होगा कि कौन सा अङ्ग रोग-ग्रस्त है जिसकी पूर्ण परीक्षा करनी है। रोगी के कथन पर पूर्ण विश्वास करना उचित नहीं। फिरङ्ग रोग अथवा पूयमेह में प्रायः रोगी रोगोत्पत्ति का कारण नहीं बताते। कुछ रोगों में, जैसे मस्तिष्क के रोग में, रोगियों की स्मृति विकृत हो जाती है। किन्तु शल्य रोगों में प्रायः रोगी के कथन पर ही विश्वास करना होता है। जानुसन्धि की आन्तरिक विकृति में रोगी के कथन के अतिरिक्त

---

१. Gonococcus.

अन्य कोई ऐसा चिह्न नहीं मिलता जिससे रोग की निश्चिति में सहायता मिल सके। रोग किस प्रकार आरम्भ हुआ, कैसे आघात लगा, आघात के पश्चात् सन्धि की क्या दशा थी, चलने में सन्धि में कहाँ पर पीड़ा होती है, इत्यादि बातों के विचार से रोग का निश्चय करना पड़ता है। इस कारण रोगी के कथन को ध्यान से सुनना चाहिए; उसमें जो विशेष बातें हों उनको स्मरण रखते हुए चिकित्सक को स्वयं इस बात का निर्णय कर लेना चाहिए कि रोगी ने जो कुछ कहा है उसमें कौन सी बात ठीक है और कौन निर्मूल है।

रोगी के कथन को सुनते समय यह याद रखना चाहिए कि सम्भव है कि जो कष्ट वह किसी विशेष स्थान पर अनुभव करता है, वह वास्तव में किसी दूरवर्ती अङ्ग में स्थित रोग का परिणाम हो। शिश्न के अग्रभाग में अत्यन्त तीव्र वेदना का कारण वृक्क में स्थित अश्मरी हो सकती है। ग्रीवा के पृष्ठ की पेशिओं के संकोच का कारण मस्तिष्कावरण शोथ हो सकता है। इसी प्रकार एक ओर के पाँव को ऊँचा उठाकर चलने का कारण वंक्षण सन्धि के क्षय रोग का होना सम्भव है। इन कारणों से रोगी के कथन का सदा निरीक्षित लक्षण और चिन्हों के साथ विचार करना चाहिए।

शल्य रोगों के लिए रोगी की परीक्षा-विधि साधारण रोगों की परीक्षा-विधि से कुछ बातों में भिन्न होती है। इन रोगों में, उस अङ्ग पर जहाँ रोग स्थित है, विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि बाहु की अस्थि भग्न है तो दूसरे अङ्गों की परीक्षा करना बहुत आवश्यक नहीं है, जब तक दूसरे लक्षण कुछ अन्य प्रकार की विकृति को सूचित न करते हों। साधारण रोगों में, जैसे आन्त्रिक ज्वर या निमोनिया में, रोगग्रस्त अङ्ग की अत्यन्त सावधानी से और दूसरे अङ्गों की साधारणतया परीक्षा करनी आवश्यक है। विद्यार्थियों को प्रत्येक दशा में पूर्ण परीक्षा करनी ही उचित है, चाहे रोगी किसी प्रकार के रोग से ग्रस्त हो। ऐसा करने से उनको उचित और पूर्ण परीक्षा करने का अभ्यास हो जायगा, कोई बात छूटने न पायेगी। क्रमहीन परीक्षा करना, कहीं सिर की परीक्षा की, तो दूसरी बार पाँव की, फिर फुस्फुस को देख लिया, उसके पश्चात् रोगी से कुछ बात पूछ ली, उचित नहीं है। इससे रोगी की पूर्ण और उचित परीक्षा नहीं हो सकती और विद्यार्थी की भी सदा के लिए आदत बिगड़ जायगी; साथ में समय भी व्यर्थ नष्ट होगा।

विद्यार्थियों को चाहिए कि रोगी की परीक्षा करते समय जो कुछ भी विशेष बातें देखें उनको लिखते जायँ। उनको केवल एक बार परीक्षा करके उससे फल निकालने का स्वभाव बनाना चाहिए। यदि किसी स्थान में अर्बुद है तो एक बार परीक्षा से उसके संबंध की सब बातें जान लेनी चाहिएँ। अस्थिभग्न की केवल एक ही परीक्षा से मालूम हो जाना चाहिए कि वह किस प्रकार का है; भग्न एक ही स्थान पर है या अधिक स्थानों पर; वह साधारण है अथवा संयुक्त; अङ्ग कितना छोटा हो गया है; अस्थियाँ किस ओर को स्थानच्युत हुई हैं; इत्यादि। बार-बार परीक्षा करने से रोगी को कष्ट होता है और उसकी चिकित्सक में श्रद्धा भी कम हो जाती है।

परीक्षा क्रम से होनी चाहिए; उपयुक्त होनी चाहिए; और उद्देश-युक्त होनी चाहिए। चिह्नों और लक्षणों की खोज क्रमानुसार करनी चाहिए; शरीर के एक ओर से प्रारम्भ किया, प्रत्येक संस्थान को लेते गये और उसका पूर्ण अन्वेषण कर डाला। यह सब एक पत्र पर लिख लिया जाय।

इस प्रकार क्रम से सारे शरीर की परीक्षा सहज में हो जायगी, कोई बात न छूटेगी।

जो परीक्षा की जाय उसमें सदा उद्देश होना चाहिए, परीक्षा करते समय वे विशेष बातें जिनको मालूम करना है ध्यान में रहें। यदि यन्त्र द्वारा हृदय की ध्वनि सुनी जा रही है तो उस समय यह ध्यान रहे कि ध्वनि में अमुक-अमुक विकृतियाँ उपस्थित तो नहीं हैं। इस प्रकार से थोड़े ही समय में बहुत कुछ परीक्षा हो जायगी और प्रत्येक बात का ठीक-ठीक पता लग जायगा।

रोगी की परीक्षा का प्रथम भाग **प्रश्नावली** कहलाता है। अनेक प्रश्नों द्वारा उसके रोग का पता लगाना, इन प्रश्नों का प्रयोजन होता है। इस कारण प्रथम रोगी से उसको क्या कष्ट है, यही पूछना चाहिए। इससे वह तुरन्त अपने मुख्य रोग का वर्णन करेगा। सम्भव है जिस स्थान या अङ्ग में पीड़ा हो उसको वह दिखावे। किन्तु अभी निरीक्षण, स्पर्शन समाघात और श्रवण द्वारा अङ्ग की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। जितनी अन्य बातें रोगी से मालूम करनी हैं उनको मालूम कर चुकने के पश्चात् इन साधनों का प्रयोग करना उचित है।

रोग किस प्रकार आरम्भ हुआ, कब से आरम्भ हुआ, किस दिवस तक वह काम कर सकता था, शय्यारूढ़ होने के पूर्व उसकी क्या दशा थी, इत्यादि आवश्यक प्रश्न हैं। रोगी का निवास-स्थान मालूम करना चाहिए; तत्पश्चात् रोगी के स्वभाव तथा व्यसन के सम्बन्ध में प्रश्न किये जावें; वह तम्बाकू, भाँग, चरस, मद्य इत्यादि का प्रयोग तो नहीं करता है। बहुत से शल्य रोगों की निश्चिति में इन प्रश्नों से सहायता मिलती है। ओष्ठ का केन्सर उन व्यक्तियों में अधिक पाया जाता है जो सिगरेट पीने के लिए मिट्टी के पाइप का अधिक प्रयोग करते हैं।

रोगी की पूर्व दशा का ज्ञान प्राप्त करना भी बहुत आवश्यक है। वर्तमान रोग से पूर्व वह किन-किन रोगों से ग्रस्त हो चुका है, यह अवश्य मालूम करना चाहिए। फिरङ्ग रोग से अनेकों शल्य रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों की उत्पत्ति में आघात भी बहुत बड़ा भाग लेता है। बहुधा देखा जाता है कि जिस स्थान पर आघात लगा था कुछ समय के पश्चात् वहीं शोथ, व्रण, अर्बुद इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं।

रोगी का पारिवारिक इतिहास भी जानना आवश्यक है। फिरङ्ग और क्षय रोगों की पैतृक प्रवृत्ति होती है। क्षय, यद्यपि वास्तव में पैतृक रोग नहीं है, तो भी वह सन्तति में रोग की प्रवृत्ति अवश्य उत्पन्न कर देता है। प्रायः देखा जाता है कि इस रोग से ग्रस्त माता-पिता की सन्तान भी कभी न कभी रोग का ग्रास बन जाती है।

फिरङ्ग पैतृक रोग है। यदि गर्भाधान के समय माता या पिता कोई भी इस रोग से ग्रस्त है तो बच्चा भी अवश्य ही रोगग्रस्त होगा। यदि रोग तीव्र है तो बच्चे का जीवित उत्पन्न होना ही कठिन है। यदि उत्पन्न हुआ भी तो उसमें रोग के सब लक्षण उपस्थित होंगे। माता-पिता को रोग होने के जितने अधिक समय के पश्चात् बच्चे होंगे उतनी ही उनके रोग से बच जाने की अधिक सम्भावना है।

इस रोग से अनेकों उपद्रव होते हैं। इस कारण इस रोग के सम्बन्ध में, अवश्य प्रश्न कर लेने चाहिएँ। बच्चों में भी रोग के लक्षणों का निरीक्षण कर लेना उचित है।

इसी प्रकार अन्य रोगों, जैसे केन्सर अथवा सन्धिवात, के सम्बन्ध में प्रश्न कर लेने चाहिएँ।

प्रश्न करते समय तीन बातों का विशेष ध्यान रक्खा जाय—

(१) प्रश्नों का विशेष क्रम होना चाहिए और उनका उत्तर भी उसी प्रकार लिखा जाना चाहिए।

(२) रोगी से कोई ऐसा प्रश्न न पूछा जाय जिससे उसको प्रश्न का उत्तर स्वयं ही सूझ जावे।

"क्या तुम्हारी पीठ में कभी दर्द हुआ था ?" यह न पूछकर रोगी से पूछना चाहिए कि "क्या तुम्हारे शरीर में कहीं किसी समय दर्द हुआ था ?" प्रथम प्रकार के प्रश्नों से रोगी को स्वयं ही उसका उत्तर सूझ जाता है।

(३) प्रश्नों को पूछते और रोगी की परीक्षा करते समय उसके साथ इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए जिससे रोगी को निश्चय हो जावे कि जो कुछ उसके साथ किया जा रहा है वह उसी की भलाई के लिए है।

प्रश्नों द्वारा जितना भी रोगी की दशा का ज्ञान हो सकता है वह प्राप्त कर चुकने के पश्चात् रोगी की परीक्षा करनी चाहिए। शल्य रोगों में निरीक्षण और स्पर्शन ही के द्वारा रोग का निर्णय किया जाता है। समावात से भी कभी-कभी सहायता मिलती है।

प्रश्नों की भाँति परीक्षा में भी क्रम होना चाहिये। सबसे प्रथम रुग्णस्थान की परीक्षा अत्यन्त सावधानी के साथ करनी चाहिए। भिन्न-भिन्न रोगों में भिन्न-भिन्न बातें मालूम करनी होती हैं। उनके अनुभव पर रोग का निश्चय निर्भर करता है। प्रथम अङ्ग का पूर्ण निरीक्षण करना उचित है। यदि आवश्यक हो तो उस स्थान को दूसरी ओर के समान स्थान से मिलाकर देखना चाहिए, यदि कोई विशेषता मालूम हो तो उसको लिख लिया जाय। अस्थिभग्न तथा सन्धि-विश्लेष में क्षत अङ्ग को दूसरी ओर के अङ्ग से मिलाकर देखना आवश्यक है। इससे अङ्ग की लम्बाई में जो कमी हो गई है वह मालूम हो जायगी। यदि अर्बुद है तो उसका आकार, उसके ऊपर के चर्म का क्षत या अक्षत होना, उससे रक्त-प्रवाह, उसके चारों ओर का स्थान, पास की धातुओं के साथ उसका संयुक्त या स्वतन्त्र होना, घातकता के लक्षण, स्राव इत्यादि सब बातों को ध्यान से देखना चाहिए।

कण्ठ, नासिका, कर्ण, नेत्र इत्यादि की परीक्षा उत्तम प्रकाश में यन्त्रों द्वारा करनी चाहिए। अन्य अङ्गों में भी, जहाँ आवश्यक हो, दर्शक यन्त्रों, जैसे गुदा[१]-दर्शक, श्वास-मार्ग[२]-दर्शक, मूत्राशय[३]-दर्शक इत्यादि द्वारा परीक्षा की जा सकती है। किन्तु विद्यार्थियों को इन यन्त्रों का प्रयोग न करना चाहिए, उनके द्वारा रोगी को हानि होने की सम्भावना है।

परीक्षा करते समय रोगी को जितना भी कम कष्ट दिया जा सके उतना ही उत्तम है। अङ्ग को अत्यन्त सावधानी से स्पर्श करना चाहिए। रुग्ण अङ्ग के स्पर्श से वहाँ

---

१. Sigmoidoscope. २. Bronchoscope. ३. Cystoscope.

की पेशियाँ संकुचित हो जाती हैं और कई मिनट तक उसी दशा में रहती हैं। इससे स्पर्शन के द्वारा रोग का इतना पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता जितना पेशियों के ढीले रहने पर होता है। साथ में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि स्पर्शन इत्यादि जितना कम हो उत्तम है। अस्थि-भग्न में सम्भव है कि अनुचित स्पर्श से अथवा अङ्ग को हिलाने से चर्म, नाड़ी तथा धमनी इत्यादि जो अभी तक अक्षत हैं क्षत हो जावें, और साधारण भग्न संयुक्त बन जावे। इसके अतिरिक्त जब रोगी को परीक्षा करने में अधिक कष्ट नहीं होता तो चिकित्सक में उसकी श्रद्धा बढ़ जाती है।

यद्यपि साधारण शल्य रोगों में सब अङ्गों की परीक्षा करना आवश्यक नहीं है, तो भी यदि शल्य रोग के साथ कोई शारीरिक रोग उपस्थित हो तो प्रत्येक अङ्ग की पूर्ण परीक्षा करनी चाहिए।

तीसरा परिच्छेद

निर्विषत्व, विषहरण और विसंक्रामण

जीवाणुओं के व्रण में प्रविष्ट होने से पूय उत्पन्न होती है। इसको जीवाणु अथवा विष-व्याप्ति कहा जाता है। धूल इत्यादि के कण वायु द्वारा व्रण में पहुँचकर उसको अशुद्ध कर सकते हैं। चिकित्सक अथवा उपचारकों की असावधानी से, उनके हाथ, यन्त्र तथा उपचार में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं द्वारा व्रण में संक्रमण पहुँच सकता है।

आधुनिक शल्य-प्रणाली के पूर्व, जिसके जन्मदाता लार्ड लिस्टर थे, प्रायः शस्त्र-कर्म पूयमय हो जाया करते थे। क्षतज विसर्प फैलना साधारण बात थी। इस कारण शस्त्र-कर्मों में रोगियों की मृत्यु भी बहुत होती थी। इस पूयोत्पादन के सम्बन्ध में अन्वेषण करते हुए लार्ड लिस्टर ने विचारा कि जिस प्रकार शर्करा में ख़मीर के कुछ कणों को मिला देने से मद्य बन जाता है, सम्भव है कि इसी प्रकार जीवाणुओं के रक्त या सीरम में मिल जाने से पूय उत्पन्न हो जाती हो। अतएव उन्होंने व्रणों के उपचार में जीवाणु-नाशक वस्तुओं का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। इससे व्रणों में पूयोत्पत्ति बहुत कम हो गई। विसर्प इत्यादि का फैलना भी बहुत घट गया। इस प्रकार इस विषहारी[1] चिकित्सा को बहुत सफलता हुई।

इसके पश्चात् निर्विष चिकित्सा का आविष्कार हुआ। शस्त्र-कर्म से उत्पन्न हुए व्रणों में प्रविष्ट जीवाणुओं को नष्ट करने की अपेक्षा उनको प्रवेश ही न करने देने की आयोजना होने लगी। आन्त्रवृद्धि या बद्धान्त्र तथा अन्य अनेकों ऐसे रोग हैं जो जीवाणुओं के कारण

---

1. Antisceptic.

उत्पन्न नहीं होते, किन्तु शस्त्र-कर्म द्वारा उत्पन्न हुए व्रण में जीवाणुओं के प्रवेश से पूयोत्पादन होने लगता है। यदि जीवाणुओं को प्रविष्ट न होने दिया जाय तो पूय भी उत्पन्न न होगी। यदि रोगी के शरीर के उस स्थान को, जहाँ शस्त्रकर्म[१] करना है, यन्त्रों को, उपचारवस्त्र[२], बन्धन, प्लोत[३] और चिकित्सक के हाथों को, संक्षेपतः जितनी भी वस्तुएँ शस्त्रकर्म में प्रयुक्त होनेवाली हैं उन सबको तथा रोगी के चारों ओर के वायुमण्डल को जीवाणुरहित कर दिया जावे तो व्रण में संक्रमण[४] के पहुँचने की कोई भी सम्भावना न रह जायगी। आधुनिक प्रणाली के अनुसार ऐसे शस्त्र-कर्मों में पूय का उत्पन्न होना इतना असाधारण हो गया है कि वह असावधानी का सूचक माना जाता है।

जो रोग जीवाणुओं के कारण उत्पन्न होते हैं—जैसे साधारण विद्रधि, पीड़िका, अथवा शोथ—उनमें विषहारी चिकित्सा की जाती है। जीवाणु-नाशक वस्तुओं के प्रयोग द्वारा व्रण में उपस्थित जीवाणुओं को नष्ट किया जाता है। किन्तु जो रोग जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न नहीं होते वहाँ निर्विष[५] चिकित्सा पद्धति का प्रयोग किया जाता है। शस्त्र-कर्म से पूर्व कर्मक्षेत्र[६] को पूर्णतया जीवाणु-रहित कर दिया जाता है। जो वस्तुएँ शस्त्र-कर्म में प्रयुक्त अथवा व्रण के सम्पर्क में आनेवाली हैं उनको भी जीवाणु-रहित किया जाता है। इसी प्रकार सर्जन के हाथ तथा अन्य सहायकगण भी पूर्णतया शुद्ध होने चाहिएँ।

जीवाणुओं का नाश करने के लिए कई प्रकार की वस्तुएँ प्रयुक्त होती हैं। इनमें सबसे मुख्य अग्नि है जिसका प्रयोग प्रायः भाप के रूप में होता है। यन्त्र और वस्त्र पर्याप्त समय तक भाप में रखने से पूर्णतया जीवाणु-मुक्त हो जाते हैं।

कई रासायनिक वस्तुओं का भी प्रयोग किया जाता है। इनमें से कुछ का विलयन के रूप में, कुछ का चूर्ण की भाँति और कुछ का प्रलेप बनाकर प्रयोग होता है। इनको विषहारी अथवा विसंक्रामक[७] वस्तु कहते हैं। इनमें निम्नलिखित मुख्य हैं।

प्रक्षालन द्रव्य अथवा विलयन

प्रत्येक चिकित्सक अपनी रुचि के अनुसार किसी विशेष वस्तु का अधिक प्रयोग करता है। निम्न वस्तुएँ विशेष हैं—

कार्बोलिक अम्ल—इससे जीवाणुओं का तुरन्त नाश होता है। विलयन की शक्ति कम होने पर वह जीवाणुओं को नष्ट नहीं करता, केवल उनकी वृद्धि रोक देता है। शुद्ध अम्ल के श्वेत रङ्ग के लम्बे कण होते हैं जो प्रकाश और वायु के सम्पर्क से गुलाबी या हल्के लाल हो जाते हैं। इन कणों को १० गुने जल के साथ गरम करने से एक तेल के समान गाढ़ा तरल पदार्थ तैयार हो जाता है, जिसको शुद्ध कार्बोलिक अम्ल कहते हैं। यह तीव्र दाहक होता है।

साधारण प्रयोग के लिए इसके २० में १, ४० में १, और ६० में १ शक्ति के विलयन बनाये जाते हैं; अर्थात् एक भाग अम्ल में शेष भाग जल मिलाया जाता है। इस प्रकार जितना जल अधिक होता है उतनी ही विलयन की शक्ति कम होती है। २० में १ शक्ति-

१. Operation २. Dressings. ३. Swab. ४. Infection. ५. Aseptic. ६. Field of operation. ७. Disinfectant.

वाले विलयन को रोगी के चर्म को शुद्ध करने के काम में लाते हैं। उसमें रबड़ की नलिकाएँ तथा सीने का सामान जैसे कैटगट तथा रेशम इत्यादि रक्खे जाते हैं। कम शक्ति के विलयन को हाथ धोने अथवा शस्त्र-कर्म के समय यन्त्र को रखने के काम में लाया जाता है। इस वस्तु से न केवल जीवाणु ही नष्ट होते हैं किन्तु दुर्गन्धि भी जाती रहती है। इसमें चर्म के भीतर प्रवेश करने की बहुत शक्ति होती है। वसा तथा अलव्यूमिन के सम्पर्क में आने से यह वस्तु निष्क्रिय नहीं होती।

कुछ व्यक्तियों तथा बालकों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। व्रण पर शुद्ध अम्ल के लगाने से उसका शोषण होकर "कार्बोल्यूरिया" नामक रोग उत्पन्न हो जाता है। हल्के हरे रंग का मूत्र आने लगता है। चक्कर आना, जी मचलना, वमन इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अधिक भयंकर दशाओं में हृदय निःस्तब्ध तक हो सकता है। इस कारण विस्तृत व्रणों में तथा जले हुए स्थान पर इसका अधिक प्रयोग न करना चाहिए।

रस कर्पूर—यह पारद का एक योग है। इसके विलयन ५००० में १, २००० में १, १००० में १ और ५०० में १ की शक्ति के बनाये जाते हैं। साधारणतया १००० में एक की शक्ति के विलयन से जीवाणु शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इस वस्तु के ५०० में १ के घोल में ५ प्रतिशत कार्बोलिक अम्ल मिलाने से एक प्रबल विसंक्रामक वस्तु बन जाती है, जिसको Lister's strong mixture कहते हैं। इसकी क्रिया बहुत तीव्र होती है। यह वस्तु अत्यन्त विषैली है। इस कारण इसके विलयन में किसी प्रकार का रंग प्रायः नीला रङ्ग, मिला दिया जाता है। यह वस्तु रक्त या सीरम के सम्पर्क में आने से निष्क्रिय हो जाती है। शस्त्र इत्यादि इससे काले पड़ जाते हैं। इसमें कार्बोलिक अम्ल के बराबर चर्म में प्रवेश करने की शक्ति नहीं है।

बिन आयोडाइड-आफ़-मर्करी—यह भी पारद ही का योग है। यह रस-कर्पूर की अपेक्षा अधिक प्रबल, किन्तु उससे कम विषैला है। इसका विलयन जल तथा स्पिरिट दोनों में बनाया जा सकता है। हाथ अथवा रोगी के चर्म को स्वच्छ करने के लिए मिथिलेटेड स्पिरिट में ७० प्रतिशत शक्ति का विलयन बनाया जाता है।

लाईसोल—यह गहरे भूरे अथवा काले रङ्ग का गाढ़ा तरल द्रव्य होता है। इसका २ प्रतिशत का विलयन प्रयोग किया जाता है। यह कार्बोलिक अम्ल की अपेक्षा अधिक प्रबल है, किन्तु विषैला कम है। इससे शस्त्र नहीं बिगड़ते।

पुटेशियम परमेंगनेट—यह गाढ़े बैंगनी रङ्ग का पदार्थ है जो छोटे कणों के रूप में मिलता है। पूय तथा अन्य ऐन्द्रिक वस्तुओं के सम्पर्क से इससे शुद्ध आक्सिजन निकलकर जीवाणुओं का नाश करती है। पूयमय स्थानों को धोने से कुछ समय के पश्चात् लाभ होता है। इसके प्रयोग से स्थान का रङ्ग भूरा हो जाता है।

हाइड्रोजन-पर-आक्साइड—यह जल की भाँति स्वाद, रङ्ग और गन्ध से रहित एक तरल द्रव्य होता है। इसके प्रत्येक अणु में जल की अपेक्षा आक्सिजन का एक परमाणु अधिक होता है। इस वस्तु की क्रिया आक्सिजन के इसी परमाणु पर निर्भर करती है। यह बहुत ही सहज में पृथक् होकर अंग की धातुओं पर आक्रमण करता है जिससे वह शुद्ध हो जाती है।

पूयमय स्थानों को धोने के लिये यह बहुत उत्तम वस्तु है। इसको ऐसी बोतल में रखना चाहिए जिससे तनिक भी गैस न निकलने पावे। प्रयोग करते समय बोतल से थोड़ासा द्रव्य निकालकर किसी प्याले में समान भाग जल के साथ मिला दिया जाता है। इसको पूयमय स्थान पर डालने से व्रण में झाग उठने लगते हैं। जितनी पूय अधिक होती है उतने ही झाग भी अधिक उठते हैं। यदि वहाँ की पूय कड़ी होती है तो वह भी झागों द्वारा व्रण के मुख पर आ जाती है। अस्वस्थ व्रण, प्रमेह, विद्रधि तथा गाढ़ी पूययुक्त विद्रधि में प्रयोग करने से इस वस्तु से बहुत लाभ होता है। इससे रक्तस्राव के बन्द होने में भी सहायता मिलती है।

सेनीटास—यह एक प्रकार का श्वेत रङ्ग का चूर्ण होता है। इसकी क्रिया भी पुटाश परमेंगनेट के समान है।

आयोडीन—यह वस्तु काले या गहरे रङ्ग के छोटे-छोटे कणों के रूप में आती है। इसका विलयन रेक्टीफ़ाइड या मिथिलेटेड स्पिरिट में बनाया जाता है। यह बहुत ही तीव्र विसंक्रामक है। इसके विलयन की शक्ति २ से ५ प्रतिशत तक होती है। यह टिंचर आयोडीन कहलाता है। चर्म पर लगाने से पूर्व उस स्थान को पूर्णतया शुद्ध कर लेना चाहिए। जल की उपस्थिति में यह काम नहीं करता। शोथ पर लगाने से लाभ होता है।

अल्कोहल ७० प्रतिशत और रेक्टीफ़ाइड स्पिरिट—यह दोनों विसंक्रामक हैं। किन्तु ७० प्रतिशत अल्कोहल अधिक तीव्र है। हाथों को धोने अथवा चर्म को स्वच्छ करने के लिए अल्कोहल उत्तम है। किन्तु शस्त्रों को रखने तथा शुद्ध करने के लिए स्पिरिट का प्रयोग करना चाहिए।

बोरिक अम्ल—यह एक मृदु विसंक्रामक है। इसके विलयन को मुख, नासिका, नेत्र तथा अन्य कोमल श्लैष्मिक कलाओं से वेष्टित स्थानों को धोने के काम में लाया जाता है। इसका विलयन साधारणतया १ औंस (½ छटाँक) जल में १० ग्रेन (५ रत्ती) अम्ल को मिलाकर बनाया जाता है।

हाइपोक्लोरस अम्ल और उसके लवण—इस वस्तु का कुछ वर्षों से अधिक प्रयोग हुआ है और इससे फल भी सन्तोषजनक निकले हैं। इस वस्तु का चूर्ण और गैस दोनों के रूप में प्रयोग हो सकता है। इसकी क्रिया तीव्र होती है। इसका मूल्य भी कम है और इसके प्रयोग से शरीर पर कोई बुरा प्रभाव भी नहीं पड़ता। इसका चूर्ण, जिसे यूपैड[1] कहते हैं, उपचार-वस्त्रों में रखकर व्रण के ऊपर रक्खा जा सकता है। जल को मिलाकर जो उसका विलयन बनाया जाता है उसको यूसौल[2] कहते हैं।

ताज़ा ब्लीचिंग पाउडर और बोरिक अम्ल के समान भाग मिलाने से यूपैड बनता है। प्रयोग करने के पूर्व यूपैड को कुछ समय तक रख दिया जाता है। यूसौल तैयार करने के लिए ७ तोला ब्लीचिंग पाउडर को १८ छटाँक जल में मिलाकर उसको भली भाँति

---

१. Eupad. २. Eusol.

हिलाया जाता है। तत्पश्चात् उसमें १ तोला बोरिक अम्ल धीरे-धीरे मिलाते हैं। इस मिश्रण को एक बोतल में बन्द करके २४ घण्टे तक रक्खा रहने देते हैं। तत्पश्चात् बोतल में नीचे बैठे हुए अवक्षेप के ऊपर के जल को धीरे-धीरे दूसरी बोतल में निथार लेते हैं। इस प्रकार यूसौल तैयार हो जाता है। इससे व्रणों की दुर्गन्धि नष्ट होती है और वह थोड़े ही समय में शुद्ध और स्वच्छ हो जाते हैं।

एक्रीफ्लेवीन—यह एक भूरे लाल रङ्ग का चूर्ण होता है, जिसमें तीव्र जीवाणु-नाशक शक्ति होती है। इसका ५००० में १ अथवा १००० में १ शक्ति का विलयन बनाया जाता है। यह पूयमेह के व्रणों को थोड़े ही समय में शुद्ध कर देता है। इससे शरीर पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। कोमल स्थानों में भी इसका प्रयोग हो सकता है।

विसंक्रामक चूर्ण—(१) बोरिक अम्ल—चूर्ण के रूप में बोरिक अम्ल बड़ा उपयोगी है। यह व्रण को पूय पड़ने से बचाता है। इसके लगाने से कुछ पीड़ा होती है। इस वस्तु को शुद्ध करने के पश्चात् काँच की डाटवाली बोतलों में बन्द रखना चाहिए।

(२) आइडोफार्म—यह एक पीले रङ्ग का चूर्ण होता है। अस्वस्थ तथा क्षय-जन्य व्रणों में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। जब यह वस्तु सीरम के सम्पर्क में आती है तो उससे शुद्ध आयोडीन गैस निकलती है जो चारों ओर की धातुओं तथा जीवाणुओं पर आक्रमण करके उनको नष्ट करती है। इस वस्तु में स्वतः जीवाणु नाशक शक्ति नहीं है। इस कारण इसमें जीवाणु जीवित रह सकते हैं। अतएव प्रयोग करने के पूर्व कार्बोलिक अम्ल तथा फार्मेल्डीहाइड के वाष्प के द्वारा आइडोफ़ार्म को शुद्ध कर लेना उचित है। उष्णता से आइडोफार्म का नाश होता है, क्योंकि उससे आयोडीन निकल जाती है। आइडोफार्म एमल्शन इस प्रकार बनाया जाता है—

आइडोफार्म	१० भाग
ग्लिसरीन	७० भाग
जल	१२० भाग

इनको मिलाने से एक गाढ़ी, तरल, पीले रङ्ग की वस्तु बन जाती है जिसको क्षय-जन्य अथवा नाड़ी-व्रण इत्यादि में भरा जाता है।

विसंक्रामक प्रलेप—बोरिक प्रलेप—बोरिक अम्ल को वेस्लीन में मिलाकर प्रलेप बनाया जाता है। १० ग्रेन (५ रत्ती) अम्ल को १ औंस (½ छटाँक) वेस्लीन में मिलाते हैं। किन्तु आवश्यकतानुसार शक्ति को घटाया बढ़ाया जा सकता है। यह एक वस्त्र के टुकड़े पर फैलाकर चर्म के फैले हुए व्रणों, जैसे दाह व्रण इत्यादि, पर लगाया जाता है।

यशद प्रलेप—व्रण को सब भाँति के बुरे प्रभावों से बचाने के लिए इस प्रलेप का प्रयोग होता है।

अन्य कई वस्तुओं को भी प्रलेप बनाने के काम में लाते हैं।

शस्त्र-कर्म में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं का विसंक्रामण

शस्त्रों का विसंक्रामण—शस्त्र-कर्म में प्रयुक्त होनेवाले शस्त्रों को जल में कम से कम १० मिनट तक उबालना चाहिए। जिन पात्रों में शस्त्रों को उबाला जाता है उनको विसंक्रामक पात्र कहते हैं। यह प्रायः निकल धातु के बने होते हैं और आकार में चौकोर अथवा लम्बे होते हैं। उनके नीचे पाये लगे रहते हैं, जिनके ऊपर पात्र को खड़ा करके उसके नीचे स्टोव अथवा स्पिरिट लैम्प जला दिया जाता है। पात्र के भीतर ठीक उसी

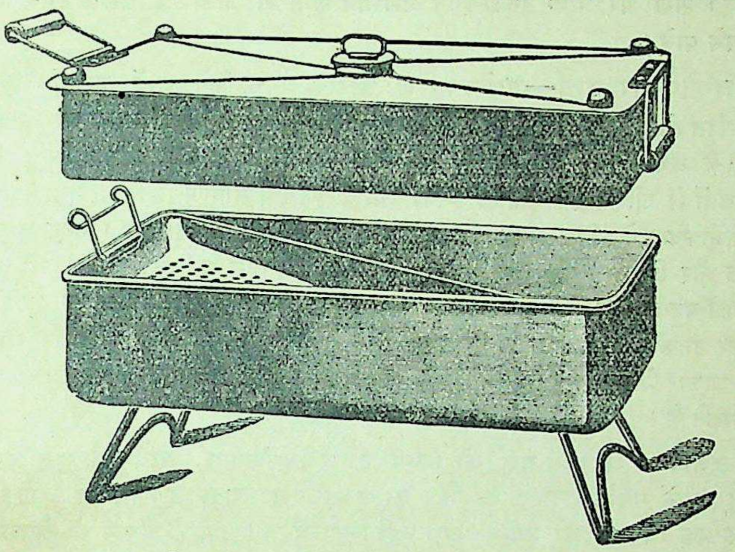

चित्र नं० १ शस्त्रों के लिए विसंक्रामक पात्र

के आकार की, किन्तु उससे तनिक छोटी, तारों की एक चलनी रहती है जिसके दोनों ओर उसको पकड़ने के लिए दो कुण्डे लगे रहते हैं। पात्र में जल भरकर चलनी को शस्त्रों के साथ पात्र में रखकर ऊपर से ढक्कन ढक दिया जाता है। पात्र के जल में १ प्रतिशत सोडा कार्बोनेट मिला देते हैं जिससे जल का क्वथनाङ्क बढ़ जाता है।

विसंक्रामण करते समय जब पात्र में जल उबलने लगे तब शस्त्रों को जल में डालें। ऐसा करने से शस्त्रों में मोरचा नहीं लगेगा। तत्पश्चात् ढक्कन बन्द कर देना चाहिए। इस प्रकार २० या ३० मिनट तक शस्त्रों को उबालने के पश्चात् पात्र के ढक्कन को हटाकर चलनी को कुण्डों से पकड़कर बाहर निकाल लिया जाता है। जल पात्र में रह जाता है और शुद्ध शस्त्र बाहर निकल आते हैं जिनको तामचीनी की बड़ी-बड़ी रकाबियों में, जो पूर्व ही उबालकर शुद्ध कर ली गई हैं, रख दिया जाता है और उन पर उबला हुआ जल अथवा ६० में १ की शक्ति का कार्बोलिक विलयन डाल दिया जाता है।[1]

काटनेवाले तेज शस्त्र चाकू इत्यादि की उबालने से धार जाती रहती है। उनका

---

१. अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात्।—सुश्रुत

विसंक्रामण केवल कार्बोलिक अम्ल के द्वारा किया जाता है। उनको २ या ३ मिनट तक शुद्ध कार्बोलिक अम्ल में रखकर फिर स्पिरिट में रखना चाहिए। यदि कोई शस्त्र सर्जन के हाथ से छूटकर भूमि पर गिर पड़े अथवा कोई अशुद्ध वस्त्र उसमें लग जावे तो उसको पहिले की ही भाँति फिर से शुद्ध करके प्रयोग करना चाहिए। यदि शल्य-कर्म के बीच में किसी नये शस्त्र की आवश्यकता हो तो उसको कार्बोलिक अम्ल के द्वारा शुद्ध किया जा सकता है। शस्त्र-कर्म के पश्चात् ठण्डे जल से धोकर शस्त्रों को साबुन और सोडे से रगड़ना चाहिए और उनको उबालकर तथा अलकोहल में धोकर रख देना चाहिए। शस्त्रों पर प्रायः हलकी श्वेत वैसलीन लगा दी जाती है जिससे उनमें मोरचा न लगने पावे।

व्रणोपचार वस्त्र—व्रणोपचार में जो वस्त्र प्रयुक्त किये जावें वह जीवाणु और विष-रहित होने चाहिएँ। पूयमय व्रणों के उपचार वस्त्रों में कोई विसंक्रामक वस्तु रखी जा सकती है अथवा ऐसी वस्तु से युक्त वस्त्र का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु निर्विष शस्त्र-कर्मों में जो वस्त्र प्रयुक्त हो उनको पूर्व ही पूर्णतया जीवाणु-रहित कर देना चाहिए।

व्रणोपचार के लिए गौज़ और रूई का प्रयोग किया जाता है। गौज़ बहुत ही बारीक और झिरझिरा वस्त्र होता है जो बाज़ार में इसी नाम से बिकता है। इसमें शोषण करने की बहुत शक्ति होती है। व्रण के भीतर रखने के लिए इसके छोटे-छोटे टुकड़ों को काटकर उनको विसंक्रमित कर लिया जाता है। आठ या दस गज विसंक्रमित गौज के पैकेट बाजार में बिकते हैं। जिनके पास विसंक्रामण के साधन नहीं हैं वह इनका प्रयोग कर सकते हैं।

व्रणोपचार में प्रथम व्रण को किसी उत्तम विसंक्रामक विलयन से शुद्ध करने के पश्चात् उसमें पर्याप्त लम्बाई का गौज का टुकड़ा रखा जाता है। निर्विष शस्त्रकर्मों में विसंक्रामक विलयन का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता। कर्म के स्थान को केवल गौज से ढक दिया जाता है और उसको सुरक्षित करने के लिये रूई से ढककर बाँध दिया जाता है। पूयमय व्रणों में गौज के रखने का यह अभिप्राय होता है कि वह व्रण से पूय को बराबर खींचता रहे। गौज के ऊपर जो रूई रखी जाती है वह गौज से इस पूय को खींचकर अपने में संग्रह कर लेती है।

जिस रूई का व्रणोपचार में प्रयोग किया जाता है वह 'शोषक रूई' कहलाती है। साधारण रूई को सोडे और कुछ अन्य रासायनिक वस्तुओं के साथ उबालते हैं जिससे रूई की वसा दूर होकर उसमें शोषक-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, और वह एक स्पंज की भाँति काम करती है। व्रणों में गौज़ के ऊपर रख देने से यह गौज़ के द्वारा शोषित पूय को ग्रहण करती रहती है जिससे पूय गौज़ में एकत्रित नहीं हो पाती। इससे गौज़ की शोषक शक्ति वैसी ही बनी रहती है।

गौज़ और रूई दोनों को भाप के द्वारा शुद्ध किया जाता है। भाप के तापक्रम से सब प्रकार के जीवाणुओं का नाश हो जाता है। इस प्रकार के विसंक्रमण से वस्त्रों में कोई रासायनिक वस्तु भी नहीं मिलने पाती। यह वस्तुएँ, विशेषकर यदि उनकी मात्रा अधिक हो तो, व्रण में क्षोभ उत्पन्न कर देती हैं।

भाप द्वारा विसंक्रामण के लिए विशेष प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है।

चित्र में इस प्रकार का एक यन्त्र दिखाया गया है। इसके भीतर खाली स्थान होता है। चारों ओर की भित्तियाँ लोहे की दोहरी चादर की बनी होती हैं। भीतरी चादर में छिद्र होते हैं जिनके द्वारा भाप भीतर के ख़ाली स्थान में प्रवेश करती है। इस स्थान की तलहटी में, जिसके नीचे जल रहता है, कोई छिद्र नहीं होता जिससे उबलने के समय बीच के स्थान में जल नहीं आ पाता। केवल पार्श्व के छिद्रों द्वारा भाप भीतरी स्थान में पहुँचती रहती है। यन्त्र में भाप की दाब को जानने के लिए एक यन्त्र ऊपर लगा रहता है। साथ में जल भरने, उसको निकालने, अथवा अधिक होने पर भाप को निकालने इत्यादि के लिए नल लगे रहते हैं।

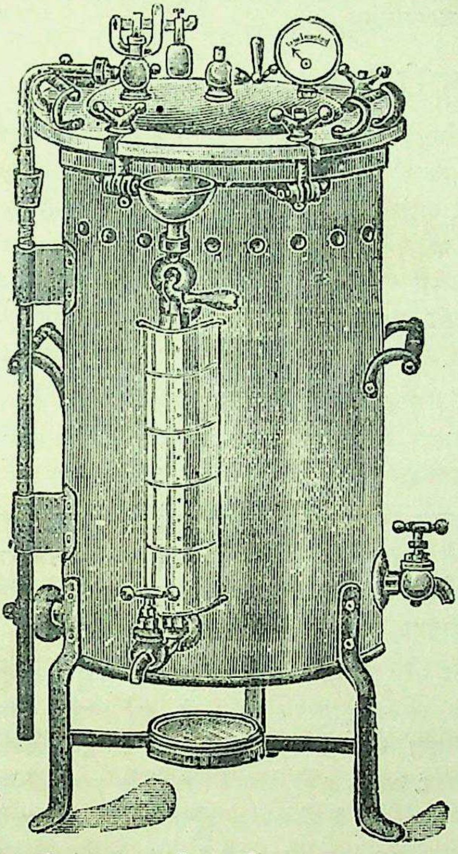

चित्र नं० २ अतिदाब विसंक्रामक यन्त्र

यह यन्त्र दो प्रकार के होते हैं। एक में भाप की दाब ३० या २५ पौंड प्रति वर्ग इंच के होती है। इनको 'अति दाब विसंक्रामक यन्त्र' कहते हैं। दूसरे प्रकार के यन्त्रों में दाब केवल १० पौंड प्रति वर्ग इंच के लगभग होती है। ये 'न्यून दाब विसंक्रामक' कहलाते हैं। प्रथम प्रकार के यन्त्र अधिक सन्तोषजनक होते हैं। उनमें भाप का तापक्रम १२० सेंटीग्रेड तक पहुँच जाता है। इनमें २० मिनट में वस्त्रों का पूर्ण विसंक्रामण होता है।

कुछ इस प्रकार के भी यन्त्र होते हैं जिनमें नीचे के भाग में शस्त्रों को उबला जाता है, और ऊपरी भाग में रूई, गौज़ इत्यादि, जिन वस्त्रों का विसंक्रामण करना होता है, रहते हैं। नीचे के भाग के जल के उबलने से जो भाप उत्पन्न होती है वह ऊपरी भाग में पहुँचकर वस्त्रों को शुद्ध करती है। यह पात्र सन्तोषजनक नहीं होते। वस्त्रों में भाप की दाब के अति न्यून रहने से उत्तम विसंक्रामण नहीं होता।

विसंक्रामण के पश्चात् वस्त्रों को डिब्बों में भरकर रख दिया जाता है।

विसंक्रमित वस्तुओं को रखने के डिब्बे

यह डिब्बे कई आकार के होते हैं। विसंक्रामक यन्त्रों के भीतर जिन डिब्बों में भरकर वस्त्रों को रक्खा जाता है वे गोल होते हैं। इनमें चारों ओर छिद्र होते हैं जिनके

द्वारा भाप भीतर प्रवेश करती है। इनके ऊपर धातु का एक ३ या ४ इंच चौड़ा इस प्रकार का पत्तर चढ़ा रहता है कि उसको डिब्बे के चारों ओर घुमाया जा सकता है। इसमें स्थान-स्थान पर छिद्र होते हैं। डिब्बे में वस्त्रों को भरकर विसंक्रामक यन्त्र में रखने से पूर्व इस पत्तर को इस प्रकार घुमा दिया जाता है कि डिब्बे और पत्तर के छिद्र एक दूसरे के सामने आ जाते हैं। इससे भाप सीधी डिब्बों के भीतर प्रविष्ट होती है। विसंक्रामण के पश्चात् डिब्बों को यन्त्र से निकालने के समय पत्तर को फिर घुमा दिया जाता है जिससे छिद्रों के सामने पत्तर का वह भाग आ जाता है जिसमें छिद्र नहीं होते। इससे बाहर की शीतल वायु भीतर नहीं जा सकती।

विषहारी वस्त्र

जिन व्रणों में अधिक पूय होती है अथवा जहाँ से पूय का निकास उत्तम नहीं होता, वहाँ पर इस प्रकार के वस्त्रों का, जिनमें रासायनिक विसंक्रामक वस्तुएँ मिली रहती हैं, प्रयोग किया जा सकता है। इन वस्तुओं की क्रिया प्रायः केवल जीवाणुओं की वृद्धि को रोकने की होती है; उनको मारने की नहीं। इसके लिए विसंक्रामक के विलयन की अधिक शक्ति होनी चाहिए। किन्तु इतनी शक्ति के विलयनों के प्रयोग से शरीर को हानि पहुँचने की आशङ्का रहती है। इस कारण अधिक शक्ति का विलयन प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

विसंक्रामक वस्तुओं में 'साइनाईड-ऑफ-मर्करी-एंड-ज़िंक' का अधिक प्रयोग होता है। यह पारद और यशद के साइनाईड लवणों से तैयार किया जाता है। कभी-कभी इनके साथ आइडोफ़ार्म का प्रयोग भी होता है।

आधुनिक शल्य-चिकित्सा की सफलता की विशेष कुञ्जी पूर्ण निर्विषत्व और स्वच्छता है। तनिकसी भी असावधानी से शस्त्र-कर्म के दूषित हो जाने की सम्भावना रहती है। इस कारण शस्त्र-कर्म के पूर्व सर्जन तथा उसके सहायकों को पूर्णतया शुद्ध हो जाना चाहिए। हाथों की शुद्धि की ओर जितना भी ध्यान दिया जाय उतना ही कम है।

उसके पश्चात् उनको एक विसंक्रमित गौन पहिनना चाहिए, जिसकी बाहु कलाई तक आ जावे और जो पाँव तक नीचा हो। शस्त्र-कर्म प्रारम्भ करने से पूर्व सर्जन और उसके मुख्य सहायक को अपने शिर और मुख को भी एक लम्बे वस्त्र से ढक लेना चाहिए जिसमें नेत्रों के सामने एक बड़ा अण्डाकार छिद्र हो, जिसके द्वारा वे भलीभाँति देख सकें। यह वस्त्र आगे और पीछे दोनों ओर गले से नीचे तक पहुँच जाता है, जहाँ पर वह दो तनियों द्वारा गले के पीछे की ओर बाँध दिया जाता है। इस प्रकार सर्जन और उसके सहायक के सारे शरीर शुद्ध वस्त्रों से ढँक जाते हैं केवल हाथ खुले रहते हैं, जिन पर शुद्ध किए हुए रबड़ के दस्ताने पहिन लिये जाते हैं।

हाथों की शुद्धि

हाथों की पूर्ण शुद्धि अत्यन्त कठिन है। उँगलियों के बीच तथा हथेली में जो गहरी रेखाएँ होती हैं उनमें मैल जमा हो जाता है। नख के चारों ओर के मांस के नीचे भी मैल के जमा होने की बहुत सम्भावना रहती है। नख के अग्रभाग के नीचे तो वह सदा

ही एकत्रित रहता है, जिसके द्वारा व्रण में अत्यन्त सहज में संक्रामण पहुँच सकता है।

सर्जन और उसके सहायकों को नाखूनों को सदा काटते रहना चाहिए। प्रत्येक बार शस्त्र-कर्म के प्रारम्भ होने के पूर्व अपने नाखूनों को जितना भी अधिक काट सकें काट दें। तत्पश्चात् ऊष्ण जल और साबुन से एक कड़े ब्रश द्वारा हाथ के सारे चर्म को, विशेषकर घाई और नख के चारों ओर के स्थान को, भली भाँति रगड़े। इससे चर्म का एक ऊपर का परत उतर जायगा। ब्रश कड़े बालों का होना चाहिए। इसको, प्रयोग करने से पूर्व, शुद्ध कर लेना आवश्यक है। इस प्रकार कम से कम ५ मिनट तक साबुन और ब्रश से सारे हाथ को रगड़ना चाहिए।

तत्पश्चात् ७०% अल्कोहल में भीगे हुए वस्त्र से हाथों को ५ मिनट तक रगड़ा जावे। पोरवों की घाई या रेखाएँ तथा नखों के नीचे के स्थानों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कुछ सर्जन अल्कोहल के स्थान में २० में १ की शक्ति के कार्बोलिक विलयन से हाथों को शुद्ध करते हैं। इस प्रकार पूर्णतया शुद्ध करने के पश्चात् हाथों पर रबड़ के दस्ताने, जो पहिले उबाल लिये गये हैं, पहिन लिये जाते हैं।

दस्ताने पहिनने के पश्चात् किसी अशुद्ध वस्तु में हाथ न लगाना चाहिए। रोगी के व्रणोपचार वस्त्र इत्यादि को अशुद्ध सहायक उतारेंगे। यदि किसी प्रकार हाथ से कोई वस्तु लग जावे तो उन दस्तानों को उतारकर नवीन शुद्ध दस्ताने पहिनने चाहिएँ।

ब्रश की शुद्धि

जिस ब्रश से हाथ और बाहु रगड़े जावें उसको, प्रयोग करने के पूर्व, जल में कम से कम १० मिनट तक उबालना चाहिए। तत्पश्चात् २० में १ शक्ति के कार्बोलिक विलयन में रख देना चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक बार शस्त्र-कर्म के पूर्व ब्रश को उबाल लेना बहुत आवश्यक है।

रबड़ के दस्ताने

यह बहुत ही पतले रबड़ के बने होते हैं। इनके प्रयोग से उँगलियों की स्पर्शशक्ति में कुछ बाधा नहीं पड़ती। अन्य वस्तुओं की भाँति प्रयोग करने के पूर्व इनको भी शुद्ध कर लेना आवश्यक है। प्रायः इनको जल में उबाल लिया जाता है। किन्तु जिस जल से उनको उबाला जाय उसमें सोडा नहीं मिलाना चाहिए। सोडा रबड़ का नाश कर देता है।

अभ्यास के बिना दस्तानों को पहिनने में कुछ कठिनता होती है। इस कारण हाथों पर थोड़ी स्पिरिट अथवा साबुन और ईथर का विलयन मल लेना चाहिए। इस वस्तु की सहायता से दस्ताने बड़ी सुगमता से हाथों पर चढ़ जाते हैं। पहिनते समय हाथों से दस्तानों के केवल उस भाग को पकड़ना चाहिए जो कलाई पर रहता है, उँगलियों के ऊपर के भाग को कदापि न छूना चाहिए। यदि दस्तानों को उँगलियां पर चढ़ाने के लिए ऊपर से दाबने की आवश्यकता पड़े तो उसके लिए शुद्ध किये हुए गौज़ के एक टुकड़े को स्पिरिट में भिगोकर काम में लाना चाहिए।

कभी-कभी इन दस्तानों में छिद्र हो जाते हैं। यदि उँगलियां अथवा हथेली के ऊपर के भाग में यह छिद्र हों तो उन दस्तानों को प्रयोग में न लाना चाहिए।

रूई तथा वस्त्र के दस्ताने भी बनते हैं किन्तु वह रबड़ के दस्तानों के समान उपयोगी नहीं होते।

शस्त्र-कर्म में जितने भी मनुष्य भाग लें उन सभों को इसी प्रकार दस्ताने पहिनने चाहिएँ।

रोगी के चर्म की शुद्धि

शस्त्र-कर्म के पूर्व रोगी के उस स्थान के चर्म को, जहाँ शल्य-कर्म होनेवाला है, पूर्णतया शुद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। चर्म पर अनेक प्रकार के जीवाणु रहते हैं जो क्षत द्वारा व्रण के भीतर प्रवेश करके पूयोत्पादन कर सकते हैं। जो स्थान जितना अधिक गन्दा होता है, जैसे कक्ष, गुदा के चारों ओर का स्थान अथवा पेड़ू, उसको उतना ही अधिक स्वच्छ और शुद्ध करना आवश्यक है।

जहाँ तक सम्भव हो सके रोगी के चर्म की शुद्धि कम से कम ४८ घण्टे पूर्व प्रारम्भ करनी चाहिए। यदि ४८ घण्टे न मिल सकें तो २४ घण्टे पूर्व वह अवश्य ही शुद्ध हो जाना चाहिए। आवश्यकता के समय कभी-कभी चर्म को शल्य-कर्म के समय ही शुद्ध करना पड़ता है। किन्तु साधारणतया ऐसा करना उचित नहीं है। थोड़े समय में चर्म की पूर्ण शुद्धि होना असम्भव है।

सबसे पहिले चर्म के बालों को उस्तरे से मूड़ देना चाहिए। यह साबुन और उस्तरे से किया जा सकता है; इससे उस स्थान का बहुतसा मैल और कदाचित् चर्म के ऊपरी एक या दो स्तर भी हट जायँगे। तत्पश्चात् उस स्थान को उष्ण जल या साबुन द्वारा शुद्ध रूई के टुकड़े से रगड़कर धोना चाहिए। यदि स्थान या चर्म बहुत कोमल नहीं है तो उसको ब्रश से रगड़ना उचित है, जिसके पश्चात् उसको जल से धोया जा सकता है। यह समाप्त करने पर उस स्थान को किसी ऐसी वस्तु से रगड़ना आवश्यक है जिससे वहाँ की सारी वसा अथवा स्नेहयुक्त वस्तुएँ धुल जायँ। यह वस्तुएँ सदा चर्म से निकलती रहती हैं और इन्हीं के साथ मिलकर जीवाणु तथा दूसरे प्रकार की गन्दगी वहाँ जम जाती है। इसके लिए तारपीन का तेल, ईथर अथवा पुटाश विलयन काम में लाये जाते हैं। तारपीन का तैल चर्म में क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे चर्म लाल हो जाता है; कुछ कोमल चर्म इसको सहन नहीं कर सकते। ईथर सबसे उत्तम वस्तु है, यद्यपि उसका मूल्य अधिक है; उसमें स्नेह को घोल लेने की शक्ति भी अधिक है। जहाँ तक हो सके ईथर ही का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु इसकी अनुपस्थिति में तारपीन का तैल काम में लाया जा सकता है।

जब इस प्रकार चर्म से स्नेह हट जाय तो उसको किसी उत्तम विसंक्रामक से रगड़ना चाहिए। शुद्ध गौज़ के एक टुकड़े को २० में १ शक्ति के कार्बोलिक विलयन अथवा बिन आयोडाइड आफ़ मर्करी और स्पिरिट के विलयन में भिगोकर उससे स्थान को रगड़ा जा सकता है। तत्पश्चात् शुद्ध जल अथवा ६० में १ के कार्बोलिक विलयन से उस स्थान को

धोना चाहिए। अन्त में इसी विलयन में भीगे हुए गौज़ के कई टुकड़ों को उस स्थान पर रखकर उसके ऊपर शुद्ध लिंट अथवा रूई रखकर पट्टी बाँध देनी चाहिए।

प्रथम दिवस इस प्रकार रोगी के चर्म को शुद्ध करने के २४ घण्टे पश्चात् वस्त्रों को खोलकर एक बार फिर ऊपर कही हुई सम्पूर्ण विधि के अनुसार उपचार करना चाहिए। जहाँ तक हो सके यह दूसरी शुद्धि शस्त्र-कर्म के ३ या ४ घण्टे पूर्व हो।

इन क्रियाओं को करते समय यह ध्यान रहे कि कोमल चर्म विसंक्रामकों के अधिक प्रयोग को सहन नहीं कर सकते। कार्बोलिक विलयन को अधिक रगड़ने से चर्म में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है और कभी-कभी "कार्बोल्यूरिया" की दशा उत्पन्न हो जाती है। अन्य विसंक्रामकों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए, वह सब चर्म के क्षोभक होते हैं।

जब रोगी शस्त्र-कर्म की मेज़ पर पहुँचता है तब उसकी पट्टी खोलकर उपचार वस्त्रों को हटाया जाता है और कर्म-क्षेत्र के चारों ओर शुद्ध वस्त्र, तौलिए इत्यादि लगा दिए जाते हैं, जिससे केवल शल्य-कर्म के स्थान के अतिरिक्त रोगी का सारा शरीर शुद्ध वस्त्रों से ढँक जाता है। खुले हुए स्थान पर टिंचर आयोडीन के एक या दो लेप किए जाते हैं जिसके पश्चात् सर्जन शल्य-कर्म प्रारम्भ कर देता है।

रोगी के चर्म को शुद्ध करने की अत्यन्त साधारण विधि उस पर टिंचर आयोडीन का प्रलेप करना है। इसमें चर्म में प्रवेश करने और जीवाणुओं का नाश करने की बहुत शक्ति होती है। किन्तु जल की तनिकसी भी उपस्थिति से यह निष्क्रिय हो जाता है। जब शस्त्र-कर्म के लिए इस वस्तु के द्वारा चर्म को शुद्ध किया जावे तो उस स्थान को कम से कम १२ घण्टे पूर्व मुण्डन करके एक शुद्ध वस्त्र से ढँककर बाँध देना चाहिए।

कर्म के २ घण्टे पूर्व उस स्थान पर टिंचर आयोडीन का एक गाढ़ा लेप करना चाहिए। तत्पश्चात् जब रोगी मेज़ पर पहुँच जावे तब दूसरा लेप करना उचित है।

जिन आवश्यकताओं की दशाओं में तुरन्त ही कर्म करना पड़ता है वहाँ चर्म को बिना जल के मूड़ना चाहिए; उस पर टिंचर आयोडीन का गाढ़ा प्रलेप किया जा सकता है। कोमल चर्म और श्लैष्मिक कला में यह वस्तु दाह उत्पन्न करती है। यह वस्तु रेक्टीफ़ाइड स्पिरिट में २.५% शक्ति की बनी होनी चाहिए।

कुछ सर्जन आयोडीन के स्थान में पिक्रिक अम्ल का प्रयोग करते हैं। इसमें चर्म में प्रवेश करने की बहुत शक्ति होती है, जिससे इसका जीवाणु-नाशक कर्म प्रबल होता है; साबुन और ईथर से स्थान को स्वच्छ करके एक प्रतिशत पिक्रिक विलयन में गौज़ को भिगोकर उस स्थान पर रखकर बाँध दिया जाता है। शस्त्र-कर्म के समय उसको खोलकर एक बार फिर विलयन लगाया जाता है।

टाँके और बन्धन—बन्धन लगाने के लिए 'कैटगट' नामक वस्तु का अधिक प्रयोग किया जाता है। कांगरू-कंडरा, रेशम इत्यादि भी काम में लाये गये हैं। टाँके लगाने के लिए रेशम, सन, रेशम के कीड़े से बनाया हुआ तागा, जिसको सिल्क-वर्म-गट कहते हैं, चाँदी का तार और घोड़े की पूँछ के बालों को काम में लाते हैं। प्रयोग करने से पूर्व इन वस्तुओं का पूर्ण विसंक्रामण होना चाहिए।

रेशम, सिल्क-वर्म-गट, घोड़े के बाल, सन और चाँदी के तारों को साधारणतया

उबालकर शुद्ध किया जाता है। इनको तीन दिवस तक, एक घण्टा प्रति दिन साधारण जल अथवा कार्बोलिक विलयन में उबालकर ६० में १ की शक्ति के कार्बोलिक विलयन में रख देना चाहिए। आवश्यकता के समय इसी को काम में लाया जा सकता है। यदि उचित समझें तो प्रयोग के पूर्व उसको एक बार फिर उबाल लें। रेशम अधिकतर जापान से आता है। ०००००० नंबर का रेशम अधिक प्रयुक्त होता है।

कैटगट—यह वस्तु पशुओं की अन्त्रियों से बनाई जाती है। वह उबालने से जिलैटिन नामक पदार्थ में परिवर्तित हो जाती है। इस कारण इसको उबालकर शुद्ध नहीं कर सकते। इसके विसंक्रामण की निम्न-लिखित दो विधियाँ हैं। एक विधि के द्वारा शुद्ध हुए कैटगट को 'सल्फ़ो-क्रोमिक कैटगट' और दूसरी को 'आयोडीन कैटगट' कहते हैं।

सल्फ़ो-क्रोमिक कैटगट—इसके बनाने में रस-कर्पूर और क्रोमिक एनहाइड्राइड दो वस्तुओं को प्रयुक्त किया जाता है। इनके निम्नलिखित शक्ति के विलयन बनाये जाते हैं:—

(१) रस-कर्पूर —२ ग्राम (१ माशा ३½ रत्ती)
परिस्रुत जल —४०० सी. सी. (१ सी. सी. = १५½ बूँद)

(२) क्रोमिक एनहाइड्राइड—४ ग्राम
परिस्रुत जल —३०० सी. सी.

नंबर २ विलयन का रङ्ग भूरा होता है। उसमें इतना सल्फ़्यूरस अम्ल मिलाना चाहिए कि उसका रङ्ग बिलकुल हरा हो जाय। ऐसा होने पर विलयन में 'क्रोमिक सल्फ़ेट' बन जायगा। तत्पश्चात् उसमें इतना जल मिलाया जाय कि सारा विलयन ५०० सी. सी. हो जावे।

इस प्रकार नंबर २ विलयन को तैयार करके उसमें नंबर १ विलयन मिला दिया जाता है। इसमें चौबीस घण्टे तक कैटगट रखी रहती है। इसके पश्चात् उसको बाहर निकालकर सुखा लिया जाता है और प्रयोग के लिए २० में १ शक्ति के विलयन में रख दिया जाता है।

आयोडीन कैटगट—आयोडीन का १० प्रतिशत शक्ति का विलयन निम्न-लिखित प्रकार से बनाया जाता है।

आयोडीन— १ औंस (आध छटाँक)
पुटाशियम आयोडाइड— २ औंस
परिस्रुत जल— १० औंस

इस विलयन को बनाकर प्रयोग के लिए बोतल में भरकर रख लेते हैं। इससे दो और विलयन बनाये जाते हैं, जिनमें आयोडीन की मात्रा एक और आधा प्रतिशत होती है। वह इस प्रकार बनाते हैं:—

(१) पूर्व विलयन— १ भाग
परिस्रुत जल— ३ भाग
मिथिलेटेड स्पिरिट— ६ भाग

इस विलयन में आयोडीन केवल १ प्रतिशत होती है।

(२) पूर्व विलयन—	½	भाग
परिस्रुत जल—	२½	भाग
मिथिलेटेड स्पिरिट—	६	भाग

कैटगट को आठ दिवस तक प्रथम विलयन में रखा रहने देते हैं। तत्पश्चात् उसको दूसरे विलयन में रख दिया जाता है।

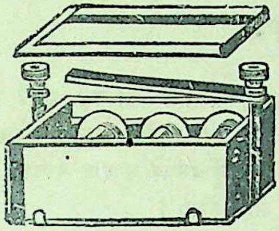

चित्र नं० ३

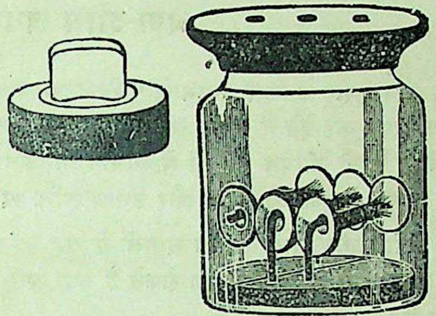

चित्र नं० ४

इन वस्तुओं को रखने के लिए विशेष आकार के काँच के पात्र होते हैं जिनको चित्रों में दिखाया गया है। इनके भीतर एक शलाका पर काँच की घिर्री चढ़ी रहती है। इन घिर्रियों पर कैटगट इत्यादि को लपेट दिया जाता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्रों में घिर्रियों की संख्या भिन्न होती है और उनके आकार भी भिन्न होते हैं। विसंक्रमित कैटगट अथवा रेशम इत्यादि अलकोहल या कार्बोलिक विलयन में शीशियों में बन्द बाज़ार में बिकते हैं। शीशी पर रबड़ की डाट रहती है जिसके द्वरा तागों के सिरे निकले रहते हैं। प्रयोग के समय आवश्यकतानुसार लम्बे तागे खींचकर काट लिये जाते हैं।

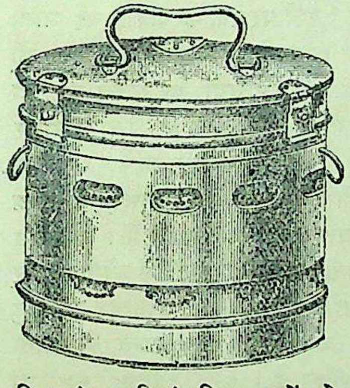

चित्र नं० ५ विसंक्रमित वस्त्रों को रखने के डिब्बे

प्लोत—यह शोषक रूई के लम्बे या चौखूटे टुकड़े होते हैं जिनको व्रण धोने के लिए प्रयोग किया जाता है। कभी रूई के दोनों ओर गौज़ के समान आकार के टुकड़े भी लगाये जाते हैं। कभी-कभी केवल गौज़ ही के प्लोत बनाये जाते हैं। प्रयोग करने के पूर्व इनका पूर्ण विसंक्रामण कर लिया जाता है। इन टुकड़ों की लम्बाई-चौड़ाई आवश्यकतानुसार रखी जा सकती है।

चौथा परिच्छेद

व्रण-शोथ तथा पाक

जब शरीर के किसी स्थान में पूयोत्पादक जीवाणु प्रवेश करते हैं तो वह वहाँ व्रण-शोथ उत्पन्न कर देते हैं। चोट लगने से भी शोथ उत्पन्न होता है। शोथ उन परिवर्तनों का नाम है जो जीवित धातुओं में आघात या जीवाणुओं के पहुँचने के कारण उत्पन्न होते हैं। किन्तु धातुओं की रचना और उनकी शक्ति का नाश नहीं होता।

शोथ जीवाणुओं के प्रति धातुओं के युद्ध का एक लक्षण है। जिन परिवर्तनों के द्वारा वह जीवाणुओं के आक्रमण को रोकते हैं तथा क्षत भाग को फिर से बनाते हैं उनका नाम शोथ है।

जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुआ शोथ अन्य प्रकार से उत्पन्न हुए शोथ से भिन्न होता है। जीवाणुज शोथ, ज्यों-ज्यों जीवाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है त्यों-त्यों, बराबर बढ़ता जाता है। जीवाणु जितने प्रबल होते हैं उतना ही शोथ भी अधिक होता है। किन्तु रासायनिक वस्तुओं से उत्पन्न हुए शोथ में ऐसा नहीं होता। यदि अम्ल तीव्र है तो उससे तनिक भी शोथ उत्पन्न नहीं होगा ; क्योंकि वहाँ की धातुएँ तुरन्त ही नष्ट हो जायँगी।

शोथ के समय रक्त-नलिकाएँ प्रसरित हो जाती हैं। वहाँ पर रक्त का प्रवाह बढ़ जाता है। किन्तु कुछ समय के पश्चात् यह प्रवाह धीमा होकर अन्त को रुक जाता है। रक्त की गति बन्द हो जाती है। श्वेत और लाल कण नलिकाओं की भित्तियों पर आकर जमा हो जाते हैं। श्वेत कणों में यह विशेषता है कि वह भित्तियों के कोषाणुओं के बीच में होकर उस स्थान में चले जाते हैं जहाँ पर जीवाणु उपस्थित हैं और उनको नष्ट करने का उद्योग करते हैं। श्वेताणुओं में जीवाणु-भक्षण शक्ति बहुत होती है। पूय की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा करने से मृत श्वेताणुओं के शरीर में जीवाणु देखे जा सकते हैं। यह वह जीवाणु हैं जिनको श्वेताणुओं ने खा लिया था। इस प्रकार शोथ के क्षेत्र में श्वेताणु और जीवाणुओं में युद्ध होता है। यदि श्वेताणुओं की संख्या कम होती है अथवा जीवाणु अधिक प्रबल होते हैं तो जीवाणुओं की विजय होती है और शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है। किन्तु श्वेताणुओं के जीतने पर शरीर रोग से मुक्त रहता है। यदि श्वेताणु नष्ट भी होता है तो भी उसके शरीर से एक ऐसी वस्तु निकलती है जिसमें जीवाणुओं को गलाने की शक्ति होती है।

शोथ के कुछ समय तक रहने के पश्चात् वहाँ प्रायः पूयोत्पादन अथवा पाक प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार विद्रधि बन जाती है। यदि जीवाणु अत्यन्त तीव्र होते हैं तो वहाँ की धातुओं में शक्ति के नष्ट हो जाने से निर्जीवाङ्गत्व उत्पन्न हो जाता है।

जब विद्रधि को काटने या उसके फट जाने से पूय निकल जाती है, और जीवाणुओं

का नाश हो चुकता है, तो उस स्थान की धातुओं में पुनरुत्पत्ति होती है। इस क्रिया को रोहण[1] कहते हैं। इसके द्वारा बने हुए नये भाग में संयोजक धातु का अधिक भाग रहता है जिससे वहाँ एक श्वेत रङ्ग का चिह्न बन जाता है। इसको क्षताङ्क-धातु[2] कहते हैं।

शोथ के लक्षण

शोथ के चार मुख्य लक्षण हैं; ताप, रक्तिमा, सूजन और पीड़ा। साथ में अङ्ग की कर्म-हीनता को पाँचवाँ लक्षण मानना चाहिए।

ताप—शोथयुक्त स्थान का ताप अधिक होता है। ताप प्रतीत करने के लिए हाथ को शोथ के ऊपर कुछ मिनट तक रखना चाहिए। तत्पश्चात् उसी हाथ को वहाँ से हटाकर दूसरे किसी स्थान पर रखना चाहिए। इससे ताप का अन्तर सहज ही में मालूम हो जायगा।

रक्तिमा—शोथयुक्त स्थान में लाली अधिक होती है। इसका कारण रक्त-प्रवाह की अधिकता है। किन्तु जब प्रवाह मन्द तथा बन्द हो जाता है तो लाली कालिमायुक्त हो जाती है। प्रथम दशा में शोथ को उँगली से दबाने पर वहाँ से रक्त हट जाता है और स्थान पीला दिखाई देने लगता है। किन्तु उँगली के हटाते ही रक्त फिर लौट आता है। दूसरी अवस्था में यह परिवर्तन इतने शीघ्र नहीं होते और अन्त को रङ्ग वैसा ही कालिमा-युक्त लाल बना रहता है।

सूजन—इसके दो कारण होते हैं। रक्तपरिपूर्णता और रक्त से लसीका का निकलकर वहाँ की धातुओं में जमा हो जाना। पोले स्थानों में सूजन अधिक दिखाई देती है, किन्तु पीड़ा अधिक नहीं होती। इसके विरुद्ध जहाँ की रचना सघन होती है, अथवा कड़ी प्रावरणी चढ़ी रहती है वहाँ सूजन अधिक दिखाई नहीं देती, किन्तु केवल एक या दो बूँद पूय की उपस्थिति से दारुण वेदना हो सकती है।

पीड़ा—इसका कारण वहाँ की नाड़ियों का क्षोभ है जो रक्त-परिपूर्णता से उत्पन्न होता है। किसी-किसी स्थान पर केवल उसको दबाने से पीड़ा प्रतीत होती है। इसको

---

१. Repair. २. Scar Tissue.

शोफोल्पोष्णरुक्चाम सवर्णः कठिनः स्थिरः।
पच्यमानो विवर्णस्तु रागी वास्तिवाततः॥
स्फुटतीव सनिस्तोदः साङ्गमर्दविजृम्भिकः।
संरम्भारुचिदाहोषा तृड्ज्वरानिद्रतान्वितः॥
स्थानं विष्यन्दयत्याज्यं व्रणवत्स्पर्शनासहः।
पक्वेऽल्पवेगताग्लानिपांडुतावलिसंभवः ॥
नाशोन्तेषु नतिर्मध्ये कंडूशोफादि यार्दवम्।
स्पृष्टे पूयस्य संचारः भवेत् वस्ताविवाम्भसः॥

अष्टांगहृदय—सूत्रस्थान अ० २९

स्पर्श-पीड़ा[1] कहते हैं। यह लक्षण कभी-कभी उस समय उपस्थित होता है जब रोगी को अपने रोग का ज्ञान भी नहीं होता।

शारीरिक लक्षण—शोथ के साथ ज्वर सदा उत्पन्न होता है जिसका कारण जीवाणुज विष का शरीर में व्याप्त होना है; कभी-कभ ज्वर शीत के साथ प्रारम्भ होता है। सामान्य ज्वर के से अन्य विकार भी उपस्थित ह ते हैं। श्वास और नाड़ी की गति बढ़ जाती है। अरुचि, वमन, भूख न लगना, कोष्ठबद्धता इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं। जिह्वा शुष्क और मैली रहती है। मूत्र गाढ़ा, मात्रा में थोड़ा और गहरे रङ्ग का होता है।

जीवाणुज के अतिरिक्त अन्य प्रकार के शोथ में ज्वर नहीं होता।

शोथ की चिकित्सा

चिकित्सा के साधारण सिद्धान्त ये हैं:—

(१) शोथ के कारण का नाश करना—जीवाणु को, जिनके कारण शोथ उत्पन्न हुआ है, नाश का पूर्ण उद्योग करना चाहिए। यदि वहाँ पर पूय उपस्थित हो अथवा धातुएँ गल गई हों तो उनको काटकर निकाल देना उचित है। विद्रधि को चीर देना बहुत आवश्यक है। साथ ही व्रण के भीतर गौज़ इत्यादि रखकर इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वहाँ से पूय बराबर निकलती रहे जिससे जीवाणुओं की संख्या न बढ़ने पावे; अस्वस्थ भाग को शुद्ध कार्बोलिक अम्ल अथवा दाहक शलाका से स्थान का दाह करना उचित है।

(२) स्थान को पूर्ण विश्राम देना—ऐसा करने से जीवाणु तथा उनके विष फैलने नहीं पावेंगे।

(३) रुग्ण स्थान में अधिक रक्त के संचार का उपाय करना—शोथयुक्त स्थान में जो रक्त जमा हो रहा है उसको वहाँ से हटाना आवश्यक है, जिससे वहाँ पर शुद्ध रक्त का संचार हो। स्थान को ऊपर की ओर उठाकर रखना और वहाँ पुल्टिस अथवा ऊष्मस्वेद का प्रयोग करना चाहिए। यदि इससे भी इच्छित फल न हो तो एक तीव्र वेधसपत्र द्वारा उस स्थान के चर्म का कई स्थानों पर छेदन कर देना उचित है। इससे वहाँ पर एकत्रित हुआ रक्त निकलने लगेगा, जिसके साथ बहुत से जीवाणु और विष भी बाहर निकल जायँगे और वहाँ नवीन रक्त का प्रवाह प्रारम्भ होगा।

रक्त-प्रवाह को बढ़ाने के लिए निम्न-लिखित उपाय किये जाते हैं।

शीत से कभी-कभी बहुत सहायता मिलती है। किन्तु उससे अङ्ग की शक्ति के क्षय का भय रहता है। इस कारण वृद्ध मनुष्यों में बड़ी सावधानी से शीत का प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए रबड़ के थैले आते हैं जिनमें बर्फ़ भरकर उस स्थान पर रक्खा जाता है। इसके लिए एक प्रकार की पीतल की नलियाँ भी प्रयोग की जाती

---

१. Tenderness.

हैं।[1] इनमें बर्फ़ का जल प्रवाह किया करता है। भिन्न-भिन्न अङ्गों के लिए यह नलियाँ भिन्न-भिन्न आकार की होती हैं।

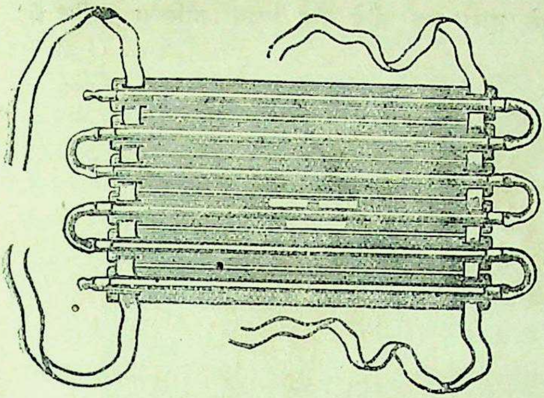

चित्र नं० ६—'लीटर' की नलियाँ—अंग पर लगाने के लिए

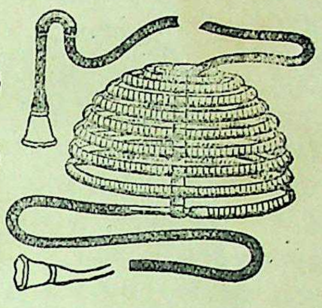

चित्र नं० ७—'लीटर' की नलियाँ—शिर पर लगाने के लिए

उष्णता—इसकी क्रिया शीत से बिलकुल भिन्न है। शीत से रक्त-नलिकाओं के संकुचित हो जाने के कारण रक्त आना कम हो जाता है। उष्णता के प्रयोग से नलिकाओं का प्रसार होता है। इस कारण वहाँ जो रक्त जमा था वह दूसरी ओर को चला जाता है और वहाँ नवीन रक्त का सञ्चार होने लगता है। पीड़ा कम हो जाती है।

गरम जल को रबड़ के थैलों में भरकर अङ्ग पर रखते हैं। पुल्टिस और ऊष्म स्वेद के द्वारा भी उष्णता का प्रयोग किया जाता है।

पुल्टिस (उपनाह)—प्रायः आटे अथवा अलसी की बनाई जाती है। आटे में जल मिलाकर उसको आग पर पकाया जाता है। पकने के समय थोड़ा घी या तैल मिला सकते हैं। उसमें बहुधा साधारण लवण, सुहागा या बोरिक अम्ल भी मिलाये जाते हैं।

अलसी की पुल्टिस बनाने के लिए अलसी को बहुत बारीक पीसना चाहिए। तत्पश्चात् उसमें इतना उबलता हुआ जल मिलाया जावे कि उसकी एक कड़ी लोई बन जावे। जल और अलसी के आटे को मिलाकर उबालना उचित नहीं है। यह पुल्टिस चिकनी, गीली और गरम होनी चाहिए। अङ्ग पर लगाते समय स्वच्छ वस्त्र के एक टुकड़े पर पुल्टिस को फैला दें और दूसरी ओर से उसी प्रकार के एक वस्त्र से उसे ढँक दें। अथवा एक ही वस्त्र से यह काम लिया जा सकता है। इस प्रकार पुल्टिस वस्त्र के भीतर रहेगी। इसको अङ्ग पर लगाकर ऊपर से पट्टी बाँध देनी चाहिए।

नीम की पुल्टिस भी इसी प्रकार पत्तियों को पीसकर बनाई जाती है।

---

१. कुर्याच्छीतोपचारं शोफावस्थस्य सन्ततम्।
दाहाग्निसंप्रवर्त्तेन प्रयाति सहसाशयम्॥

वाग्भट्ट—उत्तरस्थान अ० २५

ऊष्म स्वेद[1]—जल को भली भाँति गरम करके, यहाँ तक कि वह उबलने लगे उसमें कोई विसंक्रामक, साधारणतया बोरिक अम्ल, मिला दिया जाता है। इस विलयन को एक टोंटीदार बर्तन में भरें जिसके द्वारा एक चौड़े वस्त्र अथवा तौलिया के बीच में

चित्र नं० ८—बायर की रक्तपरिपूर्णता की विधि।

रक्खे हुए लिंट के टुकड़े पर जल की धार डाली जा सके। तत्पश्चात् तौलिए के दोनों सिरों को पकड़कर विरुद्ध दशाओं में मरोड़ना चाहिए। इससे लिंट का जल निकल जायगा। तत्पश्चात् तौलिए को खोलकर लिंट को शोथयुक्त स्थान पर रखकर शुष्क रूई

1. Fomentation.

अथवा तौलिए से ढक देना चाहिए, जिससे भीतर की उष्णता बाहर न निकलने पाये। जब लिंट ठण्डा हो जावे तो उसको हटाकर पहिले की ही भाँति लिंट के दूसरे टुकड़े को विलयन में भिगो और निचोड़कर प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार यह क्रिया १० या १५ मिनट तक, आवश्यकतानुसार दिन में २ या ३ बार, की जा सकती है।

रक्त-सञ्चार बढ़ाने के लिए बायर[१] की विधि काम में लाई जाती है। शोथयुक्त स्थान के कुछ ऊपर की ओर एक रबड़ की पट्टी इतनी कसकर बाँधी जाती है कि उसके कारण शिराओं में रक्त का सञ्चालन बन्द हो जाता है। किन्तु धमनी अपना कार्य करती रहती है। इस कारण वहाँ रक्त की अधिक मात्रा एकत्र हो जाती है। किन्तु न तो उष्णता ही बढ़ती है और न किसी प्रकार की पीड़ा होती है। यदि वह स्थान नीला पड़ जाय अथवा वहाँ पीड़ा होने लगे तो समझना चाहिए कि पट्टी ठीक प्रकार से नहीं बँधी है। पट्टी के २० या २२ घण्टे तक बँधे रहने के पश्चात् उसको खोल देना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो वह फिर बाँधी जा सकती है। जब तक शोथ कम न होने लगे पट्टी का प्रयोग जारी रखना चाहिए।

रक्त-सञ्चालन को बढ़ाने के लिए चूषक[२] यन्त्र का भी प्रयोग किया जाता है। रबड़ का एक गोला एक नलिका के द्वारा काँच के एक पात्र से संयुक्त होता है। जिन स्थानों पर पट्टी नहीं बाँधी जा सकती, जैसे स्तन, उदर या वक्ष में, वहाँ इसका प्रयोग किया जा सकता है। काँच के पात्र के मुख के चारों ओर वैस्लीन लगाकर उसे शोथ के ऊपर लगा देते हैं और रबड़ के गोले को दबाकर छोड़ देते हैं। इससे पात्र की वायु खिंचती है। इस कारण जिस स्थान पर पात्र लगा हुआ है वह भी भीतर को खिंचता है जिससे रक्त-नलिकाओं के प्रसरित हो जाने से वहाँ रक्त का सञ्चार बढ़ जाता है। जितने वेग से रबड़ का गोला वायु को खींचता है उतना ही उस स्थान में अधिक रक्त आता है। एक बार में यह प्रयोग ५ से १० मिनट तक किया जाता है।

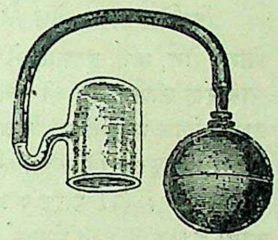

चित्र नं० ९

अन्य कारणों से उत्पन्न हुए शोथ की चिकित्सा के भी प्रायः यही सिद्धान्त हैं। स्थान और रोगी की आवश्यकता को विचारकर उनको प्रयोग करना चाहिए।

शारीरिक लक्षणों की चिकित्सा

रोगी के शारीरिक लक्षणों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। यदि शोथ साधारण है, ज्वर भी नहीं है और रोगी को कोई विशेष कष्ट नहीं प्रतीत होता तो किसी प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यदि उसको ज्वर इत्यादि लक्षण उपस्थित हैं, जैसा कि तीव्र शोथ में होता है, तो पूर्ण विश्राम देना चाहिए। रोगी को किसी प्रकार की चिन्ता करना उचित नहीं है। ज्वर के तीव्र होने पर भोजन के लिए केवल तरल पदार्थ देने चाहिएँ; दूध, फलों का रस, मांस अथवा शाक का जूष इत्यादि वस्तुएँ देनी उचित

---

१. Bier's artificial hyperaemia. २. Clapp's suction ball.

हैं। यदि रोगी इन वस्तुओं को पचाने में भी असमर्थ हो तो उसको कोई पाचक औषधि देनी चाहिए। अथवा दूध में "पेप्टोनाइज़िंग पाउडर[१]" मिलाकर दिया जाय। इसके प्रयोग से भोज्य पदार्थ का पूर्व ही से पाचन होने लगता है; रोगी के शरीर में व्याप्त विषों का नाश करने के लिए वेक्सीन का प्रयोग किया जाता है। डिफ्थीरिया[२], धनुस्तम्भ[३] तथा स्ट्रिप्टोकोकस के विष सञ्चार[४] में एंटीसीरम[५] को शरीर में प्रविष्ट करना उचित है। रेचक और मूत्रल वस्तुओं के द्वारा रोगी के मल-निष्कासक अङ्गों की क्रिया को बढ़ाना चाहिए। इससे शरीर के विषों का त्याग होगा। स्वेदन के द्वारा भी विषों को निकालना चाहिए। रोग के शान्त होने पर रोगी को बलदायक ओषधियाँ और लघु भोजन दिया जाय।

जीर्ण अथवा मन्द शोथ[६]

इस प्रकार के शोथ में कारण की क्रिया तीव्र नहीं होती। अतः शोथ भी अधिक नहीं होता। अन्य परिवर्तन भी धीमे होते हैं; चारों ओर धातुओं में वृद्धि भी कम होती है। इस कारण पाक और रोहण भी शीघ्र नहीं होते। इस प्रकार का शोथ फिरङ्ग रोग, क्षय, आमवात तथा सन्धिवात के शल्य में पाया जाता है।

चिकित्सा—शोथ के कारण का निश्चय करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि वह फिरङ्ग रोग, क्षय, इत्यादि से उत्पन्न हुआ है तो इन रोगों की चिकित्सा होनी चाहिए। साधारण जीर्ण शोथ की चिकित्सा के सिद्धान्त तरुण शोथ के ही समान हैं। निर्जीव तथा गलित धातुओं का निकाल देना, रुग्ण अङ्ग को पूर्ण विश्राम देना और उसमें रक्त-सञ्चालन बढ़ाना चिकित्सा के मुख्य साधन हैं। टिंचर आयोडीन के लेप से रक्त-सञ्चार अधिक होता है। पारद मरहम, जिसको "स्कोट[७] का ड्रेसिङ्ग" भी कहते हैं, बहुत लाभ करता है। कभी-कभी प्लोषक[८] ओषधियों का भी प्रयोग किया जाता है। जीवाणुजन्य शोथ में वैक्सीन का प्रयोग करना चाहिए। रोगी की साधारण चिकित्सा भी बहुत आवश्यक है। उसके बलवृद्धि का पूर्ण प्रयत्न करना उचित है।

पाक तथा पूय—जीवाणु-जन्य शोथ में कुछ समय के पश्चात् पूय उत्पन्न होने से विद्रधि बन जाती है। इस पूय के बनने को, जिसका कारण प्रायः 'स्टिफ़लोकोकाई' जीवाणु होते हैं, पाक कहते हैं। कभी-कभी 'स्ट्रिप्टोकोकाई' पूयमेह, आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु तथा आन्त्रिक जीवाणु भी पूय उत्पन्न कर देते हैं। यकृत्-विद्रधि में किसी प्रकार के भी जीवाणु नहीं मिलते। ऐसे स्थानों में पूयोत्पादन के पश्चात् जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। इन दशाओं में धातुओं की दुर्बलता को मुख्य कारण समझना चाहिए। शीत, आघात तथा अन्य रोग धातुओं की शक्ति को नष्ट कर देते हैं।

कभी-कभी जीवाणु एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचकर पूय उत्पन्न करते हैं। उनमें धातुओं के भीतर निष्क्रिय पड़े रहने की शक्ति होती है। जब उनको उचित अवसर

---

१. Peptonising powder. २. Diphtheria. ३. Tetanus. ४. Streptococcal scepticoemia. ५. Antiserum. ६. Chronic inflamations. ७. Scot's dressing. ८. Blister.

मिलता है तब वह अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। अस्थियों के पाक में बहुधा यह देखा गया है कि शस्त्रकर्म के पश्चात् वहाँ का व्रण भर जाता है। किन्तु कुछ समय में फिर उसी स्थान पर पाक आरम्भ हो जाता है।

पूय—पाक विधि से जो तरल पदार्थ उत्पन्न होता है उसको पूय कहते हैं। यह एक गाढ़ी हलके पीले रङ्ग की वस्तु होती है। इसका रङ्ग उत्पादक जीवाणु और रक्त की मात्रा पर निर्भर करता है। रक्त की अधिकता से पूय में लाली आ जाती है। पूय का विशिष्ट गुरुत्व १०३० और प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। उससे एक प्रकार की गन्ध आती है। पूय में धातुओं के कोषाणु, मृत जीवाणु, बहुकेन्द्री श्वेताणु और पूयकण होते हैं। कुछ लाल कण भी दिखाई देते हैं। पूयकण गोल होते हैं। उनके भीतर की वस्तु दानेदार दिखाई देती है, जिसके बीच में कई भागों में विभक्त एक केन्द्र स्थित होता है।

भिन्न-भिन्न दशाओं में पूय में भी भिन्नता पाई जाती है; जीर्ण नाड़ी-व्रण की पूय जल के समान पतली होती है। उसमें कोषाणु भी बहुत कम होते हैं। जिन व्रणों में रोहण वस्तु बनने लगती है वहाँ पूय रक्तमय हो जाती है। कभी-कभी पूय में रक्त की रञ्जक वस्तुओं की अधिकता दिखाई देती है। पूय की गन्ध में भी भेद उत्पन्न हो जाता है। यदि अन्त्रियों के पास कहीं पूय बन रही है तो उसमें मल के समान दुर्गन्धि आती है।

विद्रधि

शरीर में किसी परिमित स्थान में पूय के एकत्रित हो जाने का नाम विद्रधि है। प्रथम उस स्थान पर शोथ उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् पाक होकर विद्रधि बन जाती है। विद्रधि के केन्द्र में मृत धातु और जीवाणु उपस्थित होते हैं। प्रारम्भ

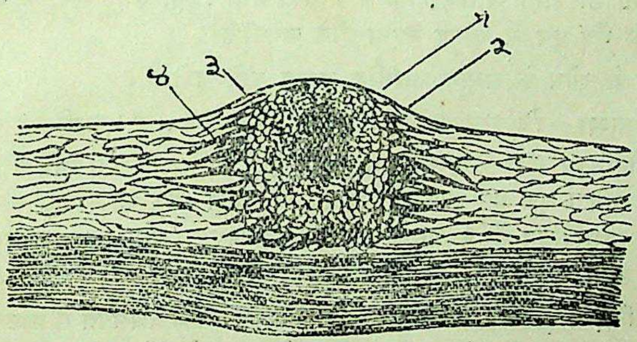

चित्र नं० १० — १. भीतर का जीवाणुओं का प्रान्त। २. उसके बाहर पूय का प्रान्त। ३. मृत धातु। ४. प्रसरित रक्त-नलिकायें, श्वेताणुओं की अधिकता और विद्रधि की भित्ति।

में यह भाग कड़ा होता है किन्तु धीरे-धीरे वह पूय में परिणत हो जाता है। इसके बाहर की ओर वह प्रान्त रहता है जहाँ की धातुओं की शक्ति क्षीण हो चुकी है और

जो बिल्कुल नष्ट होनेवाली हैं। इसके बाहर की ओर तीसरा प्रान्त तीव्र शोथ का होता है। यहाँ बहुकेन्द्री[1] श्वेताणुओं की बहुत बड़ी संख्या पाई जाती है।

विद्रधि के चर्म के नीचे ही स्थित होने पर पूय चर्म की ओर बढ़ती है और कुछ समय के पश्चात् चर्म के किसी दुर्बल स्थान को फाड़कर बाहर निकल जाती है। किन्तु जब वह अधिक गहराई पर स्थित होती है तो पूय को चर्म तक पहुँचाना असम्भव होता है। ऐसी दशाओं में वह रक्त-नलिकाओं के साथ अथवा कलाओं के नीचे-नीचे फैलती है। इस प्रकार की विद्रधि की पूय प्रायः कई दिशाओं में फैल जाती है। अतएव चिकित्सा करते समय यह देख लेना चाहिए कि विद्रधि से कोई भाग इधर-उधर को तो नहीं जा रहे हैं। विद्रधि के फट जाने या उसको चीरने पर पूय निकल जाने से रोगी का कष्ट कम हो जाता है; ज्वर इत्यादि भी कम हो जाते हैं। शोथ जाता रहता है और उस स्थान पर रोहण होने लगता है। कुछ समय में इस स्थान पर क्षताङ्क धातु बन जाती है।

लक्षण और चिह्न

प्रारम्भ में शोथ के समान सूजन, रक्तिमा, पीड़ा और ताप की अधिकता ही मुख्य लक्षण होते हैं। स्थानानुसार इनमें भिन्नता पाई जाती है। पूय के बनने से पूर्व तीव्र पीड़ा होती है। पूय बनने के पश्चात् यदि विद्रधि पर दो उँगलियों को रखकर एक उँगली को दबाया जावे तो दूसरी उँगली को एक प्रकार की लहर सी आती हुई प्रतीत होगी। यह "पूय-तरङ्ग"[2], पूय का एक विशेष लक्षण है। चर्म के नीचे पूय के स्थित होने पर यह चिह्न बहुत स्पष्ट होता है। किन्तु उसके गहराई पर स्थित होने से यह तरङ्ग सहज में नहीं प्रतीत होती।

जब पूय ऐसे स्थान में होती है जहाँ उसको फैलने के लिए अधिक स्थान नहीं मिलता तो पीड़ा अधिक होती है। कभी-कभी किसी कड़ी कला के नीचे स्थित दो या तीन बूँद पूय से असह्य वेदना होने लगती है।

रोगी में शोथ के समान शारीरिक लक्षण पाये जाते हैं।

चिकित्सा—चिकित्सा का मूल पूय को निकाल देना है। प्रारम्भिक अवस्था में उपनाह और ऊष्म स्वेद के द्वारा उष्णता पहुँचानी चाहिए जिससे वहाँ शीघ्र ही पाक प्रारम्भ हो जाय। एक बार संक्रमण पहुँचने के पश्चात् पाक को रोकना असम्भव है। आवश्यकतानुसार दिन में ३ या ४ बार उपनाह अथवा ऊष्म स्वेद का प्रयोग किया जा सकता है।

जब विद्रधि में भले प्रकार पूय बन जाय तो उसको वेधसपत्र से काटकर निकाल देना उचित है। विद्रधि को काटने के लिए जो पत्र प्रयोग किया जाता है उसका आगे का भाग ऊपर की ओर मुड़ा होता है। इसकी आगे की नोक बहुत तीव्र होती है। प्रयोग करते समय इस शस्त्र का पीछे का भाग, जिसको हैंडिल कहते हैं, सीधे हाथ की तर्जनी और अँगूठे के बीच में लेखनी की भाँति पकड़ा जाता है। फल की धार

---

१. Polymorpho Neuclear. २. Fluctuations of Pus.

स्वयं चिकित्सक अथवा ऊपर की ओर रहती है और आगे की तीव्र नोक विद्रधि के ऊपर अथवा नीचे के किनारे पर रखी जाती है; उसके बीच में नहीं रहती। जिस स्थान पर शस्त्र को प्रविष्ट करना अभीष्ट होता है वहाँ उसकी नोक को रखकर दूसरी ओर को दबाया जाता है। इससे वेधसपत्र[१] विद्रधि के भीतर प्रवेश करता हुआ चला जाता है। जब पत्र की नोक विद्रधि की दूसरी सीमा पर पहुँच जाय तो शस्त्र के हैंडिल को

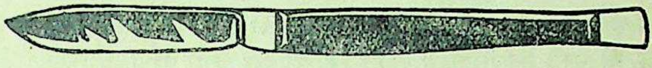

चित्र नं० ११ — वेधसपत्र

तनिक नीचे की ओर दबाना चाहिए जिससे उसकी नोक विद्रधि की भित्ति को छेदकर बाहर निकल आवे। तत्पश्चात् उस स्थान से नीचे की ओर को काटते हुए चले आना चाहिए, यहाँ तक कि शस्त्र का सारा फल विद्रधि के बाहर निकल आवे।

विद्रधि को ऐसे स्थान पर काटना उचित है जो नीचे की ओर स्थित हो, जिससे भीतर की पूय या स्राव स्वयं ही बाहर निकलते रहें। यह भेदन मांसपेशी के सूत्रों की दिशा में होना चाहिए, न कि उनकी चौड़ाई की ओर। उच्च और निम्न शाखाओं में विद्रधि का भेदन ऊपर से नीचे की ओर को किया जाता है।

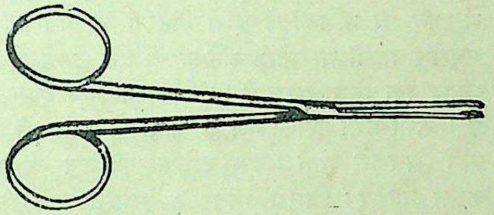

चित्र नं० १२ — नाड़ी-व्रण संदंश

यदि पूय गहरी स्थित है और भेदन में धमनी, नाड़ी इत्यादि के कट जाने का डर है, तो शस्त्र को गहरा प्रविष्ट करना उचित नहीं है। एक साधारण वेधसपत्र से चर्म और नीचे की धातुओं का भेदन करके उसके द्वारा नाड़ीव्रण-संदंश[२] को भीतर प्रविष्ट करना चाहिए। संदंश के पर्याप्त भाग के भीतर पहुँचने पर उसको खोल दिया जाय। इससे नीचे की धातु, जो चर्म और विद्रधि के बीच में स्थित हैं, फट जायँगी और पूय बाहर निकल आवेगी; किन्तु धमनी इत्यादि को कोई हानि नहीं पहुँचेगी।

विद्रधि से पूय को पूर्णतया निकाल देना आवश्यक है। इस कारण छोटे की अपेक्षा लम्बा भेदन करना उत्तम है। यदि विद्रधि के भीतर कई कोष्ठ बन गये हैं तो उँगली को भीतर डालकर बीच की भीत्तियों को तोड़ देना चाहिए जिससे सारा स्थान एक हो जाय। इससे वहाँ का निर्हरण उत्तम होगा और भीतर का स्थान स्वच्छ रहेगा। विद्रधि को दाबकर पूय नहीं निकालनी चाहिए। इससे चारों ओर की बनी हुई रोहण[३] धातु नष्ट हो जायगी। यदि विद्रधि के भीतर जमी हुई पूय, पूतिवस्तु या गलित धातु शेष रह जाती हैं तो वहाँ से पूय निकलती रहती है और व्रण नहीं भरता। अस्थि

---

१. Scalpel. २. Sinus forceps. ३. Granualation tissue.

की विद्रधि से जब तक अस्थि का सारा गलित भाग न निकाला जायगा तब तक उसका आरोहण नहीं हो सकता।

भेदन के पूर्व विद्रधि के चारों ओर के स्थान को शुद्ध कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। भेदन के पश्चात् भी विसंक्रामक विलयन में भीगे हुए प्लोत से स्थान को स्वच्छ करना चाहिए। किन्तु इसमें यह ध्यान रहे कि प्लोत व्रण के किनारों से बाहर की ओर को जावें; न कि बाहर से व्रण की ओर।

भेदन के पश्चात् व्रण का उपचार किया जाता है। विसंक्रामक विलयन से धोकर उसमें गोज़ की बत्ती रक्खी जाती है जिसका आकार व्रण पर निर्भर करता है। बत्ती रखने में एषिणि[१] से सहायता ली जा सकती है। व्रण के अधिक दुर्गन्धियुक्त अथवा पूतिमय होने पर गोज़ को किसी विसंक्रामक विलयन में भिगोकर रक्खा जाता है। साधारण दशा में केवल शुद्ध गोज़ और रूई पर्याप्त हैं।

भेदन के अनन्तर प्रथम २४ घण्टे के पश्चात् व्रणोपचार करना उचित है। किन्तु यदि पूय और रुधिर अधिक निकलें तो व्रण को इससे पूर्व ही खोलकर व्रणोपचार वस्त्रों को बदल देना चाहिए।

व्रण का निर्हरण—साधारण व्रणों में निर्हरण के लिए गोज़ की बत्ती ही पर्याप्त है। इसके द्वारा व्रण के भीतर की पूय सदा बाहर निकलती रहती है। किन्तु बड़े व्रणों में रबड़ की नलिका के द्वारा निर्हरण का आयोजन किया जाता है। व्रण के आकार के अनुसार पतली या मोटी नलिका के एक टुकड़े में चारों ओर छिद्र करके उसको व्रण के भीतर रख दिया जाता है। नलिका का एक सिरा व्रण से तनिक बाहर निकला रहता है। कभी-कभी उसको व्रण के ओष्ठों के साथ सी दिया जाता है जिससे व्रण के भीतर नहीं खिसकने पाती। इस नलिका को व्रण के सबसे निचले भाग के द्वारा प्रविष्ट करना चाहिए; जिससे भीतर का समस्त स्राव सहज में बाहर निकलता रहे। निर्विष शस्त्रकर्मों में भी कभी-कभी इस नलिका का प्रयोग करना पड़ता है। प्रायः इसको २४ या ४८ घण्टे के पश्चात् व्रण से निकाल दिया जाता है। इस नलिका के कारण चारों ओर की धातुओं पर एक प्रकार का भार पड़ता है जिससे वह शक्तिहीन हो जाती

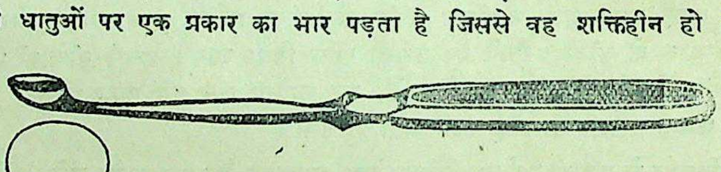

चित्र नं० १२—चमसक

हैं। इस कारण जितना भी शीघ्र हो सके, उसको व्रण से निकाल देना चाहिए। यदि उसके पश्चात् फिर भी रखना पड़े तो प्रत्येक दिवस उपचार के समय नई शुद्ध की हुई नलिका को प्रयोग करना उचित है।

जीर्ण विद्रधि[२]—इस प्रकार की विद्रधि में पूयोत्पादन धीमा होता है। शोथ

---

१. Probe. २. Chronic abscess.

अथवा अन्य लक्षण भी मन्द होते हैं। क्षयजन्य विद्रधि इसी प्रकार की होती है। ताप अधिक न होने के कारण वह 'शीतल विद्रधि' कहलाती है।

ऐसी विद्रधि को केवल चीर देना पर्याप्त है। किन्तु क्षयजन्य विद्रधि को प्रारम्भ में चीरे बिना ही उससे आकर्षक[1] यन्त्र द्वारा पूय निकाली जाती है। किन्तु यदि कुछ समय तक उसमें स्वस्थ होने के लक्षण नहीं दिखाई देते तो उसको चीरकर चारों ओर के भाग को चमसक[2] से खुरच दिया जाता है—

रोगी की साधारण चिकित्सा करना भी आवश्यक है। उसको बलकारक ओषधियों का सेवन करना चाहिए। भोजन भी ऐसा मिलना चाहिए जो बलदायक किन्तु शीघ्र पचनेवाला हो, जैसे दूध, अण्डा, मांस, माल्ट, मक्खन, मछली का तैल इत्यादि।

दन्त-विद्रधि—दन्तमूल अथवा दाँत और मसूढ़े के बीच में या स्वयं मसूढ़े ही में संक्रमण के कारण विद्रधि उत्पन्न हो जाती है। मसूढ़ा फूल जाता है और वहाँ पीड़ा होने लगती है। कभी-कभी दाँत और मसूढ़े के बीच में होकर पूय निकलने लगती है, किन्तु अधिकतर विद्रधि का भेदन करना पड़ता है। श्लैष्मिक कला पर कोकीन का २० प्रतिशत का विलयन लगा देने से भेदन के समय पीड़ा नहीं होती। दन्त-विद्रधि को काटने के लिए एक विशेष आकार का वेधस पत्र होता है जिसको 'गम लैंसेट'[3] कहते हैं। यदि यह पत्र न हो तो साधारण पत्र के फल के पिछले भाग पर गौज़ लपेटकर उससे विद्रधि को काट सकते हैं।

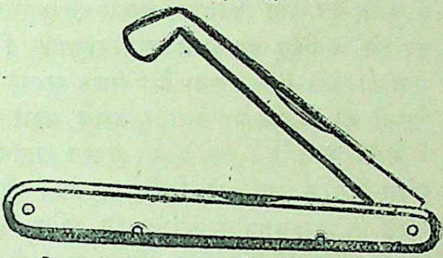

चित्र नं० १४—दन्त-विद्रधि वेधस पत्र

कभी-कभी भेदन के पश्चात् विद्रधि पूर्णतया नहीं भरती। किन्तु एक नाड़ीव्रण बन जाता है जिसके द्वारा पूय निकलती रहती है। ऐसी अवस्था में दाँत को निकालना आवश्यक है। नीचे के दाँत की विद्रधि से पूय को अधोहन्विका[4] के भीतर की ओर पहुँचकर वहाँ विद्रधि उत्पन्न करते देखा गया है। न केवल यही, किन्तु पूय हनु के नीचे भी पहुँच सकती है। ऐसी अवस्था में विद्रधि को मुख के भीतर की ओर चीरना चाहिए। यदि यह सम्भव न हो तो चर्म का भेदन किया जा सकता है। इन दशाओं में नाड़ीव्रण बन जाने की सम्भावना रहती है। यदि ऐसा हो तो दाँत को निकाल देना आवश्यक है।

जब घुने हुए दाँत[5] को निकालने के उद्योग में ऊपर का भाग टूट जाता है और शेष भाग का विद्रधि के साथ सम्बन्ध हो जाता है तो सदा नाड़ीव्रण उत्पन्न होता है। मुख के भीतर रोहण धातु से ढक जाने के कारण दाँत का अवशिष्ट भाग दिखाई नहीं देता। किन्तु पूय बराबर आती रहती है। 'एक्स-रे' के द्वारा इसका निश्चय करने के पश्चात् दाँत के टूटे हुए भाग को निकाल देना आवश्यक है।

---

१. Aspirator. २. Spoon. ३. Gum lancet. ४. Mandible.
५. Carioustooth.

गलपश्चिम-विद्रधि[1]—यह रोग बच्चों में अधिक पाया जाता है। विद्रधि गले के भीतर पीछे की ओर होती है। कान के पीछे या गले में अन्यत्र स्थित लसीका ग्रन्थियों से वहाँ संक्रमण पहुँचता है।

यह विद्रधि तीव्र और मन्द दो प्रकार की होती है। तीव्र विद्रधि में ज्वर तथा शोथ के अन्य सब लक्षण उपस्थित होते हैं। गले के पश्चिम ओर बीच में शोथ आरम्भ होता है, जहाँ से वह धीरे-धीरे ऊपर, नीचे तथा पार्श्व की ओर फैलता है। रोगी को निगलने और श्वास लेने में कष्ट होता है। शोथ नीचे की ओर स्वर-यन्त्र तक पहुँचकर श्वासावरोध उत्पन्न कर सकता है। कभी-कभी पूय बाहर की ओर उरःकर्णमूलिका[2] पेशी के आगे या पीछे तक फैल जाती है।

चिकित्सा—चिकित्सा तुरन्त करनी चाहिए। शोथ को स्वरयन्त्र[3] तक पहुँचने का अवसर देना उचित नहीं, वह घातक हो सकता है। विद्रधि का तुरन्त भेदन कर देना अत्युत्तम है। रोगी को विशेष आकार की कुर्सी पर, जिसमें शिर को पीछे की ओर आश्रित कर देने के लिए एक भाग लगा रहता है, बिठाकर मुख चौड़ानेवाले यन्त्र को लगाकर मुख को खोल दिया जाता है। सर्जन सामने की ओर खड़े होकर बायें हाथ की तर्जनी उँगली को विद्रधि पर लगाकर उसके सहारे दहिने हाथ से एक वेधसपत्र द्वारा विद्रधि में भेदन करता है। यह भेदन अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए। शस्त्र केवल इतना प्रवेश करे कि ऊपर की भित्ति फट जाय और उससे पूय निकलने लगे। तत्पश्चात् इस भेदन के द्वारा नाड़ीव्रण-संदंश को प्रविष्ट करके उसको खोल दिया जाता है। इससे विद्रधि की समस्त पूय बाहर निकल आती है। भेदन के पश्चात् रोगी का मुख नीचे की ओर लटका देना चाहिए और विसंक्रामक पदार्थों के कुल्ले करवाने चाहिएँ। कुछ सर्जन रोगी को लिटाकर यह शस्त्रकर्म करते हैं।

स्तन-विद्रधि[4]—यह विद्रधि प्रायः स्त्रियों में होती है। कभी-कभी पुरुषों में भी देखने में आती है। यह बहुधा उस समय उत्पन्न होती है जब स्त्रियाँ बच्चों को दूध पिलाती हैं। स्तन के ऊपर किसी साधारण व्रण या चर्म के खुरच जाने से स्तन-ग्रन्थियों में संक्रमण पहुँच जाता है और वहाँ शोथ होकर पूय उत्पन्न होने लगती है। स्थिति के अनुसार यह विद्रधि तीन प्रकार की होती है। जब संक्रमण ग्रन्थियों में न पहुँचकर केवल चर्म की रस-वाहिनियों ही में रह जाता है तो विद्रधि चर्म के ठीक नीचे ही बन जाती है। पूय-ग्रन्थियों में नहीं फैलती। यह **स्तनोपरि**[5] विद्रधि कहलाती है। जब जीवाणु ग्रंथियों में पहुँच जाते हैं तब पूय ग्रन्थियों में तथा उनके बीच में फैलती है। यह **अन्तःस्तन**[6] विद्रधि कही जाती है जब जीवाणु और भी गहरे पहुँच जाते हैं और पूय ग्रन्थियों के नीचे, ग्रन्थि और वक्ष की पेशियों के बीच में बनती है तो वह **स्तनधरा**[7] विद्रधि के नाम से पुकारी जाती है।

केवल आघात से यह विद्रधि उत्पन्न हो सकती है। वह पूय-सञ्चार में प्रायः

---

१. Retropharyngeal abscess. २. Sternocleidomastoideus. ३. Larynx. ४. Mammary abscess. ५. Supramammary ६. Intramammary. ७. Submammary.

उत्पन्न हो जाती है। नवजात शिशुओं में कभी-कभी स्तन का शोथ देखा जाता है।

स्तन-विद्रधि का निर्णय कठिन नहीं है। शोथ की अवस्था में सारा स्तन कड़ा हो जाता है। पीड़ा होती है। स्तनों का आकार बढ़ जाता है। शोथ के सब लक्षण उपस्थित होते हैं। ग्रन्थियों से दूध का निकलना कम हो जाता है। पीड़ा के कारण माता बच्चे को दूध नहीं पिलाती। इससे ग्रन्थियों का तनाव और भी बढ़ जाता है। जिस स्थान पर पूय होती है वह सूजा और गहरा लाल दिखाई देता है।

चिकित्सा—साधारण विद्रधि के समान होती है। शोथ की दशा में ऊष्म स्वेद इत्यादि का उपयोग करना चाहिए। यदि स्तन में दूध भरा हो तो पंप[1] लगाकर निकाल देना उचित है। इससे तनाव कम हो जावेगा। स्तन को अश्रित करने के लिए उसके नीचे एक चौड़ी पट्टी बाँध देनी चाहिए। इससे स्तन की पीड़ा कम हो जावेगी।

शोथ के पश्चात् पूय बन जाने पर वेधस पत्र का उपयोग करना आवश्यक है। स्तनोपरि विद्रधि में तनिक भी कठिनाई नहीं होगी। केवल चर्म के भेदन से सारी पूय निकल जावेगी। अन्तःस्तन विद्रधि में अधिक सावधानी की आवश्यकता है। चर्म का भेदन करने के पश्चात् उँगली को भीतर प्रविष्ट करके जितनी भी पूय एकत्र हो उसको निकाल देना चाहिए। यदि पूय का कई स्थानों पर संग्रह है तो उनके बीच की धातुओं को तोड़कर सब स्थानों को मिलाकर एक कर देना उचित है। चर्म का भेदन ग्रन्थियों की स्थिति की दिशा में होना चाहिए। यह स्तनमुख[2] के चारों ओर पहिये के डण्डों के समान स्थित होती हैं। इस कारण भेदन भी उसी दिशा में हो। यदि आवश्यकता हो तो निर्हरण नलिका प्रयोग की जा सकती है। ज्यों-ज्यों व्रण भरता जावे त्यों-त्यों इस नलिका को काटकर छोटी करते जाना चाहिए। स्तनधरा विद्रधि के लिए स्तन के नीचे चर्म का भेदन करके उसके द्वारा पूय निकालनी चाहिए।

कक्ष की विद्रधि—कक्ष में दो प्रकार की विद्रधि होती हैं। प्रथम प्रकार की विद्रधि में बालों की जड़ों में पूय पड़ जाती है। कक्ष के चर्म पर अनेक छोटी-छोटी विद्रधियों के मुख दिखाई देने लगते हैं। यह बार-बार उत्पन्न होती हैं किन्तु इनका निर्हरण पूर्ण नहीं होता। ऐसी दशा में सब पूय-स्थानों को चाकू से खोल देना और यदि आवश्यक हो तो ऊपर के चर्म को काटकर निकाल देना उचित है। उस स्थान के गलित भाग को चमसक[3] से खुरचा जा सकता है।

दूसरी भाँति की विद्रधि कक्ष की लसीका-ग्रन्थि के संक्रमण से उत्पन्न होती है। इस स्थान में लसीका-ग्रन्थियों की एक श्रृङ्खला होती है। इस कारण प्रायः कई विद्रधि, एक दूसरे के पश्चात्, उत्पन्न होती हैं। वहाँ पर शरीर के अन्य भागों से संक्रमण लसीका-वाहिनियों द्वारा पहुँच जाता है।

यह विद्रधि आकार में बड़ी होती है और इसकी पूय चारों ओर के भागों में फैल सकती है। लक्षण सामान्य विद्रधियों के समान होते हैं। ज्वर इत्यादि लक्षण भी सदा उपस्थित रहते हैं। इसकी चिकित्सा भी अन्य विद्रधियों की भाँति होती है। चाकू के द्वारा भेदन करके उसकी सारी पूय निकाल देनी चाहिए। भेदन करते समय यह ध्यान

---

१. Breast pump. २. Nipple. ३. Spoon.

रखना चाहिए कि कक्ष में कई मुख्य धमनी, नाड़ी और शिराएँ होती हैं जिनके क्षत होने से अत्यन्त भयङ्कर परिणाम हो सकते हैं। इस कारण उनको बचाने के लिए चर्म का चाकू से भेदन करके उसके द्वारा एक संदंश को भीतर प्रविष्ट कर उसको चौड़ा देना चाहिए। इससे विद्रधि की पूय निकल जायगी और धमनी, नाड़ी इत्यादि भी न कटने पावेंगी। भेदन के पश्चात् विद्रधि के पूर्ण निर्हरण का आयोजन आवश्यक है।

उपजिह्विकोपरि[१] विद्रधि—यह विद्रधि गले के भीतर दोनों ओर स्थित उपजिह्विका[२] ग्रन्थियों के तनिक ऊपर की ओर होती है। विद्रधि के कारण ग्रन्थियाँ नीचे और भीतर की ओर हट जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो विद्रधि स्वयं ग्रन्थि ही पर स्थित है। गले के भीतर सूजन होती है। रोगी को निगलने में कष्ट होता है। कुछ समय पश्चात् लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। ज्वर सदा बना रहता है।

विद्रधि का भेदन करके पूय को निकाल देना आवश्यक है। इसके लिए बिस्चरी का, जो आगे की ओर से मुड़ा हुआ वेधस-पत्र होता है, प्रयोग किया जाता है। कभी कभी इससे बुरे परिणाम भी हो जाते हैं। इस कारण श्लैष्मिक कला के भेदन के पश्चात् नाड़ी-व्रण-संदंश का उपयोग करना ही उचित है। यदि हो सके तो केवल संदंश ही से काम लें।

भेदन के पश्चात् रोगी के मुंह को नीचे की ओर को लटका देना चाहिए। पूय को प्लोतों से पोंछकर रोगी को विसंक्रामक विलयनों से कुल्ले करवाने चाहिएँ। दिन में कई बार कुल्ले करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष उपचार की आवश्यकता नहीं होती। प्रथम दो या तीन दिवस तक, जब तक रोगी निगल न सके, उसको भोजन के लिए तरल पदार्थ देने चाहिएँ।

अँगुलि-विद्रधि—यह रोग पाँवों की अपेक्षा हाथों की अँगुलियों में अधिक होता है। जीवाणु चर्म के किसी व्रण या क्षत द्वारा अँगुली के भीतर पहुंच जाते हैं। तनिक सी खरोंट, पिन का चुभना इत्यादि रोग उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हैं।

स्थानानुसार विद्रधि को कई नाम दिये गये हैं, यद्यपि उन सबके चिह्न एक समान ही होते हैं। केवल पीड़ा की सीमा में भिन्नता पाई जाती है।

रोग के आरम्भ होने पर भारीपन मालूम होता है। तत्पश्चात् तनाव बढ़ जाता है और उँगली में चबक मारने लगती हैं; पीड़ा बढ़ जाती है। इस अवस्था में 'बायर' की रक्त-सञ्चालन-विधि से पाक रोका जा सकता है। शोथ-युक्त स्थान पर रेक्टीफ़ाइट स्पिरिट में भीगी हुई रुई के लपेटने से लाभ होता है।

(१) उपचर्म के नीचे, अर्थात् चर्म के दोनों स्तरों के बीच में पूय के एकत्र होने से वहाँ विद्रधि बन जाती है। पीड़ा थोड़ी होती है, ऊपर के चर्म को काट देने से पूय निकल जाती है। तत्पश्चात् व्रणोपचार और ऊष्मस्वेद कर देना पर्याप्त है। यदि पूय नख के नीचे मांस में पहुँच जाय तो नख को काटकर निकालना आवश्यक है।

(२) **नख-मांस विद्रधि**—यह विद्रधि नख पर पीछे की ओर चढ़े हुए मांस में उत्पन्न होती है। चर्म और नख के बीच में होकर जीवाणु भीतर पहुँच जाते हैं।

---

१. Peritonsillar. २. Tonsills.

इससे नख के पिछले भाग के नीचे पूयोत्पादन प्रारम्भ होने से नख के ऊपर का चर्म लाल हो जाता है। वहाँ शोथ के सब लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। पीड़ा बहुत अधिक होती

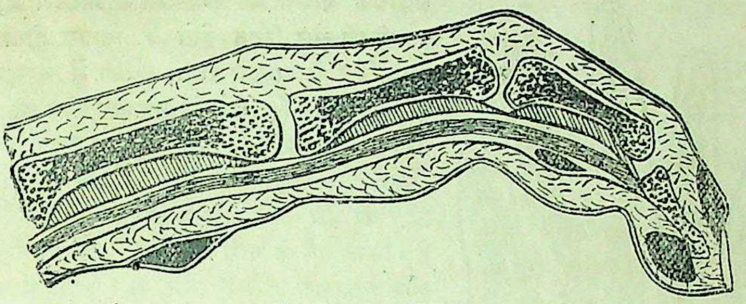

चित्र नं० १५—अँगुलि में विद्रधि की भिन्न-भिन्न स्थिति

(After Thompson and Miles)

है, यहाँ तक कि रोगी को निद्रा नहीं आती। यद्यपि पूय-संग्रह बहुत थोड़ा होता है, किन्तु रोगी को ज्वर आने लगता है।

पूय को निकाल देना ही विद्रधि की एकमात्र चिकित्सा है। कोकेन के विलयन को चर्म के भीतर प्रविष्ट करके चर्म को काटा जा सकता है। यदि आवश्यक हो तो नख का एक भाग अथवा समस्त नख निकाल देना उचित है।

(३) चर्मगत-विद्रधि—यह वास्तव में अधस्त्वक्-शोथ है, जो अँगुली के मांस में उत्पन्न होता है। अँगुली कड़ी हो जाती है, चर्म का तनाव बढ़ जाता है और वहाँ लाली आ जाती है। सूजन के उत्पन्न होने में तीव्र वेदना होती है। पीड़ा के आधिक्य से रोगी को निद्रा नहीं आती। शोथ के ऊपर की ओर बढ़ने की दशा में अँगुली के चारों ओर शोथ फैल जाता है। यदि वह अँगुली से हाथ में फैलता है तो हथेली के पृष्ठ पर सूजन दिखाई देती है। वह हथेली की ओर नहीं बढ़ती; क्योंकि वहाँ का कड़ा-कला वितान उसको रोकता है। प्रथम मांस कड़ा होता है, किन्तु पूय बनने के पश्चात् वह ढीला हो जाता है। तो भी तनाव के अधिक होने के कारण पूय की स्थिति का निर्णय करना कठिन होता है।

चिकित्सा—हाथ को ऊपर की ओर उठाकर रखना चाहिए। शोथ पर ऊष्म स्वेद और उपनाह का प्रयोग करना उचित है; यदि पूय बनना प्रारम्भ हो गया है और पूय हाथ में फैल चुकी है तो हथेली या अँगुली के बीच में, जहाँ दबाने से सबसे अधिक पीड़ा होती हो वहाँ, एक लम्बा और गहरा भेदन करना चाहिए। किन्तु यह इतना गहरा न हो कि उससे पेशी की कण्डराओं के आवरण भी कट जायँ। ऐसा होने से संक्रमण के भीतर पहुँचकर रोग को बहुत बढ़ा देगा। कभी-कभी पूय अँगुली के पार्श्व में बन जाती है। यदि ऐसा हो तो अँगुली के पार्श्व में भेदन करने के पश्चात् अँगुली तथा हाथ को कुछ समय तक कार्बोलिक अम्ल-युक्त गरम जल में रखना चाहिए। कार्बोलिक अम्ल को जल में मिलाकर उससे ऊष्म स्वेद करने से लाभ होता है।

(४) कण्डरावरण-विद्रधि—इस स्वरूप में कण्डरावरण में पूय पड़ जाती है। प्रथम शोथ उत्पन्न होता है, जो बढ़कर पूय के रूप में परिणत हो जाता है। यह शोथ सङ्कोचक पेशियों की कण्डराओं के आवरण में, जो हथेली की ओर स्थित होते हैं, उत्पन्न होता है। जैसा चित्र से मालूम होगा, हथेली में कण्डरावरण इस भाँति स्थित हैं कि संक्रमण बीच की तीन उँगलियों से हथेली में नहीं पहुँच सकता; केवल अँगूठे और छोटी अँगुली से पहुँच सकता है। ऊपर की ओर शोथ हथेली से बाहु में जा सकता है। किन्तु पूय के चारों ओर फैल जाने पर कण्डरा और कला गल जाते हैं और सारे स्थान में अधस्त्वक्-शोथ फैल जाता है।

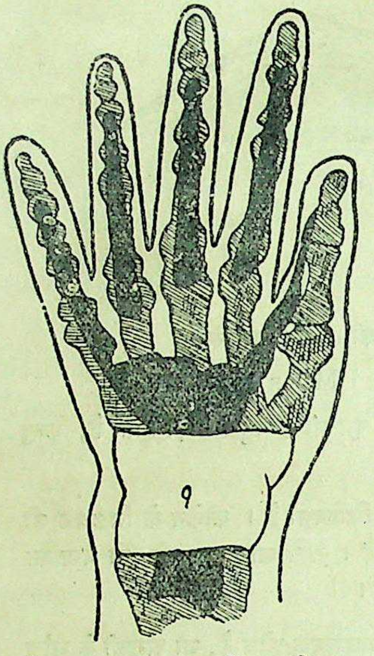

चित्र नं० १६—हाथ में कलावितान और कंडरावरणों की स्थिति

जिस अँगुली में यह शोथ प्रारम्भ होता है वह कड़ी, उष्ण और लाल हो जाती है और उसमें तीव्र पीड़ा होने लगती है। रोगी अँगुली को नहीं मोड़ सकता। अन्य स्वरूपों में ऐसा करना सम्भव है।

जब शोथ हथेली या मणिबन्ध प्रान्त में फैलता है तो इन अङ्गों की भी वही दशा होती है। स्थान उष्ण, लाल और कड़ा पड़ जाता है। पीड़ा बढ़ जाती है। शारीरिक लक्षण उग्र हो जाते हैं। रोगी की शक्ति कम होने लगती है। कभी-कभी रोग यहाँ तक बढ़ता है कि अँगुलियों की सन्धियाँ और स्वयं अस्थियाँ रोगग्रस्त हो जाती हैं। रोग की उग्रता के अनुसार शारीरिक लक्षण भी तीव्र हो जाते हैं।

चिकित्सा—पूय बनने के पूर्व ऊष्मस्वेद, उपनाह, बायर की विधि इत्यादि के द्वारा रक्त-सञ्चालन बढ़ाना चाहिए। जब पूय बन जाय तो उसको गहरे और लम्बे भेदनों द्वारा निकालना आवश्यक है। आवश्यकतानुसार अँगुली के बीच में उसके दोनों ओर भेदन करना चाहिए। जब पूय दूर तक फैली होती है तो छोटे भेदनों से काम नहीं चलता। कभी-कभी अँगुली के अग्र भाग से उसके मूल तक का चर्म भेदना पड़ता है। कनिष्ठा और अंगुष्ठ में लम्बे भेदनों की अधिक आवश्यकता होती है। यदि पूय बाहु में पहुँच गई है तो वहाँ के चर्म का भी भेदन करना आवश्यक है। निर्हरण का उचित और पूर्ण आयोजन करना चाहिए।

भेदन के पश्चात् अङ्ग को कुछ समय तक कार्बोलिक विलयन में डुबोकर रखना चाहिए। ऊष्मस्वेद के प्रयोग से लाभ होता है। निर्हरण के लिए नलिका का प्रयोग उचित नहीं।

(५) कभी-कभी यह शोथ अंगुल्यास्थि के आवरण के नीचे तक पहुँच जाता है, जिससे पूय बनने और अस्थि गलने लगती है। शोथ के तीव्र लक्षणों के समाप्त हो जाने

पर भी पाक नहीं बन्द होता, और अन्त को चर्म पर व्रण बन जाते हैं जिनसे पूय निकलने लगती है। इस व्रण के द्वारा एष्णि को भीतर डालने से गली हुई अस्थि प्रतीत की जा सकती है। ऐसी अवस्था में प्रायः अंगुलियों की सन्धियाँ भी विकृत हो जाती हैं।

रोग के इस रूप में अस्थि के गलित या निर्जीव भाग को निकाल देना आवश्यक है। उसके बिना रोग का अन्त नहीं होता। सन्धियों के रोगग्रस्त होने से सन्धि-जाड्य[1] उत्पन्न हो सकता है। ऐसी अवस्था में अङ्गच्छेदन[2] करना होता है।

इस रूप में भी शोथ हथेली और बाहु में पहुँच सकता है। इसलिये अस्थि के निर्जीव भाग और पूय को वहाँ से तुरन्त निकाल देना अत्यावश्यक है। तत्पश्चात् ऊष्म-स्वेद तथा अन्य विसंक्रामक पदार्थों के प्रयोग से व्रण को शुद्ध करना चाहिए।

नाड़ीव्रण[3]

कभी-कभी विद्रधि को चीरने पर मालूम होता है कि वास्तव में पाक का स्थान चर्म के बहुत नीचे स्थित है। एष्णि को व्रण में प्रविष्ट करने से वह एक लम्बी पतली नलिका में होती हुई पाक के स्थान में पहुँच जाती है। यह स्थान नलिका की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। प्रारम्भ में इसी स्थान पर शोथ उत्पन्न होता है। कुछ समय के पश्चात् वहाँ पूय बन जाती है, जो अपना मार्ग बनाती हुई अन्त को चर्म पर पहुँच जाती है, और वहाँ एक व्रण के द्वारा बाहर निकलने लगती है। यह नलिका या मार्ग, जो चर्म से पाक-स्थान तक जाता है, नाड़ीव्रण कहलाता है। नाड़ीव्रण का एक मुख चर्म पर होता है। किन्तु दूसरी ओर उसका मुख बन्द रहता है। दो पाकस्थानों को मिलानेवाले मार्ग को भी नाड़ीव्रण के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार यह मार्ग दो पाकस्थानों अथवा पाक-स्थान और चर्म के बीच होता है। प्रायः वह एक ओर चर्म पर खुलता है ओर दूसरी ओर पाकस्थान से मिला रहता है। किन्तु कभी-कभी चर्म के नीचे ही वे पाकस्थानों के बीच में स्थित होते हैं।

जब किसी पाकस्थान से पूय का चूर्ण निर्हरण नहीं होता अथवा वहाँ शस्त्रकर्म के पश्चात् घुणास्थि[4], वस्त्र, रेशम के तागे इत्यादि रह जाते हैं तो उनके कारण उत्पन्न हुई पूय अपने निकलने के लिए मार्ग बना लेती है। इस प्रकार नाड़ीव्रण बन जाता है। पूर्ण निर्हरण न होने से अथवा जिस अङ्ग में व्रण है उसको विश्राम न मिलने से नाड़ीव्रण का रोहण नहीं होता। मांस-पेशियों के साथ सम्बद्ध नाड़ीव्रणों के आरोहित न होने का मुख्य कारण पेशी में प्रत्येक समय होनेवाले सङ्कोचों के कारण पेशी को विश्राम न मिलना होता है।

नाड़ीव्रण के क्षयजन्य होने से चारों ओर के भाग भी क्षय-व्याप्त हो जाते हैं। इससे व्रण की दशा सुधरने नहीं पाती। यदि नाड़ीव्रण उपकला से आच्छादित हो जाता है या उसके चारों ओर संयोजक धातु अधिक बनती है तो भी व्रण का आरोहण नहीं होता। रोगी की शारीरिक दशा का भी व्रण पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। दौर्बल्यावस्था व्रण के स्वस्थ होने में बाधक होती है।

---

१. Ankylosis. २. Amputation. ३ Sinus, ४. Carious bone.

चिकित्सा—पूय के पूर्ण निर्हरण का आयोजन करना, व्रण के भीतर यदि वस्त्र या रेशम इत्यादि के टुकड़े हों तो उनको वहाँ से निकालना, यदि व्रण पर कला आच्छादित हो गई है तो उसको काटकर निकाल देना, सौत्रिक धातु का नाश करना, व्रण की भित्तियों को काटकर उनको चौड़ा कर देना जिससे पूय भीतर न रहने पावे, इत्यादि चिकित्सा के मुख्य साधन हैं। यदि व्रण का कुछ भाग क्षयजन्य हो चुका है तो उसको चमसक से खुरचकर निकाल देना चाहिए। अस्वस्थ भाग को दाहकशलाका[१] अथवा अन्य वस्तुओं से दग्ध भी किया जाता है।

कभी-कभी वेक्सीन का प्रयोग बहुत लाभदायक सिद्ध होता है।

अधस्त्वक् शोथ

त्वचा के नीचे की संयोजक धातु, पेशियों के बीच की कला, अथवा कण्डरावरण इत्यादि में पूयोत्पादक जीवाणुओं के पहुँचने से तरुण शोथ उत्पन्न होता है। इस प्रकार के शोथ में फैलने का विशेष गुण होता है। कुछ समय पश्चात् पाक प्रारम्भ[२] होने से उसमें पूय बनने लगती है। रोग के अधिक प्रबल होने पर अङ्ग में निर्जीवाङ्गत्व[३] तक उत्पन्न हो सकता है। रोगोत्पादक जीवाणु चर्म से या किसी दूरस्थ अंग से वहाँ की धातुओं में पहुँच जाते हैं।

शरीर के जिन भागों की रचना विच्छिन्न होती है उनमें यह शोथ बहुत शीघ्रता से फैलता है। कभी-कभी रोग के जीवाणुओं को प्रवेश-स्थान से बहुत दूर पर फैलते हुए देखा गया है।

लक्षण—रोग के लक्षण जीवाणुओं की प्रबलता पर निर्भर करते हैं। जीवाणुओं के दुर्बल या मन्द होने पर आक्रान्त स्थान में केवल हलकी सी लालिमा दिखाई देती है। दबाने से कुछ पीड़ा होती है। धीरे-धीरे यह पीड़ा बढ़ जाती है और रोगी की दशा गिरने लगती है। अरुचि, मन्दाग्नि और ज्वर इत्यादि लक्षण प्रकट हो जाते हैं। रोगग्रस्त स्थान की पीड़ा बढ़ जाती है और रोगी काम करने योग्य नहीं रहता। तापक्रम भी बढ़ जाता है और शोथ के सारे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

जीवाणुओं के प्रबल होने पर प्रारम्भ ही से रोग तीव्र होता है। रोगी को शीत से ज्वर आता है जो १०३° या १०४° डिगरी तक पहुँच जाता है। अन्य लक्षण जैसे नाड़ी का तीव्र और दुर्बल होना, प्यास लगना इत्यादि भी उत्पन्न हो जाते हैं।

स्थानिक लक्षण स्थिति के अनुसार होते हैं। संक्रमण के गहरे न होने पर चर्म पर शोथ दिखाई देता है, उष्णता और स्पर्श-पीड़ा भी प्रतीत होती है। किन्तु संक्रमण के गहरे स्थित होने पर ये लक्षण स्पष्ट नहीं होते। यद्यपि रोगी की साधारण दशा विकृत हो जाती है तो भी स्थानिक लक्षण उस समय स्पष्ट होते हैं जब पूय चर्म के नीचे पहुँच जाती है।

---

१. Cautery. २. Cellulitis. ३. Gangrene.

चर्म नरम हो जाता है और कई स्थानों पर विद्रधि के समान उत्सेध उत्पन्न हो जाता है। इन स्थानों के फटने पर गाढ़ी और दुर्गन्धित पूय निकलने लगती है।

पूय बनने के पूर्व ही कई स्थानों पर भेदन कर देने से बहुत कुछ विष बाहर निकल जाता है जिससे रोग के परिमित हो जाने की आशा की जा सकती है, ऐसा न करने अथवा जीवाणुओं के प्रबल होने पर रोगग्रस्त स्थान गलने लगता है। तीव्र ज्वर और उन्माद तक उत्पन्न हो सकते हैं।

चिकित्सा—शोथ की दशा में ऊष्मस्वेद, उपनाह इत्यादि के प्रयोग से रक्त-सञ्चार को बढ़ाने का उद्योग करना चाहिए। पूयोत्पादन के पश्चात् चर्म का कई स्थानों पर भेदन करना आवश्यक है। यदि वहाँ पर कुछ गलित भाग उपस्थित हों तो उनको चिमटी और कैंची की सहायता से काटकर निकाल देना उचित है। पाक प्रारम्भ होने के पूर्व भी भेदन करने से लाभ होता है।

चर्म के भेदन से जो व्रण बनते हैं उन पर ५% सामान्य-लवण-विलयन[१] अथवा ग्लिसरीन-आइडोफ़ार्म में गौज़ के टुकड़ों को भिगोकर रखना चाहिए। कुछ विद्वान् ग्लिसरीन और इकथ्योल[२] में भिगोकर गौज़ को रखना उत्तम समझते हैं। गौज़ के ऊपर एक या दो शोषक रूई की कवलिकाएँ रखनी चाहिएँ।

भेदन के पश्चात् अङ्ग को कई घण्टे तक बोरिक विलयन या यूसोल से भरे हुए बर्तन में रखना उचित है। एक्रेफ़्लेवीन के प्रयोग से भी लाभ होता है। यदि रोग किसी और दिशा में फैले तो चाकू का भलीभाँति प्रयोग करना चाहिए। जहाँ भी पूय उपस्थित है वहीं चाकू की आवश्यकता है।[३]

रोगी की शारीरिक दशा पर भी ध्यान देना आवश्यक है। विरेचक ओषधियों द्वारा कोष्ठ की शुद्धि करके उसके बल को बढ़ाने का उद्योग करना उचित है। इस रोग के जीवाणुओं के प्रभव को नष्ट करने और उनकी वृद्धि रोकने के लिए रोगी को पोलीवेलेन्ट-एण्टीस्ट्रिप्टोकोकल-सीरम[४]-प्रयोग करवाना चाहिए। पहिली मात्रा २० सी. सी. और उसके पश्चात् १० सी. सी. प्रति दिवस दो बार शरीर में प्रविष्ट करना उचित है।

इस दशा के बहुत भयानक होने पर केवल अङ्गच्छेदन से रोगी के जीवन की रक्षा की जा सकती है।

पूय संचार[५]

इस रोग में शरीर में यतस्ततः विद्रधि उत्पन्न होती हैं और रोगी विषमज्वर से ग्रस्त होता है। इसका कारण पूयोत्पादक जीवाणु और उनके विष का रक्त में प्रविष्ट होना

---

१. Normal Saline Solution. २. Icthyol.

३. यतो दोषगतिं विद्यादुत्संगी यत्र यत्र च।
तत्र तत्र व्रणं कुर्यात् यथा दोषा न तिष्ठति ॥
सुश्रुत—सूत्रस्थान अ० ५ ॥

४. Polyvalent antistreptococcal serum. ५. Pyaemia.

है। प्रायः स्ट्रिप्टोकोकस जीवाणु ही इसका कारण होता है, यद्यपि उसके साथ अन्य जीवाणु भी उपस्थित पाये जाते हैं। बहुधा रोग शरीर में किसी स्थान पर स्थित संक्रमित-व्रण-युक्त भग्न इत्यादि से फैलता है। किन्तु कभी-कभी जीवाणुओं के प्रवेश-मार्ग का पता लगाना असम्भव होता है। इस स्थान से कुछ जीवाणुयुक्त धातु पास की किसी शिरा में पहुँच जाती हैं और वहाँ से रक्त-प्रवाह के द्वारा उनके छोटे-छोटे भाग सारे शरीर में फैल जाते हैं। अधिकतर यह भाग फुस्फुस, मस्तिष्क, यकृत, प्लीहा, वृक्क सन्धियों की स्नेहिक कला इत्यादि में पहुँचते हैं और इन भागों में विद्रधि बनाना प्रारम्भ कर देते हैं। यह विद्रधि ऊपर कहे हुए अङ्गों के अतिरिक्त शरीर के प्रत्येक भाग में उत्पन्न हो सकती हैं।

लक्षण—यह रोग प्रायः प्रथम पूयोत्पादन अथवा व्रण के एक सप्ताह के पश्चात् प्रारम्भ होता है। रोगी को अत्यन्त तीव्र शीत लगता है और उसके पश्चात् स्वेदन होता है। शीत में २४ से ४८ घण्टे तक का अन्तर हो सकता है। इस प्रकार के अन्तर से रोगी कई बार शीत से पीड़ित होता है। शीताधिक्य इस रोग का विशेष लक्षण है। यदि शीत के समय रोगी का तापक्रम लिया जाय तो वह १०३°, १०४° या १०५° फ़॰ पाया जायगा। शीघ्र ही ज्वर कम होना प्रारम्भ होता है और रोगी को स्वेद आता है। ज्वर कई अंश कम हो जाता है. किन्तु प्रायः पूर्णतया नहीं उतरता। स्वेद में एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है। यह क्रम कई दिन तक चलता है। शीत और ज्वर के आक्रमणों के बीच का अन्तर कम होता जाता है और रोगी का शरीर क्षीण होने लगता है। नाड़ी दुर्बल और तीव्र होती है और कभी-कभी ज्वर के उतरने पर भी उसकी संख्या कम नहीं होती। रोगी चिन्तित प्रतीत होता है, शरीर से निकलनेवाले मल-मूत्र तथा अन्य स्रावों की मात्रा घट जाती है और रात्रि को उन्माद के से लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। जिह्वा शुष्क और लाल होती है और उसके अंकुरों का आकार बढ़ जाता है। प्रायः रोगी के श्वास से एक विशेष प्रकार की गन्ध आती है। उसको क्षुधा नहीं लगती। अरुचि, वमन तथा अतिसार तक उत्पन्न हो सकते हैं। चर्म कान्तिहीन, रूक्ष और कालिमायुक्त दिखाई देता है; किन्तु कभी-कभी चमकते हुए पीले रङ्ग का भी देखा जाता है। चर्म सदा गर्म रहता है। रोग के बढ़ जाने पर नाड़ी मन्द और विकृत हो जाती है। प्रथम सप्ताह के अन्त के समीप विद्रधियाँ निकलनी आरम्भ हो जाती हैं। कभी-कभी उनमें पीड़ा नहीं होती। सन्धियों में बिना किसी पीड़ा के पूयोत्पादन हो सकता है। यह विद्रधि बहुत शीघ्रता से उत्पन्न होती हैं।

इनके भीतर उपस्थित पूय प्रायः गाढ़ी होती है, किन्तु तैल के समान पतली भी हो सकती है। पूय में जीवाणुओं की बहुत अधिक संख्या पाई जाती है। अङ्गों में बननेवाली विद्रधि आकार में छोटी किन्तु संख्या में अधिक होती हैं। उनमें यह विशेषता होती है कि पूय के चारों ओर रोहण धातु नहीं होती। इस कारण उनको प्रारम्भ ही में चीरकर पूय निकाल देने पर भी वह बराबर फैलती ही जाती हैं। लसीका-ग्रन्थियों तथा चर्म के नीचे की धातुओं तथा सन्धियों की गौणविद्रधि[१] कभी-कभी इतने धीरे उत्पन्न होती हैं कि रोगी को उनकी उपस्थिति मालूम भी नहीं होती। कापोलिक[२] ग्रन्थि में भी पूय फैलती हुई देखी गई है। इस उपद्रव में बहुत पीड़ा होती है। जीर्ण-पूयसंचार

१. Secondary Abscess. २. Parotid gland.

में लक्षण मन्द होते हैं, ज्वर कम अथवा अनुपस्थित होता है। विद्रधियों की संख्या थोड़ी होती है। प्रायः वह भयङ्कर नहीं होती। किन्तु मार्मिक अङ्गों में एक विद्रधि से भी मृत्यु हो सकती है।

साध्यासाध्यता[1]—तरुण रोग में प्रायः १० या १५ दिवस में रोगी की मृत्यु हो जाती है। जीर्ण रोग में कई सप्ताह अथवा महीनों तक रोग चलता रहता है। रोगी की शक्ति के क्षय से मृत्यु होती है।

चिकित्सा—रोग को पूर्व से ही रोकना अत्युत्तम है। यदि किसी अङ्ग में इस प्रकार की विद्रधि उत्पन्न हुई हो अथवा पूयोत्पादन हुआ हो जिससे पूयमय वस्तु के रक्त द्वारा शरीर में फैल जाने का भय हो, तो अङ्ग का छेदन कर देना चाहिए। यदि अस्थि के भीतर पूय बनी है तो अस्थि के गलित भाग को पूर्णतया काटकर निकाल देना आवश्यक है। इसी प्रकार किसी स्थान पर रक्त-नलिकाओं में पूति-वस्तु उपस्थित हो तो उन रक्त-नलिकाओं का चारों ओर के संक्रमित भागों के साथ छेदन करना ही उत्तम है। यदि किसी शिरा में शोथ हो और उसमें पूति-वस्तु की उपस्थिति का सन्देह हो तो उस शिरा का छेदन करके संक्रमित वस्तु को निकाल देना चाहिए। किन्तु जहाँ पर ऐसा न हो सके वहाँ प्रथम व्रण को उचित और पूर्ण भेदनों द्वारा शुद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न करना उचित है। विद्रधि इत्यादि को काटकर पूय निकाल देने के पश्चात् विसंक्रामकों के प्रयोग द्वारा उस स्थान की दशा को उन्नत करना चाहिए। संयुक्त भग्न तथा ऐसे ही क्षतों में वायर की विधि द्वारा उत्तम परिणाम की आशा की जा सकती है। ज्योंही संक्रमण के तनिक भी लक्षण मालूम हों अथवा यदि संक्रमण की आशंका भी हो तो इस विधि का प्रयोग तुरन्त आरम्भ कर देना चाहिए। किन्तु यदि संक्रमण फैल चुका है और क्षत को भली भाँति चौड़ा देने और उसके निर्हरण का आयोजन कर देने पर भी विशेष उन्नति नहीं मालूम होती तो रोग को रोकने का एक मात्र उपाय अङ्ग को काट देना है।

रोगी की शारीरिक दशा की ओर भी ध्यान देना बहुत आवश्यक है। बलदायक ओषधियों द्वारा रोगी की शक्ति को बनाये रखना चाहिए।

जीवाणु संचार[2]

इस रोग में जीवाणु और उनके विष रक्त द्वारा शरीर के भिन्न भिन्न भागों में पहुँचकर उन पर प्रभाव डालते हैं। इस रोग में पूर्व रोग की भाँति गौण विद्रधि नहीं उत्पन्न होती। इस प्रकार रक्त में स्वतन्त्रता से प्रवाह करते हुए जीवाणु पाये जा सकते हैं। किन्तु कभी-कभी उनकी संख्या बहुत कम होती है। रोग के उपस्थित होने पर भी किसी विशेष समय पर रक्त में जीवाणुओं का न मिलना सम्भव है।

यह रोग सूक्ष्म व्रणों द्वारा जीवाणुओं के शरीर में प्रविष्ट होने से उत्पन्न होता है। पिन का चुभना रोग को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। निर्जीवाङ्गत्व के साथ यह रोग प्रायः सदा ही पाया जाता है।

---

१. Prognosis. २. Scepticoemia.

शरीर की क्षीण दशा, मदात्यय तथा अन्य प्रकार के असंयम रोगोत्पत्ति में सहायता देते हैं।

लक्षण—जीवाणु-प्रवेश के कुछ घण्टे ही के पश्चात् रोग प्रारम्भ हो जाता है। ज्वर शीत के साथ प्रारम्भ होता है। तापक्रम १०३°, १०४° या १०५° तक हो जाता है। किन्तु रोग के अत्यन्त प्रबल होने पर शरीर का तापक्रम ९७° या इससे भी कम हो सकता है। प्रायः ज्वर अधिक होता है। ज्वर पूर्णतया कभी नहीं उतरता, नाड़ी तीव्र और दुर्बल होती है। हृदय का कुछ प्रसार हो जाता है। जिह्वा शुष्क, मोटी और मैली पाई जाती है, किन्तु उसके किनारे लाल होते हैं। जिह्वा का फिर से आर्द्र हो जाना उत्तम लक्षण है। वमन और अतिसार प्रायः उपस्थित होते हैं। वमन में गहरे-भूरे या मटमैले रङ्ग का पदार्थ निकलता है। मल के साथ प्रायः रक्त निकलता देखा जाता है। मूत्र-त्याग कम होता है, जिससे शरीर के विष बाहर नहीं निकलने पाते। विषों के एकत्र होने से श्वास रुक-रुककर आता है। रोगी का मुख नीलिमायुक्त हो जाता है। चर्म पर ठण्डा स्वेद आने लगता है और कभी-कभी श्लैष्मिक-कला तथा चर्म के नीचे रक्तस्राव पाया जाता है। कुछ रोगियों में कामला भी देखा गया है। रोगी में विचार-शक्ति नहीं रहती। मृत्यु के समीप श्वास लेने में कष्ट होने लगता है।

साध्यासाध्यता—तरुण रोग सदा भयङ्कर होता है। रोगी का नीरोग होना शरीर से संक्रमण को दूर करने में सफलता और रोगी की शारीरिक शक्ति पर निर्भर करता है।

चिकित्सा—जिस स्थान में प्रथम जीवाणुओं के प्रवेश द्वारा शोथ अथवा विद्रधि उत्पन्न हुए हों उसका पूर्ण भेदन करके पूयजनक वस्तु को पूर्णतया निकाल देना चाहिए। किन्तु यदि शरीर में संक्रमण फैल चुका है, तो विषों का शरीर से त्याग और रोगी की शक्ति को बनाये रखने का जितना भी उद्योग किया जा सके करना उचित है। रक्त की परीक्षा द्वारा यह मालूम करना चाहिए कि कौन सा जीवाणु रोगोत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है। उसी जीवाणु का एण्टीसीरम प्रयोग करना चाहिए। कई बार स्ट्रिप्टोकोकस के रोगी एण्टीस्ट्रिप्टोकोकिक-सीरम के प्रयोग से नीरोग हो चुके हैं। कुछ विद्वान् दिन में दो या तीन बार साधारण लवण के विलयन को शिरा के द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं, जिससे मूत्र और मल का त्याग होता है। इस विधि से भी लाभ हो सकता है।

विष-संचार[1]

इस रोग में केवल जीवाणु-जन्य-विष रक्त में संचरित होकर अपना प्रभाव डालते हैं। विषों की मात्रा के अनुसार प्रभाव अधिक या कम होता है। ज्यों-ज्यों विष शरीर से निकलते जाते हैं त्यों-त्यों शारीरिक लक्षण भी कम होते चले जाते हैं।

लक्षण—इस रोग के लक्षण प्रायः क्षत के २४ घण्टे के पश्चात् उत्पन्न होते हैं। क्षत के द्वारा प्रविष्ट होकर जीवाणु विष उत्पन्न करते हैं, जिनका शोषण होने पर शीत के साथ ज्वर प्रारम्भ होता है। तापक्रम १०२° से १०४° तक पहुँच सकता है। ज्वर के साथ

---

1 Sapraemia.

अन्य लक्षण भी उपस्थित होते हैं। अरुचि, क्षुधा न लगना, जिह्वा का शुष्क या मैली होना, मूत्र की कमी इत्यादि लक्षण भी पाये जाते हैं।

तीव्र दशा में अतिसार और वमन विशेष लक्षण होते हैं। हृदय की क्रिया ठीक नहीं होती, नाड़ी दुर्बल और मन्द होती है और चर्म ठण्डा तथा स्वेदमय हो जाता है। श्लेष्मिक कला रक्तहीन दिखाई देती है, नाड़ी की गति विकृत और दुर्बल होती है। अन्त को मल-मूत्र का स्वयं त्याग होने लगता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—पूय अथवा संक्रमित धातु को पूर्णतया निकाल देना चिकित्सक का प्रथम कर्तव्य है। क्षत को भली भाँति खोल देना चाहिए और उसमें जो भी जमा हुआ रक्त, स्राव, गलित धातु इत्यादि हों उनको निकालकर विसंक्रामक पदार्थों द्वारा स्थान की शुद्धि करनी चाहिए। ऐसी दशाओं में आइडोफ़ार्म विशेष रूप से लाभदायक पाया गया है।

शेष चिकित्सा ऊपर लिखित रोगों की ही भाँति की जाती है।

पाँचवाँ परिच्छेद

व्रणोत्पादन[1] और व्रण[2]

व्रणेति यस्मात् रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति।
आदेहधारणात् तस्माद्व्रण इत्युच्यते बुधैः॥ सुश्रुत सूत्रस्थान, अ० २१।

व्रणोत्पादन उस क्रिया का नाम है जिससे स्थानीय कोषाणुओं की मृत्यु से धातुओं का नाश हो जाता है और चर्म अथवा श्लेष्मिक कला के पृष्ठ पर एक खुला हुआ घाव बन जाता है। इसको व्रण कहते हैं। विद्रधि में पूय भीतर एकत्र रहती है किन्तु व्रण से तुरन्त ही बाहर निकल जाती है। विद्रधि को काटने से व्रण बन जाता है।

व्रणों की उत्पत्ति पूयोत्पादक जीवाणुओं द्वारा होती है, जो अपने विषों से उस स्थान की धातुओं का नाश करते रहते हैं। व्रण प्रायः तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) आघात या साधारण पूयोत्पादक जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुए व्रण।

(२) विशिष्ट जीवाणुओं से उत्पन्न हुए व्रण, जैसे उपदंश, फिरङ्ग रोग अथवा क्षयजन्य व्रण।

(३) घातक व्रण—जैसे कैन्सर।

---

१. Ulceration. २. Ulcer.

(१) आघात या साधारण पूयोत्पादक जीवाणुओं से उत्पन्न व्रण—

प्रत्येक व्रण में निम्नलिखित बातों को ध्यानपूर्वक देखना चाहिए—

(१) व्रण का अधःभाग या तल—व्रण के तल में रोहणधातु उपस्थित होती है। उसके रङ्ग, आकार, स्थिति, रक्तिमा तथा स्वस्थता को भली भाँति देखना चाहिए।

(२) स्राव—व्रण से निकलनेवाले पूय या सोरम का रङ्ग, गाढ़ापन, गन्ध इत्यादि देखना आवश्यक है।

(३) व्रणोष्ठ—उनका आकार देखना चाहिए; वह क्रमहीन अथवा समान हैं, उनकी मोटाई; किनारों के नीचे खोखला स्थान तो नहीं है; ऊपर को उठे हुए हैं या नीचे को दबे हुए; चर्म की उपकला व्रणोष्ठों पर तो नहीं चढ़ी हुई है; इत्यादि बातों की परीक्षा करना आवश्यक है।

(४) व्रण के चारों ओर की धातु—उनमें उपस्थित शोथ, रक्तातिवृद्धि, उनका स्वरूप इत्यादि देखने चाहिएँ; वे स्वस्थ हैं; अथवा अस्वस्थ दीखते हैं।

(५) रोहणधातु को छूने से पीड़ा तो नहीं होती।

(६) व्रण की स्थिति—कुछ व्रण विशेष अङ्गों पर होते हैं। भेदक व्रण सदा पाँव में होता है।

प्रत्येक व्रण की तीन अवस्थाएँ होती है। **प्रथम अवस्था** में धातुओं के नष्ट होने से व्रण फैलता है। उसके तल पर गाढ़ी पूय उपस्थित होती है; स्राव अधिक और कभी-कभी रक्त-युक्त होता है; ओष्ठ मोटे होते हैं, और चारों ओर के भाग में भी शोथ होता है।

दूसरी अवस्था में[१] व्रण के रोहण की तैयारी होने लगती है। व्रण स्वच्छ और स्वस्थ दिखाई देता है। पूयोत्पत्ति कम हो जाती है। स्राव भी कम होता है। छोटे-छोटे लाल अंकुर उगने लगते हैं जो संख्या और आकार में उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। कुछ व्रणों में यह अवस्था स्थगित हो जाती है। यद्यपि व्रण स्वच्छ होता है, किन्तु उसमें आरोहण नहीं होता। **तीसरी अवस्था** में व्रण भरने लगता है। रोहण धातु अधिक बनती है और व्रण के सारे तल पर छा जाती है। उसको किसी एषिण से छूने से रक्त निकलने लगता है, यद्यपि अधिक या अत्यन्त शीघ्र नहीं निकलता। व्रण के चारों ओर का प्रान्त शोथरहित होता है, व्रणोष्ठ भी स्वस्थ दिखाई देते हैं।

चिकित्सा—व्रण की अवस्था के अनुसार होती है। प्रत्येक व्रण में उसके आदि से अन्त तक ऊपर कही हुई तीनों अवस्थाएँ मिलती हैं। अतएव यदि व्रण अपने स्वाभाविक क्रम में चल रहा है, अर्थात् प्रथमावस्था के पश्चात् दूसरी और तत्पश्चात् तीसरी अवस्था आ रही है, अथवा इसकी सम्भावना है, तो किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। व्रण को शुद्ध रखना, उसका पूर्ण निर्हरण, नवीन संक्रमण से रक्षा और व्रण को पूर्ण विश्राम देना ही व्रण की चिकित्सा है। उत्तम व्रण में प्रबल विसंक्रामकों का उपयोग

---

१. त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः।
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते॥ सुश्रुतसू० स्थान अ० २३।

उचित नहीं, और न भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में चिकित्सा में परिवर्तन करने ही की आवश्यकता है। आदि से अन्त तक साधारण व्रणोपचार करना पर्याप्त है। जिस समय रोहणधातु बनने लगे उस समय इस प्रकार उपचार करना चाहिए जिससे नवीन अंकुरों को कोई हानि न पहुँचने पाये।

व्रण में विकार उत्पन्न हो जाने से उसका आरोहण नहीं होता। निम्नलिखित मुख्य विकृत व्रण होते हैं।

मन्द[1] अथवा दुष्ट व्रण—यह व्रण टाँगों के नीचे के भाग में होता है और स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। प्रायः ऐसे व्रण प्रकुपित शिराओं के ऊपर स्थित पाये जाते हैं, जिससे उनमें उत्तम रक्त-सञ्चालन नहीं होता। व्रण के आरोहित न होने का यही मुख्य कारण होता है। रोगी की असावधानता भी रोग में सहायता देती है।

व्रण चिकना दिखाई देता है। रोहणधातु दुर्बल, विकृत और थोड़ी होती है। व्रण से विषमय स्राव अधिक मात्रा में निकलता है, जिसके कारण चारों ओर के भाग पर पामा[2] उत्पन्न हो जाता है। व्रण का तल कड़ा होता है और नीचे के भाग से जुड़ जाता है जिससे आरोहण नहीं होने पाता। व्रणोष्ठ शोथयुक्त, मोटे और रक्तहीन होते हैं। व्रण के नीचे स्थित अस्थि में गुल्म उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था के बहुत समय तक रहने से अस्थि भी आक्रान्त हो जाती है। प्रथम अस्थिवेष्ट[3] में शोथ उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् अस्थि की बारी आती है। उसका ऊपरी भाग जर्जरित हो जाता है। चर्म और धातुओं के नष्ट हो जाने से अस्थि दिखाई देने लगती है। कुछ समय के पश्चात् अस्थि में भी व्रण बन जाता है।

चिकित्सा—सबसे अधिक संक्रमित भाग को निकालकर संक्रमण को नष्ट कर देने की आवश्यकता है। इसके लिये कोयले और अलसी की पुल्टिस (एक भाग पिसा हुआ कोयला और तीन भाग अलसी) का ३६ या ४८ घण्टे तक प्रयोग करना चाहिए। प्रत्येक चार-चार घण्टे पर पुल्टिस को बदलना उचित है। यदि इस पर भी व्रण के स्वच्छ होने के कोई लक्षण न दिखाई दें तो चमसक से अस्वस्थ भाग को खुरचकर निकाल देना चाहिए। तत्पश्चात् वहाँ शुद्ध कार्बोलिक अम्ल को लगाया जाय। जहाँ व्रण स्थित है वहाँ रक्त-सञ्चालन को बढ़ाने का आयोजन करना चाहिए। अङ्ग को ऊपर की ओर उठाकर रखने से वहाँ पर एकत्र हुआ रक्त हटकर नवीन रक्त आता है। रबर की पट्टी तथा पाँव की ओर से जानु-सन्धि की ओर साधारण पट्टी बाँधने से भी रक्त-सञ्चालन बढ़ाया जा सकता है।

व्रण के चारों ओर के शोथयुक्त भाग पर विस्फोटक[4] वस्तुओं के द्वारा विस्फोट डालने चाहिएँ। लायकर एपिसपेस्टीकस[5] अथवा एम्प्लेस्ट्रम[6] केन्थराईडिस के प्रयोग से स्फोट उत्पन्न किया जा सकता है।

---

१. Indolent or Callous ulcer. २. Eczema Vasicular. ३. Periosteum. ४. Blistering agents. ५. Liquor epispesticus. ६. Emplastrum cantharidis.

जब इन सब उपायों से भी व्रण स्वस्थ न हो तो समस्त रोगग्रस्त भाग को और उसके चारों ओर की कुछ स्वस्थ धातुओं को भी काटकर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार उत्पन्न हुए व्रण का साधारण उपचार करने से आरोहण प्रारम्भ हो जाता है।

स्पर्शासह्य व्रण[१]—यह व्रण सदा पार्ष्णि के पास पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। इन व्रणों में पीड़ा बहुत होती है। व्रण की रोहण धातु में कुछ ऐसे अंकुर होते हैं जिनको शलाका द्वारा स्पर्श करने से असह्य वेदना होने लगती है। यह व्रण आकार में छोटे होते हैं। किन्तु उनके रोहणतन्तु बड़े होते हैं। शलाका के द्वारा उन विशेष अंकुरों को, जिनके स्पर्श से पीड़ा होती है, मालूम किया जा सकता है। कुछ विद्वानों का मत है कि इन अंकुरों में नाड़ी-सूत्रों के अनाच्छादित हो जाने से इतनी अधिक पीड़ा होती है।

चिकित्सा—रोगी को मूर्छित करके तीव्र चमसक से व्रण को भले प्रकार से खुरचकर शुद्ध कार्बोलिक अम्ल को लगाना चाहिए। कुछ विद्वान् स्पर्शासह्य अंकुरों को ढूँढ़कर उनमें उपस्थित नाड़ियों के सूत्रों को विभक्त कर देते हैं।

कुटिल शिरीय व्रण[२]—यह व्रण रक्त-सञ्चालन की कमी से उत्पन्न होते हैं। अतएव वह प्रायः टाँगों के नीचे के भाग में सामने की ओर पाये जाते हैं। इस स्थान में शिराओं की शाखाओं का आपस में उत्तम सम्बन्ध नहीं है। इस कारण किसी प्रकार भी दबाव के अधिक होने से रक्त के लौटने में बाधा पड़ती है जिससे व्रणोत्पत्ति में सहायता मिलती है।

जब व्रण के साथ प्रकुपित शिराएँ भी उपस्थित होती हैं तो टाँग का चर्म मोटा हो जाता है। प्रायः शिरा के मोटे और कड़े हो जाने से उस पर का चर्म पतला पड़ जाता है और कभी-कभी फट जाता है, जिससे भयङ्कर रक्तस्राव होने लगता है। चारों ओर के चर्म का रङ्ग भी गहरा हो जाता है। वहाँ पर रक्त के रञ्जक कण एकत्रित हो जाते हैं। व्रण का स्वरूप बहुत कुछ दुष्ट व्रण के समान होता है। रोहणधातु अस्वस्थ होती है जिससे विषैला स्राव निकलता रहता है।

चिकित्सा—रक्त-सञ्चालन के अवरोध को हटाने से बहुत कुछ लाभ की आशा की जा सकती है। जहाँ तक सम्भव हो, रोगी को चलने-फिरने न देना चाहिए। उसको शय्यारूढ़ करके टाँग को ऊपर की ओर उठाकर रखना उचित है। रबर की पट्टी से भी लाभ की आशा की जा सकती है।

प्रकुपित शिराओं को शस्त्रकर्म से निकाल देना उत्तम है। किन्तु शस्त्रकर्म के पूर्व विसंक्रामकों द्वारा व्रण को पूर्णतया शुद्ध कर लेना चाहिए।

नाड़ी-विकार से उत्पन्न हुए व्रण[३]—किसी भी स्थान की पोषक नाड़ियों के विकार से वहाँ पर व्रण उत्पन्न हो सकता है। पक्षाघात[४], सुषुम्ना के रोगों, तथा नाडी-मण्डल के अन्य रोगों में प्रायः व्रण उत्पन्न हो जाया करते हैं।

---

१. Irritable ulcer. २. Varicose ulcer. ३. Trophic Nerves. ४. Paralysis.

चिकित्सा—व्रण की उत्पत्ति के पूर्व ही उसको रोकने का उपाय करना चाहिए। जिन रोगों में ऐसे व्रणों की सम्भावना हो उनमें अङ्गों के बल की रक्षा करना उचित है। चर्म को पूर्णतया शुष्क रखना आवश्यक है। चर्म पर किसी प्रकार का दबाव न पड़ना चाहिए। इसके लिए रबर की थैलियों का प्रयोग किया जा सकता है। व्रण उत्पन्न हो जाने के पश्चात उसका किसी मृदु विसंक्रामक से उपचार करना चाहिए।

दीर्घकालिक व्रण[1]—यह व्रण शीघ्र आरोहित नहीं होता। इसमें दूसरी अवस्था स्थगित हो जाती है।

चिकित्सा—रोहण धातु को उत्तेजित करना आवश्यक है जिससे वह वृद्धि करने लगे। अङ्ग को जितना विश्राम दिया जा सके कम है। यदि व्रण किसी सन्धि के ऊपर स्थित हो तो उसको कुशा[2] के द्वारा निश्चल कर देना चाहिए।

व्रण का साधारण उपचार करना पर्याप्त है। किन्तु रोहणधातुओं पर, किसी दाहक वस्तु, जैसे सिलवर नाइट्रेट, को लगाना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो शुद्ध सिलवर नाइट्रेट का प्रयोग किया जा सकता है। कोयले की पुल्टिस, आइडोफ़ार्म तथा बोरिक अम्ल व्रण की दशा सुधारने में सहायता देते हैं।

यदि इन प्रयोगों से लाभ न हो तो विस्फोटक वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए। व्रण के तल और उसके सन्निकट प्रान्त को खुरचकर निकाल देना और उस स्थान पर किसी दाहक वस्तु को लगाना उत्तम है। व्रण की दशा सुधरने पर उत्तेजक वस्तुओं का प्रयोग किया जा सकता है।

जब अङ्ग पर व्रण बहुत दूर तक फैल जाता है और अस्थि भी आक्रान्त होकर अधिक पीड़ा देती है तथा ऊपर कहे हुए उपायों से लाभ नहीं होता तो अङ्गच्छेदन करना उचित है।

भेदक व्रण[3]—यह व्रण पाँव के अँगूठे के मूल में पाया जाता है। चलने में एँड़ी और पञ्जे को अन्य भागों की अपेक्षा अधिक भार उठाना पड़ता है। प्रायः इस स्थान पर एक ठेक पड़ जाती है। धीरे-धीरे उसके नीचे पूयोत्पादन प्रारम्भ होता है। पूय एक छोटे छिद्र के द्वारा बाहर निकलती रहती है। कुछ समय में पूयोत्पत्ति अधिक होने लगती है। सन्धि और अस्थि तक आक्रान्त हो जाते हैं। इस व्रण में यह विशेषता है कि उससे रोगी को कोई पीड़ा नहीं होती। यदि एँड़ी से व्रण को देखा जाय तो रोगी को वह प्रतीत भी न होगी। यद्यपि व्रण का मुख छोटा होता है किन्तु वह भीतर ही भीतर चारों ओर फैलता रहता है। व्रण का पूर्ण निर्हरण न होने से दुर्गन्धि आने लगती है।

यद्यपि यह व्रण अधिकतर पाँव के अँगूठे के मूल में होता है, किन्तु वह पाँव के ऊपर या बाहर की ओर, हाथों में और दूसरे भागों में भी पाया जाता है। उस स्थान की पोषक नाड़ियों के नष्ट हो जाने से व्रण के आरोहण में बाधा पड़ती है। इस प्रकार के व्रण प्रायः ऐसे व्यक्तियों में पाये जाते हैं जो किसी प्रकार के प्रान्तिक नाड़ी-शोथ,

---

१. Chronic ulcer. २. Splint. ३. Perforating ulcer.

मस्तिष्क या सुषुम्ना के अन्य रोग अथवा पक्षाघात इत्यादि से ग्रस्त होते हैं। इक्षुमेह के रोगियों में भी इस प्रकार का व्रण पाया जाता है।

चिकित्सा—रोगी को चलने-फिरने का निषेध कर देना चाहिए, जिससे व्रण पर किसी प्रकार का भार न पड़े। यदि व्रण के भीतर उप-कला पहुँच गई है तो उसको काटकर निकाल देना उचित है। यदि व्रण का तल जुड़ा हुआ हो तो उसको भी काट देना आवश्यक है। अस्थि या सन्धि के आक्रान्त तथा गलित भाग का छेदन करना आवश्यक है। तत्पश्चात् व्रण का आइडोफार्म से व्रणोपचार करना चाहिए। विस्मथ और आइडोफार्म के कल्क[१] का प्रयोग करने से बहुत लाभ होता है।

व्रण के आरोहण के पश्चात् रोगी को इस प्रकार के जूते पहिनने चाहिए जिनसे वह स्थान, जहाँ व्रण हुआ था, भार से सुरक्षित रहे। जूते के भीतर फ़ेल्ट का एक मोटा पैतावा डालकर उसे व्रण के नीचे से काट देना चाहिए। इससे एक चौड़ा छिद्र बन जायगा और व्रण पर कोई भार न पड़ेगा।

शय्याव्रण[२]—यह व्रण उन रोगियों में अधिक होते हैं जिनको, रोगग्रस्त होने के कारण, बहुत दिनों तक शय्या पर पड़े रहना पड़ता है। यह उन स्थानों में उत्पन्न होते हैं जो शय्या से रगड़ खाते रहते हैं, जैसे नितम्ब या पीठ। जहाँ दो अङ्ग आपस में रगड़ खाते हैं वहाँ भी वह व्रण उत्पन्न हो सकते हैं। अण्डकोष और जंघा के चर्म के आपस में रगड़ खाने से वहाँ यह व्रण उत्पन्न हो जाते हैं।

यह साधारण व्रणों से भिन्न होते हैं। चर्म या मांस का कुछ भाग गलकर वहाँ से पृथक् हो जाता है जिससे शय्याव्रण उत्पन्न होता है। वास्तव में स्थान के निर्जीवाङ्गत्व से इनकी उत्पत्ति होती है।

यह व्रण दो प्रकार के होते हैं। एक तरुण और दूसरा चिरकालिक। तरुण व्रण मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना के रोगों तथा आघात इत्यादि से उत्पन्न होता है। स्थान लाल हो जाता है और वहाँ रक्त के एकत्र होने से चारों ओर शोथ के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। तत्पश्चात् इस भाग पर छाले पड़ जाते हैं। चर्म शक्तिहीन हो जाता है। छाले के बैठने या सूखने पर एक काले रङ्ग का खुरण्ड बन जाता है। जब यह खुरण्ड पृथक् होता है तो व्रण दिखाई देने लगता है।

चिरकालिक व्रण एक हल्के लाल चकत्ते के रूप में प्रारम्भ होता है। धीरे-धीरे इसका रङ्ग गहरा होता जाता है; यहाँ तक कि वह काला हो जाता है। चारों ओर के भागों में सूजन हो जाती है और वहाँ एक छाला उत्पन्न होकर फट जाता है, जिसके नीचे कठिन पूययुक्त व्रण दिखाई देता है। कुछ समय पश्चात् यह पूय का टुकड़ा पृथक् होकर एक गहरा व्रण बन जाता है।

इन व्रणों से वृद्धावस्था में विशेष हानि पहुँचती है। उनसे शरीर में सदा विष-सञ्चार होता है।

---

१. Bismuth iodeform paste. २. Bed sore.

चिकित्सा—जब रोगी के बहुत समय तक शय्यारूढ़ रहने की सम्भावना हो तो इन व्रणों की उत्पत्ति को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। रोगी को सदा करवट बदलवाते रहना उचित है। शय्या के साथ सम्पर्क में आनेवाले भागों के नीचे रूई की कवलिकाएँ[1], वायु की थैलियाँ[2], (जो रबर की चौड़ी गद्दियाँ होती हैं और वायु के भरने से फूल जाती हैं) तथा जल की थैलियाँ, जिनमें इच्छित तापक्रम का जल भरा होता है, प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार यह भाग भार से बचे रहेंगे।

शरीर के चर्म को पूर्णतया शुष्क रखना आवश्यक है। आर्द्र चर्म में जीवाणुओं की सहज में वृद्धि होती है। दिन में दो बार साबुन और जल से चर्म को स्वच्छ करके उस पर मिथिलेटेड स्पिरिट और बोरिक अम्ल मलना चाहिए। इससे व्रण शीघ्र नहीं बनने पाते। यदि रोगी का मूत्र और मल-त्याग स्वयं ही हो जाता हो तो उनको रोगी के शरीर के नीचे कभी एकत्र न होने देना चाहिए। इसी प्रकार व्रणोपचार के विलयनों को भी पोंछकर स्थान को शुष्क कर देना उचित है

इन व्रणों का साधारण व्रण की भाँति उपचार किया जाता है। यदि पूतिवस्तु[3] न बनी हो तो व्रण के बराबर लिण्ट का एक टुकड़ा काटकर उसको टिंचर बेंज़ोइन में भिगोकर व्रण के ऊपर लगा देना उचित है। उसके ऊपर रूई बाँधी जा सकती है। किन्तु उसके बन जाने पर उसको काटकर निकाल देना और उपचार के साथ ऊष्मस्वेद का प्रयोग करना चाहिए। ऐसी अवस्था में उत्तेजक वस्तुओं का प्रयोग किया जा सकता है।

पक्षाघात या मस्तिष्क के ऐसे रोगियों को जलशय्या पर सुलाना उत्तम है।

विशिष्ट जीवाणुओं से उत्पन्न हुए व्रण

उपदंश[4]—यह व्रण सदा शिश्न पर पाया जाता है। अन्य भागों में यह कभी नहीं होता। इसका कारण कुप्रसङ्ग होता है। इसकी उत्पत्ति 'ड्यूक्रे बैसीलस[5]' के कारण होती है। जिन स्थानों पर इस व्रण का स्राव लगता है वहीं उसी के समान व्रण उत्पन्न हो जाता है।

यह व्रण शिश्न के अग्र चर्म के नीचे मुण्डिका और उसके पीछे की खाई पर अधिक पाया जाता है। कभी-कभी इस व्रण के साथ फिरङ्ग रोग का व्रण भी उत्पन्न हो जाता है। साथ ही ऊरु प्रान्त की लसीका ग्रन्थियाँ भी बढ़ जाती हैं।

चिकित्सा—व्रण को स्वच्छ रखने से वह स्वयं ही कुछ समय में भर जाता है। इस कारण नित्य प्रति विसंक्रामक विलयन से धोकर उस पर आइडोफार्म छिड़कना चाहिए। यदि साधारण उपचार से लाभ न हो तो व्रण पर शुद्ध कार्बोलिक या नाइट्रिक अम्ल को लगाना उचित है। इससे जीवाणुओं का नाश होकर आरोहण आरम्भ हो जायगा।

---

१. Pads. २. Air cushions. ३. Slough. ४. Soft Chancre. ५. Ducre's Bacillus

फिरङ्ग रोग के व्रण[1]—यह रोग भी सदा कुप्रसङ्ग से उत्पन्न होता है। इसका कारण एक कृमि होता है जिसे 'ट्रिपानिमा पेलिडम'[2] कहते हैं। रोग की प्रथमावस्था में यह कृमि व्रणों में पाया जाता है।

कभी-कभी यह रोग केवल रोगी के सम्पर्क से भी उत्पन्न हो जाता है। व्रण की परीक्षा में असावधानी के कारण चिकित्सकों की अँगुलियों में व्रण उत्पन्न होते देखा गया है। इसी प्रकार परिचारिकाएँ भी रोग-ग्रस्त हो सकती हैं।

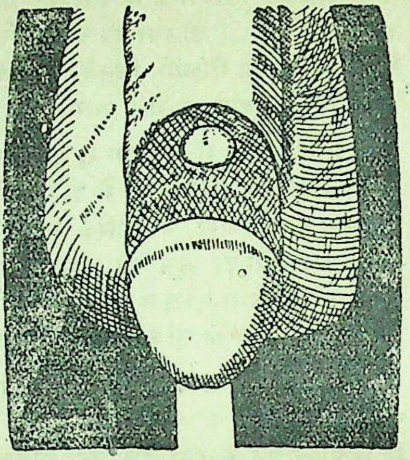

चित्र नं० १७ फिरंग रोग की प्रथमावस्था का व्रण—कठिन व्रण

इस रोग की तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था में केवल शिश्न पर 'कठिन व्रण'[3] उत्पन्न होता है। यह प्रायः शिश्न के अग्र चर्म के भीतर की ओर, पीछे की खाई के पास अथवा नीचे की ओर सीवन पर स्थित होता है। 'मूत्रदण्डिका'[4] में छिद्र के ओष्ठों के भीतर भी यह व्रण पाया जाता है। इसका तल अत्यन्त कठिन और मोटा होता है। शिश्न के अग्र भाग को अँगूठे और अँगुली के बीच में पकड़कर दाबने से वह कठिन प्रतीत होता है।

इससे सदा पतला स्राव निकलता रहता है। शिश्न के अतिरिक्त यह व्रण ओष्ठ, अँगुली, उदर के निम्न भाग और स्तन के मुख पर भी पाया जाता है।

यह व्रण कभी-कभी केवल एक उठे हुए दाने के रूप में मिलता है। उसमें कुछ जलन होती है। रङ्ग गहरा लाल होता है, किन्तु उसमें कोई व्रण नहीं होता और न पीड़ा ही होती है।

व्रण के आरोहण के पश्चात् वहाँ कार्टिलेज के समान कड़ी धातु बन जाती है।

दूसरी अवस्था के व्रण—यह विशेषकर मुख की श्लेष्मिक कला पर पाये जाते हैं। मुख के भीतर गले के दोनों ओर मांस का रङ्ग लाल होता है। किन्तु यह लालिमा सारे स्थान में एक समान नहीं होती। यतस्ततः उसके गोल या अर्धचन्द्राकार चकत्ते दिखाई देते हैं। तत्पश्चात् वहाँ पर व्रण बनने प्रारम्भ होते हैं, जो गले के पीछे और नीचे के भाग तथा तालु को भी आक्रान्त कर देते हैं। यह व्रण गहरे नहीं होते। इनके किनारे स्पष्ट और तीव्र होते हैं तथा कुछ श्वेत रङ्ग के दिखाई देते हैं।

तीसरी अवस्था के व्रण—रोग की तीसरी अवस्था में चर्म के नीचे सौत्रिक धातु इत्यादि की ग्रन्थियाँ बनने लगती हैं जो 'गमों'[5] कही जाती हैं। अस्थियों में भी

१. Syphilitic ulcer. २. Treponema pallidum. ३. Hard chancre. ४. Urethra ५. Gumma.

ऐसी ही उत्पत्ति हो जाती है। इनको अस्थि पर हाथ फेरने से प्रतीत किया जा सकता है। गमा के ऊपर का चर्म धीरे-धीरे घिसता रहता है। यहाँ तक कि उसके घिस जाने से व्रण उत्पन्न हो जाता है, जिसके द्वारा धूसर रङ्ग का कठिन पूययुक्त गमा दिखाई देता है। जब इनसे पूय पृथक् होती है तो गहरे व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। यह गोल होते हैं और इनके किनारे समान और स्पष्ट होते हैं। प्रायः एक ही स्थान पर ऐसे कई व्रण उपस्थित होते हैं। वह जंघा के ऊपरी भाग में विशेषतया जानु-सन्धि के पास अधिक पाये जाते हैं।

चिकित्सा—इन व्रणों की, रोग की साधारण चिकित्सा के अतिरिक्त, कोई विशेष चिकित्सा नहीं की जाती। जितनी भी औषधियाँ इस रोग के लिए अब तक प्रयुक्त हुई हैं उन सब में 'नियोसालवर्सन'[1] और 'सालवर्सन'[2] ही अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इन वस्तुओं को शिरा के द्वारा प्रविष्ट किया जाता है। नियोसालवर्सन, सालवर्सन के बहुत से दुर्गुणों से रहित होने के कारण, अधिक काम में लाया जाता है। इसके छः इंजेक्शन, प्रति सप्ताह एक, दिये जाते हैं।

इसकी मात्राएँ इस प्रकार हैं—

प्रथम बार	०·१५	ग्राम
दूसरी बार	०·३०	,,
तीसरी बार	०·४५	,,
चौथी बार	०·६०	,,
पाँचवीं बार	०·७५	,,
छठी बार	०·९०	,,

इन मात्राओं को १० सी० सी० परिस्रुत जल में घोलकर शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। इंजेक्शन देते समय शुद्धि का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

व्रण को रसकर्पूर के विलयन से धोकर उस पर कैलोमिल छिड़ककर शुद्ध रूई से उपचार कर देना चाहिए।

क्षयजन्य व्रण—यह व्रण क्षयजन्य विद्रधि के फटने से उत्पन्न होता है और ग्रीवा में, सन्धियों के पास अथवा पर्शुकाओं और वक्षास्थि पर अधिक पाया जाता है। इन व्रणों का आकार क्रमहीन होता है; किनारे रक्तहीन, पीले और नीचे से खोखले होते हैं। वहाँ का मांस दुर्बल दिखाई देता है। रोहण-अंकुर बहुत अल्प और रक्तहीन होते हैं। तल भी रक्तहीन और नरम दिखाई देता है जिससे पतला स्राव निकलता रहता है। इसमें क्षय-जन्य पदार्थ उपस्थित मिलते हैं।

चिकित्सा—व्रण की चिकित्सा साधारण रोग की भाँति करनी चाहिए। शुद्ध वायु और सूर्य-प्रकाश में रोगी को रखना, उत्तम पौष्टिक भोजन देना, शरीर के बल की वृद्धि के आयोजन इत्यादि साधनों का यहाँ पर भी उपयोग करना चाहिए। यदि व्रण बड़ा न हो तो रोगी को मूर्छित करके रोग-ग्रस्त धातुओं को काटकर निकाल देना उचित है। इन

---

१. Neo-salvarsan. २. Salvarsan.

व्रणों में बिस्मथ और आइडोफार्म के कल्क का बहुत उपयोग किया जाता है।

घातक व्रण—जब चर्म के नीचे कोई घातक अर्बुद जैसे 'कैन्सर' या 'सारकोमा', उत्पन्न हो जाता है तो कुछ समय में चर्म फटने से वहाँ व्रण बन जाता है। इसके द्वारा अर्बुद बाहर निकल आता है। अर्बुद पर भी व्रण उत्पन्न हो सकते हैं। अर्बुदों से पृथक् इन व्रणों की कोई चिकित्सा नहीं होती। अर्बुद को काटकर निकाल देना अथवा कुछ दशाओं में अङ्गच्छेदन करना ही व्रण की चिकित्सा है।

छठा परिच्छेद

क्षत

आघात द्वारा चर्म, श्लेष्मिक कला अथवा अन्य धातुओं के भिन्न हो जाने को क्षत कहते हैं। क्षत का आकार स्थिति और आघात पर निर्भर करता है। तीव्र धारवाले शस्त्र से जो क्षत उत्पन्न होगा उसका आकार समान होगा; ओष्ठ भी समान होंगे; वह एक ओर गहरा और दूसरी ओर, जहाँ उसका अन्त होता है, केवल चर्मगत होगा। बिना धारवाले शस्त्र, जैसे लाठी इत्यादि, के आघात से क्रमहीन क्षत उत्पन्न होगा। उस स्थान की धातुएँ फटी हुई दिखाई देंगी। किन्तु अस्थि के ऊपर के चर्म में लाठी से जो क्षत बनता है वह तीव्र शस्त्र के क्षत के समान होता है। शिर-चर्म तथा टाँग में सामने की ओर इसी प्रकार के क्षत उत्पन्न होते हैं।

(१) पिच्चित अभिघात[१]—इसी प्रकार के क्षत में चर्म के नीचे का भाग फट जाता है, किन्तु चर्म अक्षत रहता है। यदि आघात के अधिक तीव्र होने से चर्म भी फट जाता है तो वह 'पिच्चितक्षत' कहलाता है। यह दशा किसी धार-रहित शस्त्र, जैसे लाठी इत्यादि के प्रहार से उत्पन्न होती है। यदि अङ्ग पर सीधा प्रहार पड़ता है तो अभिघात गहरा, किन्तु परिमित, होता है। किन्तु जब फिसलता हुआ प्रहार लगता है तो अभिघात गहरा न होकर विस्तृत होता है। रक्त कई स्थानों में एकत्र हो जाता है। प्रथम प्रकार के अभिघात में एक ही स्थान में अधिक रक्त के एकत्र होने से रक्तोत्सेध[२] बन जाता है।

अभिघात के लक्षण पीड़ा, प्रहार के चिह्न, चर्म का छिल जाना, अङ्ग का शोथ और रक्तोत्सेध होते हैं। दशा को पहिचानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। कुछ समय पश्चात् रक्तोत्सेध में परिवर्तन होने लगते हैं। शरीर की धातुएँ वहाँ पर एकत्र हुए रञ्जक कणों का शोथ करने लगती हैं। इस कारण धीरे-धीरे वहाँ का रङ्ग बदलता जाता है। प्रथम वहाँ कुछ बैंगनी रङ्ग दिखाई देता है। तत्पश्चात् वह हरा हो जाता है, जो

---

१. Contusion. २. Haematoma.

कुछ समय में पीले रङ्ग में बदल जाता है और अन्त को जाता रहता है। चर्म का रङ्ग स्वाभाविक हो जाता है।

अभिघात की परीक्षा करते समय नीचे के अङ्गों को भली भाँति देख लेना चाहिए। चर्म के अक्षत रहने पर भी नीचे का अङ्ग क्षत हो सकता है। कभी-कभी आघात के स्थान से दूर पर रक्त एकत्र पाया जाता है। कपालतल के भग्न में कर्ण के द्वारा रक्त निकलता है अथवा नेत्र के श्वेत भाग में एकत्र पाया जा सकता है। जब गहरे अङ्गों से रक्त का प्रवाह होता है तो रक्त-पेशियों की कण्डरा, नाड़ियां या रक्त-नलिकाओं के साथ किसी दूरवर्त्ती स्थान पर पहुँचकर चर्म के नीचे एकत्र हो जाता है।

कभी-कभी अभिघात के नीचे ही अस्थि का भग्न हो जाता है। कपाल में प्रायः इसी प्रकार का भग्न पाया जाता है। इस कारण परीक्षा करते समय भग्न को अवश्य मालूम करना चाहिए।

चिकित्सा—सामान्य दशा में अङ्ग को ऊपर की ओर उठाकर रखने और उस पर कसकर पट्टी बाँध देने से रक्त एकत्र न होगा। अङ्ग को पूर्ण विश्राम देना आवश्यक है। यदि रोगी को अधिक पीड़ा हो तो अभिघात पर रबर के थैलों में बरफ को भरकर रखना चाहिए। शीतोत्पादक विलयनों के प्रयोग से भी ऐसी दशा में बहुत लाभ होता है। इस प्रकार का विलयन निम्नलिखित वस्तुओं से बनाया जाता है—

रेक्टीफ़ाइड स्पिरिट	२ भाग
शुद्ध नौसादर (ऐमोनियम क्लोराइड)	$\frac{1}{5}$ भाग
कर्पूर-जल	१२ भाग

इस विलयन में मोटे वस्त्र का एक टुकड़ा भिगोकर अभिघात के ऊपर रखना चाहिए। इस वस्तु का शीघ्र ही वाष्पीभवन होने लगता है, जिससे शीत उत्पन्न होता है। इससे रोगी की पीड़ा कम हो जाती है। किन्तु शीत के प्रयोग में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। वह स्थान की शक्ति को घटाता है।

यदि रक्तोत्सेध के ऊपर छोटी-छोटी पिडिकाएँ उत्पन्न हो जावें तो वहाँ पूर्ण शल्य-शुद्धि का आयोजन करना चाहिए, नहीं तो पाक आरम्भ हो सकता है। यदि रक्तोत्सेध से अधिक पीड़ा हो तो शुद्ध की हुई सिरिंज[1] की सुई द्वारा रक्त निकाल देने से पीड़ा कम हो जायगी।

(२) छिन्न क्षत[2]*—तीव्र धारवाले शस्त्र—जैसे तलवार, गँड़ासा, छुरी इत्यादि—से 'छिन्न क्षत' उत्पन्न होते हैं। शस्त्र-कर्मों में भी वेधस-पत्र द्वारा छिन्न क्षत उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार के क्षत से रक्त-प्रवाह अधिक होता है। इन क्षतों में दूसरी विशेषता यह होती है कि उनके दोनों ओष्ठों के बीच सिरों की अपेक्षा मध्य भाग में अधिक अन्तर होता है, जिससे क्षत बीच में अधिक चौड़ा दिखाई देता है।

---

१. Syringe. २. Incised wound.

* तिरश्चीन ऋजुर्वापि यो व्रणश्चायतो भवेत्।
गात्रस्य पातनं चापि छिन्नमित्युपदिश्यते ॥

सुश्रुत—चिकित्सास्थान, अ० २

अन्य प्रकार के क्षतों की अपेक्षा छिन्न क्षतों का आरोहण शीघ्र होता है। यदि शल्य-शुद्धि अथवा निर्विषता का पूर्ण ध्यान रखा जावे तो दोनों ओष्ठों को सी देने से वह सहज में जुड़ जाते हैं।

इन क्षतों में चार बातों का विशेष भय रहता है—(१) तीव्र रक्त-प्रवाह, जिससे तुरन्त मृत्यु हो सकती है। (२) नाड़ियों का कट जाना, जिससे अङ्ग का स्तम्भ हो जाता है। (३) पेशियों की कण्डरा का कटना, जिससे शरीर की गति में बाधा पड़ती है। (४) क्षत के द्वारा जीवाणुओं का प्रवेश, जिससे पाक आरम्भ हो सकता है।

चिकित्सा—(१) सबसे प्रथम रक्त-प्रवाह को रोकना आवश्यक है। भाराधिक्य, संदंश, बन्धन इत्यादि से रक्त-प्रवाह रोका जा सकता है। अत्यन्त रक्त-प्रवाह से मृत्यु तक हो सकती है।

(२) इसके बाद उचित विसंक्रामकों द्वारा क्षत को शुद्ध करना चाहिए। यदि उसमें कोई बाह्य वस्तु, जैसे काँच या लकड़ी के टुकड़े, रह गए हों तो उसको निकाल देना आवश्यक है। यदि यह वस्तुएँ वहाँ रह जाती हैं तो पूयोत्पादन के कारण आरोहण नहीं होने पाता।

(३) यदि क्षत के पूर्ण शुद्ध होने का निश्चय हो तो उसके दोनों ओष्ठों को मिलाकर सी देना चाहिए। ऐसा करने से सारे क्षत का एक ही साथ आरोहण होता है। यह प्रथमारोहण[१] कहलाता है। किन्तु यदि क्षत पूर्णतया शुद्ध न हो तो उसको सीना उचित नहीं। ऐसी दशा में क्षत के भीतर पूय उत्पन्न हो जाती है, जिसके निर्हरण के लिए क्षत का मुख खुला होना आवश्यक है। कुछ समय के पश्चात् पूय निकल जाने पर नवीन रोहणधातु के बनने से क्षत का तल की ओर से आरोहण होता है। यह 'गौण आरोहण' कहा जाता है।

(३) विद्ध क्षत[२] *—तीव्र शस्त्र के नोक की ओर से, शरीर में प्रविष्ट होने से विद्ध क्षत उत्पन्न होते हैं। बन्दूक की सङ्गीनें, तलवार, किरच इत्यादि शस्त्र, अपनी नोक द्वारा शरीर में घुसकर, इस प्रकार के क्षत उत्पन्न करते हैं। यदि चाकू को धार की ओर से प्रयोग किया जावे तो तो छिन्न क्षत बनेगा। किन्तु वह नोक की ओर से घुसकर विद्ध क्षत उत्पन्न कर देगा।

इन क्षतों को चौड़ाई गहराई की अपेक्षा बहुत कम होती है। क्षत का मुख, जिसके द्वारा शस्त्र शरीर में प्रविष्ट होता है, शस्त्र की चौड़ाई से अधिक नहीं होता। किन्तु वह शस्त्र की समस्त लम्बाई के बराबर गहरा हो सकता है। सम्भव है कि एक क्षत, जो शरीर के आर-पार हो जावे, दो इंच से अधिक चौड़ा न हो। इन क्षतों के मुख से रक्त-प्रवाह कम होता है। यदि कोई बड़ी धमनी कट भी जाती है तो उससे निकला हुआ रक्त शरीर के भीतर ही रह जाता है।

---

१. Repair by Primary intention. २. Punctured wounds.

* सूचमास्य शल्याभिहितं यदंगत्वाशयाद्विना।
चतुर्दितं निर्गतं वा तद्विद्धं इति निर्दिशेत्॥

सुश्रुत—चिकित्सास्थान, अ० २

इन क्षतों में चर्म या पेशियों की अपेक्षा भीतरी अङ्गों को अधिक हानि पहुँचती है। नाड़ी, धमनी अथवा किसी मार्मिक अङ्ग के कटने से तत्काल मृत्यु हो सकती है। वेधन करनेवाले आघातों से प्रायः दो क्षत उत्पन्न होते हैं। एक के द्वारा शस्त्र शरीर के भीतर प्रविष्ट होता है और दूसरे के द्वारा बाहर निकलता है। प्रथम क्षत दूसरे की अपेक्षा बड़ा होता है और उसके ओष्ठ भीतर को धँसे रहते हैं। दूसरे क्षत के ओष्ठ बाहर को निकले होते हैं।

इन क्षतों की शुद्धि और उनके निर्हरण का उपाय अत्यन्त कठिन है। यदि जीवाणु प्रवेश के कारण उनमें पूय उत्पन्न हो जाती है तो वह बाहर न निकलकर भीतर ही फैल करती है। विषहारी वस्तुओं का सन्तोषपूर्वक उपयोग भी नहीं किया जा सकता। उदर अथवा वक्ष के भीतर संक्रमण पहुँच जाने से उसको निकालना असम्भव हो जाता है इस कारण क्षत के गहरे होने से रोगी का बचना दुस्तर होता है।

चिकित्सा—क्षत को जितना शुद्ध किया जा सके उतना ही कम है। यदि क्षत में कोई बाह्य वस्तु उपस्थित हो तो उसको निकालकर विसंक्रामक विलयनों द्वारा क्षत की शुद्धि करना उचित है। जिस धमनी से रक्त-प्रवाह हो रहा है उसको बाँध देना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो एक शुद्ध वेधसपत्र द्वारा क्षत को चौड़ाया जा सकता है कि जिससे उसका निर्हरण होता रहे। यदि पेशी या कण्डरा कट गये हों तो उनको सी देना चाहिए। अस्वस्थ भागों को काटकर निकाल देना ही ठीक है। यदि क्षत के पूर्णतया शुद्ध हो जाने का निश्चय हो तो उसको टाँकों द्वारा सिया जा सकता है। किन्तु यदि संक्रमण का तनिक भी सन्देह हो तो ऐसा न करना चाहिए।

प्रायः हाथों, पाँवों तथा बाहुओं में सुइयों के टुकड़े टूट जाते हैं। इनको चर्म के द्वारा प्रतीत किया जा सकता है। यदि रोगी प्रारम्भ ही में आ जावे तो शस्त्र-कर्म द्वारा उन टुकड़ों को निकाल देना उचित है। कुछ समय के पश्चात् यह टुकड़े गहरे भागों में पहुँच जाते हैं।

विदीर्ण अथवा पिच्चित क्षत[1]*—चर्म और उसके नीचे के भागों के खिंचकर फटने अथवा कुचल जाने तथा हिंसक जन्तुओं के काटने से भी इस प्रकार के क्षत उत्पन्न होते हैं।

इन क्षतों का आकार क्रमहीन होता है। कभी कभी चर्म मांस से बिल्कुल पृथक् हो जाता है जिससे पेशी, कण्डरा इत्यादि चर्मरहित होकर दीखने लगते हैं। विक्षत अङ्ग के टुकड़े लटकते हुए दिखाई देते हैं। अभिघात के तीव्र होने से अस्थि, स्नायु इत्यादि सब टूट जाते हैं और कुचले हुए दीखते हैं। अभिघात के कारण इनमें धूल, मिट्टी इत्यादि अशुद्ध वस्तुएँ भी भर जाती हैं।

इस प्रकार के क्षतों से रक्त-प्रवाह अधिक नहीं होता, क्योंकि धमनियों के सिरे कुचलकर बन्द हो जाते हैं।

---

१. Lacerated wound.

* प्रहारपीडनाभ्यान्तु यदंगं पृथुतां गतम्।
सास्थि तत्पिच्चितं विद्यात् मज्जरक्तपरिप्लुतम्॥ सुश्रुत—चिकित्सास्थान, अ० २

इस प्रकार के क्षतों को शुद्ध करना बहुत कठिन होता है। विसंक्रामक द्रव्य उनके प्रत्येक भाग में नहीं पहुँच पाते। इस कारण प्रायः पाक के प्रारम्भ होने से शरीर में विष-सञ्चार भी हो जाता है। इनमें प्रायः प्रतिकारक रक्त-प्रवाह देखा जाता है। कभी-कभी अङ्ग की मुख्य रक्त-नलिका के अवरुद्ध हो जाने से सारे अङ्ग में निर्जीवाङ्गत्व तक उत्पन्न हो जाता है। इन क्षतों के आरोहित होने पर अङ्ग का आकार अत्यन्त विकृत दीखता है।

चिकित्सा—विसंक्रामक विलयनों द्वारा क्षत को पूर्णतया शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो बाह्य वस्तुएँ क्षत में उपस्थित हों उनको निकाल देना आवश्यक है। क्षत के जो भाग कुचले हुए अथवा पूतियुक्त और शक्तिहीन दिखाई दें और जिनके कारण व्रण के निर्हरण और आरोहण में बाधा पड़े उनको काटकर निकाल देना उचित है। इस प्रकार यदि क्षत के पूर्णतया शुद्ध हो जाने का निश्चय हो जावे तो वह टाँकों द्वारा सिया जा सकता है। किन्तु यदि क्षत में संक्रमण उपस्थित होने का तनिक भी भय हो तो ऐसा करना उचित नहीं। ऐसी दशा में उसकी साधारण क्षत की भाँति चिकित्सा करनी चाहिए। विसंक्रामकों से धोकर एक्रीफ्लेवीन अथवा किसी ऐसी ही अन्य विषहारी वस्तु में गौज़ को भिगोकर क्षत में रखना चाहिए। यदि दो-चार दिन तक पूयोत्पादन के कोई लक्षण न दिखाई दें तो उसको सिया जा सकता है। यदि रोगी के चिकित्सा के लिए आने से पूर्व ही पाक आरम्भ हो गया है तो उसकी साधारण व्रण की भाँति चिकित्सा करनी चाहिए।

यदि भयानक अभिघात से अङ्ग अत्यन्त विक्षत हो जाता है, पेशियाँ फटकर लटकने लगती हैं तथा अस्थियाँ, नाड़ी और कण्डराएँ दिखाई देने लगती हैं तो अङ्गच्छेदन[१] का प्रश्न उठता है। ऐसी दशा में देखना चाहिए कि क्षत से नीचे की ओर अङ्ग की मुख्य धमनियों में स्पन्दन होता है या नहीं। इससे रक्त-सञ्चालन की दशा का पता लग जायगा। यदि स्पन्दन नहीं हो रहा है, अङ्ग ठण्डा प्रतीत होता है और मांस-पेशी, नाड़ी इत्यादि कुचल गई हैं तो अङ्गच्छेदन अनिवार्य है। अस्थि के क्षत-स्थान पर कई टुकड़े हो जाने से भी अङ्गच्छेदन करना पड़ता है। ऐसी दशा में रोगी के अङ्ग की रक्षा करने का प्रयास भी न करना चाहिए। किन्तु केवल चर्म के उतर जाने से अंगच्छेदन करना उचित नहीं। क्षत के आरोहित होने पर वहाँ त्वक्स्थापना[२] की जा सकती है।

क्षत को सीना—क्षत को सीने के लिए जिन वस्तुओं को काम में लाते हैं उनका पहिले वर्णन हो चुका है। चाँदी का तार, घोड़े का बाल, रेशम, कैटगट और सिल्कवर्मगट का अधिक प्रयोग किया जाता है।

सीवन साधारणतया तीन प्रकार की होती है; एक बहिस्सीवन, दूसरी गहरी सीवन और तीसरी अन्तर्गत सीवन। अन्तर्गत टाँकों का प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ शल्य कर्म के पश्चात् कुछ दुर्बलता रह जाने की सम्भावना होती है, अथवा उस स्थान पर भार अधिक होता है, जैसे उदर की भित्तियों के शस्त्र-कर्म में। चर्म के नीचे मांस-पेशियों के

---

१. Amputation. २. Skingrafting.

स्तर में कैटगट के टाँके लगाये जाते हैं। चाँदी के तार का भी प्रयोग किया जाता है। इस सीवन का प्रयोग इसलिए भी किया जाता है कि वह क्षत के ओष्ठों को आपस में मिलाये रखे, जिससे उनके जुड़ने में सहायता मिले।

गहरी सीवन ऐसे स्थानों में की जाती है जहाँ क्षत के ओष्ठों को मिलाना कठिन होता है। यह टाँके क्षतोष्ठ से १" या १½" दूरी से लगाये जाते हैं। इनके द्वारा क्षत का तनाव कम हो जाता है। इनमें मोटा कैटगट, रेशम अथवा चाँदी का तार प्रयुक्त होता है। कभी-कभी चर्म के नीचे सीप के छोटे-छोटे बटन लगाकर उन पर तागों को लपेट दिया जाता है। दो या तीन दिन के पश्चात् इनको काटकर निकाल देते हैं।

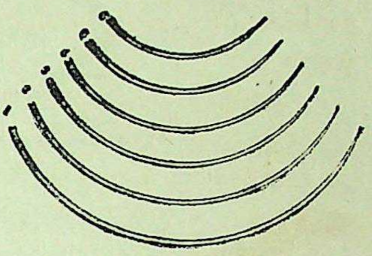

चित्र नं० १८ वृत्ताकार सूई

बहिःस्थ सीवन सबसे अधिक प्रयोग में आती है। इन टाँकों के द्वारा व्रणोष्ठों को मिलाकर सी दिया जाता है। जहाँ प्रथमारोहण अभीष्ट हो वहाँ इन टाँकों को लगाना चाहिए।

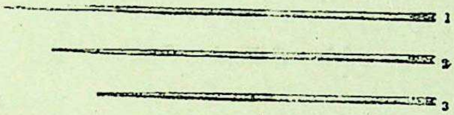

चित्र नं० १९ सीधी सूई

सीवन कई प्रकार की होती है। चर्म के ऊपर साधारणतया गोफनिका सीवन लगाई जाती है। इसके टाँके एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। उचित आकार की सूई को लेकर उसमें ६" के लगभग लम्बा कैटगट अथवा रेशम का टुकड़ा पिरो दिया जाता है। शल्यकर्त्ता सूई को दाहिने हाथ के अँगूठे और तर्जनी के बीच में लेखनी की भाँति पकड़ता है और दूसरे हाथ के अँगूठे और तर्जनी से या चिमटी से क्षत के किनारे को पकड़कर सूई को उचित स्थान पर प्रविष्ट करता है।

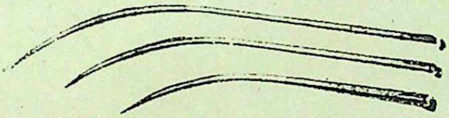

चित्र नं० २० अर्धवृत्ताकार सूई

सूई व्रण के भीतर की ओर निकल आती है। तत्पश्चात् उसको दूसरी ओर के ओष्ठ में प्रविष्ट करके चर्म के बाहर उतनी ही दूरी पर निकाला जाता है जितनी दूरी पर प्रथम ओष्ठ में प्रविष्ट किया गया था। इस समय सूई को धागे से पृथक् कर देते हैं। इस प्रकार धागे का बीच का भाग क्षत के भीतर और उसके दोनों सिरे क्षत के किनारों से बाहर की ओर निकले रहते हैं। इन दोनों सिरों को दोनों हाथों में पकड़कर रीफ़ग्रन्थि बाँध दी जाती है। यदि वहाँ धातुओं में तनाव अधिक होता है तो पहली ग्रन्थि में एक या दो घुमाव देकर शल्य-ग्रन्थि बाँधी जाती है। ग्रन्थि बाँध चुकने पर धागे का जितना भाग शेष रह

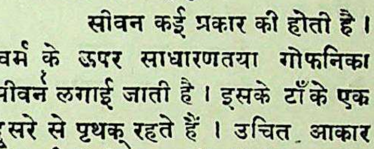

चित्र नं० २१ गोफनिका सीवन

१. Interrupted sutures. २. Reef knot. ३. Surgical knot.

जाता है उसको काट दिया जाता है। किन्तु आधे इंच के लगभग धागा ग्रन्थि के साथ छोड़ दिया जाता है। इससे टाँके को काटकर निकालने में सुगमता होती है।

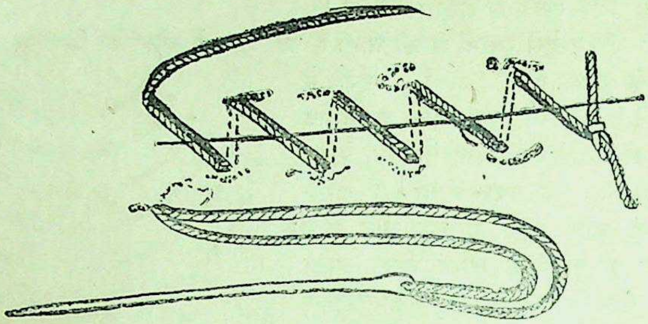

चित्र नं० २२ ग्लोवर की अविच्छिन्न सीवन

अविच्छिन्न[1] सीवन में टाँके पृथक् नहीं होते; वह निरन्तर रहते हैं। चित्र में धागे का वह भाग जो चर्म के नीचे है, टूटी हुई रेखा में दिखाया गया है। चर्म के ऊपर का भाग गाढ़ा काला रेखाङ्कित है। जिस स्थान पर सूई ने चर्म में प्रवेश किया था, वहाँ पर ग्रन्थि लगी हुई है।

अगले चित्र में दूसरे प्रकार के टाँकों को दिखाया गया है। इन टाँकों का बड़े आकार के क्षतों को बन्द करने में उपयोग किया जाता है। सूई को सर्जन क्षत के उस ओष्ठ से

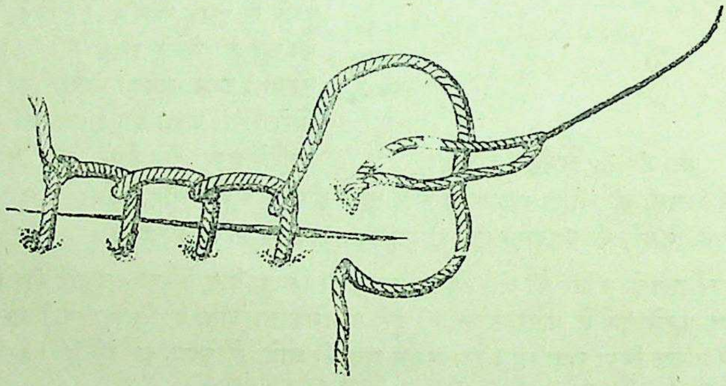

चित्र नं० २३ अविच्छिन्न सीवन

जो उसकी ओर है, प्रविष्ट करके दूसरी ओर को निकाल देता है, और वहाँ पर पहिला टाँका लगाता है। अर्थात् पहिला टाँका क्षत के उस किनारे से तनिक बाहर की ओर रहता है जो सर्जन के दूसरी ओर अथवा उसके सहायक की ओर है। तत्पश्चात् सूई को धागे सहित क्षत के प्रथम ओर फिर ले जाया जाता है। दूसरी ओर खड़ा हुआ सहायक धागे को एक उचित स्थान पर पकड़ लेता है। तत्पश्चात् सर्जन सूई को फिर अपनी ओर से चर्म में

---

१. Uninterrupted suture.

प्रविष्ट करके दूसरी ओर सहायक के द्वारा पकड़े हुए धागे के ऊपर निकालता है, जिससे चित्र के समान फन्दा बन जाता है। इस प्रकार सारा क्षत सी दिया जाता है।

दूसरी प्रकार की अविच्छिन्न वेल्लीतक-सीवन उपचर्मगत होती है और हाल्स्टेड[1] की उपचर्मगत सीवन कही जाती है। जहाँ क्षतोष्ठों को पूर्णतया मिलाना और बहुत छोटा क्षताङ्क[2] अभीष्ट होता है, जैसे मुख या गर्दन में, वहाँ इनका प्रयोग किया जाता है। प्रथम क्षत को गहरे टाँकों द्वारा, जो केवल पेशियों ही में रहते हैं, सी दिया जाता है। तत्पश्चात् चर्म के नीचे इस प्रकार के टाँके लगाये जाते हैं। सिल्कवर्मगट अथवा रेशम को सूई में पिरोकर उपचर्म के नीचे चर्म में प्रविष्ट करके, उसको आगे की ओर मोड़कर, प्रवेश-स्थान से लग-भग $\frac{1}{6}$" आगे की ओर निकाला जाता है। इस प्रकार उपचर्म के नीचे धागे का एक अर्धचन्द्राकार भाग बन जाता है। इसी भाँति सूई और धागे को क्षत के दूसरी ओर उपचर्म के नीचे प्रविष्ट करके आगे की ओर निकालते हैं। इसी प्रकार क्षत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सीते हुए चले जाते हैं। अन्त में क्षत के दोनों सिरों पर धागों को खींचकर उनकी ग्रन्थि बाँध दी जाती है। इसको निकालते समय एक ओर की ग्रन्थि काट दी जाती है और धागे के एक सिरे को पकड़कर खींच लिया जाता है।

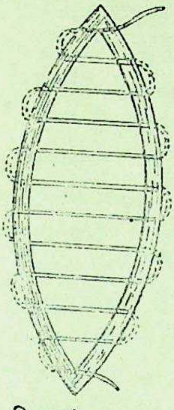

चित्र नं० २४ हाल्स्टेड की उपचर्मगत सीवन

जब क्षत बड़ा होता है तो इन टाँकों को किनारे से $\frac{1}{2}$" की दूरी से लगाया जाता है। इससे चर्म और उसके नीचे की धातुओं का कुछ भाग टाँकों के भीतर आ जाता है। ऐसा करने से नीचे के टाँकों पर का भार बहुत कम हो जाता है।

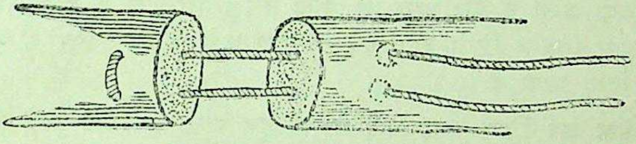

चित्र नं० २५ कण्डराओं की सीवन

शस्त्र-कर्मों में प्रायः पेशियों की कण्डराएँ विभक्त हो जाती हैं। उनको हाल्स्टेड के टाँकों से जोड़ा जाता है। जैसा चित्र में दिखाया गया है, सूई के कण्डरा के एक भाग में ऊपर की ओर से प्रविष्ट करके कटे हुए पृष्ठ पर निकाल लेते हैं और दूसरे भाग के कटे हुए पृष्ठ में प्रविष्ट करके उसके ऊपर की ओर निकालते हैं। तत्पश्चात् सूई को इस स्थान से कुछ दूर फिर इसी भाग में प्रविष्ट करके कटे हुए पृष्ठ से सूई को निकालकर प्रथम भाग के कटे हुए पृष्ठ में प्रविष्ट करते हैं और उसको उस स्थान के पास, जहाँ पहली बार सूई को प्रविष्ट किया था, निकाल लेते हैं। अन्त में तागे के दोनों सिरों को खींचकर रीफ़ ग्रन्थि द्वारा बाँध देते हैं।

नाड़ियों के कट जाने पर उनको भी इसी भाँति जोड़ा जाता है। किन्तु वहाँ अत्यन्त बारीक कैटगट या रेशम प्रयोग करना चाहिए।

---

१. Halstead's intradermic suture. २. Scar.

लैम्बर्ट[1] के टाँके—अन्त्रियों और आमाशय के क्षतों में इस प्रकार के टाँके लगाये जाते हैं। क्षत से कुछ दूरी पर धागे सहित सूई अङ्ग की भित्ति में प्रविष्ट की जाती

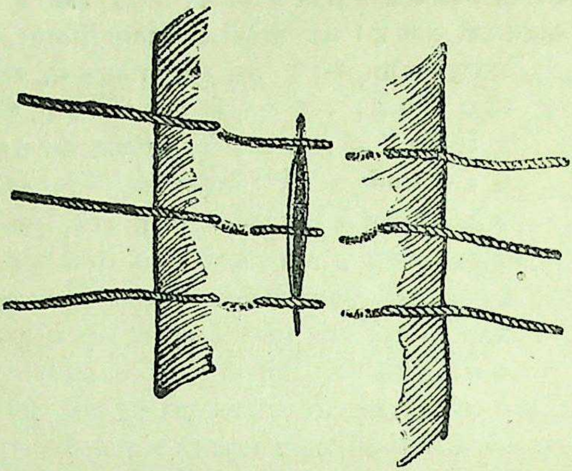

चित्र नं० २६ लैम्बर्ट के टाँके

है, जहाँ से वह भित्ति के भीतर ही भीतर क्षत की ओर चली जाती है। किन्तु उसको क्षतोष्ठ से कुछ पूर्व ही ऊपर निकाल लिया जाता है। इस प्रकार वह आशय की श्लैष्मिक कला का छेदन नहीं करती। तत्पश्चात् सूई को क्षत के दूसरी ओर भित्ति में प्रविष्ट किया जाता है और पहले की भाँति केवल भित्ति ही के द्वारा कुछ दूर तक ले जाकर ऊपर निकाल लिया जाता है। तत्पश्चात् धागे के दोनों सिरों को रीफ़ ग्रन्थि द्वारा बाँध दिया जाता है।

माइकेल का क्लिप[2]—यह धातु के बने हुए पतले और छोटे टुकड़े होते हैं जो सिरों पर से कुछ मुड़े रहते हैं। इनके दोनों सिरों पर काँटे लगे होते हैं जो सूई की

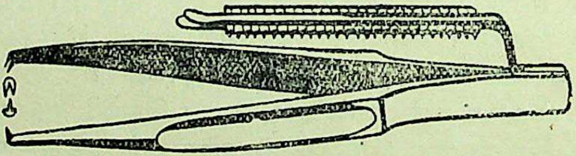

चित्र नं० २७ माइकेल के क्लिप

भाँति चर्म में घुस जाते हैं। यह क्लिप प्रायः एक संदंश पर धातु के दो तारों के ऊपर लगे रहते हैं और एक दूसरे संदंश द्वारा उतारे जाते हैं। क्लिप वाला संदंश क्षत के ओष्ठों को पकड़ने के काम में आता है। दूसरे संदंश से क्लिप को उतारकर क्षत के ऊपर इस प्रकार रखा जाता है कि उसके दोनों सिरे क्षत के दोनों ओर रहते हैं।

---

१. Lambert's suture. २. Michel's clips.

तत्पश्चात् वह सिरे संदंश से दाब दिये जाते हैं। इससे क्लिप बीच से मुड़ जाता है और सिरों पर के काँटे चर्म में घुसकर क्षत के किनारों को पकड़ लेते हैं। उचित समय पर इनको काटकर निकाल दिया जाता है। अधिकतर विद्वान् इन क्लिपों के प्रयोग के विरुद्ध हैं।

सीवन तथा बन्धन में ग्रन्थि लगाना—क्षत में कैटगट अथवा रेशम की ग्रन्थि लगाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि वह खुल न जाय। ग्रन्थि में प्रायः दो गाँठें लगाई जाती हैं। साधारणतया प्रति दिवस के व्यवहार में जिस ग्रन्थि का उपयोग होता है वह 'ग्रैनी[1] ग्रन्थि' कहलाती है। इसके विरुद्ध शल्य-कर्मों में 'रीफ़ ग्रन्थि[2]' का उपयोग किया जाता है। दोनों का अन्तर चित्र से स्पष्ट है। रीफ़ ग्रन्थि में तागे का एक सिरा दोनों गाँठों में (यह दुहरी गाँठ होती है) दूसरे सिरे के नीचे अथवा ऊपर रहता है। किन्तु ग्रैनी में एक ही सिरा प्रथम गाँठ में नीचे किन्तु दूसरी गाँठ में ऊपर आ जाता है। इस प्रकार की गाँठ खींचने से तुरन्त ही खुल जाती है। एक मोटे तागे को लेकर उस पर यह प्रयोग सहज में हो सकता है। थोड़े से अभ्यास से रीफ़ ग्रन्थि को लगाना सीखा जा सकता है। शस्त्र-कर्म में यह अत्यन्त आवश्यक है कि ग्रैनी ग्रन्थि न लगाई जाय। क्षत को बन्द कर देने पर उसके फिसल जाने से रक्त-नलिका से रक्त-प्रवाह हो सकता है, जिसका परिणाम भयंकर होता है।

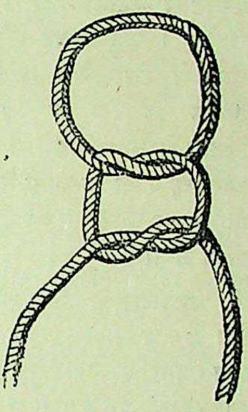

चित्र नं० २८ रीफ़ ग्रन्थि

जब बन्धन के भीतर रक्त-नलिका के अतिरिक्त अन्य धातु भी ग्रहण करनी होती है तो 'शल्य ग्रन्थि[3]' लगाई जाती है। इस ग्रन्थि में प्रथम गाँठ में कई मोड़ दे दिये जाते हैं। यह ग्रन्थि बहुत स्थायी होती है और बहुत से सर्जन इसी का उपयोग करते हैं।

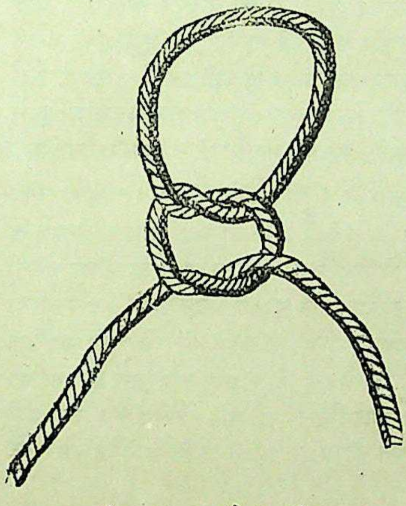

चित्र नं० २९ ग्रैनी ग्रन्थि

उदर तथा वक्ष के अङ्गों का विदीर्ण होना—उदर तथा वक्ष के क्षत में प्रायः भीतर के अंग भी विदीर्ण हो जाते हैं। गाड़ी या मोटर की दुर्घटनाओं के पश्चात् रोगी की परीक्षा करते समय इस बात को कभी न भूलना चाहिए। चिकित्सा से पूर्व इस बात का पूर्ण निश्चय कर लिया जाय कि भीतर के अङ्ग तो क्षत नहीं हुए हैं। उदर के ऊपरी भाग के क्षत में आमाशय, प्लीहा, यकृत, अन्त्रियाँ और

---

१. Granny knot. २. Reef knot. ३. Surgical knot.

वृक्क विदीर्ण हो जाते हैं। नीचे के भाग के आघात से मूत्राशय फट सकता है। ऐसी दशाओं में तुरन्त ही शस्त्र-कर्म द्वारा अङ्ग को खोलकर उसको सीना पड़ेगा।

यदि उदर में गैस उपस्थित जान पड़े तो आमाशय का विदार समझना चाहिए। उदर की भित्तियाँ कठिन हो जायँगी। सारा उदर वायु भरे हुए थैले के समान दिखाई देगा। उसके समाघात से उच्च ध्वनि निकलेगी। रोगी को करवट से लिटाकर उदर के पार्श्व ओर के भागों की भी समाघात[1] द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। यदि करवट लेने पर ऊपर के पार्श्व से उच्च ध्वनि निकले और नीचे के पार्श्व से ठोस स्थान के समान शब्द हो, तो उदर के भीतर किसी अङ्ग के क्षत से निकले हुए रक्त की उपस्थिति समझनी चाहिए। ऐसी दशा में रोगी को पीठ के बल लिटाने से दोनों पार्श्वों से ठोस शब्द निकलेगा। प्लीहा के विदीर्ण होने से उसके चारों ओर रक्त एकत्र हो जाता है। कभी-कभी रक्त कटि-प्रान्त में भी चला जाता है। यकृत् के विदार से रक्त प्रथम दाहिनी ओर एकत्र होता है। तत्पश्चात् उसी ओर श्रोणि-गुहा में चला जाता है।

मूत्राशय के विदार से रक्त और मूत्र दोनों निकलते हैं और श्रोणि-गुहा में भर जाते हैं। मूत्र में जीवाणुओं के उपस्थित होने से उदर-कला में शोथ उत्पन्न हो जाता है। जब इस घटना का भय हो तो मूत्रमार्ग द्वारा एक शुद्ध किये हुए रबर केथिटर[2] को मूत्राशय में प्रविष्ट करके उसके द्वारा मूत्र निकालना चाहिए। यदि मूत्र में रक्त न मिला हो और उसकी मात्रा भी स्वाभाविक हो तो मूत्राशय को कोई हानि नहीं पहुँची है। किन्तु यदि मूत्र न निकले तो केथिटर द्वारा शुद्ध बोरिक विलयन की नापी हुई मात्रा को मूत्राशय में प्रविष्ट करके जितना विलयन केथिटर के द्वारा लौटकर आवे उसको नापना चाहिए। यदि यह प्रविष्ट की हुई मात्रा के समान है और उसमें रक्त भी नहीं है, तो मूत्राशय अक्षत है। मात्रा की कमी और रक्त की उपस्थिति मूत्राशय-विदार के द्योतक हैं। मूत्रमार्ग के अन्तिम भाग अथवा मूत्राशय की ग्रीवा के क्षत से निकला हुआ रक्त मूत्रमार्ग द्वारा बाहर आ जाता है। इन सब बातों का विचार करके, क्षत की स्थिति को पहचानना चाहिए।

इन सब दशाओं में गाढ़ स्तब्धता[3] के लक्षण उपस्थित होते हैं। उदर तथा वक्ष की भित्तियों के क्षतों से भी स्तब्धता उत्पन्न हो सकती है। किन्तु यह आघात के पश्चात् प्रतिक्षण घटती जाती है। अङ्गों के विदीर्ण होने से उत्पन्न हुई स्तब्धता उत्तरोत्तर बढ़ती है। अतएव रोगी को शय्यारूढ़ करने पर यदि स्तब्धता के लक्षण घटने लगें तो समझना चाहिए कि भीतर के अङ्ग क्षत नहीं हुए हैं। किन्तु यदि वह बढ़ते रहें तो अङ्गों का क्षत निश्चय है। ऐसी दशा में शस्त्र-कर्म द्वारा अङ्ग के रक्त-प्रवाह को रोकना और क्षत का उचित उपचार करना आवश्यक है। शस्त्र-कर्म जितना शीघ्र किया जा सके उत्तम है। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है त्यों-त्यों रोगी के जीवन की आशा घटती जाती है, और २४ घण्टे बीतने पर बहुत कम रह जाती है।

क्षत की पश्चात् चिकित्सा—प्रथम बार क्षत को शुद्ध करने अथवा सीने के कई दिन पश्चात् तक क्षत का जो उपचार किया जाता है वह पश्चात्-चिकित्सा कहलाती है।

---

१. Percussion. २. Catheter. ३. Shock.

क्षत को शुद्ध रखना, अंगों को विश्राम देना और रोगी के साधारण स्वास्थ्य को उन्नत करना पश्चात्-चिकित्सा का सार है। रोगी को शय्यारूढ़ कर देना, बाहु के क्षत में कुशा का प्रयोग करना इत्यादि आवश्यक बातें हैं। उपचार की सफलता क्षत की शुद्धि पर निर्भर करती है।

निर्विष शस्त्र-कर्मों में प्रत्येक दिवस व्रणोपचार की आवश्यकता नहीं है। यदि क्षत में कोई पीड़ा न हो, रोगी को ज्वर भी न हो और व्रण के भीतर निर्हरण नलिका भी न रखी हो तो आठ या दस दिन के पूर्व क्षत को न खोलना चाहिए। इस समय में टाँके जुड़ जायँगे। अतएव उनको काटकर निकाल देना उचित है। यदि क्षत में नलिका रखी हुई है तो उसको २४ घण्टे के पश्चात् खोलना आवश्यक है। यदि व्रण में पूयोत्पादन के कोई लक्षण नहीं हैं और रोगी ज्वर और पीड़ा से मुक्त है तो नलिका को निकालकर, व्रणोपचार वस्त्रों को बदलकर, आठ या दस दिन के पश्चात् क्षत को खोलना उचित है। किन्तु यदि क्षत के संक्रमित हो जाने के लक्षण दिखाई देते हों तो नलिका को निकालना उचित नहीं। शस्त्र-कर्मों के पश्चात् कभी-कभी रोगियों को प्रथम दिवस ज्वर हो आता । किन्तु वह २४ घण्टे में जाता रहता है। यदि ज्वर बराबर बढ़ता जाय और क्षत में पीड़ा भी हो तो व्रण में पाक की उत्पत्ति समझनी चाहिए। व्रणोपचार वस्त्रों को खोलकर क्षत की परीक्षा और उचित उपचार करना आवश्यक है। पूय की उपस्थिति में व्रणों के भीतर निर्हरण नलिका, यदि वह पूर्व ही नहीं रखी गई है, तो इस समय रख देन चाहिए। व्रण-शुद्धि का पूर्ण आयोजन करना आवश्यक है। यदि क्षत के पास कहीं पूय बनने लगी है तो चर्म को काटकर पूय निकाल देना उचित है।

निर्विष क्षतों के टाँके आठ या दस दिन के पश्चात् काटे जाते हैं। बायें हाथ की चिमटी से ग्रन्थि का एक सिरा पकड़कर दूसरे हाथ की कैंची की नोक को ग्रन्थि के भीतर प्रविष्ट किया जाता है। इस कैंची का एक फलक पतला और नुकीला और दूसरा फलक चपटा और मोटा होना चाहिए। पतला फलक ग्रन्थि में प्रविष्ट किया जाता है, और उससे क्षत के एक ओर ग्रन्थि को काटकर तागे को खींच लिया जाता है।

सन्धियों के क्षत—ये क्षत भयानक होते हैं। इनकी चिकित्सा में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। यदि क्षत सन्धि के ऊपरी चर्म में हो तो विषहारी उपचारों द्वारा उसको पूर्णतया शुद्ध कर देना चाहिए। किन्तु यदि वह कोष को फाड़कर सन्धि के भीतर पहुँच गया है तो सन्धि के संक्रमित हो जाने की सम्भावना है। ऐसी दशा में क्षत के मुख को चौड़ा करके सन्धि को नमक के शुद्ध विलयन से भली भाँति धो देना चाहिए। तत्पश्चात् रसकर्पूर के विलयन द्वारा सन्धि को एक बार फिर धोकर अन्त को पुनः नमक के विलयन से धोया जाय। यदि क्षत को चाकू से चौड़ा किया गया है तो इस भाग को टाँकों द्वारा सीकर बन्द कर देना उचित है। किन्तु जो भाग आघात से उत्पन्न हुआ है उसमें केवल शुद्ध गौज़ भरना पर्याप्त है। तत्पश्चात् अङ्ग को उचित आकार की कुशा पर रखकर बाँध देना चाहिए।

सन्धियों के क्षत स्वस्थ होने में बहुत समय लेते हैं। उनकी चिकित्सा में अत्यन्त

सावधानी की आवश्यकता है। तनिक सी भी असावधानी से पूयोत्पादन होकर सन्धि-जाड्य हो जाता है, जिससे अङ्ग की उपयोगिता नष्ट हो जाती है।

दाह[1] और तरल दाह[2]—अग्नि के अत्यन्त समीप जाने, दहकती हुई अग्नि में शरीर के किसी भाग के आ जाने, तप्त वस्तु के सम्पर्क तथा अग्निशिखा से शरीर पर दाह उत्पन्न हो जाते हैं। **तरल दाह** उबलते हुए जल, तैल, घी इत्यादि तरल वस्तुओं तथा भाप से उत्पन्न होते हैं। जल की अपेक्षा तैल से उत्पन्न हुए दाह अधिक तीव्र होते हैं। वृद्ध, दुर्बल मनुष्यों के शरीर में केवल प्रचण्ड अग्नि के सामने बैठने से दाह-व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। वस्त्रों को हानि नहीं पहुँचती, किन्तु चर्म दग्ध हो जाता है।

दाह-व्रणों को छः अवस्थाओं में विभक्त किया गया है जो इस प्रकार हैं:—

(१) चर्म का लाल पड़ जाना, जिसको झुलसना कहते हैं। इसमें चर्म को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती।

(२) छालों या विस्फोटों का उत्पन्न होना।

(३) चर्म के केवल ऊपरी भाग का नाश।

(४) सारे चर्म का नष्ट हो जाना।

(५) पेशियों का जल जाना।

(६) अङ्ग का अस्थि सहित जल जाना।

प्रत्येक दाह व्रण में प्रायः कई अवस्थाएँ पाई जाती हैं। कहीं पर दाह गहरा और कहीं पर हल्का होता है। चिकित्सा करते समय सबसे गहरे दाह की ओर ध्यान देना चाहिए। इसी के अनुसार व्रण की अवस्था कही जाती है।

प्रथमावस्था के दाह[3]—इस अवस्था में ताप के कारण चर्म की रक्त-नलिकाओं में रक्त-सञ्चार अधिक होने लगता है। सूर्य की किरणों से भी ऐसा ही होता है। दाह के स्थान पर लालिमा, कुछ शोथ और पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। यदि यह स्थान कुछ समय तक निरन्तर अग्नि के सामने रहता है अथवा उस पर सूर्य की किरणें पड़ती रहती हैं तो वहाँ रञ्जक-कण एकत्र हो जाते हैं और वहाँ का रङ्ग गहरा हो जाता है। इस अवस्था में स्थानिक धातुओं का नाश नहीं होता। कभी-कभी केवल उपचर्म के ऊपरी स्तर उतर जाते हैं।

दूसरी अवस्था के दाह[4]—स्थान लाल और शोथयुक्त होता है। उस पर विस्फोट उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें हल्के पीले रङ्ग का अथवा जल के समान तरल पदार्थ एकत्र हो जाता है। उपचर्म के नष्ट होने से नीचे के अंकुर स्पष्ट हो जाते हैं। इस कारण पीड़ा होती है। विस्फोटों में प्रायः पूय उत्पन्न हो जाती है। इनके आरोहित होने पर स्थान का चर्म विवर्ण हो जाता है।

तीसरी अवस्था के दाह—इन दाहों में चर्म का ऊपरी भाग, अंकुरों सहित नष्ट हो जाता है, जिससे नीचे की नाड़ियों के सूक्ष्म मूल ऊपर निकल आते हैं। इन दाहों

---

१. Scald. २. Burn. ३. प्लुष्ट दाह—सुश्रुत सूत्रस्थान, अ० १२।
४. दुर्दग्ध दाह—सुश्रुत सूत्रस्थान अ० १२।

में दारुण पीड़ा होती है। कुछ दाहों में यतस्ततः काले या पीले रङ्ग के शुष्क कठिन भाग रह जाते हैं, जिनमें पीड़ा नहीं होती। अन्त में यह पूतिवस्तु में परिवर्तित हो जाते हैं। यह लगभग एक सप्ताह के पश्चात् पृथक् होने लगते हैं। उस समय पीड़ा, जो प्रथम दो या तीन दिन के पश्चात् कम हो गई थी, फिर बढ़ जाती है। इन व्रणों का आरोहण बहुत शीघ्र होता है, क्योंकि स्वेद-ग्रन्थि और केश-कोष नष्ट नहीं होते। इन दाहों में क्षताङ्क अधिक नहीं बनता। इस कारण अंग में अधिक विकृति भी उत्पन्न नहीं होती।

चौथी अवस्था के दाह—इस अवस्था में चर्म का सम्पूर्ण नाश हो जाता है। चर्म के नीचे का भी कुछ भाग नष्ट होता है। यह दशा तीव्र अग्नि अथवा तप्त वस्तु के अधिक समय तक सम्पर्क में रहने से उत्पन्न होती है। शरीर पर काले, शुष्क और चेतना-हीन चिह्न बन जाते हैं। इनके चारों ओर शोथ के लक्षण दिखाई देते हैं। इन दाहों में पीड़ा अधिक नहीं होती। नाड़ी-सूत्र प्रायः नष्ट हो जाते हैं। बहुधा व्रणों में पाक होने लगता है। इनका आरोहण देर से होता है। आरोहण से क्षताङ्क धातु अधिक बनती है और वह सिकुड़ती भी अधिक है, जिससे अङ्ग का आकार अत्यन्त विकृत हो जाता है। उसकी उपयोगिता भी नष्ट हो जाती है।

* **पाँचवीं अवस्था**—इसमें चर्म के नीचे की पेशी इत्यादि भी जल जाते हैं।

छठी अवस्था—सारा अङ्ग जलकर नष्ट हो जाता है। अस्थि तक जल जाती है। इस प्रकार के दाह-व्रण अपस्मार अथवा मदात्यय से मूर्छित व्यक्तियों में पाये जाते हैं।

रोगी की दशा

रोगी की दशा का तीन अवस्थाओं में वर्णन किया जाता है।

(१) दाह की अवस्था।
(२) शोथ और पूतिवस्तु की अवस्था।
(३) आरोहण की अवस्था।

प्रथमावस्था ३६ से ४८ घंटे तक रहती है। इस समय में रोगी को गाढ़ी स्तब्धता होती है। पीड़ा अधिक नहीं प्रतीत होती। ज्यों-ज्यों स्तब्धता कम होती है त्यों-त्यों पीड़ा बढ़ती जाती है। इस समय में स्तब्धता के कारण मृत्यु हो सकती है।

दूसरी अवस्था स्तब्धता के समाप्त होने पर प्रारम्भ होती है और रोहण धातु के बनने तक रहती है। इस समय में आन्तरिक अङ्गों में उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। दाह के कारण शरीर में विष-सञ्चार हो जाता है। ज्वर १०२°, १०३° या १०४° फे० तक हो सकता है। वक्ष के दाह में निमोनिया[1], उरःशूल[2] अथवा कास उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी मस्तिष्कावरण-शोथ[3] के समान लक्षण दिखाई देते हैं। प्रायः अतिसार उत्पन्न

---

* सुश्रुत में इन तीनों अवस्थाओं को 'अतिदग्ध' के नाम से सम्बोधन किया गया है।

१. Pneumonia. २. Pleurisy. ३. Meningitis.

हो जाता है। कुछ रोगियों में पक्वाशय का व्रण पाया गया है। मूत्र में अल्ब्यूमिन[1] आने लगता है। इस अवस्था में संक्रमण का विशेष भय रहता है।

तीसरी अवस्था—यह ७ वें दिन से १४ वें दिन तक प्रारम्भ होती है और व्रण के भरने तक बनी रहती है।

इस समय में आन्तरिक अङ्गों के विकार से मृत्यु हो सकती है। वृक्क, यकृत् तथा अन्त्रियाँ विकृत हो जाती हैं। विसर्प, धनुस्तम्भ तथा अन्य जीवाणु-जन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार के उपद्रवों की अनुपस्थिति में व्रण का आरोहण आरम्भ हो जाता है।

दाह से मृत्यु के कारण—दाह के समय प्रायः श्वासावरोध से मृत्यु होती है। धुआँ, ताप और अग्नि की प्रचण्डता श्वास नहीं लेने देते। भय और स्तब्धता भी शरीर पर अपना प्रभाव डालते हैं। प्रथमावस्था में स्तब्धता से मृत्यु होती है। दूसरी अवस्था में मृत्यु का कारण प्रायः संक्रमण होता है, जिससे उपद्रव उत्पन्न होकर रोग की शक्ति को नष्ट कर देते हैं।

जब शरीर के चर्म का अधिक भाग जल जाता है तो रोगी के बचने की आशा कम हो जाती है। दाह की गहराई की अपेक्षा उसका विस्तार अधिक भयानक होता है। यदि समस्त शरीर के चर्म का तिहाई भाग जल गया है तो रोगी के बचने की बहुत कम आशा है। वक्ष, उदर और शिर के दाह अन्य अंगों के दाहों की अपेक्षा अधिक घातक होते हैं। ग्रीवा के दाह से गले के भीतर शोथ उत्पन्न होकर श्वासावरोध से मृत्यु हो सकती है। बच्चे दाह को सहन नहीं कर करते।

चिकित्सा—प्रथमावस्था में चर्म को विस्फोट और संक्रमण से बचाने की आवश्यकता है। अतएव बोरिक अम्ल और मैदा को दग्ध स्थान पर छिड़कना चाहिए है। कोलोडियन का प्रलेप भी उत्तम है। यदि चर्म पर विस्फोट बन चुके हैं, तो उनको विसंक्रामक विलयनों से धोकर, चर्म को पूर्णतया शुद्ध करने के पश्चात् एक शुद्ध सुई से छेदकर उनके ऊपर के चर्म को कैंची से काट देना चाहिए।

तत्पश्चात् एक बार फिर बोरिक विलयन से धोकर पिक्रिक अम्ल के १ प्रतिशत विलयन में गौज़ के टुकड़ों को भिगोकर उस स्थान पर रख देना चाहिए। इसके ऊपर रूई इत्यादि बाँधी जा सकती है। व्रणोपचार को कई दिन तक बदलने की आवश्यकता नहीं है।

यदि रोगी को अधिक पीड़ा हो तो मार्फिया का इंजेक्शन दिया जा सकता है। स्तब्धता के लिये गुदा द्वारा नमक का विलयन प्रविष्ट किया जाता है। रोगी को एड्रिनलीन[2] अथवा पिच्युटरीन[3] के इंजेक्शन से लाभ होता है। दाह की चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व स्तब्धता दूर करने का उद्योग आवश्यक है। जब स्तब्धता दूर हो जाय अथवा कम होने लगे, तो रोगी के वस्त्रों को उतारकर, और यदि आवश्यक हो तो काटकर व्रण को शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रायः कुछ समय के पश्चात् दाह में पाक

---

१. Albumin. २. Adrenalin. ३. Pituitrin.

प्रारम्भ हो जाता है और वहाँ पूतिवस्तु बनने लगती है। ऐसी दशा में गौज़ को उच्च-लवण-विलयन में भिगोकर पूतिवस्तु पर रखना चाहिए और प्रत्येक तीन या चार घण्टे पर विलयन को गौज़ पर डालते रहना चाहिए। इससे गौज़ नीचे के भागों पर न चिपकेगा। इन वस्त्रों को उतारने में बहुत सावधानी की आवश्यकता है, जिससे नीचे की रोहण धातु टूटने न पावे।

दाह की चिकित्सा में पिक्रिक अम्ल बहुत काम में लाया जाता है। वह पीड़ा को कम करता है, संक्रमण का नाश करता है और आरोहण बढ़ाता है। इसका विलयन $1\frac{1}{2}$ ड्राम पिक्रिक अम्ल, ३ औंस ($1\frac{1}{2}$ छटाँक) अल्कोहल और ४० औंस परिस्रुत जल मिलाकर बनाया जाता है। इसमें गौज़ की कवलिकाओं को भिगोकर व्रण पर रखकर रूई और पट्टी द्वारा उपचार कर दिया जाता है।

इस उपचार को सप्ताह में दो बार से अधिक नहीं बदला जाता। इससे प्रथम और दूसरी अवस्था के दाहों में बहुत उत्तम फल होता है।

आज-कल टेनिक अम्ल[1] का भी बहुत प्रयोग किया जाता है। १ ड्राम टेनिक एसिड को १ औंस जल में घोलकर विलयन बना लिया जाता है। दाह पर गौज़ को रखकर उस पर इस विलयन को निरन्तर डालते रहते हैं। गौज़ प्रत्येक समय विलयन से भीगा रहता है। इससे बहुत उत्तम फल निकलता है।

जब व्रण से पूतिवस्तु हट जाय और रोहण धातु के अङ्कुर बनने लगें तो उसका शुद्ध व्रण की भाँति उपचार करना चाहिए। इस समय इस बात की आवश्यकता है कि रोहण अङ्कुरों को तनिक भी क्षति न पहुँचने पावे। इसके लिये एक कोमल ब्रुश से सारे व्रण पर पैराफिन को लगाकर और शुद्ध गौज़ का एक पतला टुकड़ा रखकर फिर पैराफ़िन लगाने के पश्चात् रूई से ढक दिया जाता है। प्रथम दो या तीन दिन तक प्रत्येक दिवस इसी प्रकार उपचार किया जाता है। तत्पश्चात् प्रत्येक दूसरे या तीसरे दिन पैराफ़िन का प्रलेप कर सकते हैं। पैराफ़िन के साथ कुछ और भी वस्तुएँ मिला दी जाती हैं। प्रायः निम्नलिखित योग बनाया जाता है।

पैराफ़िन नम्र ७%
पैराफ़िन कठोर ६७%
जैतून का तैल ५%
यूकलिप्टिस का तैल २%
बीटानेफ्थोल $\frac{1}{4}$ %

इस प्रयोग से आरोहण अङ्कुर स्वस्थ रहते हैं, क्षताङ्क छोटा बनता है और अङ्ग में कोई विकृति नहीं आती।

जब व्रण का आरोहण होने लगता है और वह शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है तो बहुधा उस पर त्वक्-स्थापना की जाती है। विस्तृत व्रणों में इसकी अधिक आवश्यकता होती है। इससे क्षत में अधिक क्षताङ्क नहीं बनता और इस कारण अङ्ग विकृत नहीं

---

१. Tannic Acid.

होने पाता। प्रायः सन्धियों के मोड़ पर, मुख और ग्रीवा के प्रान्त में अधिक विकृति उत्पन्न होती है। यहाँ पर क्षताङ्क को काटकर त्वक्-स्थापना की जाती है।

विकृति को रोकने के लिए आरोहण के समय में अङ्ग को लम्बा करके रखना चाहिए। यदि कक्ष में दाह हो तो बाहु को सिर की ओर फैलाकर रखना उचित है। प्रत्येक दिवस अङ्ग की गति करवानी चाहिए जिससे वह जुड़ने न पावे। पैराफ़िन के प्रयोग से विकृति अधिक नहीं होती।

त्वक्-स्थापना—त्वक्-स्थापना उस समय की जाती है जब सारे व्रण में उत्तम रोहणांकुर बन जाते हैं। इस कर्म को करने के पूर्व दो या तीन दिवस तक व्रण पर ऊष्म स्वेद करना चाहिए, जिससे वह पूर्णतया शुद्ध हो जाय। यदि वहाँ तनिक भी संक्रमण उपस्थित होगा तो पूय बनना आरम्भ हो जायगा और त्वचारोपण न होगा। इसकी तीन विधियाँ हैं जो आविष्कर्ताओं के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(१) थीर्श[१] की विधि—जिस स्थान से त्वचा लेनी होती है उसको केवल परिस्रुत जल अथवा नमक के विलयन से शुद्ध किया जाता है। विसंक्रामकों का उपयोग नहीं किया जाता।

जिस व्रण पर त्वचा लगानी होती है उसको एक तीव्र चमसक से खुरच देते हैं जिससे वहाँ रक्तस्राव होने लगता है। भार तथा उष्ण जल से इस स्राव को रोक देना चाहिए। जब स्राव रुक जाय तब वहाँ त्वचा लगानी उचित है। त्वचा उतारने के लिए दाहिने हाथ में विशेषतया चौड़े फल के एक उस्तरे को पकड़ते हैं और दूसरे हाथ के अँगूठे और तर्जनी से उस स्थान को, जहाँ से त्वचा उतारनी है और जो पूर्णतया शुद्ध कर लिया गया है, दोनों ओर को खींचते हैं जिससे चर्म तन जाता है। तत्पश्चात् उस्तरे को चर्म पर आड़ा रखकर नीचे की ओर ले जाते हैं और चर्म की उपकला का जितना भी पतला और लम्बा भाग उतर सकता है, काट लेते हैं। उपकला के छिलने से चर्म के अंकुरों से कुछ रक्त निकलने लगता है। छिली हुई उपकला को उस समय तक रक्त में पड़े रहने देना चाहिए जब तक उसको दूसरे स्थान पर लगाया न जाय। उपकला के भाग आवश्यकतानुसार लम्बे और संख्या में इतने होने चाहिएँ कि उनसे व्रण पूर्णतया ढक जाय। इन भागों को उठाने के लिये विशेष आकार की शलाकाएँ होती हैं जिनका आगे का भाग एक या डेढ़ इंच चौड़ा होता है। इनके द्वारा उपकला के भागों को व्रण के पृष्ठ पर फैला दिया जाता है। फैलाने में सावधानी से काम लेना चाहिए, जिससे ये भाग टूटने न पावें और उनमें कोई सिकुड़न भी न पड़े। इन भागों के किनारे एक दूसरे के ऊपर कुछ चढ़े रहने चाहिएँ। इसी प्रकार उनका कुछ भाग व्रण के किनारों की ओर भी चर्म पर चढ़ा हो। तत्पश्चात् सारे स्थान को शुष्क गौज़ से ढककर भली भाँति दाब देना चाहिए जिससे वह चर्म को पकड़ ले।

इस प्रकार त्वक्-स्थापना करने के पश्चात् गौज़ और रूई को रखकर व्रणोपचार कर दिया जाता है। यह उपचार ऐसा होना चाहिए कि वह अपने स्थान से हिलने न

---

१ Theirsch's method.

पावे। उसके हिलने से उपकला के अपने स्थान से हट जाने का भय है। इसलिए क्षत स्थान के कई इंच नीचे से पट्टी बाँधना आरम्भ किया जाता है। कई इंच ऊपर तक पट्टी बाँध दी जाती है। तत्पश्चात् एक कुशा को अङ्ग पर बाँध देते हैं। वक्ष और उदर में गौज़ के सिरों को कोलोडियन द्वारा चर्म के साथ जोड़ दिया जाता है।

जहाँ से त्वचा ली गई है वहाँ एक व्रण उत्पन्न हो जाता है। उसको दाह की भाँति शुद्ध गौज़ से ढककर उस पर पिक्रिक अम्ल का विलयन लगा दिया जाता है। कुछ व्यक्ति व्रण पर केवल शुद्ध गौज़ के चार या पाँच स्तर रखकर बाँध देते हैं। यह गौज़ व्रण के रक्त में भी जाकर वहाँ जम जाता है। चौबीस घंटे के पश्चात् वह एक खुरण्ड की भाँति हो जाता है और स्राव को भी बन्द कर देता है। इसको किसी उपचार वस्त्र से नहीं ढकते, जिससे वह गीला न रहने पावे। आर्द्र होने पर उसमें संक्रमण पहुँचकर पाक उत्पन्न कर सकता है। लगभग पन्द्रह दिन में व्रण पर चर्म आ जाता है और तब गौज़ स्वयं ही उतर जाता है।

रिवर्डीन[1] की विधि—इस विधि में उपकला के छोटे-छोटे टुकड़े काटकर व्रण पर लगाये जाते हैं। प्रथम व्रण, और उस स्थान को, जहाँ से उपकला लेना है, शुद्ध कर लिया जाता है। तत्पश्चात् बायें हाथ की चिमटी से उस स्थान के किसी बाल को पकड़कर ऊपर को उठाते हैं जिससे साथ का चर्म भी ऊपर उठ आता है। दूसरे हाथ की कैंची से बाल की जड़ को थोड़े से चर्म सहित काटकर रोहण धातु पर लगाया जाता है। इस प्रकार उपकला के छोटे-छोटे भाग सारे व्रण पर यतस्ततः लगा दिये जाते हैं। तत्पश्चात् व्रण को शुद्ध गौज़ से ढककर ऐसा आयोजन किया जाता है कि वह अपने स्थान से हटने न पाये। उचित समय पर गौज़ को निकाल दिया जाता है।

वूल्फ़े[2] की विधि—इस विधि में न केवल उपकला किन्तु सारा चर्म काटकर व्रण के ऊपर लगाया जाता है। थीर्श की विधि के समान चर्म के लम्बे-लम्बे टुकड़े काटे जाते हैं। कभी-कभी यह टुकड़े ८″ लम्बे और २″ चौड़े होते हैं। इनके नीचे जितनी वसा होती है उसको चर्म से पृथक् कर दिया जाता है। तत्पश्चात् उसको व्रण के शुद्ध किये हुए पृष्ठ पर लगाकर व्रण के किनारों के साथ सीकर व्रणोपचार-वस्त्र से ढक दिया जाता है। इस विधि में थीर्श की अपेक्षा सफलता कम होती है। किन्तु जब चर्म की स्थापना हो जाती है तो थीर्श की अपेक्षा उत्तम परिणाम होते हैं।

विद्युत् दाह—बिजली के काम करनेवालों में इस प्रकार के व्रण पाये जाते हैं। विद्युत् के प्रवाह से जो शिखा उत्पन्न होती है उससे कभी-कभी दाह हो जाता है। दाह के लक्षण विशेषतया उस स्थान पर, जहाँ विद्युत् ने शरीर में प्रवेश किया था और जिस स्थान से वह शरीर से बाहर निकली थी, उत्पन्न होते हैं। यह दोनों स्थान झुलस जाते हैं। किन्तु बीच का भाग स्वस्थ रहता है।

विद्युत् के जिन दाहों में केवल चर्म झुलसता है उनमें तनिक भी पीड़ा नहीं होती। शुष्क रहने के कारण उनमें संक्रमण भी नहीं पहुँचता। किन्तु वह आरोग्य होने में अधिक समय लेते हैं। गहरे दाहों में चर्म-पेशी इत्यादि सब दग्ध हो जाते हैं। इनमें प्रथम

१. Riverdin's method. २. Wolfe's method.

चौबीस या छब्बीस घण्टे तक अधिक पीड़ा नहीं होती। किन्तु उसके पश्चात् असह्य वेदना होने लगती है। अङ्ग में निर्जीवाङ्गत्व तक उत्पन्न हो सकता है। जब पूति-वस्तु अङ्ग की धातुओं से पृथक् होती है तो गहरे व्रण बन जाते हैं, जो आरोग्य होने में बहुत समय लेते हैं।

चिकित्सा साधारण दाह के समान होती है। किन्तु शुष्क व्रणोपचार किया जाता है।

विद्युत् का गिरना—वर्षाकाल में प्रायः मनुष्य अथवा पशुओं पर बिजली गिर पड़ती है। अधिकतर ऐसी घटना से मृत्यु हो जाती है। जिनकी मृत्यु नहीं होती उनको अत्यन्त गाढ़ी स्तब्धता होती है। कभी-कभी देखने में शरीर पर किसी प्रकार के चिह्न नहीं दिखाई देते; किन्तु स्तब्धता प्रगाढ़ होती है। जब आघात का प्रभाव हलका होता है, तब शरीर पर लाल लाल चिह्न पड़ जाते हैं जो चौबीस घण्टे में मुरझा जाते हैं। चर्म शुष्क और चिकना हो जाता है। बहुधा चर्म पर प्रथम अथवा दूसरी अवस्था के दाह के समान लक्षण दिखाई देते हैं। पेशियों का यतस्ततः स्तम्भ हो जाता है।

चिकित्सा साधारण दाह की भाँति की जाती है।

अचैतन्यता अथवा बेहोशी—कभी-कभी चिकित्सक को ऐसे रोगियों को देखना पड़ता है जो मूर्च्छित होते हैं। अस्पतालों में प्रायः पुलिस सड़क या गली में पड़े हुए अचेतन व्यक्तियों को ले आती है। उनके रोग का कोई इतिहास नहीं मिलता। परिवारों में ऐसे रोगियों के सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं। मूर्च्छा कब आरम्भ हुई, कैसे आरम्भ हुई, रोगी किसी प्रकार की मादक वस्तु का प्रयोग करता है या नहीं, इन बातों का ज्ञान हो जाने से रोग-निश्चिति में बहुत सहायता मिलती है। किन्तु पुलिस द्वारा लाये हुए व्यक्तियों में चिकित्सक को केवल स्वयं-निरीक्षित लक्षण तथा चिह्नों ही पर निर्भर करना पड़ता है। चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व रोगी के लक्षणों और चिह्नों की पूर्ण परीक्षा करनी चाहिए। उन्हीं के अनुसार रोग निश्चय करके चिकित्सा करनी उचित है।

यह दशा निम्न-लिखित कारणों से उत्पन्न होती है।

(१) मादक विष—जैसे मद्य, धतूरा इत्यादि।

(२) रोग-विष-सञ्चार—मूत्र-विष-सञ्चार[१] तथा इक्षुमेह के विषसञ्चार[२] से यह अवस्था उत्पन्न हो सकती है।

(३) ज्वराधिक्य—जैसे आतपज्वर[३] इत्यादि।

(४) कपाल का अभिघात—कपालास्थि के भग्न के कारण मस्तिष्क के भीतर रक्त-प्रवाह होने से मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है।

रोगी के श्वास की गन्ध सूँघनी चाहिए। मद्यात्यय में उसके मुख और श्वास से मद्य की गन्ध आने लगेगी। अफ़ीम खाने से अफ़ीम की गन्ध आती है। किन्तु केवल गन्ध से अन्तिम निश्चय न कर लेना चाहिए। सम्भव है कि विष के साथ दूसरे कारण

१. Uraemia. २. Diabetic coma. ३. Heat stroke.

भी उपस्थित हों। कभी-कभी देखने में आता है कि मद्य के अधिक पीने से रोगी मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है और उससे कपालास्थि का भग्न हो जाता है। ऐसी अवस्थाओं में अस्थिभग्न की चिकित्सा अत्यन्त आवश्यक है।

यदि श्वास से मूत्र के समान दुर्गन्धि आवे तो मूत्र-विष-सञ्चार समझना चाहिए। किन्तु यदि कुछ सुहाती हुई मीठी गन्ध निकले तो उससे इक्षुमेह का सन्देह किया जा सकता है। रोग का ठीक प्रकार से निश्चय करने के लिए रबर के केथीटर द्वारा मूत्र को निकालकर उसकी परीक्षा करनी उचित है। शर्करा, अल्ब्यूमिन, एसीटोन और डाई-एसिटिक-एसिड[1] के लिए मूत्र की परीक्षा करनी आवश्यक है।

रोग-निश्चिति में नेत्रों के तारों से भी सहायता मिल सकती है। मदात्यय में वे प्रसरित हो जाते हैं, किन्तु अफ़ीम से सङ्कुचित होते हैं। मस्तिष्क-संक्षोभ[2] में वे प्रायः चौड़ा जाते हैं; किन्तु प्रकाश के पड़ने से सिकुड़ते हैं। मस्तिष्क-संपीड़न[3] में दोनोंनेत्रों के तारे समान नहीं होते। अन्तिम अवस्था में पहुँचकर वे चौड़े और स्थिर हो जाते हैं। नेत्रों की पुतलियों की परीक्षा करने के लिए रोगी के पलकों को बन्द करके फिर प्रकाश की ओर खोलना चाहिए। ज्यों ही नेत्र पर प्रकाश पड़ेगा त्यों ही तारे सिकुड़ने लगेंगे। यह प्रकाश-परावर्तन[4] कहलाता है। प्रत्येक स्वस्थ नेत्र में यह घटना पाई जाती है। इसकी अनुपस्थिति रोगी की दारुण दशा की सूचक है। मस्तिष्काघात से जो अचैतन्यता उत्पन्न होती है उसका कारण प्रायः कपाल की किसी अस्थि का भग्न होता है। यह दशा अत्यन्त चिन्ताजनक होती है। भग्न न होने पर भी केवल आघात से अचैतन्यता उत्पन्न हो सकती है। कुछ रोग भी इस दशा को उत्पन्न कर देते हैं। यहाँ पर केवल मस्तिष्काघातों से उत्पन्न हुई दशा का विचार किया जायगा।

मस्तिष्क-संक्षोभ—कपाल पर तीव्र अभिघात लगने के कारण मस्तिष्क के पदार्थ में हलचल उत्पन्न होने से कुछ समय के लिए उसकी क्रिया बन्द हो जाती है। इससे चेतना लुप्त हो जाती है। आघात की सीमा के अनुसार हल्के से चक्कर आने से लेकर चेतना के पूर्ण लुप्त होने तक, संक्षोभ की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में, पाया जाता है। कुछ विद्वान् पार्श्व-कोष्ठ[5] के मस्तिष्क-सौषुम्नीय तरल[6] के चतुर्थ कोष्ठ में आकर एकत्र हो जाने को इस दशा का कारण मानते हैं।

लक्षण—संक्षोभ का सबसे बड़ा लक्षण अचैतन्यता है, जो पूर्ण अथवा अपूर्ण हो सकती है। रोगी के शरीर की पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं। चर्म ठण्डा और स्वेदमय हो जाता है। नाड़ी दुर्बल, तीव्र, और पतली हो जाती है। उसको प्रतीत करना भी कठिन होता है। नेत्रों के तारे प्रायः समान और संकुचित होते हैं। श्वास कभी धीमा और कभी तीव्र गति से आने लगता है। मल और मूत्र का स्वयं ही त्याग हो जाता है। मूर्च्छा और भी गाढ़ी हो जाती है।

जब रोगी की दशा सुधरती है तो धीरे-धीरे चेतना लौटने लगती है। रोगी को वमन होना दशा के सुधरने का सूचक है।

---

१. Di-Acetic Acid. २. Concussion of brain. ३. Compression of brain. ४. Light reflex. ५. Lateral ventricles. ६. Cerebro-spinal-flud.

रोगी के बिल्कुल स्वस्थ हो जाने पर कभी-कभी मालूम होता है कि उसका नाड़ी-मण्डल विकृत हो गया है। दृष्टि में विकार उत्पन्न हो सकता है। श्रवण या स्मरण शक्ति का दुर्बल अथवा नष्ट होना तक देखा गया है। प्रायः नाड़ी-दौर्बल्य[1] उत्पन्न हो जाता है। रोगी में विचार करने की शक्ति नहीं रहती।

चिकित्सा—रोगी को शय्यारूढ़ करके उसको कम्बलों से ढक देना, गरम जल की थैलियाँ रखना, गरम दूध या काफ़ी देना, आवश्यकतानुसार ब्राण्डी या स्ट्रिक्नीन का इंजेक्शन देना इत्यादि चिकित्सा के मुख्य साधन हैं। भोजन के लिए केवल तरल पदार्थ देना उचित है। दस या पन्द्रह दिन तक रोगी को कोलाहल से दूर एकान्त स्थान में रखना चाहिए, जहाँ उसको किसी प्रकार की उत्तेजना या उद्विग्नता न होने पावे।

यदि मूर्च्छा अधिक गाढ़ी हो और कई दिवस तक बनी रहे तो कटि-वेधन[2] के द्वारा सुषुम्ना से कुछ तरल निकाल लेना चाहिए। इससे अनेक बार बहुत लाभ हुआ है। रोगी के सिर और गरदन के पीछे की ओर बर्फ़ रखना चाहिए। विरेचकों द्वारा कोष्ठशुद्धि और कैथिटर द्वारा समय-समय पर मूत्राशय से मूत्र निकालते रहना आवश्यक है।

मस्तिष्क-सन्ताप[3]—कभी-कभी शिर के बल गिरने अथवा शिर पर आघात के लगने से मस्तिष्क और शरीर दोनों में उत्तेजना की सी दशा उत्पन्न हो जाती है। यह माना जाता है कि इस आघात से मस्तिष्क का ऊपरी स्तर कुछ छिल जाता है जिससे रक्त का अधिक सञ्चार होने से मस्तिष्क उत्तेजित हो जाता है।

लक्षण—रोगी एक ओर की करवट से लेटता है और हाथ-पाँव को सिकोड़ लेता है। जंघाएँ उदर की ओर मुड़ी रहती हैं। बाहु भी वक्ष पर पहुँच जाते हैं और पीठ मुड़कर कमान के समान हो जाती है। रोगी नेत्र बन्द किये हुए शय्या में बेचैनी के साथ एक ओर से दूसरी ओर को करवटें बदलता रहता है। शरीर का चर्म प्रायः ठण्डा रहता है।

रोगी पूर्णतया अचेत नहीं होता। यदि उसके पास चिल्लाया जाय और उससे बोलने का उद्योग किया जाय तो वह दूसरी ओर को करवट ले लेता है। कभी-कभी दाँत पीसता अथवा गाली देता है।

प्रायः तीन सप्ताह के भीतर रोगी की दशा सुधरनी आरम्भ हो जाती है। वह हाथ-पाँव फैलाकर सोता है; उसका क्रोध घट जाता है और अन्य लक्षण भी कम हो जाते हैं। केवल मस्तिष्क की दुर्बलता रह जाती है, जिससे अन्य विकार उत्पन्न हो सकते हैं।

चिकित्सा—रोगी को एकान्त स्थान में रखना अत्यंत आवश्यक है। विरेचकों द्वारा कोष्ठ की शुद्धि करते रहना चाहिए। हलके और बलदायक भोजन की आवश्यकता है। रोगी को क्रुद्ध करनेवाला कोई भी कार्य करना उचित नहीं। रोगी के शिर पर समय-समय पर बर्फ़ मलना और शामक वस्तुएँ, जैसे अफ़ीम इत्यादि, देनी चाहिए।

मस्तिष्क का संपीड़न[4]—यह दशा मस्तिष्क के भीतर भार के बढ़ने से उत्पन्न

---

१. Neuresthenia. २. Lumbar puncture. ३. Cerebral irritation.
४ Cerebral compression.

होती है। कपालास्थि के भग्न में अस्थि के टुकड़े के भीतर की ओर धँस जाने अथवा अर्बुद इत्यादि के उत्पन्न होने से मस्तिष्क के भीतर का भार बढ़ जाता है। यह भाराधिक्य मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न केन्द्रों पर प्रभाव डालता है और रक्त-नलिकाओं में रक्त-प्रवाह को रोकता है। जिस स्थान पर भार अधिक होता है वह रक्त-रहित हो जाता है। यह दशा (१) कपालास्थि के भग्न से उत्पन्न हो सकती है। अस्थि का टूटा हुआ भाग नीचे की ओर दबकर स्वयं मस्तिष्क को दबाता है। (२) मस्तिष्क के भीतर तथा मस्तिष्कावरण के नीचे के पृष्ठ पर रक्त-प्रवाह होने से भी यही दशा होती है। (३) यदि मस्तिष्क के ऊपर कहीं शोथ है या पूय एकत्र है तो उससे भी ऐसे ही लक्षण उत्पन्न होंगे। (४) अर्बुद, गमा इत्यादि भी ऐसे ही लक्षण उत्पन्न करते हैं।

लक्षण—भार के बढ़ने से तुरंत मूर्च्छा उत्पन्न होती है और रोगी की चेतना का पूर्ण लोप हो जाता है। उसको कोलाहल इत्यादि कुछ नहीं सुनाई देता। रोगी को जगाना असम्भव है। मुख विवर्ण, ग्रीवा की शिराएँ विस्तृत, नाड़ी धीमी और भरी हुई, किन्तु कुछ समय के पश्चात् तीव्र और क्रमहीन; श्वास धीमा; इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं। तालु और मुख की पेशियों का स्तम्भ हो जाता है। शरीर का ताप बढ़ जाता है। वह कभी-कभी १०४° या १०५° फे० तक हो जाता है। ताप का १०५° या इससे अधिक होना रोगी के लिए भयङ्कर है। नेत्रों के तारे चौड़े हो जाते हैं। किन्तु उनमें मस्तिष्क में उपस्थित भार के अनुसार भिन्नता पाई जाती है। यदि भार मस्तिष्क में दोनों ओर समान है तो नेत्रों के तारे भी समान प्रसरित होंगे। किन्तु केवल एक ओर भार होने से उसी ओर का तारा चौड़ा और प्रकाश-परावर्तन-विहीन होगा। पेशियों का स्तम्भ भी भार की स्थिति के अनुसार होता है। जिस ओर भार अधिक होता है उसके दूसरी ओर उन मांस-पेशियों का, जिनमें मस्तिष्क के उसी प्रान्त से सूत्र आते हैं, स्तम्भ हो जाता है।

भयङ्कर दशाओं में मूर्च्छा बढ़ जाती है और पेशियों का स्तम्भ भी अधिक हो जाता है। सुषुम्ना-शीर्षक में स्थित मर्म-केन्द्रों का भी स्तम्भन होने लगता है। अन्त में श्वासकेन्द्र के स्तम्भ से मृत्यु हो जाती है।

रोगी की अत्यंत सावधानी से परीक्षा करके लक्षणों का अन्य रोगों के साथ सापेक्षिक विचार करने के पश्चात् रोग का निर्णय करना चाहिए। शिराघात, मस्तिष्क में रक्त-प्रवाह, शिरारोध, अपस्मार, मद्य, अफ़ीम, मूत्र-विष-सञ्चार तथा इक्षुमेह की मूर्च्छा और आतप-ज्वर ऐसी दशाएँ हैं जिनके लक्षणों में बहुत कुछ समानता है। पूर्व में कहे हुए लक्षणों के अनुसार इन दशाओं का विचार करने से रोग-निश्चिति में सहायता मिलेगी।

चिकित्सा—रोग के कारण को दूर करना उचित है। यदि कपालास्थि के भग्न में अस्थि मस्तिष्क के भीतर घुस गई है तो उसको निकालना चाहिए। भीतर जमे हुए रक्त को भी निकाल देना उचित है। यदि भग्न नहीं है तो सौषुम्निक-द्रव्य को निकालने से लाभ होगा। यदि इससे भी कुछ लाभ प्रतीत न हो तो रोगी को एकान्त और अँधेरे स्थान में, शिर को नीचा करके, रखना चाहिए। मल-कोष्ठ को विरेचक ओषधियों और

वस्तिकर्म[1] द्वारा शुद्ध करना आवश्यक है। कभी-कभी शिराओं से कुछ रक्त निकालने से भी लाभ होता है। यदि मुख के द्वारा रोगी को भोजन न दिया जा सके, तो गुदा के द्वारा पहुँचाना चाहिए।

* आगन्तुक शल्य[2]

प्रायः दुर्घटनाओं में लकड़ी या लोहे के टुकड़े तथा अन्य प्रकार की अशुद्ध वस्तुएँ शरीर में घुस जाती हैं। इनके कारण शोथ उत्पन्न हो जाता है। जो वस्तुएँ पूर्णतया शुद्ध होती हैं—जैसे शस्त्र-कर्म में प्रयुक्त होनेवाले पदार्थ—उनसे पूयोत्पादन नहीं होता। कुछ वस्तुओं का शोषण अङ्ग कर लेते हैं। कुछ वस्तुएँ श्वेताणुओं द्वारा नष्ट हो जाती हैं। बड़े आकार की शुद्ध वस्तु, जैसे बन्दूक़ के छर्रे या गोली, अङ्ग ही में पड़ी रहती हैं। और उनके ऊपर सौत्रिक धातु का एक आवरण बन जाता है। कभी-कभी इन वस्तुओं से अर्बुद इत्यादि उत्पन्न होते देखे गये हैं। इन वस्तुओं की स्थिति को ठीक प्रकार से जानने के लिए एक्स-रे का उपयोग करना चाहिए। उसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त हो उसके अनुसार शस्त्र-कर्म करके वस्तु को निकाल देना आवश्यक है।

अङ्ग की पेशी इत्यादि का शल्य—काँटे, सुई, लकड़ी के टुकड़े, छर्रे, इत्यादि प्रायः पेशियों में धँस जाते हैं। लकड़ी या बाँस के पतले पत्र बहुधा नख के नीचे अँगुली में धँसे हुए मिलते हैं। यदि यह वस्तु कोमल स्थानों में स्थित हों तो ऊपर के चर्म, पेशियों तथा अन्य धातुओं को काटकर निकाल देना चाहिए। उनके गहरे स्थित होने पर एक्स-रे के द्वारा चित्र लेना आवश्यक है।

नेत्र का शल्य—प्रायः कारखानों या लोहे की मशीनों पर काम करनेवालों के नेत्रों में लोहे के छोटे-छोटे कण पड़ जाया करते हैं। इनको तुरन्त ही निकाल देना आवश्यक है। प्रथम नेत्र का प्रक्षालन करना चाहिए। यदि उससे कण न निकले तो चुम्बक लगाकर उनको खींच लिया जाय। प्रथम पलकों को ऊपर की ओर उलटकर रूई के प्लोत से बोरिक विलयन द्वारा नेत्र के प्रत्येक भाग को धोना चाहिए। नेत्र के श्वेत भाग में धँसे हुए लोहे के कण केवल धोने से नहीं निकलते। कभी-कभी चुम्बक से भी सफलता नहीं होती। ऐसी दशा में इन कणों को नेत्र में कोकेन का दो प्रतिशत का विलयन डालकर चाकू और चिमटी की सहायता से निकालना उचित है। कनीनिका[3] में धँसे हुए कणों को कभी-कभी देखना असम्भव हो जाता है। ऐसी दशा में प्रकाश के सामने बिठाकर परिवर्धक लेन्स[4] की सहायता से रोगी की कनीनिका के प्रत्येक भागों की परीक्षा करनी

---

१. Enema. २. Foreign body.

* आगन्तुरपि शरीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो भावाः दुःखमुत्पादयन्ति।

सुश्रुत सूत्रस्थान अ० २६

* तत्र समासेनानवबद्धशल्योद्धरणार्थं पञ्चदशहेतून् वक्ष्यामः। तद्यथा स्वभावः, पाचनम्, भेदनम्, दारणम्, पीडनम्, प्रमार्जनम्, निर्ध्मापनम्, वमनम्, विरेचनम्, प्रक्षालनम्, प्रतिमर्षः, प्रवाहनम्, आचूषणम्, आयस्कान्ताः हर्षश्च—सु० सू० अ० २७

३. Cornea. ४ Magnifying lens.

चाहिए। इससे कण दीख जायगा। कम से कम वह स्थान, जहाँ उसके प्रवेश से व्रण बन गया है, अवश्य दीखेगा। जब इस प्रकार कण की स्थिति मालूम हो जाय तो दो प्रतिशत कोकेन-विलयन को नेत्र में डालकर कण को एक चौड़ी चिमटी अथवा चाकू की सहायता से निकाल देना चाहिए। यदि चाकू का प्रयोग करना पड़े तो वह अत्यन्त तीव्र और पतला होना चाहिये। मोतियाबिन्द का चाकू उपयुक्त होगा।

नेत्र में चूने के पड़ जाने से अत्यन्त पीड़ा होती है। उसको निकालने के लिये उँट के बालों का बना हुआ ब्रश काम में आता है। चूने को निकालने के पश्चात् एसिटिक अम्ल के विलयन से आँख को धोना चाहिए।

अमोनिया के नेत्र में गिरने से बहुत हानि हो सकती है। कभी-कभी दृष्टि का पूर्ण नाश हो जाता है। यह अत्यन्त दाहक वस्तु है। इसलिए जितना शीघ्र हो सके, नेत्र को बोरिक विलयन से धोकर उसमें दूध या अल्ब्यूमिन का जल डालना उचित है। इन वस्तुओं से भीगी हुई रूई को नेत्र पर रखना चाहिए।

कर्ण-गुहा-शल्य—बच्चे प्रायः अपने कानों में कङ्कड़, फलों के बीज, मटर या सेम के बीज, काँच या लोहे की छोटी-छोटी गोलियाँ इत्यादि डाल लेते हैं। कभी कुछ तीव्र नोकवाली वस्तुएँ भी भीतर पहुँचकर कर्णपटह[1] को छेद देती हैं, जिससे रक्त निकलने लगता है। यदि वह वस्तुएँ कान के भीतर ही रह जाती हैं तो उनसे व्रण उत्पन्न होकर पाक होने लगता है, जिससे कुछ समय में छिद्र बन जाता है। इस छिद्र के द्वारा संक्रमण मध्य कर्ण और अन्तःकर्ण तक पहुँच सकता है, जिसके अत्यन्त भयङ्कर परिणाम होते हैं।

कर्ण के भीतर की वस्तु को तुरन्त निकालना आवश्यक है। प्रकाश और कर्णदर्शक[2] यन्त्र की सहायता से वस्तु का भली भाँति निरीक्षण करना उचित है। तत्पश्चात् आवश्यक शस्त्रों को अपने पास रखकर वस्तु को निकालने का उद्योग करना चाहिए। यदि वस्तु के द्वारा गुहा पूर्णतया अवरुद्ध नहीं है तो प्रथम पिचकारी का प्रयोग करें। पिचकारी इस प्रकार लगानी चाहिए कि जल की धार गुहा की ऊर्ध्व भित्ति पर होती हुई कर्णपटह पर पहुँचकर वहाँ से लौटते समय उस वस्तु को बाहर की ओर ढकेले। कुछ मिनट तक इस प्रकार प्रयत्न करना चाहिए। यदि इससे सफलता न हो तो शस्त्रों का प्रयोग किया जाय। पिचकारी के पूर्व शस्त्र का उपयोग ठीक नहीं, यद्यपि चिकित्सा के समय ऐसा करने की प्रबल इच्छा हुआ करती है।

कर्ण से बाह्य वस्तुओं को निकालने के लिए जो शस्त्र काम में आता है उसका अगला भाग मुड़ा होता है। चित्र में इसी प्रकार के दो शस्त्र दिखाये गये हैं। यह शस्त्र कर्ण के भीतर इस प्रकार डाले जाते हैं कि उनका मुड़ा हुआ भाग गुहा की ऊर्ध्व भित्ति पर होता हुआ वस्तु के पीछे पहुँच जाता है। इस कारण उसको ऐसे स्थान से प्रविष्ट करना चाहिए जहाँ

चित्र नं० ३० डमरे की कर्ण-शल्य-शलाका

---

१. Tympanic membrane. २. Auroscope.

भित्ति और वस्तु में सबसे अधिक अन्तर हो। यदि यह अन्तर नीचे की ओर है तो शस्त्र को अधःभित्ति के द्वारा प्रविष्ट करना उचित है। जब यन्त्र वस्तु के पीछे पहुँच जाय तब उससे वस्तु को, आगे की ओर ठेलकर, निकाला जा सकता है। यदि इस कर्म में कर्ण-पटह के क्षत होने से रक्त निकलने लगे, तो वस्तु को निकालने के पश्चात् विसंक्रामक विलयनों द्वारा रक्त-प्रवाह को बन्द करके गुहा को शुद्ध कर देना चाहिए।

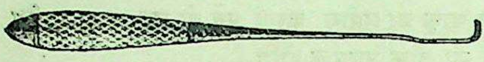

चित्र नं० ३१ लिस्टर की शलाका

नासिका-शल्य—बच्चे नासिका में भी गोली, छोटी कौड़ी, बटन इत्यादि डाल लेते हैं जो कभी-कभी बिना किसी प्रकार का कष्ट दिये हुए बहुत समय तक भीतर ही पड़े रहते हैं और नासिका के पीछे की ओर पहुँच जाते हैं।

नासिका-सन्दंश[1] के द्वारा रन्ध्र को चौड़ाकर वस्तु को भले प्रकार देखना चाहिए। यदि वह पीछे की ओर चली गई है तो उसको देखना कठिन होगा। एषिण से उसको प्रतीत किया जा सकता है।

नासिका-शल्य की चिकित्सा कर्ण-शल्य ही के समान होती है। कर्ण की भाँति नासिका के भीतर भी जल को इस प्रकार पहुँचाना चाहिए कि वह दूसरे रन्ध्र के द्वारा प्रविष्ट होकर उस रन्ध्र से निकले जिसमें वस्तु पड़ी हुई है। इससे प्रायः वस्तु बाहर निकल आती है। यदि इससे सफलता न हो तो शस्त्रों का प्रयोग करना आवश्यक है। शस्त्र का कर्ण-शल्य ही की भाँति प्रयोग किया जाता है। एक साधारण एषिण के अगले भाग को तनिक आगे की ओर मोड़कर, प्रकाश और सन्दंश की सहायता से नासिका में वस्तु के पीछे पहुँचाकर उससे वस्तु को आगे की ओर खींच लेना चाहिए। कर्म करने से पूर्व नासिका की श्लैष्मिक कला पर १० प्रतिशत कोकेन का विलयन लगा देना चाहिए।

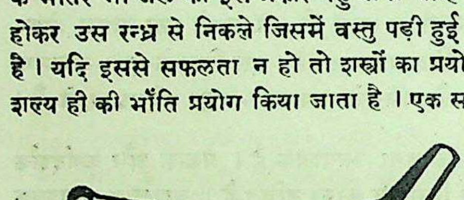

चित्र नं० ३२ नासिका-दर्शक

यदि कोई वस्तु नासिका में कई दिवस तक पड़ी रहती है तो उससे व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। यदि केवल एक ही रन्ध्र से स्राव आता दिखाई दे तो उसके भीतर किसी बाह्य वस्तु की उपस्थिति का सन्देह करना चाहिए। ऐसी दशा में उचित परीक्षा के पश्चात् वस्तु को निकाल देना आवश्यक है।

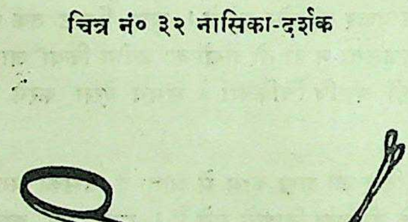

चित्र नं० ३३ नासिका-शल्य-सन्दंश

जब वस्तु नासिका में बहुत पीछे की ओर पहुँच जाती है और आगे की ओर से निकालना कठिन होता है तो उसको किसी

1. Nasal speculum.

शलाका द्वारा पीछे की ओर ठेल दिया जाता है। इससे वह गले में पहुँचकर थूक के साथ निकल जाती है।

स्वरयन्त्र का शल्य—कभी-कभी भोजन करते समय ग्रास का कुछ भाग स्वर-यन्त्र में जाकर श्वासमार्ग को अवरुद्ध कर देता है, जिससे फुस्फुसों में वायु-प्रवेश नहीं हो पाता। स्वर-यन्त्र में अन्य वस्तुओं के पहुँचने से भी यही परिणाम होता है। रोगी की तत्काल मृत्यु हो सकती है। बनावटी दाँतों के फिसलकर स्वर-यन्त्र में पहुँच जाने से कई बार तत्कल मृत्यु होते देखा गया है। मूर्च्छा की अवस्था में इन दाँतों से दुर्घटना हो जाने का विशेष भय रहता है।

बाह्य वस्तु के द्वारा श्वासमार्ग के अवरुद्ध हो जाने से रोगी श्वास नहीं ले पाता। उसका मुख नीला पड़ जाता है, स्तब्धता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और रोगी की मृत्यु हो जाती है। ऐसी दशा में अत्यन्त शीघ्रता से काम करने की आवश्यकता है। गले के भीतर अँगुली डालकर अटकी हुई वस्तु को, यदि हो सके तो, निकाल देना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो तुरन्त स्वरयन्त्र-छेदन कर्म करना चाहिए। क्रीकाइड कार्टिलेज और कण्ठकास्थि के बीच की कला में छिद्र करके तुरन्त नलिका डाल देनी चाहिए, जिससे वायु का फुस्फुस में प्रवेश होने लगे और रोगी को श्वास-कष्ट न हो। यदि आवश्यक हो तो कृत्रिम श्वास-सञ्चार करना चाहिए।

इस कर्म के पश्चात् गले के शल्य को निकालने का प्रयत्न किया जाय। यदि वह स्वर-यन्त्र के बीच में स्थित हो तो उसको एक मुड़े हुए लम्बे संदंश से पकड़कर मुख के द्वारा निकाल लेना चाहिए। यदि इसमें सफलता न हो तो एक शलाका को गले के छिद्र द्वारा, जो शस्त्र-कर्म से बनाया गया है, भीतर डालकर वस्तु को मुख की ओर को ढकेल देना चाहिए। कभी-कभी बच्चों को उलटा करके उनकी पीठ को वेग से थपथपाने से भी वस्तु अपने स्थान से हटकर मुँह में चली आती है।

श्वास-प्रणाली का शल्य—छोटे आकार की वस्तुएँ श्वास-प्रणाली तक पहुँच सकती हैं। इसका ऊपर का द्वार बहुत छोटा होता है। जिस समय वस्तु गले में होकर श्वास-प्रणाली में जाती है उस समय रोगी को अत्यन्त पीड़ा होती है। स्वरयंत्र में होकर वस्तु के निकलने के समय रोगी को तीव्र खाँसी आती है और उसका श्वास बन्द होने लगता है। जब वस्तु यंत्र से नीचे की ओर खसक जाती है तो यह लक्षण जाते रहते हैं। यदि वस्तु कुछ समय तक श्वास-प्रणाली में पड़ी रहती है तो उससे व्रण बन जाता है; चारों ओर शोथ उत्पन्न हो जाता है, खाँसी के आक्रमण होते हैं और मुँह से रक्त-मिश्रित श्लेष्मा निकलने लगता है।

चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व की स्थिति का अनुमान कर लेना चाहिए। गलदर्शक-यन्त्र[1] के द्वारा स्थिति का ठीक पता चल जाता है और वस्तु को एक लम्बे मुड़े हुए सन्दंश के द्वारा निकाला जा सकता है। यदि इस प्रकार वस्तु न निकल सके तो नीचे की ओर श्वास-प्रणालिका-भेदन[2] कर उसके द्वारा वस्तु को निकालना चाहिए। यदि उस समय भेदन के द्वारा वस्तु न निकल सके तो उसको कुछ समय के लिए खुला छोड़ दें। सम्भव

---

१. Bronchoscope. २. Low Tracheotomy.

है, कभी खाँसते समय वस्तु स्वयं ही क्षत के द्वारा निकल जाय।

चिकित्सक के कौशल तथा त्वरता पर रोगी का जीवन निर्भर करता है। उसके लिए पल-पल भारी है। इस कारण अत्यन्त शीघ्रता से काम करना चाहिए। यदि तुरन्त वस्तु न निकल सके तो उसका गल-भेदन करना आवश्यक है, जिससे श्वास-सञ्चार होने लगे। उसके पश्चात् वस्तु को निकालने का प्रयत्न करना उचित है।

अन्न-प्रणाली का शल्य—भोजन के समय भोज्य-पदार्थ का कुछ भाग, अस्थि का टुकड़ा, या बने हुए दाँत प्रणाली में जाकर अटक जाते हैं। कभी-कभी बच्चे ताँबे या चाँदी के सिक्के निगल जाते हैं जो अन्न-प्रणाली में पहुँचकर वहीं रह जाते हैं। यदि कोई ऐसी वस्तु अटकी हो, और सहज में पच जाय, अथवा बिना पचे हुए और अन्त्रियों को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये हुए मल द्वारा शरीर से बाहर निकल जाय तो उसको किसी रबर की नलिका या यन्त्र द्वारा प्रणाली में नीचे की ओर ढकेल देना चाहिए, जिससे वह आमाशय में पहुँचकर पच जाय अथवा अन्त्रियों में होती हुई मल के साथ शरीर से बाहर निकल जाय। किन्तु यदि वस्तु तीव्र नोकवाली हो तो उसको निकालना आवश्यक है। मुख द्वारा गले में अँगुली डालकर उसको अपने स्थान से हटा दें। किन्तु यदि वह गले में गहरी स्थित हो, जहाँ अँगुली न पहुँच सके, तो 'प्रोबैंग'[१] नामक यन्त्र को गले में डालकर उसके द्वारा वस्तु को निकालना चाहिए *। इस यन्त्र का मुख्य भाग घोड़े के बालों का बना होता है। गले के भीतर डालते समय वह बन्द रहता है। जब वह उचित स्थान पर पहुँच जाता है तब यन्त्र को खोल दिया जाता है। यन्त्र का जो सिरा बाहर रहता है वह एक नलिका की भाँति होता है और पेचदार शलाका पर, जो उसके बीच में रहती है, घूमता है। इससे यन्त्र गले के भीतर खुल जाता है, और उसके बाल चारों ओर को फैलकर एक प्रकार का जाल सा बना देते हैं। इसमें वहाँ पर उपस्थित वस्तु फँस जाती है। अथवा यन्त्र को बाहर खींचने के समय वह फैले हुए बालों के आगे-आगे फिसलती हुई चली आती है।

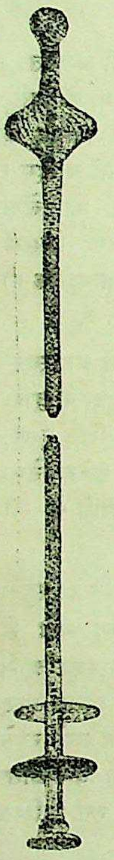

चित्र नं० ३४
प्रोबैङ्ग

सिक्कों के निकालने के लिए एक दूसरा यन्त्र, जिसको "मुद्राग्राहक"[२] कहते हैं, प्रयुक्त होता है। यह यन्त्र मछली की अस्थि का बना होता है जिसके एक सिरे पर मुद्रा को पकड़नेवाला भाग लगा रहता है। अँगुली से प्रतीत करके सिक्के की स्थिति का ठीक अनुमान कर लेना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो ऐक्स-रे के द्वारा चित्र लेकर और स्थिति का ठीक अनुमान करके मुद्रा को पकड़कर खींच लें।

---

१. Probang.

* अस्थिशल्यम् अन्यद्वा तिर्यक्कण्ठासक्तमवेक्ष्य केशोऽण्डुकं दृढैकसूत्रबद्धं द्रवभक्तोऽपसहितं पाययेत्.........शल्यैकदेशसक्तम् ज्ञात्वा सूत्रं सहसा त्वाक्षेपयेत्।

सुश्रुत सूत्रस्थान, अ० २७

२. Coin catcher.

यन्त्र को भीतर डालते समय जब उसका अग्रभाग मुद्रा पर पहुँचता है तो वह उससे टकराकर रुक जाता है। किन्तु उचित रीति से प्रविष्ट करने पर यह भाग मुद्रा के ऊपर होता हुआ उसके पीछे की ओर पहुँच जाता है। तब यन्त्र को तनिक आगे की ओर खींचने से यह भाग सिक्के के सम्पर्क में आ जाता है। इस समय इस यन्त्र की नलिका को दूसरी ओर से दबाया जाता है जिससे ग्राहक-भाग सिक्के को भलीभाँति ग्रहण कर लेता है।

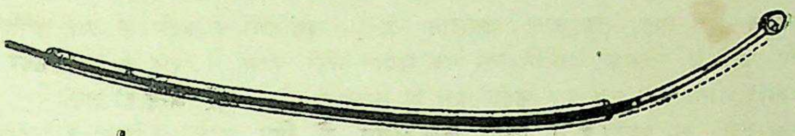

चित्र नं० ३५ मुद्रा-ग्राहक

यह प्रयोग दाँत इत्यादि वस्तुओं में सफल नहीं होता। उस समय 'अन्न-प्रणाली-दर्शक'[२] से सिक्के की स्थिति का ठीक ज्ञान करके उसको शस्त्रकर्म द्वारा निकालना चाहिए। ग्रीवा के एक ओर, जहाँ वस्तु स्थित हो, श्वास-प्रणाली से नीचे भेदन करके वस्तु को निकालना उचित है। यह भेदन इतना बड़ा हो कि उसके द्वारा वह वस्तु बाहर निकल सके। रक्त-नलिकाओं और नाड़ियों को बचाने की आवश्यकता है।

मूत्र-प्रणाली का शल्य—कभी कभी कुछ बाह्य वस्तुएँ, जैसे आलपीन इत्यादि, मूत्रमार्ग में पहुँच जाती हैं। निकालने के उद्योग में इन वस्तुओं को पीछे की ओर न ढकेलना चाहिए। इससे वह मूत्राशय में पहुँच जाती हैं।

इन वस्तुओं को निकालने के लिए वस्तु के पीछे से नलिका को आगे की ओर को दबाने और वस्तु को सरकाने का उद्योग करना चाहिए। यदि वह वस्तु प्रणाली के मुख पर स्थित है तो चिमटी से खींचकर निकाला जा सकता है। किन्तु यदि पिन की नोक आगे की ओर और उसका शिर पीछे अथवा मूत्राशय की ओर है तो रोगी को मूर्च्छित करके मूत्र-प्रणाली को पिन के शिर के ऊपर की ओर से दाब देना चाहिए। इससे पिन मूत्राशय की ओर न बढ़ सकेगी। तत्पश्चात् शिश्न के मांस को पिन की नोक के ऊपर दाबा जाय जिससे वह मांस में होती हुई चर्म द्वारा बाहर निकल आवे। इस प्रकार पिन का कुछ भाग बाहर निकल आवेगा। किन्तु उसका शिर और शिर के पास का भाग भीतर ही रह जायँगे। इस समय पिन को उलटा कर देना चाहिए जिससे उसका शिर शिश्न-नली के मुख की ओर हो जाय। तत्पश्चात् पिन के बाहर निकले हुए भाग को चर्म द्वारा भीतर करके उसको आगे की ओर ढकेलना चाहिए। इस प्रकार पिन मूत्रमार्ग द्वारा बाहर निकल आवेगी।

---

२. Oesophagouscope.

सातवाँ परिच्छेद

रक्त-प्रवाह

धमनी, शिरा तथा केशिका[1] के कट जाने से क्षत द्वारा रक्त का प्रवाह होने लगता है। यह रक्त-प्रवाह कहलाता है। धमनियों के कटने से रक्त की फुहार निकलती है, जिसका वेग निरन्तर एक समान नहीं रहता। रक्त का ठहर-ठहर कर प्रवाह होता है। एक बार फुहार वेग से निकलती है, फिर मन्द हो जाती है। फिर प्रवाह का वेग बढ़ता है। किन्तु कुछ समय में फिर मन्द हो जाता है। जितनी बड़ी धमनी कटती है उतना ही रक्त अधिक निकलता है। इस कारण धमनी का कटना अधिक भयङ्कर है। मुख्य धमनियों के कट जाने से कुछ ही मिनटों में इतना रक्त निकलता है कि रोगी की तुरन्त मृत्यु हो जाती है।

केशिकाओं से रक्त निरन्तर बहता है। धमनियों की अपेक्षा उसका वेग भी बहुत कम होता है। इस कारण क्षत-केशिकाओं से रक्त-प्रवाह नहीं होता। किन्तु वह समस्त क्षत से बूँद-बूँद करके स्रवता है। यदि शरीर पर कोई स्थान खुरच जाता है तो उस स्थान से भी रक्त की बूँदें निकलने लगती हैं। यह स्राव चिन्ताजनक नहीं होता। वह प्रायः स्वयं ही बन्द हो जाता है। यदि उस स्थान पर गौज़ और रूई रखकर पट्टी बाँध दी जाय तो रक्त-स्राव बन्द हो जायगा।

शिराओं में रक्त-भार केशिकाओं से भी कम होता है। शरीर की बड़ी शिराओं में, जैसे ग्रीवा की शिरा में, भार ऋण होता है। इस कारण इन शिराओं के क्षत के द्वारा बाहर की वायु का शिराओं के भीतर प्रवेश करने का भय रहता है। शिरा के कट जाने से रक्त का प्रवाह समान गति से होता रहता है। धमनी के प्रवाह को भाँति उसकी गति कभी मन्द और कभी तीव्र नहीं होती। साधारण शिरा के क्षत से उत्पन्न हुए रक्त-प्रवाह को केवल शिरा पर थोड़ा ही भार देने से रोका जा सकता है। गौज़ की एक मोटी कवलिका को शिरा के मार्ग पर, अथवा स्वयं क्षत पर रखकर पट्टी बाँध देनी चाहिए। रक्त का प्रवाह बन्द हो जायगा। किन्तु बड़ी शिराओं का रक्त-प्रवाह इस प्रकार नहीं रोका जा सकता। साधारणतया क्षतों में धमनी और शिरा दोनों से रक्त निकलता है, क्योंकि यह दोनों नलिकाएँ साथ रहती हैं।

धमनी से निकलनेवाला रक्त चमकता हुआ लाल होता है। शिरा से निकलनेवाला रक्त कुछ नीला होता है। उसमें अङ्गों से उत्पन्न हुए दूषित अवयव सम्मिलित रहते हैं।

रक्त-स्राव से आपत्ति—रक्त-स्राव से विशेषकर तीन प्रकार की आपत्ति उत्पन्न हो सकती है :—

१. रक्त की हानि।

२. क्षत के द्वारा जीवाणुओं का शरीर में प्रवेश करके रोगों का उत्पन्न करना।

३. स्तब्धता।

---

१. Capillaries.

(१) रक्त की हानि—शरीर से रक्त के निकलने से रोगी को मूर्च्छा होती है। अधिक रक्त-प्रवाह होने से मृत्यु तक हो सकती है। **इसलिए जब किसी क्षत से रक्त का प्रवाह हो तो सबसे पहिले रक्त को रोकने का उपाय करना चाहिए।** उसके पश्चात् क्षत का उपचार किया जाय।

(२) रक्त-प्रवाह किसी न किसी क्षत ही के द्वारा होता है, जिसमें न केवल धमनी और शिराएँ विक्षत होती हैं किन्तु वहाँ की मांसपेशी इत्यादि भी कट जाती हैं। इस प्रकार जो व्रण बनता है उसके द्वारा जीवाणुओं के शरीर में प्रवेश करने की आशङ्का रहती है। यह जीवाणु क्षत के द्वारा प्रवेश करके अनेकों रोग उत्पन्न कर सकते हैं। क्षतज विसर्प[1] इसी प्रकार उत्पन्न होता है। क्षत के भीतर जो पूय उत्पन्न हो जाती है उसका कारण भी पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश होता है।

इन जीवाणुओं से क्षतों की रक्षा करना बहुत आवश्यक है। इस कारण छोटे से छोटे व्रण को भी तुरन्त स्वच्छ करके उसका उपचार करना चाहिए।

(३) स्तब्धता[2]—नाड़ी-मण्डल की अत्यन्त खिन्नता का नाम, जिससे उसकी सारी शक्ति नष्टप्राय हो जाती है, स्तब्धता है। इस कारण शरीर की सारी शक्तियाँ और कर्म अत्यन्त मन्द हो जाते हैं और रक्त-भार भी कम हो जाता है। भारी चोट अथवा किसी ऐसे ही कारण से, जिससे असह्य पीड़ा होती है, स्तब्धता की दशा उत्पन्न हो जाती है। जिन आघातों में अङ्ग कुचल जाते हैं या खिंचकर कट जाते हैं, उनमें यह दशा अधिक तीव्र होती है। जल जाने, मेशीन में अंग के कुचल जाने या उदर के आघात इत्यादि में स्तब्धता शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती है। भय, शोच इत्यादि से भी यह दशा उत्पन्न होती है।

रक्त की हानि, शीत और श्रम इत्यादि दशाएँ स्तब्धता को और भी बढ़ा देती हैं।

स्तब्धता के लक्षण—रोगी का शरीर शिथिल हो जाता है। उसको बातचीत या कोई दूसरा कर्म करने की इच्छा नहीं होती। वह निश्चेष्ट और चुपचाप दिखाई देता है; उसे अत्यन्त क्लैब्यता प्रतीत होती है। शरीर का तापक्रम घट जाता है। नाड़ी तीव्र और दुर्बल हो जाती है। शरीर पर शीतल स्वेद आने लगता है। रोगी कुछ-कुछ अचेत हो जाता है, किन्तु पूर्णतया मूर्च्छित नहीं होता। श्वास भी धीमा चलने लगता है। स्तब्धता के बहुत तीव्र होने पर मृत्यु तक हो जाती है।

चिकित्सा—साधारण दशाओं मे केवल पूर्ण विश्राम से दशा सुधर जाती है। किसी उत्तेजक वस्तु, जैसे स्पिरिट अमोनिया ऐरोमेटिक इत्यादि की दस पन्द्रह बूँद एक घूँट जल में मिलाकर दे सकते हैं। किन्तु स्तब्धता के गाढ़ी होने पर अधिक उद्योग की आवश्यकता है। रोगी को गरम स्थान में रखकर उस पर कम्बल लपेट देना उचित है, जिससे उसका शरीर गरम हो जाय। उसको गरम दूध, चाय या काफ़ी पीने को देनी चाहिए।

यदि रोगी की दशा अधिक चिन्ताजनक है तो उसको शय्या पर इस प्रकार से

---

१. Erysipelas. २. Shock.

लिटाना चाहिए कि उसका शिर नीचा और शरीर का अधोभाग ऊँचा रहे, जिससे रोगी के मस्तिष्क में रक्त पहुँचता रहे। शय्या को नीचे की ओर से, जिधर रोगी के पाँव हैं, ऊँची कर देना चाहिए। रोगी के शरीर के तापक्रम को कम न होने देने का पूर्ण प्रयत्न करना उचित है। कम्बल इत्यादि के भीतर गरम पानी से भरी हुई रबर की बोतलें, और यदि रबर की बोतलें न हों तो साधारण बोतलें रखना उचित है। यदि उसको अधिक पीडा हो तो $\frac{1}{4}$ ग्रेन मरफ़िया का इंजेक्शन देना चाहिए।

रोगी के शारीरिक ताप की पूर्ण रक्षा करके उसके घाव को देखना चाहिए। तीव्र रक्त-प्रवाह तो पहले ही बन्द कर देना आवश्यक है। किन्तु व्रण का उपचार ऊपर कहे हुए कर्म के पश्चात् करना चाहिए। कभी-कभी कपाल के आघातों या उदर के क्षतों में तुरन्त ही शस्त्र-कर्म की आवश्यकता होती है। ऐशी दशा में चिकित्सक उचित समझे तो कुछ समय के पश्चात् कर्म करे, जिससे रोगी को स्तब्धता के प्रभाव से उबरने के लिए कुछ समय मिल जाय। किन्तु इस बात का निर्णय स्वयं चिकित्सक पर निर्भर करता है। यदि वह इससे कोई हानि समझता है तो तुरन्त ही कर्म कर डालना उचित है। रोगी को जितना कम हिलाया जाय उतना ही उत्तम है। ऐसी दशाओं में शस्त्र-कर्म के लिए क्लोरोफ़ार्म की अपेक्षा ईथर उत्तम है। रोगी के शरीर से रक्त की हानि हो जाने से उसके शरीर में तरल की कमी हो जाती है। इस लिए रोगी को मुख द्वारा उष्ण तरल वस्तुएँ देनी चाहिएँ। शस्त्र-कर्म के समय ऐसी दशा * शिरा के द्वारा लवण-विलयन शरीर में प्रविष्ट किया जाता है।

रक्त-प्रवाह की चिकित्सा (प्रारम्भिक उपचार[1])

बाह्य रक्त[2]-प्रवाह—रक्त-प्रवाह दो प्रकार का होता है, एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। बाह्य रक्त-स्राव वह है जो सामने दीख पड़े। हाथ, पाँव, कपाल के चर्म इत्यादि के क्षत हो जाने से जो रक्त-प्रवाह होता है वह स्पष्ट दीख पड़ता है। आन्तरिक रक्तस्राव वह है जो शस्त्रकर्म के द्वारा रक्तस्राव के स्थान को खोले बिना नहीं देखा जा सकता। उदर के आघात से प्लीहा के फट जाने से रक्त उदर-गुहा के भीतर एकत्र हो जाता है। यह आन्तरिक रक्त-प्रवाह कहलाता है। बाह्य रक्त-प्रवाह का दो प्रकार से प्रारम्भिक उपचार किया जाता है—

(१) अंगुलि-भार—जिस नलिका से रक्त-प्रवाह हो रहा है उसको अँगुलियों के द्वारा भली भाँति दबाया जा सकता है। दबाव डालने का स्थान ऐसा होना चाहिए कि वहाँ पर रक्त-नलिका भली भाँति दब सके। रक्त-नलिका को स्वयं क्षत पर अथवा

---

* यह सामान्य लवण-विलयन निम्न-लिखित वस्तुओं के मिलने से बनता है—

सोडियम क्लोराइड (Sodium Chloride) १२० ग्रेन

पोटाशियम् क्लोराइड (Potassium Chloride) ६ ग्रेन

केलशियम क्लोराइड (Calcium Chloride) ४ ग्रेन

शुद्ध जल पाइंट १ (दस छटाँक)

१. First aid. २ xternal hæmorrhage.

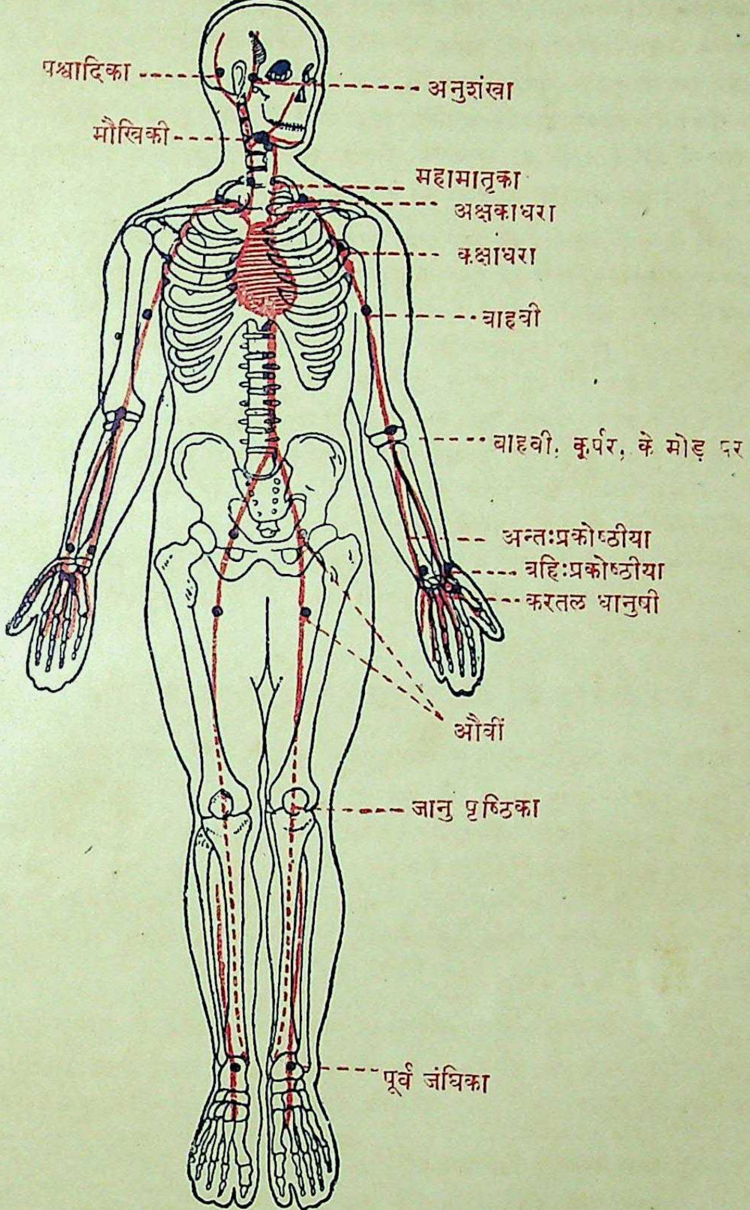

शरीर की मुख्य रक्त-नलिकाओं के भार-स्थानों को दिखाया गया है।

अङ्ग में किसी दूसरे स्थान पर, जहाँ वह किसी अस्थि के ऊपर स्थित हो, दबाना चाहिए जिससे अँगुली और अस्थि के बीच में आकर नलिका पूर्णतया दब जाय।

(२) यन्त्रण-टूर्निके द्वारा—यह एक रबर का बन्धन होता है जिसको अङ्ग के चारों ओर लपेटकर कस देते है। ऐसा करने से वह अङ्ग की नलिकाओं को दाब देता है जिससे रक्त का क्षत-स्थान तक पहुँचना बन्द हो जाता है।

उचित स्थान पर पर्याप्त भार डालना रक्त-प्रवाह को रोकने का मूल मन्त्र है।

अंगुलि-भार और रक्त-नलिकाओं के भारस्थान[1]

(१) अंगुलि-भार से रक्त-प्रवाह केवल कुछ समय तक रोका जा सकता है, जब तक कोई चिरस्थायी प्रबन्ध न किया जा सके। जहाँ टूर्निके लगाया जा सकता है वहाँ भी रक्त-प्रवाह को प्रथम-अंगुलि-भार से रोकना उचित है; टूर्निके लगाने में कुछ समय लगता है टूर्निके लगाने के पश्चात् अँगुली को हटा लेना चाहिए।

(२) जिन स्थानों में टूर्निके नहीं लगाया जा सकता, जैसे ग्रीवा, ऊरु तथा उदर के क्षत में, वहाँ केवल अंगुलि-भार से रक्त-प्रवाह रोका जाता है। आवश्यकता होने पर कई मनुष्य मिलकर इसका प्रबन्ध करते हैं। प्रथम मनुष्य के थक जाने के पश्चात् दूसरा अपनी अँगुली उस स्थान पर रखकर दबाता है। दूसरे के श्रमित हो जाने पर तीसरा उस कार्य को करता है। इस प्रकार अंगुलि-भार से रक्त-प्रवाह को उस समय तक रोके रखते हैं जब तक शस्त्र-चिकित्सक आकर शस्त्रकर्म द्वारा रक्त-प्रवाह को नहीं रोक देता।

यह अंगुलि-भार दो स्थानों में लगाया जा सकता है। (१) क्षत के ऊपर, जहाँ से रक्त निकल रहा है, अथवा (२) उस मुख्य धमनी पर जिसमें क्षत-स्थान को रक्त जा रहा है।

जब रक्त किसी धमनी से निकल रहा हो तो सदा दूसरी विधि का प्रयोग करना चाहिए। क्षत के भीतर जहाँ तक हो सके अँगुली न डालनी चाहिए। यदि शुद्ध गौज़ या रूई की कवलिका मिल सके तो उससे क्षत को दाबने में दोष नहीं है। किन्तु यदि रक्त किसी शिरा से निकल रहा है तो क्षत के ऊपर ही या क्षत के भीतर उस स्थान पर, जहाँ से रक्त निकल रहा है, अंगुलि-भार डालना चाहिए। जहाँ तक हो सके केवल शुद्ध रूई या गौज़ का उपयोग करना उचित है।

रक्त-नलिकाओं के भार-स्थान—प्रत्येक रक्त-नलिका अपने मार्ग में कहीं न कहीं किसी अस्थि पर होकर निकलती है, अथवा किसी अस्थि के समीप होकर जाती है। यदि ऐसे स्थान पर नलिका को दाबा जाय तो वह अस्थि और दाबनेवाली अँगुली के बीच में दब जायगी और उससे आगे के स्थानों को रक्त पहुँचना बन्द हो जायगा। यह स्थान, जिसको दबाने से रक्त का मार्ग बन्द हो जाता है, **भार-स्थान** कहलाते हैं।

---

1. Pressure points.

प्रारम्भोपचारक को बड़ी-बड़ी रक्त-नलिकाओं के मार्ग और उनके भार-स्थानों का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि ठीक स्थान पर अँगुली रखकर दाबी जायगी तो उसके नीचे धमनी का स्पन्दन प्रतीत होगा। इस प्रकार धमनी का पता लगाकर उसको इतना दबाना चाहिए कि रक्त का प्रवाह बन्द हो जाय।

शरीर की मुख्य धमनियाँ और उनके भार-स्थान

हृदय वक्ष में बाईं ओर स्थित है। धमनी महाहृदय के पीछे की ओर से निकलकर प्रथम कुछ ऊपर की ओर जाती है और तब नीचे मुड़कर अधोगामी बृहद् धमनी के रूप में, हृदय के पीछे होती हुई, नीचे की ओर चली जाती है। इस मुड़े हुए भाग से, जिसको तोरणी महाधमनी कहते हैं, तीन शाखाएँ निकलती हैं। दाहिनी ओर की शाखा **काण्डमूला** कहलाती है। बीच की शाखा **वाम-महामातृका** धमनी है जो ग्रीवा में बाईं ओर रहती है। ग्रीवा के मूल से आरम्भ होकर यह धमनी ऊपर की ओर जाती हुई प्रतीत की जा सकती है। बाईं और दाहिनी मातृका धमनी मस्तिष्क, कपाल, मुख इत्यादि को रक्त पहुँचाती हैं। तीसरी शाखा जो बाईं ओर रहती है, **वाम अक्षकाधरा धमनी** कहलाती है। यह सारे बाहु और वक्ष के ऊपरी भाग को रक्त पहुँचाती है।

दाहिनी ओर काण्डमूला धमनी दो शाखाओं में विभाजित हो जाती है, जो दाहिनी महामातृका और अक्षकाधरा धमनी कहलाती हैं और बाईं ओर की धमनियों की भाँति दाहिनी ओर के अङ्गों को रक्त देती हैं।

शिर और ग्रीवा की धमनी और भार-स्थान

(१) महामातृका[१] धमनी—यह धमनी ग्रीवा में श्वास-नलिका के दोनों ओर एक मांस-पेशी के नीचे होती हुई मूल से ऊपर की ओर अधोहन्वस्थि के कोण तक जाती है। यदि श्वास-नलिका के एक ओर अँगुलियाँ रखकर बाहर की ओर को दबाई जावें तो **उर:-कर्णमूलिका**[२] पेशी का अगला किनारा प्रतीत होता है, जो कर्ण के पीछे से नीचे की ओर आकर वक्षास्थि और अक्षक पर लग जाता है। इस मांसपेशी के अगले किनारे और श्वास-प्रणाली के बीच में अँगुलियों को बाहर की ओर को दबाने से महामातृका धमनी मिल जायगी। इसके पीछे की ओर पृष्ठवंश रहता है, अतएव इस स्थान पर दाबने से यह धमनी दब जायगी। किन्तु दोनों ओर की धमनियाँ एक साथ न दबानी चाहिएँ। इससे मस्तिष्क में रक्त जाना बन्द हो जायगा और

चित्र नं० ३६

तुरन्त मूर्छा उत्पन्न हो जायगी।

---

१. Common Carotid. २. Sterno-cleido-mastoideus.

धमनी को दबाते समय एक हाथ के अँगूठे को श्वास-प्रणाली और मांसपेशी के किनारे के बीच में रखकर धीरे-धीरे, किन्तु निरन्तर पीछे की ओर, दाबना चाहिए। अँगूठा सदा क्षत, जिससे रक्त-प्रवाह हो रहा है, और हृदय के बीच में रहना चाहिए। इस प्रकार दाबने से रक्त बन्द हो जायगा। यदि बन्द न हो तो इसी प्रकार क्षत के ऊपर भी दबाव डालना चाहिए।

यह धमनी अधोहन्वस्थि के कोण के नीचे दो शाखाओं में विभाजित हो जाती है। भीतरी शाखा **अन्तर्मातृका** कहलाती है और कपाल के तल में स्थित एक छिद्र द्वारा मस्तिष्क के भीतर पहुँचकर सारे मस्तिष्क को रक्त पहुँचाती है। बाहरी शाखा, **बहिर्मातृका**, अनेकों भागों में विभाजित हो जाती है, जिनमें से तीन शाखाएँ मुख के प्रान्त में आती है। अन्य सब, जिह्वा, कण्ठ इत्यादि को चली जाती हैं। इन तीनों के नाम **बहिर्हनिव्या, अनुशङ्खा-उत्ताना और कपाल-मूलनी** हैं। बहिर्हनिव्या धमनी सारे मुख को रक्त पहुँचाती है। अनुशङ्खा-उत्ताना और कपाल-मूलनी से मुख के ऊपरी भाग और कपाल के चर्म तथा मांस-पेशियों में रक्त पहुँचता है।

(२) **बहिर्हनिव्या धमनी**[1]—ये दो धमनियाँ होती हैं, एक दाहिनी ओर और दूसरी बाईं ओर। इस धमनी को दबाने से नेत्र के नीचे स्थित क्षत से रक्त का प्रवाह बन्द हो जाता है। यह धमनी अधोहन्वस्थि के कोण से लगभग १$\frac{1}{2}$ इंच की दूरी पर आगे की ओर—नीचे के किनारे पर—दाबने से मिल जायगी। इस स्थान पर यह धमनी अधोहन्वस्थि पर होती हुई मुख के प्रान्त में आती है। यहाँ एक छोटा सा गढ़ा होता है जो अँगुली को दाबने से प्रतीत किया जा सकता है। इस स्थान पर अँगुली से भार डालने से धमनी दब जायगी और रक्त का प्रवाह बन्द हो जायगा।

(३) **अनुशङ्खा-उत्ताना**[2]—इस धमनी को दाबने से उसी ओर के आधे माथे, कनपटी और चर्म से रक्त-प्रवाह बन्द हो जाता है। यह नलिका कर्ण के ठीक सामने होती हुई ऊपर को जाती है और कर्ण के ऊपरी किनारे पर आगे की अँगुली रखने से उसका स्पन्दन प्रतीत होता है। इसी स्थान पर नलिका को दाबने से रक्त का प्रवाह बन्द हो जाता है।

(४) **कपाल-मूलनी**[3]—यह धमनी दूसरी धमनियों की अपेक्षा गहरी है और कठिनता से मिलती है। इसके दाबने से शिर-चर्म के पीछे के भाग से रक्त का प्रवाह रुक जाता है। इसको दाबने के लिए एक ऐसा स्थान चुनना चाहिए जो कर्ण के निम्न भाग से तीन या चार अँगुल पीछे की ओर ग्रीवा और कपाल की सन्धि की रेखा में स्थित हो। यदि इस स्थान को दाबने से रक्त न रुके तो सीधे व्रण पर भार डालना उचित है।

उच्च शाखा की धमनियाँ और उनके भार-स्थान

(१) **अक्षकाधरा धमनी**[4]—जैसा नाम से प्रकट है, यह धमनी अक्षक के नीचे और प्रथम पर्शुका के ऊपर होती हुई बाहर की ओर आती है, जहाँ से वह कई शाखाएँ देती हुई कक्ष में चली जाती है। इसकी शाखाएँ स्कन्ध के अग्रभाग को जाती हैं। स्वयं वह कक्ष में पहुँचकर **कक्षाधरा धमनी** कहलाती है। यही धमनी

१. External Maxillary. २. Superficial Temporal. ३. Occipital. ४. Subclavian.

आगे बाहु में चली जाती है। कुहनी के पास उसकी दो शाखाएँ हो जाती हैं जो अग्रबाहु में एक बाहर और एक भीतर की ओर मणिबन्ध तक जाती हैं। अतएव इस धमनी को दाबने से स्कन्ध, कक्ष, बाहु और अग्रबाहु का रक्त-प्रवाह रुक सकता है। किन्तु उसको केवल उन्हीं क्षतों के लिए दाबना चाहिए जो इतने ऊँचे हों कि उनका रक्तप्रवाह कक्ष बाहु की धमनी को दाबने से न रुक सके।

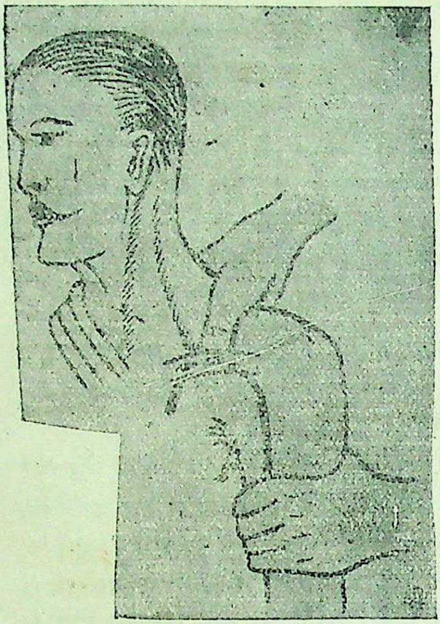

चित्र नं० ३७ अक्षकाधरा धमनी

इस धमनी को दाबने के लिए रोगी को बिठाकर उपचारक को उसके पीछे खड़ा होना चाहिए और पीछे से हाथ को इस प्रकार कन्धे पर रखना चाहिए कि हाथ का अँगूठा अक्षक के पीछे के गढ़े में रहे। अँगूठा अक्षक के ऊपर के किनारे पर उस स्थान पर रहना चाहिए जहाँ उरःकर्णमूलिका पेशी का, जो कर्ण के पीछे नीचे की ओर आकर अक्षक में लगता है, बाहरी किनारा रहता है। अँगूठा कुछ भीतर की ओर को रहना चाहिए। इस प्रकार अँगूठा रखकर अक्षक के नीचे और भीतर की ओर दबाव देना चाहिए, जिससे दबाव पहली पर्शुका पर पहुँचे। पर्याप्त शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा। स्थूल शरीरों में एक अँगूठे के ऊपर दूसरे हाथ का अँगूठा भी रख लेना चाहिए।

दाहिनी ओर के लिए बायें हाथ का अँगूठा और बाईं ओर के लिए दाहिने हाथ के अँगूठे को प्रयोग करना उचित है।

(२) कक्षाधरा[1] धमनी—अक्षकाधरा धमनी कक्ष में पहुँचकर कक्षाधरा कह-

चित्र नं० ३८ कक्षाधरा धमनी

1. Axillary.

लाती है। इसको दाबने के लिए रोगी को बिठाकर उपचारक को उसके पीछे खड़ा होना चाहिए और एक हाथ से उसकी कलाई पकड़कर, ऊँची करके, दूसरे हाथ की अँगुलियों को कक्ष में डालकर प्रगण्डास्थि के शिर की ओर कक्ष के बीच में दबाना चाहिए।

(३) बाहवी[1] धमनी—कक्षाधरा बाहु में पहुँचकर बाहवी धमनी कहलाती है। बाहु के सामने की ओर स्थित द्विशिरस्का पेशी के भीतरी किनारे के समीप होती हुई यह धमनी कूर्पर पर जाकर दो भागों में विभाजित हो जाती है, जो अग्रबाहु में होती हुई मणिबन्ध तक चली जाती हैं। इसके दबाने से बाहु तथा अग्रबाहु के सब स्थानों का रक्त-प्रवाह रुक जाता है।

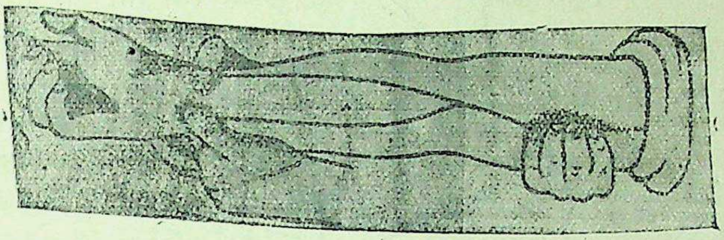

चित्र नं० ३९ बाहवी, बहिःप्रकोष्ठीया और अन्तःप्रकोष्ठीया धमनी

इसको दबाने के लिए रोगी को बिठाकर उसके पीछे खड़े रहो और एक हाथ से उसकी बाहु को उठाकर दूसरे हाथ की अँगुलियों को बाहु के नीचे की ओर से भीतर की ओर ले जाओ। वहाँ प्रतीत करने से द्विशिरस्का मांस-पेशी का भीतरी किनारा प्रतीत होगा। इस स्थान पर पीछे और बाहर की ओर प्रगण्डास्थि पर अँगुलियों से भार दो। ऐसा करने से अँगुलियों और प्रगण्डास्थि के बीच में यह धमनी दब जायगी।

(४) बहिःप्रकोष्ठीया[2] और अन्तःप्रकोष्ठीया[3] धमनियाँ—ये दोनों धमनियाँ अग्रबाहु के बाहरी और भीतरी किनारों पर होती हुई मणिबन्ध तक पहुँच जाती हैं। वहाँ पर ये धमनियाँ कई शाखाएँ देती हैं और हथेली में दो तोरण बनाती हैं, जिनसे अनेक शाखाएँ निकलकर अँगुली को तथा अन्य पेशियों को रक्त पहुँचाती हैं।

ये दोनों धमनियाँ मणिबन्ध के पास प्रकोष्ठास्थियों पर होकर निकलती हैं। अतएव वहाँ पर, अँगुलियों से दाबने से, हथेली तथा मणिबन्ध का रक्त-प्रवाह बन्द हो सकता है।

निम्न शाखा की धमनियाँ और भार-स्थान

(१) औवीं धमनी—हृदय से निकलकर बृहद्-धमनी अनेकों शाखाएँ देती हुई वक्ष और उदर में होकर कटि प्रान्त में पहुँचकर दो भागों में विभाजित हो जाती है। इनमें से प्रत्येक शाखा मांस-पेशियों इत्यादि को रक्त देती हुई ऊरु प्रान्त में आ जाती हैं, जहाँ वह औवीं धमनी कहलाती हैं। जानुसन्धि पर पहुँचकर प्रत्येक धमनी फिर दो भागों में विभाजित होती है जो जंघा प्रान्त में बाहर और भीतर की ओर चलती हुई गुल्फ-सन्धि पर पहुँचती हैं, जहाँ से वह पाद के प्रान्त में चली जाती हैं। यह धमनी ऊरु की घाई में

---

१. Brachial. २. Radial. ३. Ulnar.

अँगुलियों द्वारा प्रतीत की जा सकती है। यदि अँगुलियों को एक ऐसे स्थान पर रखें जो ऊरु के भीतर की ओर से उसकी $\frac{1}{3}$ चौड़ाई के बराबर की दूरी पर स्थित हो तो अँगुलियों के नीचे धमनी का स्पन्दन प्रतीत होगा। दूसरी प्रकार से भी इस स्थान को मालूम किया जा सकता है। यदि भगसन्धानिका पर शरीर की मध्य-रेखा और नितंबास्थि के पुरार्ध्वकूट को एक कल्पित रेखा द्वारा जोड़ दें, तो धमनी इस रेखा के मध्य बिन्दु के नीचे मिलेगी।

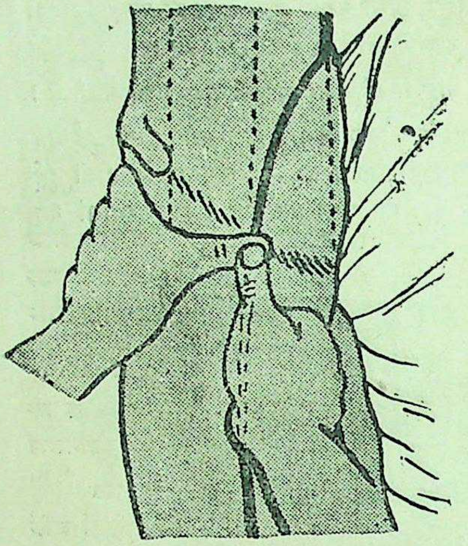

चित्र नं० ४० औवीं धमनी

इसी स्थान पर धमनी को दोनों हाथों के अँगूठों से शक्तिपूर्वक दाबना चाहिए जिससे धमनी अँगुली और अस्थि के बीच में दब जाय।

यदि इस स्थान से उर्वस्थि के अन्तरार्बुद तक एक रेखा खींची जाय तो वह ऊरु प्रान्त में धमनी का मार्ग दिखायेगी। किन्तु इस रेखा के नीचे चतुर्थ भाग और ऊपर के $\frac{3}{4}$ भाग के मिलने के स्थान पर यह धमनी पीछे की ओर मुड़ जाती है और जानु-सन्धि के पृष्ठ पर स्थित होती है। इस धमनी को ऊरु प्रान्त में दबाना बहुत कठिन होता है। यहाँ की दृढ़ और स्थूल माँस-पेशियाँ धमनी को ढके रहती हैं। इस कारण अँगुलि-भार का प्रयोग न करके टूर्निके द्वारा रक्त-प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२) जानु-सन्धि में पहुँचकर यह धमनी पीछे की ओर स्थित होती है, जहाँ वह दो भागों में विभाजित हो जाती है। इनको **पुरोजंघिका**[1] और **पश्चिमजंघिका**[2] धमनियाँ कहते हैं। जंघा में यह दोनों धमनियाँ जंघास्थियों के बीच में रहती हैं। इस कारण अँगुलियों द्वारा इनको नहीं दाबा जा सकता और न यह प्रतीत ही होती हैं। गुल्फ-सन्धि पर पहुँचकर यह धमनियाँ ऊपर आ जाती हैं। प्रथम धमनी सन्धि के बिलकुल आगे की ओर मध्य में स्पन्दन करती हुई प्रतीत होती है जहाँ उसको **पादपृष्ठिका**[3] धमनी कहते हैं। दूसरी धमनी बहिर्गुल्फ के पीछे रहती है जहाँ अँगुलियों को दबाकर उसको प्रतीत किया जा सकता है। इन स्थानों को दबाने से ये धमनियाँ दब जाती हैं। उनके द्वारा पाँव के किसी भी स्थान का रक्त-प्रवाह रोका जा सकता है। प्रथम धमनी से पाँव के ऊपरी भाग को रक्त मिलता है और दूसरी धमनी पाँव के नीचे के भाग को रक्त देती है, यद्यपि प्रथम धमनी की भी कुछ शाखाएँ वहाँ पहुँच जाती हैं।

जंघा प्रान्त में टूर्निके के प्रयोग करने से कोई लाभ नहीं। दोनों धमनियाँ अस्थियों के बीच में रहती हैं। जंघा में रक्त-प्रवाह को रोकने के लिए ऊरु प्रान्त में टूर्निके बाँधना चाहिए।

---

१. Anterior Tibial A. २. Post Tibials A. ३. Darsali Pedis

२—टूर्निके–यन्त्रण-रज्जु[1]

टूर्निके प्रारम्भिक उपचार और शस्त्र-कर्म दोनों में प्रयुक्त किये जाते हैं। बाज़ार में कई प्रकार के टूर्निके बिकते हैं। प्रारम्भिक उपचार के समय यदि रबर का टूर्निके न हो तो एक चौड़ी पट्टी और लकड़ी के टुकड़े से उसको बना लेना चाहिए। प्रारम्भिक उपचार में टूर्निके का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है।

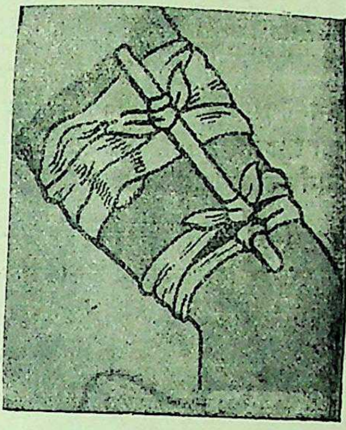

चित्र नं० ४१ औौर्वी धमनी पर टूर्निके का प्रयोग

(१) एक बड़ी कवलिका, साधारण लिपटी हुई पट्टी, वस्त्र से लिपटा हुआ लकड़ी का टुकड़ा, रुमाल वा किसी दूसरे वस्त्र की बनी हुई कवलिका इत्यादि को क्षत और हृदय के बीच में क्षत के पास धमनी पर रख दिया जाता है।

(२) इस कवलिका के ऊपर होता हुआ एक बन्धन अङ्ग के चारों ओर लपेट कर उसमें केवल एक गाँठ लगाई जाती है। उस गाँठ की स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि यदि अङ्ग पर कोई फलक बाँधना हो तो उसमें बाधा न पड़े।

(३) बन्धन की पहली गाँठ पर एक लकड़ी का टुकड़ा, जो लगभग ८ इंच लम्बा और $\frac{1}{2}$ इंच चौड़ा होना चाहिए, रखा जाता है और उस पर बन्धन की दूसरी गाँठ लगा दी जाती है। इसके ऊपर एक ओर गाँठ लगाकर इसको स्थित कर देते हैं। इस प्रकार यह टुकड़ा बन्धन की पहली ओर दूसरी गाँठ के बीच में आ जाता है। इसके पश्चात् इस लकड़ी के टुकड़े को घुमाया जाता है जिससे बन्धन कड़ा हो जाता है; यहाँ तक कि रक्त का प्रवाह बन्द हो जाता है। इस समय यह ध्यान रखना चाहिए कि कवलिका अपने स्थान से हटने न पावे। इस कवलिका से उस स्थान पर, जहाँ वह रखी जाती है, अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक भार पड़ता है।

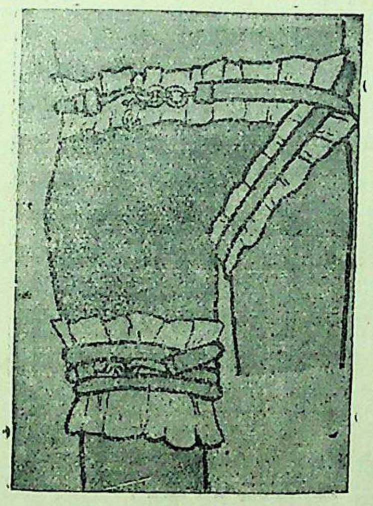

चित्र नं० ४२ औौर्वी धमनी पर रबर के टूर्निके का प्रयोग

(४) लकड़ी के टुकड़े के दूसरे सिरे को एक पट्टी से अङ्ग पर बाँध दिया जाता है जिससे पहली ग्रन्थि खुलने न पावे।

---

1. Tournique.

जहाँ और कोई वस्तु नहीं मिल सकती है वहाँ आवश्यकता के समय रूमाल, धोती या रस्सी का टुकड़ा, जो कुछ भी मिल जाता है, टूर्निके स्थान पर प्रत्युक्त किया जा सकता है। लकड़ी के टुकड़े के स्थान में पेन्सिल, क़लम, वृक्ष की टहनियों के टुकड़े इत्यादि का उपयोग किया जा सकता है।

सारे शरीर में केवल दो ऐसे स्थान हैं जहाँ टूर्निके का प्रयोग किया जा सकता है।

(१) और्वी धमनी पर—सारे ऊरु प्रान्त और जंघा का रक्त-प्रवाह और्वी धमनी पर टूर्निके को लगाने से रोका जा सकता है। किन्तु जो प्रवाह ऊरु की घाई से हो रहा है उसको रोकने के लिए टूर्निके पर्याप्त नहीं हैं। टूर्निके लगाने के लिए धमनी का मार्ग स्मरण रखना चाहिए।

(२) बाहवी धमनी पर—इस धमनी पर टूर्निके लगाने से बाहु और अग्रबाहु का रक्त-प्रवाह रुक जाता है। कवलिका को क्षत से ऊपर की ओर धमनी के मार्ग पर लगाना चाहिए।

अग्रबाहु या जंघा पर टूर्निके लगाना उचित नहीं। वहाँ धमनियाँ दो अस्थियों के बीच में होने से दब नहीं सकतीं।

रबर का टूर्निके—प्रारम्भिक उपचार के जितने बक्स आते हैं उनमें रबर का टूर्निके रहता है। यह रबर की मोटी नलिका का दो गज लम्बा एक टुकड़ा होता है जिसके सिरों पर चेन और हुक लगे रहते हैं। यह टूर्निके साधारण पट्टी या वस्त्र के टूर्निके से उत्तम होता है। इसमें कवलिका की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसका लगाना भी अधिक सहज होता है और वह थोड़े ही स्थान में रखा जा सकता है।

टूर्निके लगाने से पूर्व अङ्ग के ऊपर वस्त्र का एक टुकड़ा लपेट देना चाहिए। सीधा चर्म के ऊपर टूर्निके लगाना उचित नहीं। गौज़ या लिंट का टुकड़ा लगाने के पश्चात् उस पर रबर-टूर्निके को खींचकर लपेटना चाहिए। लगाते समय टूर्निके को पूर्णतया खींच लेना आवश्यक है। इस प्रकार उसको वस्त्राच्छादित अङ्ग पर लगाने के पश्चात् उसके एक सिरे की चेन को दूसरे सिरे के हुक में अटका देना चाहिए, जिससे टूर्निके खिंची हुई दशा में रहे। जितना टूर्निके को अधिक खींचकर बाँधा जायगा उतनी ही रक्त-प्रवाह को रोकने में अधिक सफलता होगी। किन्तु उसको केवल इतना ही खींचकर बाँधना चाहिए, जिससे रक्त रुक जाय।

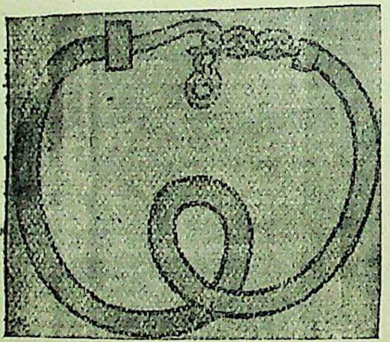

चित्र नं० ४३ रबर का टूर्निके

कक्ष का क्षत—कक्ष के क्षत में टूर्निके बाँधना कठिन है। इस कारण उसमें तिकोनी या गोल कवलिका को रखकर उस पर से बन्धन बाँध दिया जाता है। सारी क्रिया निम्न-लिखित प्रकार से की जाती है। इसके लिए दो मनुष्य आवश्यक हैं।

(१) एक मनुष्य अक्षकाधरा धमनी को उस समय तक दावे रहे जब तक दूसरा मनुष्य कक्ष में कवलिका और बन्धन न बाँध चुके।

(२) किसी वस्त्र के टुकड़े या रुमाल इत्यादि के भीतर पत्थर का छोटा सा टुकड़ा या कोई दूसरी कठिन वस्तु रखकर एक त्रिकोणाकार या गोल कठिन कवलिका बना ली जाती है। एक मनुष्य धमनी को दाबे रहता है और दूसरा इस कवलिका को कक्ष के भीतर दाब रखता है, जिससे कक्षीय धमनी दब जाती है।

चित्र नं० ४४

(३) इस कवलिका के ऊपर होती हुई एक पट्टी लगाई जाती है जो स्कन्ध के ऊपर बाँध दी जाती है। तत्पश्चात् उसके दोनों सिरे फिरक वलिका के ऊपर लाकर बाँधे जाते हैं। इस प्रकार इस बन्धन में दो ग्रन्थियाँ लगती हैं; एक ग्रन्थि स्कन्ध के ऊपर और दूसरी कक्ष में कवलिका के ऊपर।।

(४) एक दूसरी पट्टी को, जो पहली पट्टी से अधिक लम्बी होती है, इस प्रकार कवलिका पर लपेटा जाता है कि लपेटने के पश्चात् पट्टी के दोनों शेष भागों की लम्बाई बराबर रहती है। यह भाग वक्ष के आगे और पीछे की ओर होकर दूसरे कक्ष में ले जाकर बाँध दिये जाते हैं।

(५) जिस ओर क्षत हुआ है उस ओर की बाहु को एक वस्त्र के झोले में रख देना चाहिए। झोला, जिसको 'स्लिङ्ग' कहते हैं, इस प्रकार का होना चाहिए कि वह पूर्ण अग्रबाहु और आधी बाहु को ढक ले। यह झोला गले से लटकता रहता है, जहाँ पर उसके दोनों सिरों को बाँध दिया जाता है। इस प्रकार बाहु का सारा बोझ गले पर रहता है और बाहु को पूर्ण विश्राम मिल जाता है।

रक्त-प्रवाह को रोकने के साधारण नियम

रक्त-प्रवाह के सम्बन्ध में दो नियम सदा स्मरण रखने चाहिएँ—

(१) रक्त-प्रवाह को तुरन्त ही रोकना नितान्त आवश्यक है। यदि प्रवाह तीव्र या भयानक हो तो शस्त्र-चिकित्सक को तुरन्त ही बुलाना चाहिए। किन्तु उसके आने तक रोगी को छोड़ देना उचित नहीं। ऊपर कही हुई विधियों द्वारा रक्त को बन्द करने का उद्योग करना चाहिए।

(२) बाह्य रक्त-प्रवाह को उचित स्थान पर दबाव डालने से रोका जा सकता है। रक्त को रोकने में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(अ) सामान्य रक्त-प्रवाह

(१) यदि क्षत बाहु या जंघा पर है तो इन अङ्गों को ऊपर की ओर उठा देना चाहिए। इससे कदाचित् रक्त-प्रवाह रुक जायगा। यदि उससे न रुके तो क्षत के ऊपर

शुद्ध गौज़ और रूई की कवलिका को रखकर दाबना चाहिए। इसी समय में व्रणोपचार का आयोजन भी करना आवश्यक है।

(२) व्रण या क्षत को पूर्णतया स्पष्ट कर देना चाहिए। यदि रोगी वस्त्र पहने हुए हो तो उनको उतार या काटकर निकाल दिया जाय। यदि व्रण के भीतर कुछ वस्तु चली गई हो तो हाथों को शुद्ध करके वस्तु को निकाल देना उचित है। किन्तु यदि क्षत गन्दे स्थान में लगा है, जहाँ अधिक शुद्धता की आशा नहीं की जा सकती, तो व्रण को न छेड़ना चाहिए। उनको केवल टिंक्चर आयोडीन से पोत देना पर्याप्त है। रोगी को वहाँ से स्वच्छ स्थान में ले जाकर क्षत को शुद्ध करने और उसकी देख-भाल करने का आयोजन करना चाहिए।

(३) क्षत के ऊपर शुद्ध गौज़ और रुई की कवलिका रखकर उस पर पट्टी बाँध दी जाय।

(४) जिस अङ्ग में क्षत लगा है उसको विश्राम देना उचित है। साधारण रक्त-प्रवाह इन उपायों से रुक जायगा।

(क) तीव्र रक्त-प्रवाह

(१) अंगुलि-भार से रक्त-प्रवाह को तुरन्त रोकने का उद्योग करो। सबसे पास के रक्त-भार-स्थान पर, अथवा यदि यह न हो सके तो स्वयं घाव पर अँगुली से पर्याप्त भार देकर, रक्त-प्रवाह को रोको। जितना शीघ्र हो सके, रक्त-प्रवाह को रोकना चाहिए। जब तक टूर्निके आवे उस समय तक अँगुलियों के द्वारा प्रवाह को रोके रहो। यदि क्षत ऐसे स्थान पर है जहाँ टूर्निके नहीं लग सकता तो उस समय तक अंगुलि-भार लगाये रखें।

(२) जिस भाग में टूर्निके लग सकता है वहाँ उसको अवश्य प्रयोग करना चाहिए। अंगुलि-भार बहुत समय तक लगाये रखना सुगम नहीं है। टूर्निके को इच्छित समय तक लगाये रखना सहज है।

टूर्निके को लगाने पर अंगुलि-भार को कम करके या हटाकर देखो कि रक्त-प्रवाह बन्द हुआ या नहीं। यदि न हुआ हो तो अंगुलि-भार फिर लगाओ और टूर्निके को कसो। इस प्रकार जब टूर्निके को कसने से रक्त-प्रवाह बन्द हो जावे तो अँगुलियों को हटा दो। टूर्निके को इतना खींचना चाहिए कि उससे रक्त का प्रवाह बन्द हो जाय। किन्तु इससे अधिक खींचना उचित नहीं।

(३) रक्त-प्रवाह को रोकने के पश्चात् व्रण या क्षत का उपचार करना चाहिए।

(४) रक्त-प्रवाह को रोकने पर व्रणोपचार के पश्चात् अंग को पूर्ण विश्राम देना आवश्यक है। यदि हो सके तो उसको ऊपर की ओर उठाकर रखो।

(५) यदि स्तब्धता के लक्षण उपस्थित हों तो उसका पूर्व कथनानुसार उपचार करो। साधारणतया उत्तेजक वस्तु, जैसे ब्रांडी इत्यादि, की एक मात्रा देनी चाहिए। किन्तु इस उत्तेजक वस्तु को देने से पूर्व यह देख लो कि रक्त-प्रवाह बन्द हो गया या नहीं। यदि रक्त-प्रवाह बन्द नहीं हुआ है तो जब तक रोगी की विशेष मूर्च्छा की दशा न हो तब तक उत्तेजक वस्तुएँ न देनी चाहिएँ। उससे रक्त-प्रवाह और भी बढ़ जायगा। रोगी

को बिस्तरों पर लिटाकर पाँवों की ओर से शय्या ऊँची कर दो जिससे शिर नीचा हो जाय। शरीर के ताप को बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। रोगी को एकान्त स्थान में रखो।

(६) टूर्निके को लगाकर छोड़ न दो। आध घण्टे के पश्चात् उसको ढीला करके देखो कि रक्त-प्रवाह रुका या नहीं। यदि टूर्निके ढीला करने से रक्त का प्रवाह नहीं होता तो टूर्निके को कसने की कोई आवश्यकता नहीं है; उसे ढीला ही रहने दो। पुराने स्थान से उसको तनिक हटा दो। किन्तु यदि रक्त निकलने लगे तो उसको फिर कसकर बाँधो।

आन्तरिक रक्त-प्रवाह

बाह्य रक्त-प्रवाँह की अपेक्षा आन्तरिक रक्त-प्रवाह अधिक भयङ्कर है। इसमें उस स्थान का पता लगाना, जहाँ से रक्त-प्रवाह हो रहा है, कठिन है। और न उस स्थान पर अंगुलि-भार या टूर्निके का प्रयोग ही किया जा सकता है। कभी-कभी आन्तरिक रक्त-प्रवाह में रक्त शरीर से बाहर निकलकर बहने लगता है। नासिका से प्रवाह होने पर रक्त नासिका-रन्ध्रों द्वारा बाहर आ जाता है; फुस्फुस में रक्त-प्रवाह होने पर खाँसी के साथ रक्त मुँह द्वारा बाहर निकलता है। किन्तु उदर के अङ्गों या कपाल में रक्त-प्रवाह होने पर प्रायः रक्त बाहर नहीं आता।

नासिका से रक्त-प्रवाह—नाक से रक्त बहने लगता है। यदि रोगी मूर्छित है तो सम्भव है कि रक्त गले में होकर आमाशय में चला जावे और फिर वमन के साथ निकले।

चिकित्सा—रोगी को बिठा दो, किन्तु उसका शिर पीछे की ओर को रहे; आगे को न झुके। यदि वस्त्र इत्यादि तङ्ग हों तो ढीले कर दो। एक वस्त्र को बरफ के जल में भिगोकर नाक के मूल पर लगाओ। इससे भी उत्तम यह है कि नाक का नीचे का भाग दो अँगुलियों के बीच पकड़कर ज़ोर से दाब दो, और उसको कम से कम पन्द्रह मिनट तक दाबे रहो। यदि इस प्रकार से रक्त-प्रवाह बन्द न हो तो रोगी की शस्त्र-चिकित्सा करनी चाहिए जिसका आगे चलकर वर्णन किया जायगा।

फुस्फुस से रक्त-प्रवाह—तीव्र आघात से अथवा रोग में फुस्फुस से रक्त-प्रवाह होने लगता है। खाँसते समय थूक के साथ रक्त निकलता है। कभी-कभी रक्त बिना खाँसी ही के निकलता है। ऐसी दशा में प्रायः फुस्फुस के रोग-ग्रस्त होने के कारण रक्त-प्रवाह होता है।

चिकित्सा—रोगी को शय्या पर एकाग्र स्थान में लिटा दो। किन्तु उसको इस प्रकार लिटाओ कि उसका शिर और वक्ष ऊँचा रहे। उसको किसी प्रकार की उद्विग्नता न होने पावे। वस्त्रों को ढीला कर दो और वायु का मार्ग पूर्णतया खोल दो। यदि यह मालूम हो कि किधर रक्त आ रहा है तो रोगी को उस ओर की करवट से लिटा दो।

ऐसी दशा में उत्तेजक वस्तु नहीं देनी चाहिए। बर्फ़ के छोटे-छोटे टुकड़े चूसने को दो।

शुद्ध गौज़ और रूई की कवलिका को रखकर दाबना चाहिए। इसी समय में व्रणोपचार का आयोजन भी करना आवश्यक है।

(२) व्रण या क्षत को पूर्णतया स्पष्ट कर देना चाहिए। यदि रोगी वस्त्र पहने हुए हो तो उनको उतार या काटकर निकाल दिया जाय। यदि व्रण के भीतर कुछ वस्तु चली गई हो तो हाथों को शुद्ध करके वस्तु को निकाल देना उचित है। किन्तु यदि क्षत गन्दे स्थान में लगा है, जहाँ अधिक शुद्धता की आशा नहीं की जा सकती, तो व्रण को न छेड़ना चाहिए। उनको केवल टिंक्चर आयोडीन से पोत देना पर्याप्त है। रोगी को वहाँ से स्वच्छ स्थान में ले जाकर क्षत को शुद्ध करने और उसकी देख-भाल करने का आयोजन करना चाहिए।

(३) क्षत के ऊपर शुद्ध गौज़ और रुई की कवलिका रखकर उस पर पट्टी बाँध दी जाय।

(४) जिस अङ्ग में क्षत लगा है उसको विश्राम देना उचित है। साधारण रक्त-प्रवाह इन उपायों से रुक जायगा।

(क) तीव्र रक्त-प्रवाह

(१) **अंगुलि-भार से रक्त-प्रवाह को तुरन्त रोकने का उद्योग करो।** सबसे पास के रक्त-भार-स्थान पर, अथवा यदि यह न हो सके तो स्वयं घाव पर अँगुली से पर्याप्त भार देकर, रक्त-प्रवाह को रोको। जितना शीघ्र हो सके, रक्त-प्रवाह को रोकना चाहिए। जब तक टूर्निके आवे उस समय तक अँगुलियों के द्वारा प्रवाह को रोके रहो। यदि क्षत ऐसे स्थान पर है जहाँ टूर्निके नहीं लग सकता तो उस समय तक अंगुलि-भार लगाये रखें।

(२) जिस भाग में टूर्निके लग सकता है वहाँ उसको अवश्य प्रयोग करना चाहिए। अंगुलि-भार बहुत समय तक लगाये रखना सुगम नहीं है। टूर्निके को इच्छित समय तक लगाये रखना सहज है।

टूर्निके को लगाने पर अंगुलि-भार को कम करके या हटाकर देखो कि रक्त-प्रवाह बन्द हुआ या नहीं। यदि न हुआ हो तो अंगुलि-भार फिर लगाओ और टूर्निके को कसो। इस प्रकार जब टूर्निके को कसने से रक्त-प्रवाह बन्द हो जावे तो अँगुलियों को हटा दो। टूर्निके को इतना खींचना चाहिए कि उससे रक्त का प्रवाह बन्द हो जाय। किन्तु इससे अधिक खींचना उचित नहीं।

(३) रक्त-प्रवाह को रोकने के पश्चात् व्रण या क्षत का उपचार करना चाहिए।

(४) रक्त-प्रवाह को रोकने पर व्रणोपचार के पश्चात् अंग को पूर्ण विश्राम देना आवश्यक है। यदि हो सके तो उसको ऊपर की ओर उठाकर रखो।

(५) यदि स्तब्धता के लक्षण उपस्थित हों तो उसका पूर्व कथनानुसार उपचार करो। साधारणतया उत्तेजक वस्तु, जैसे ब्रांडी इत्यादि, की एक मात्रा देनी चाहिए। किन्तु इस उत्तेजक वस्तु को देने से पूर्व यह देख लो कि रक्त-प्रवाह बन्द हो गया या नहीं। यदि रक्त-प्रवाह बन्द नहीं हुआ है तो जब तक रोगी की विशेष मूर्च्छा की दशा न हो तब तक उत्तेजक वस्तुएँ न देनी चाहिएँ। उससे रक्त-प्रवाह और भी बढ़ जायगा। रोगी

को बिस्तरों पर लिटाकर पाँवों की ओर से शय्या ऊँची कर दो जिससे शिर नीचा हो जाय। शरीर के ताप को बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। रोगी को एकान्त स्थान में रखो।

(६) टूर्निके को लगाकर छोड़ न दो। आध घण्टे के पश्चात् उसको ढीला करके देखो कि रक्त-प्रवाह रुका या नहीं। यदि टूर्निके ढीला करने से रक्त का प्रवाह नहीं होता तो टूर्निके को कसने की कोई आवश्यकता नहीं है; उसे ढीला ही रहने दो। पुराने स्थान से उसको तनिक हटा दो। किन्तु यदि रक्त निकलने लगे तो उसको फिर कसकर बाँधो।

आन्तरिक रक्त-प्रवाह

बाह्य रक्त-प्रवाह की अपेक्षा आन्तरिक रक्त-प्रवाह अधिक भयङ्कर है। इसमें उस स्थान का पता लगाना, जहाँ से रक्त-प्रवाह हो रहा है, कठिन है। और न उस स्थान पर अंगुलि-भार या टूर्निके का प्रयोग ही किया जा सकता है। कभी-कभी आन्तरिक रक्त-प्रवाह में रक्त शरीर से बाहर निकलकर बहने लगता है। नासिका से प्रवाह होने पर रक्त नासिका-रन्ध्रों द्वारा बाहर आ जाता है; फुस्फुस में रक्त-प्रवाह होने पर खाँसी के साथ रक्त मुँह द्वारा बाहर निकलता है। किन्तु उदर के अङ्गों या कपाल में रक्त-प्रवाह होने पर प्रायः रक्त बाहर नहीं आता।

नासिका से रक्त-प्रवाह—नाक से रक्त बहने लगता है। यदि रोगी मूर्छित है तो सम्भव है कि रक्त गले में होकर आमाशय में चला जावे और फिर वमन के साथ निकले।

चिकित्सा—रोगी को बिठा दो, किन्तु उसका शिर पीछे की ओर को रहे; आगे को न झुके। यदि वस्त्र इत्यादि तङ्ग हों तो ढीले कर दो। एक वस्त्र को बरफ के जल में भिगोकर नाक के मूल पर लगाओ। इससे भी उत्तम यह है कि नाक का नीचे का भाग दो अँगुलियों के बीच पकड़कर ज़ोर से दाब दो, और उसको कम से कम पन्द्रह मिनट तक दाबे रहो। यदि इस प्रकार से रक्त-प्रवाह बन्द न हो तो रोगी की शस्त्र-चिकित्सा करनी चाहिए जिसका आगे चलकर वर्णन किया जायगा।

फुस्फुस से रक्त-प्रवाह—तीव्र आघात से अथवा रोग में फुस्फुस से रक्त-प्रवाह होने लगता है। खाँसते समय थूक के साथ रक्त निकलता है। कभी-कभी रक्त बिना खाँसी ही के निकलता है। ऐसी दशा में प्रायः फुस्फुस के रोग-ग्रस्त होने के कारण रक्त-प्रवाह होता है।

चिकित्सा—रोगी को शय्या पर एकाग्र स्थान में लिटा दो। किन्तु उसको इस प्रकार लिटाओ कि उसका शिर और वक्ष ऊँचा रहे। उसको किसी प्रकार की उद्विग्नता न होने पावे। वस्त्रों को ढीला कर दो और वायु का मार्ग पूर्णतया खोल दो। यदि यह मालूम हो कि किधर रक्त आ रहा है तो रोगी को उस ओर की करवट से लिटा दो।

ऐसी दशा में उत्तेजक वस्तु नहीं देनी चाहिए। बर्फ़ के छोटे-छोटे टुकड़े चूसने को दो।

आमाशय से रक्त-प्रवाह—वमन के साथ रक्त निकलता है। कभी-कभी रक्त बहुत मात्रा में एक साथ आता है। फुस्फुस की भाँति यह रक्त-प्रवाह आघात या रोग दोनों से उत्पन्न हो सकता है। उसका रङ्ग चमकता हुआ लाल होता है; कभी-कभी घुले हुए कत्थे की भाँति होता है। रक्त जमे हुए थक्कों में भी निकलता है।

उदर, वक्ष या गुहा में रक्त-प्रवाह—उदर, वक्ष या श्रोणि-गुहा के आघातों से अथवा उदर के ऐसे क्षतों से, जो अंगों को चीरते हुए भीतर तक चले जाते हैं, रक्त का प्रवाह होकर वह गुहा के भीतर एकत्र हो जाता है। कभी-कभी शरीर पर आघात का कोई भी बाहरी लक्षण उपस्थित नहीं होता। किन्तु यकृत, प्लीहा, मूत्राशय इत्यादि फट जाते हैं और उनसे भयङ्कर रक्त-प्रवाह होने से मृत्यु हो जाती है। यह आन्तरिक या गुप्त रक्त-प्रवाह कहलाता है। आन्तरिक रक्त-प्रवाह होने से रोगी को मूर्च्छा हो जाती है, चर्म पीला पड़ जाता है, श्वास मन्द हो जाता है, नाड़ी दुर्बल और तीव्र हो जाती है और चर्म पर, विशेषकर माथे पर, शीतल स्वेद आने लगता है।

चिकित्सा—आन्तरिक रक्त-प्रवाह अत्यन्त भयानक होता है। रोगी के जीवन की आशा केवल शस्त्र-कर्म पर रह जाती है। इसलिए जब ऐसी दशा उपस्थित हो तो रोगी को, यदि अस्पताल पास ही हो तो, तुरन्त वहाँ भेजने का प्रबन्ध करना चाहिए और डाक्टर को पहिले ही कहलवा देना चाहिए कि अमुक प्रकार की भयानक दशा के रोगी को भेजा जा रहा है। चिकित्सक को बुलवाने में व्यर्थ समय नष्ट करना उचित नहीं। रोगी के लिए प्रत्येक मिनट भारी है।

रोगी को शय्या पर शिर नीचा करके लिटा दो। यदि वक्ष में आघात पहुँचा है और रोगी को श्वास लेने में कष्ट हो रहा है तो शिर और वक्ष को तनिक ऊपर उठा देना चाहिए। रोगी को उस ओर को लिटाना चाहिए जिधर आघात लगा है। शय्या पर लिटाकर रोगी को कम्बल इत्यादि वस्त्रों से ढकना चाहिए जिससे उसे शीत न लगे और शरीर का ताप भी कम न होने पावे। ऐसी अवस्था में रोगी को उत्तेजक औषधि देना उचित नहीं। इससे रक्त-प्रवाह के बढ़ने का डर रहता है। किन्तु यदि हृदयावसाद के लक्षण उत्पन्न हो रहे हैं तो उत्तेजक वस्तु देनी आवश्यक है। उदर या वक्ष के चारों ओर फ़लालेन की एक चौड़ी पेटी बाँध देनी चाहिए। उससे रक्त-प्रवाह को रोकने में सहायता मिलेगी।

वृक्क अथवा मूत्राशय के आघात से मूत्र में रक्त आने लगेगा। यदि मूत्राशय बिलकुल फट गया है तो मूत्र का आना बन्द हो जायगा। इन सब दशाओं में जितना जल्दी हो सके शस्त्र-कर्म करना चाहिए।

आठवाँ परिच्छेद

रक्त-प्रवाह

प्रत्येक शस्त्र-कर्म में धमनियों के कट जाने से रक्त का प्रवाह होता है। अधिक रक्त निकलने से रोगी की मृत्यु तक हो सकती है। अतएव रक्त को रोकने के लिए धमनियों का बन्धन किया जाता है। यदि कोई बड़ी धमनी नहीं कटी है और रक्तस्राव साधारण है तो उसको क्षत में गौज़ भरने और ऊपर से रूई पर कसकर पट्टी बाँधने से रोका जा सकता है। किन्तु बड़ी धमनियों से निकलनेवाले रक्त को इस प्रकार रोकना असम्भव है। उनका बन्धन करना आवश्यक है। अतएव रक्त को रोकने की दो मुख्य विधियाँ बन्धन और भार हैं। भाप, गरम जल (१२०° से १६०° .फ़ैरनहीट), एड्रिनलीन और दाहक शलाका या 'कौटरी' का भी उपयोग किया जाता है।

धमनियों पर जो बन्धन लगाये जायँ वह दृढ़ और पूर्ण होने चाहिएँ। ढीले रह जाने से उनके खुलने का भय रहता है, जिससे रक्तस्राव फिर प्रारम्भ हो सकता है। इसलिए शस्त्र-कर्म के पश्चात् २४ घण्टे तक रोगी का निरीक्षण करते रहना चाहिए। यदि उपचार-वस्त्र रक्त से भींग जाय तो उनको खोलकर क्षत को फिर से देखना चाहिए। यदि कोई बन्धन खुल गया है, तो उसको पुनः लगाना आवश्यक है। जब ऐसा करना पड़े तो क्षत को खोलने से पूर्व नवीन शुद्ध गौज़ और रूई अपने पास रख लेनी चाहिए जिससे क्षत में गौज़ को भरने में तनिक भी देर न होने पाये। यह रक्त-प्रवाह शस्त्र-कर्म के समान तीव्र नहीं होता। यदि रक्त-प्रवाह न हो तो गौज़ भरने की आवश्यकता नहीं।

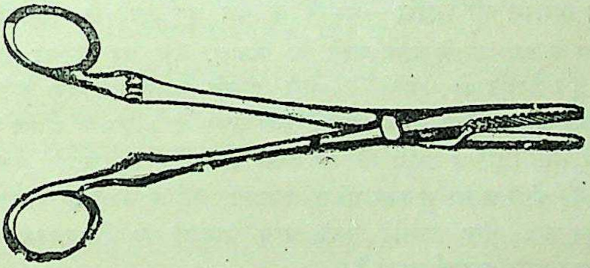

चित्र नं० ४५ स्पेन्सर-वेल्स का धमनी-संदंश

तीव्र रक्त-प्रवाह से रोगी की दशा क्षीण हो जाती है। इस कारण उसको बलवर्धक और उत्तेजक ओषधियों के देने की आवश्यकता है। किन्तु उनके प्रयोग से रक्त-प्रवाह फिर से आरम्भ हो सकता है। यदि धमनियों के बन्धन से रक्त-प्रवाह रोका गया हो तो यह वस्तु निस्संकोच दी जा सकती हैं। ऐसी दशा में $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ ग्रेन तक अफ़ीम, प्रत्येक ४ घण्टे के अन्तर, देने से रोगी को उद्विग्नता नहीं होने पाती। इससे न तो रक्त-भार ही बढ़ता है और न रक्त-प्रवाह ही होता है।

शरीर से अधिक रक्त निकलने पर शिरा के द्वारा सामान्य लवण-विलयन शरीर में प्रविष्ट करने से तुरन्त लाभ होता है। रोगी की नाड़ी लौट आती है और उसकी दशा सुधर जाती है। किन्तु इससे रक्त-भार बढ़ जाता है। इस कारण जब तक कटी हुई धमनियों का बन्धन न किया गया हो तब तक लवण-विलयन को शरीर में प्रविष्ट न करना चाहिए।

रक्त-प्रवाह को रोकने के लिए निम्नलिखित साधनों का उपयोग किया जाता है। जिस स्थान पर जो विधि उपयुक्त हो उसी के द्वारा रक्त को रोकने की चेष्टा करनी चाहिए।

(१) धमनियों का बन्धन[१]—धमनी के कटे हुए सिरे को संदंश से पकड़कर उस पर रेशम या कैटगट का एक बन्धन लगाया जाता है। इस बन्धन से धमनी के भीतरी और बीच के स्तर टूटकर भीतर को मुड़ जाते हैं, जिससे भीतरी स्थान अवरुद्ध हो जाता है। ऊपर का स्तर नहीं टूटता; वह बन्धन से केवल सिकुड़ जाता है। बन्धन में रीफ़-ग्रन्थि लगानी चाहिए। दूसरी प्रकार की ग्रन्थि से उसके खुल जाने का भय रहता है।

धमनी-संदंश[२]—इन संदंशों के सिरे दन्दानेदार होते हैं, जिनके बीच में धमनी पकड़ ली जाती है। ऊपर के सिरे पर भी, जो हाथ में रहता है, इस प्रकार के दन्दाने होते हैं कि वह एक दूसरे को पकड़ लेते है। इससे संदंश को छोड़ देने पर भी वह नहीं खुलते। इनके अग्रभाग से धमनी को पकड़कर उसके फलकों को दाब दिया जाता है. जिससे संदंश बन्द हो जाते हैं। तत्पश्चात् धमनियों पर बन्धन लगाया जा सकता है। प्रायः छोटी धमनियों पर बन्धन लगाने की आवश्यकता नहीं होती; केवल संदंश से दाब देना पर्य्याप्त होता है। इससे उनका अग्रभाग कुचल जाता है और रक्त नहीं निकलने पाता।

बन्धन लगाने की विधि—धमनी के कटे हुए सिरे को, जिससे रक्त निकल रहा हो, संदंश के अग्रभाग से ग्रहण करने के पश्चात्, उस पर कैटगट की रीफ़-ग्रन्थि लगाई जाती है। कैटगट को धमनी के नीचे डालते समय सहायक संदंश को सीधा रखता है, किन्तु ग्रन्थि बाँधते समय आड़ा कर लेता है। इससे ग्रन्थि धमनी पर से फिसलने नहीं पाती। ग्रन्थि उत्तम और दृढ़ होनी चाहिए। इस कारण सदा रीफ़-ग्रन्थि लगाई जाती है; ग्रेनी-ग्रन्थि भूलकर भी न लगानी चाहिए। जब मोटी धमनी अथवा धमनी के साथ कुछ मांस इत्यादि तथा अन्य धातुओं पर भी बन्धन लगाना होता है, तो वहाँ शल्य-ग्रन्थि लगाई जाती है।

(२) धमनी को मरोड़ना[३]—धमनी के कटे हुए सिरे को संदंश से पकड़कर कई बार मरोड़ दिया जाता है। इससे सूक्ष्म धमनियों के भीतरी और बीच के स्तर टूटकर ऊपर की ओर मुड़ जाते हैं जिससे रक्त-मार्ग रुक जाता है।

---

१. Ligature of blood vessels २. Artery forceps. ३. Torsion of artery.

(३) भाराधिक्य—छोटी धमनियों को केवल धमनी-संदंश के द्वारा दाबने से रक्त-प्रवाह रुक जाता है। कुछ संदंश विशेषतया मोटे और दृढ़ होते हैं। इनको "ग्रेगस्मिथ-संदंश"[1] कहा जाता है। इनसे बड़ी धमनियों का रक्त-प्रवाह भी रोका जा सकता है। किन्तु साधारणतया, बड़ी धमनियों पर बन्धन लगाना ही उचित है। कभी-कभी शस्त्र-कर्म में धमनियाँ इतनी गहराई पर कट जाती हैं कि उन पर बन्धन लगाना सम्भव नहीं होता। ऐसी दशा में संदंश द्वारा धमनी को पकड़कर संदंश को चौबीस घण्टे तक व्रण के भीतर ही छोड़ दिया जाता है। व्रण को व्रणोपचार-वस्त्रों से ढक देते हैं। यदि आवश्यक हो तो संदंश को क्षत में २४ घण्टे से अधिक छोड़ा जा सकता है।

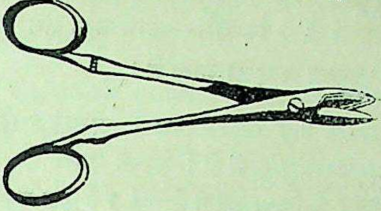

चित्र नं० ४६ ग्रेग-स्मिथ का धमनी-संदंश

(४) दाहकर्म[2]— यह कर्म एक यन्त्र के द्वारा किया जाता है, जिसको 'दायक यन्त्र'[3] कहते हैं। यह विधि रक्त-प्रवाह के पश्चात् रक्त को रोकने के काम में नहीं आती। उसका उपयोग रक्त का प्रवाह होने के पूर्व किया जाता है। अर्श रोग में अंकुरों को काटते समय तथा अन्य शस्त्र-कर्मों में भी यह विधि प्रयुक्त होती है। इस यन्त्र के अगले भाग को, जिसको 'दाहक-शलाका' कहते हैं, इतना गरम किया जाता है कि वह रक्त के समान लाल हो जाता है, अर्थात्, चमक-रहित लाल होता है। तत्पश्चात् उससे कर्म किया जाता है। इससे धमनियों के कटे हुए सिरे जलकर बन्द हो जाते हैं। यदि साधारण 'अरुणोष्णता'[4] अथवा 'श्वेत उष्णता'[6] पर इसका प्रयोग किया जायगा तो धमनियाँ केवल कट जायँगी, उनके सिरे बन्द न होंगे।

जब रक्त किसी विशेष धमनी से न निकलकर क्षत के सारे पृष्ठ से निकलता है तो उसको रोकने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जाते हैं।

(१) उष्ण जल—जल की उष्णता १३०° से १६०° फ़ैरनहीट होनी चाहिए। इससे रक्त का एल्ब्यूमिन जम जाता है और क्षत का पृष्ठ रक्त-रहित दिखाई देने लगता है। यदि ऐसा न हो तो रक्त-प्रवाह बन्द न होगा।

(२) शीतोपचार—बरफ़ तथा अत्यन्त शीतल जल के प्रयोग से भी रक्त-स्राव रुक सकता है। मुख, भग, गुदा इत्यादि के रक्तस्राव को शीत के द्वारा रोकना उचित है।

---

१. Greig Smith's forceps. २. Cauterisation. ३. Cautery. ४. Dull red heat. ५. Bright red heat. ६. White heat.

चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्।
सन्धानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं यथा॥
व्रणं कषाय सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्।
तथा संपाचयेद्भस्म दाहः संकोचयेत् शिराः॥—सुश्रुत–सूत्रस्थान; अध्याय १०, श्लोक ४०-४१

किन्तु बरफ़ तथा अन्य शीतल वस्तुओं से, जिनको शुद्ध नहीं किया गया है, क्षत में जीवाणु पहुँच सकते हैं।

(३) स्थिति—कभी-कभी अंग को केवल ऊपर की ओर उठा देने से रक्त का निकलना बन्द हो जाता है।

(४) रक्त-स्तम्भक ओषधियाँ[१]—जब रक्त किन्हीं अत्यन्त रक्तमय भागों अथवा गहरे क्षतों से निकलता है तब इन ओषधियों का प्रयोग किया जाता है। यह कई प्रकार से क्रिया करती हैं—(१) कुछ वस्तुएँ केवल उसी स्थान पर क्रिया करके, जहाँ उनको लगाया गया है, रक्त के अल्ब्यूमिन को जमा देती हैं। लाइकर-फैराई-पर-क्लोराइड[२], टैनिक एसिड, फिटकरी, सिलवर नाईट्रेट, इत्यादि वस्तुएँ इसी प्रकार से क्रिया करती हैं। इनको लगाने से पूर्व स्थान को पूर्णतया स्वच्छ कर लेना चाहिए। यदि वहाँ रक्त जमा हुआ हो तो उसको धोकर निकाल देना उचित है। जब स्थान शुष्क हो जाय तब इन वस्तुओं को लगाया जाय। तीव्र वस्तुएँ धातुओं को गला देती हैं। इस कारण, जहाँ तक हो सके, इनका प्रयोग वर्जनीय है। (२) कुछ वस्तुएँ रक्त-नलिकाओं की संकोचक होती हैं। एड्रिनलीन इन वस्तुओं में सबसे प्रबल है। यह अधिवृक्क[३] ग्रन्थियों से बनाई जाती है। नासारक्त-प्रवाह[४] में इसका बहुत उपयोग होता है। (३) कुछ ओषधियाँ, जैसे कैल्शियम लैक्टेट, रक्त के जमने की शक्ति को बढ़ाती हैं। शस्त्र-कर्म से पूर्व रोगी को इन वस्तुओं का प्रयोग करना उचित है। नासिका से अथवा श्लेष्मा के साथ रक्त निकलने पर १५ ग्रेन कैल्शियम लैक्टेट दिन में तीन बार दिया जाता है। (४) कुछ वस्तुओं की क्रिया का अभी तक ठीक ज्ञान नहीं है। तारपीन के तेल से रक्तस्राव बन्द हो जाता है, किन्तु उसकी क्रिया अभी तक मालूम नहीं हो सकी है।

रोगी की मानसिक अवस्था को स्वस्थ रखना भी बहुत आवश्यक है।

रक्त-प्रवाह का रोगी के शरीर पर प्रभाव—रोगी के शरीर पर रक्त-प्रवाह का प्रभाव उसकी मात्रा के अनुसार होता है। साधारण रक्त-प्रवाह को कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। किन्तु यदि किसी बड़ी धमनी के कटने अथवा यकृत् या प्लीहा के समान रक्तमय अङ्गों के फटने से रक्त-प्रवाह अधिक होता है तो रोगी का रक्त-भार घट जाता है। हीमोग्लोबिन और लाल कणों की कमी के कारण रक्त को पर्याप्त आक्सिजन नहीं मिलती। 'वायु-क्षुधा'[५] की दशा उत्पन्न हो जाती है। रोगी मुख फाड़कर बड़े वेग से श्वास लेने लगता है। किन्तु उसको ऐसा प्रतीत होता है मानों वह श्वास न ले सकता हो। चर्म ठण्डा पड़ जाता है। माथे पर शीतल स्वेद की बूँदें दिखाई देती हैं। नाड़ी तीव्र और दुर्बल हो जाती है, प्यास अधिक मालूम होती है। नेत्रों के सामने तारे से टूटते हुए दिखाई देते हैं। कानों में भी कुछ शब्द सुनाई देता है। नेत्र भीतर को धँस जाते हैं। मस्तिष्क में रक्त की कमी से पेशियों में आक्षेप[६] होने लगते हैं और अन्त को मृत्यु हो जाती है।

---

१. Styptics. २. Liquor Ferri-perchloride. ३. Suprarenal ४. Epistaxis. ५. Air-hunger. ६. Convulsions,.

बच्चों और वृद्धों पर रक्त-प्रवाह का विशेषकर बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चे तो रक्त की क्षति को थोड़े ही समय में पूरा कर लेते हैं, किन्तु वृद्ध मनुष्यों को स्वास्थ्य-लाभ करने में बहुत समय लगता है। स्थूल शरीरवालों को भी रक्त-प्रवाह से बहुत हानि होती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ रक्त-प्रवाह को अधिक सहन कर सकती हैं।

चिकित्सा—रोगी को खुले हुए हवादार एकांत कमरे में लिटाकर कम्बलों इत्यादि से ढक देना चाहिए, जिससे शरीर के ताप को क्षति न होने पाये। गरम जल की बोतलों को वस्त्रों के भीतर रख देना उचित है। शय्या की पाँयत को ऊँचा कर देना चाहिए, जिससे पाँव ऊँचे और शिर नीचे हो जाय। इससे मस्तिष्क में रक्त पहुँचता रहेगा। इस समय रोगी को उत्तेजक ओषधियों की आवश्यकता होती है। किन्तु उनको देते समय रक्त प्रवाह की दशा को पूर्णतया विचार लेना चाहिए। यदि वह शस्त्र-क्रिया द्वारा पूर्णतया बन्द किया जा चुका है, तो सब प्रकार की ओषधियाँ दी जा सकती हैं। किन्तु यदि ऐसा नहीं हुआ है तो अत्यन्त सामान्य वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए।

शरीर के भीतर तरल द्रव्यों को प्रविष्ट करना

रक्त-प्रवाह के कारण जब शरीर में तरल द्रव्यों की अत्यन्त न्यूनता हो जाती है तो उचित तरल-द्रव्यों को शरीर में प्रविष्ट करना आवश्यक होता है। यह तरल द्रव्य दो प्रकार से शरीर में प्रविष्ट किये जाते हैं, एक रक्त-प्रक्षेपण[१]* और दूसरे साधारण प्रक्षेपण[२] द्वारा। रक्त-प्रक्षेपण रोगी की रक्षा का सर्वोत्तम उपाय है। स्वस्थ मनुष्य का रक्त, जिसकी पहले परीक्षा हो चुकी है, रोगी के शरीर में शिरा द्वारा प्रविष्ट किया जाता है। रोगी और स्वस्थ मनुष्य (रक्तदाता[३]) को दो मेज़ों पर पास-पास लिटाकर दोनों व्यक्तियों में कूर्पर के सामने के चर्म का छेदन करके वहाँ की बड़ी शिराओं को स्पष्ट कर लेते हैं। पत्पश्चात् दोनों व्यक्तियों की शिराओं में समान स्थिति पर एक एक छिद्र करके उनको एक यन्त्र के द्वारा जोड़ दिया जाता है। स्वस्थ मनुष्य के शरीर का रक्त यन्त्र में आता है और वहाँ से रोगी के शरीर में चला जाता है। यन्त्र द्वारा यह देखते रहते हैं कि कितना रक्त रोगी के शरीर में गया है। जब पर्याप्त रक्त पहुँच चुकता है तो शिराओं का बन्धन करने के पश्चात् यन्त्र को निकालकर चर्म को सी दिया जाता है।

पाश्चात्य देशों में इस विधि का बहुत उपयोग किया जाता है। वहाँ के अस्पतालों में रक्तदाताओं का एक रजिस्टर रक्खा जाता है, जिसमें उनके नाम लिखे रहते हैं। आवश्यकतानुसार इन व्यक्तियों के शरीर का रक्त रोगियों में प्रविष्ट किया जाता है। इसके लिए इन लोगों को पर्याप्त मूल्य मिलता है। हमारे देश में भी बड़े-बड़े अस्पतालों में यह विधि प्रयुक्त होती है, यद्यपि इतनी अधिक नहीं।

जहाँ रक्त-प्रक्षेपण सम्भव न हो वहाँ साधारण लवण-विलयन (१० छटाँक जल में एक चाय की चम्मच भर शुद्ध लवण) अथवा गोंद का ६% विलयन शिरा के द्वारा

१. Transfusion of blood २. Infusion. ३. Donor.

* रुरुहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरं पाययेत्—सु० सू०, अ० १४

शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। आवश्यकतानुसार इसकी मात्रा कम या अधिक होती है। एक बार में दो या ढाई सेर तक विलयन शरीर में प्रविष्ट किया जा सकता है। इसमें ५ या १० बूँद एड्रिनलीन मिला देने से रक्त-भार बढ़ जाता है।

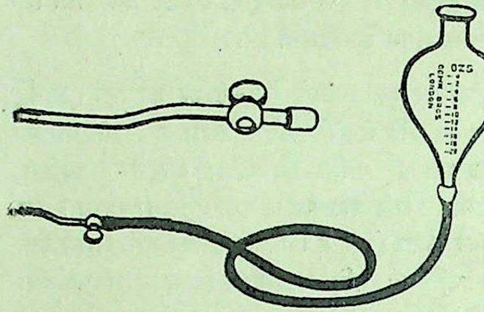

चित्र नं० ४७ प्रक्षेपण में प्रयुक्त होनेवाला काँच का पात्र तथा चाँदी का केन्युला

प्रक्षेपण-कर्म—यह कर्म प्रायः कूर्पर के सामने की ओर किया जाता है, जहाँ शिराओं का पर्याप्त आकार होता है। चर्म को पूर्णतया शुद्ध करने के पश्चात् अङ्ग की लम्बाई की ओर तीव्र वेधस-पत्र से एक इंच के लगभग लम्बा भेदन किया जाता है। यह भेदन इतना गहरा होना चाहिए कि वह केवल चर्म को काटे। चर्म कट जाने पर क्षत के एक ओष्ठ को चिमटी से पकड़कर ऊपर की ओर उठाकर नीचे की धातुओं को चाकू से धीरे-धीरे हटाना, अथवा आवश्यक हो तो काटना चाहिए। इस स्थान में प्रायः थोड़ी सी वसा होती है जिसके नीचे ही शिरा स्थित पाई जाती है। इस प्रकार जब शिरा स्पष्ट हो जाय, तो उसको चिमटी से पकड़कर चारों ओर की धातुओं से पृथक् कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् एक मुड़ी हुई शलाका[1] जिसके आगे के भाग में सुई के समान तागा डालने के लिए छिद्र होता है, शिरा के नीचे होकर डाल देनी चाहिए। इसके छिद्र में कैटगट का एक ६ इंच लम्बा टुकड़ा पूर्व ही डाल दिया जाता है। इस टुकड़े के एक सिरे को शिरा के दूसरी ओर से निकालने के पश्चात् शलाका को शिरा के नीचे से निकाल लिया जाता है और सबसे नीचे के भाग पर कैटगट की ग्रन्थि लगा दी जाती है।

जो शलाका निकाल ली गई है उसमें कैटगट का इतना ही बड़ा टुकड़ा पिरोकर फिर शिरा के नीचे से डालकर क्षत के सबसे ऊपरी भाग में ले जाकर छोड़ दिया जाता है। तत्पश्चात् शिरा को चिमटी से पकड़कर एक तेज़ कैंची के द्वारा उसमें इस प्रकार का टेढ़ा छिद्र किया जाता है कि शिरा की भित्ति केवल एक ओर से कटती है। पूरी शिरा नहीं कटती।

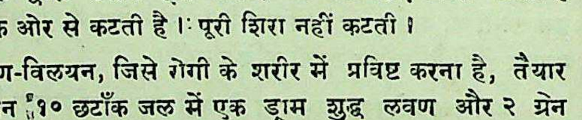

चित्र नं० ४८ शलाका, जिसके द्वारा शिरा के नीचे धागा डाला जाता है

छेदन करने से पूर्व लवण-विलयन, जिसे रोगी के शरीर में प्रविष्ट करना है, तैयार कर लेना चाहिए यह विलयन १० छटाँक जल में एक ड्राम शुद्ध लवण और २ ग्रेन कैल्शियम क्लोराइड मिलाकर बनाया जाता है। इसको भरने के लिए एक काँच का फ़्लास्क होता है, जिसके नीचे के छिद्र में ५ या ६ फुट लम्बी रबर की एक नलिका लगी

१. Aneurysm needle.

रहती है। इस नलिका के दूसरे सिरे पर चाँदी का कैन्युला जोड़ दिया जाता है। कैन्युला में एक पेंच होता है, जिसको घुमाने से जल-प्रवाह को खोला या बन्द किया जा सकता है। इस यन्त्र में उपस्थित विलयन का ताप-क्रम शारीरिक तापक्रम के समान होना चाहिए।

शिरा का भेदन करने के पूर्व विलयन को भरकर इस यन्त्र को तैयार कर लेना चाहिए और कैन्युला के पेंच को खोलकर देख लेना चाहिए कि जल का प्रवाह हो रहा है या

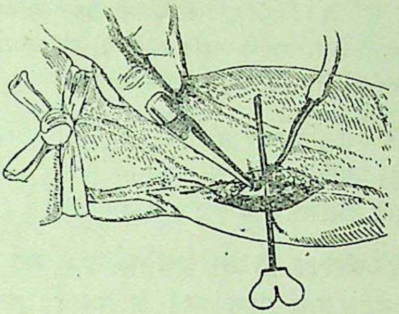

चित्र नं० ४९ लवण-विलयन के प्रक्षेपण का कर्म

[चित्र में कूर्पर के सामने चर्म के छेदन द्वारा शिरा को स्पष्ट करके उसके नीचे शलाका और कैटगट को डाला गया है। शिरा में टेढ़ा अपूर्ण भेदन करके उसके द्वारा शिरा में कैन्युला प्रविष्ट किया गया है।]

नहीं। इस प्रकार तैयारी कर चुकने के पश्चात शस्त्र-कर्म द्वारा शिरा का छेदन करके छिद्र द्वारा कैन्युला को प्रविष्ट किया जाता है और पेंच को खोलकर जल का प्रवाह आरम्भ कर दिया जाता है। बाहु में, शिरा-मार्ग पर, ऊपर की ओर अँगुलियों को रखने से जल के प्रवाह को प्रतीत किया जा सकता है। जब जल-प्रवाह आरम्भ हो जावे तो कैन्युला और शिरा के ऊपर कैटगट की इकहरी ग्रन्थि लगा देनी उचित है। इससे कैन्युला अपने स्थान में रहेगा और छोड़ देने से भी पीछे को नहीं हटेगा। इस प्रकार साधारणतया एक बार में २ पाइंट अथवा डेढ़ सेर विलयन प्रविष्ट किया जाता है। जल-प्रवाह की गति इतनी होनी चाहिए कि ५ मिनट में आध सेर जल भीतर जाने पावे। जब सारा विलयन भीतर जा चुके तो कैन्युला पर की ग्रन्थि की ओर सरकाकर अथवा कैन्युला निकालकर ग्रन्थि को कसकर बाँध दें। तत्पश्चात् चर्म को सीकर व्रणोपचार किया जा सकता है। यदि इस बात की आशङ्का हो कि कुछ समय के पश्चात् प्रक्षेपण फिर करना पड़ेगा तो कैन्युला को शिरा में रहने दिया जा सकता है। ग्रन्थि उसके ऊपर ही लगानी उचित है। तत्पश्चात् व्रणोपचार कर देना चाहिए।

प्रक्षेपण के साथ-साथ गुदा द्वारा भी तरल शरीर के भीतर पहुँचाया जाता है। नम्बर १२ के कैथिटर को गुदा में प्रविष्ट करके उसके दूसरे सिरे को रबर की पतली नलिका द्वारा एक यन्त्र से जोड़ दिया जाता है, जिसमें विलयन भरा रहता है। नलिका के पेंच को खोलकर तरल द्रव्य के प्रवाह की गति को इच्छानुसार घटा-बढ़ा सकते हैं। यह प्रवाह ऐसा होना चाहिए कि कैथिटर से विलयन बूँद-बूँद करके गिरे। यदि प्रवाह अधिक होगा तो जल गुदा के भीतर नहीं ठहरेगा।

विलयन को स्तन के नीचे, कक्ष में तथा पीठ के चर्म के नीचे भी प्रविष्ट कर सकते हैं। इन स्थानों से उसका शोषण हो जाता है, यद्यपि उसमें समय अधिक लगता है।

धमनी से रक्त-प्रवाह

आदि-रक्त-प्रवाह[१]—रक्त-नलिका के कटने से तुरन्त ही जो रक्त निकलता है, वह आदि-रक्त-प्रवाह कहलाता है। जब किसी क्षत में धमनी कटती है तो उससे रक्त निकलकर बहने लगता है। किन्तु कभी-कभी चर्म के अक्षत रहने पर भी आघात द्वारा शिरा इत्यादि के फटने से रक्त निकलकर चर्म के नीचे एकत्र हो जाता है।

रक्त-प्रवाह को रोकने में प्रकृति स्वयं सहायता करती है। धमनी के स्तर उसके मार्ग को अवरुद्ध कर देते हैं और प्रवाहित रक्त उस स्थान पर जमकर अधिक रक्त नहीं निकलने देता। कुछ समय के पश्चात् इस रक्त में क्षताङ्क धातु बन जाती है।

चिकित्सा—यदि आवश्यक हो तो शस्त्र-कर्म द्वारा कटी हुई धमनी का, मांस इत्यादि से पृथक् करके, संदंश द्वारा ग्रहण करने के पश्चात्, बन्धन कर देना चाहिए। कभी-कभी कटे हुए स्थान के दोनों ओर बन्धन लगाना आवश्यक होता है। सहायक धमनियों से आनेवाला रक्त दूसरी ओर के कटे हुए भाग से भी निकलता रहता है। यदि रक्त-प्रवाह स्वयं ही बन्द हो गया तो धमनी के बन्धन की कोई आवश्यकता नहीं है ऐसी दशा में जो जमा हुआ रक्त क्षत में एकत्र हो गया है उसको निकालना उचित नहीं।

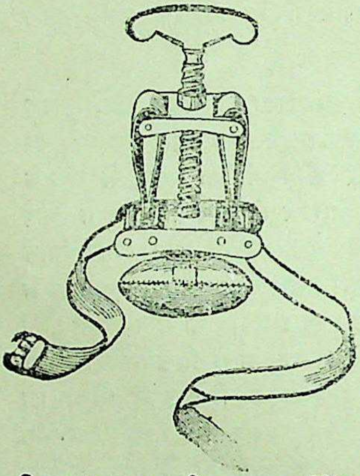

चित्र नं० ५० कवलिका-युक्त टूर्निके

अङ्गच्छेदन करते समय, अङ्ग पर टूर्निके लगाकर, रक्त-प्रवाह रोकने का पहिले ही से प्रबन्ध कर लिया जाता है। यह टूर्निके कई प्रकार के होते हैं। चित्र में दो प्रकार के टूर्निके दिखाये गये हैं। अङ्गच्छेदन करते समय जिस स्थान पर शस्त्र-कर्म करना होता है उससे ऊपर की ओर टूर्निके लगाया जाता है। इससे रक्त नीचे नहीं जाने पाता। अङ्गच्छेदन के पश्चात् टूर्निके को खोलने या ढीला करने के पूर्व बड़ी धमनियों को बाँध देना चाहिए। तत्पश्चात् टूर्निके को ढीला करके देखना चाहिए कि किन नलिकाओं से रक्त निकल रहा है। उसी के अनुसार उनका बन्धन करना उचित है।

प्रतिकारक अथवा गौण रक्त-प्रवाह[२]—यह रोगी के स्तब्धता के प्रभाव से मुक्त होने के पश्चात् आरम्भ होता है। इस समय रक्त-भार बढ़ने के कारण किसी धमनी

---

१. Primary hæmorrhage. २. Reactionary or Intermediate hæmorrhage.

का बन्धन ढीला होकर खुल जाता है। यह रक्त-प्रवाह शस्त्र-कर्म के पश्चात् प्रायः २४ घण्टे के भीतर होता है।

चिकित्सा—व्रणोपचार-वस्त्रों को खोलकर क्षत की परीक्षा करनी चाहिए। यदि वस्त्रों में रक्त की केवल कुछ बूँदें लगी हुई हों तो वस्त्रों को पूर्णतया बदलने की आवश्यकता नहीं है। केवल क्षत पर थोड़ी रूई रखकर पट्टी कसकर बाँध देना ही पर्याप्त है। किन्तु यदि उपचार-वस्त्र रक्त से पूर्णतया भीग गये हों, तो किसी बड़ी नलिका से रक्त-प्रवाह की आशङ्का की जा सकती है। ऐसी दशा में क्षत के टाँकों को खोलकर जिन नलिकाओं से रक्त निकल रहा हो उन पर फिर से बन्धन लगाना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो कौटरी का प्रयोग किया जा सकता है।

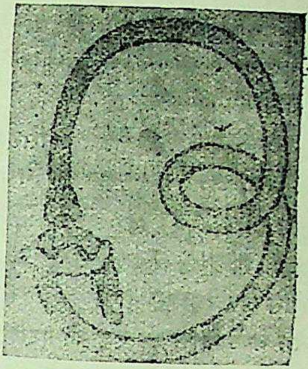

चित्र नं० ५१ रबर का टूर्निके

पश्चात् रक्त-प्रवाह[1]—इसका मुख्य कारण क्षत का संक्रमित हो जाना है। यह प्रायः २४ घण्टे के पश्चात् प्रारम्भ होता है। क्षत में पाक प्रारम्भ होने से वहाँ के भाग गलकर पूतिवस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अतएव धमनियों के मुख खुलने से रक्त-प्रवाह होने लगता है। यह प्रवाह शस्त्र-कर्म के पश्चात् जितना शीघ्र आरम्भ होता है उतना ही कम भयङ्कर होता है। १० या १२ दिन के पश्चात् प्रायः बड़ी नलिकाओं से रक्त-प्रवाह होने के कारण अधिक भयङ्कर होता है।

चिकित्सा—यदि रक्त-प्रवाह तीव्र है तो उसको अंगुलि-भार या टूर्निके से तुरन्त ही रोकना चाहिए। प्रवाह रुक जाने के पश्चात् स्थायी विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। संदंश से धमनी को पकड़कर कटे हुए स्थान से ऊपर की ओर बन्धन लगाना आवश्यक है। साधारण दशाओं में केवल क्षत को गौज़ से भरकर बाँध देना और अङ्ग को ऊपर की ओर उठाकर रखना पर्याप्त है। जो गला हुआ स्थान हो उसको काटकर निकाल देना चाहिए। कभी-कभी पाक के कारण दूसरी बार अङ्गच्छेदन करना पड़ता है। बड़ी धमनियों पर दोनों ओर बन्धन लगाना उचित है।

शिराओं में रक्त-प्रवाह—यह अधिक भयङ्कर नहीं होता। छोटी शिराओं में किसी प्रकार की चिकित्सा करने की आवश्यकता नहीं होती। बड़ी शिराओं का धमनियों की भाँति बन्धन किया जाता है। यदि शिरा में एक ओर छिद्र हो जावे तो उसको सिया जा सकता है। इससे शिरा की उपयोगिता भी नष्ट नहीं होगी। यदि यह न हो सके तो उसको दो भागों में विभाजित करके दोनों का बन्धन कर देना उचित है।

रक्त-प्रवाह साधारणतया तीन प्रकार से होता है—(१) शस्त्र-कर्म से, (२) रोगों से और (३) दुर्घटनाओं से।

---

१. Secondary hæmorrhage.

(१) शस्त्र-कर्म

शस्त्र-कर्म में होनेवाले रक्त-प्रवाह को रोकने की विधियों का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ कुछ विशेष स्थानों के शस्त्र-कर्म से होनेवाले रक्त-प्रवाह का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

रक्त-प्रवाह को रोकने के सिद्धान्त सब स्थानों के लिए एक समान हैं। उन्हीं के अनुसार, समय और स्थान का विचार करके, चिकित्सा करना उचित है।

शोथ-युक्त स्थानों के भेदन से रक्त-प्रवाह—शोथ-युक्त स्थानों के काटने से प्रायः रक्त बहुत निकलता है। ऐसी दशा में व्रण में गौज़ और रूई के टुकड़ों को भली-भाँति भर देना चाहिए। उसके ऊपर रूई रखकर पट्टी से बाँध देना उचित है। दो या तीन घण्टे के पश्चात् रूई को हटाकर ऊष्मस्वेद करना चाहिए। यह प्रति चार-चार घण्टे के बाद दिन में तीन या चार बार किया जा सकता है।

दाँत निकालने के पश्चात् रक्त-प्रवाह—साधारणतया दाँत निकालने से जो थोड़ा-बहुत रक्त निकलता है उसको रोकने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। यदि रक्त-प्रवाह अधिक हो तो निकाले गये दाँत के स्थान पर गौज़ अथवा रूई के एक बड़े टुकड़े को रखकर रोगी से मुख बन्द करने को कह देना चाहिए। ऊपर के जबड़े से दबने के कारण कुछ समय में रक्त बन्द हो जायगा। यदि इससे रक्त-स्राव बन्द न हो तो गौज़ के दूसरे टुकड़े को एड्रिनलीन में भिगोकर उसी स्थान पर रख देना चाहिए। इस युक्ति के भी असफल होने पर लायकर-फेरी-पर-क्लोराइड का उपयोग किया जा सकता है।

गलग्रन्थि[1] अथवा उपजिह्विका से रक्त-प्रवाह—इन ग्रन्थियों के छेदन करने पर प्रायः कई स्थानों से रक्त-प्रवाह होता है। ऐसी अवस्था में गौज़ के एक बड़े टुकड़े को उस स्थान पर रखकर कुछ समय तक दाबे रहना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो गौज़ को कई बार बदल सकते हैं। यदि रक्त किसी विशेष धमनी से निकले तो संदंश से पकड़कर उसका बन्धन करना उचित है।

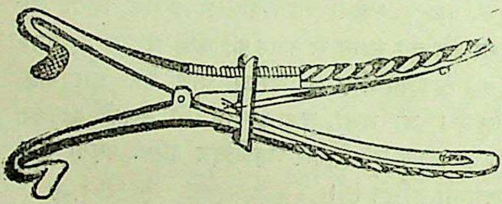

चित्र नं० ५२ मुख-संदंश

जब शस्त्र-कर्म में कई घण्टे पश्चात् तक रक्त निकलना बन्द नहीं होता तो मुख-संदंश[2] द्वारा मुँह को चौड़ा करके जिह्वा को बाहर की ओर खींचकर, जिन नलिकाओं से रक्त निकल रहा हो उनका बन्धन करना चाहिए।

जिह्वा के शस्त्र-कर्म के पश्चात् रक्त-प्रवाह—जिह्वा से रक्त अधिक निकलता है। इसको रोकने के लिए कंठकास्थि के दोनों शृंगों के ऊपर के स्थान को अँगूठे और अँगुली से दाबना चाहिए। इससे रक्त-प्रवाह रुक जाने की बहुत कुछ सम्भावना है। इससे वे धमनियाँ भी, जिनके द्वारा जिह्वा में रक्त आता है, दब जाती

१. Tonsils. २. Mouth-gag.

हैं। इस प्रकार रक्त बन्द कर चुकने पर जिह्वा को आगे की ओर खींचकर व्रण को स्वच्छ कर देना चाहिए। जिह्वा-संदंश से जिह्वा को भली भाँति पकड़ा जा सकता है। तत्पश्चात् जिस धमनी से रक्त निकल रहा हो उसका बन्धन करना चाहिए।

गुदा के शस्त्र-कर्म में रक्त-प्रवाह—इस स्थान के शस्त्र-कर्म में प्रायः रक्त अधिक निकलता है। शस्त्र-कर्म के पश्चात् भी रक्त निकलने की बहुत सम्भावना होती है। प्रायः बन्धन के खिसक जाने से रक्त-प्रवाह आरम्भ होता है। रोगी को प्रथम कुछ पीड़ा होती है, जिसके पश्चात मल-त्याग के साथ रक्त निकलता है।

रोगी के मल-द्वार द्वारा गुदा में जल-प्रक्षेपण करना चाहिए। इसके लिए उच्च लवण-विलयन का प्रयोग किया जा सकता है। इसमें कैल्शियम क्लोराइड मिला देना और भी उत्तम है। यदि इससे रक्त का निकलना बन्द न हो तो मल-द्वार की संकोचक पेशी को काटकर धमनी का बन्धन करना आवश्यक है।

(२) रोगों से रक्त-प्रवाह

घातक तथा रक्तमय अर्बुदों का छेदन करने से बहुधा कई छोटी-छोटी धमनियों से रक्त-प्रवाह होने लगता है, जिनका बन्धन करना कठिन होता है। इस कारण लाइकर-फेरी-पर-क्लोराइड, सिल्वर नाइट्रेट, एड्रिनलीन इत्यादि ओषधियाँ क्षत के सारे पृष्ठ पर लगाई जाती हैं। यदि इनसे भी सफलता नहीं होती तो दाह-कर्म किया जाता है।

तापदाहक[१]—ये दाहक, जिनको साधारणतया कौटरी के नाम से पुकारा जाता है, कई प्रकार के होते हैं। कुछ दाहक विद्युत द्वारा गरम किये जाते हैं और "गैल्वेनो कौटरी"[२] के नाम से पुकारे जाते हैं। अन्य दाहक स्पिरिट-लैंप की ज्वाला से गरम किये जाते हैं।

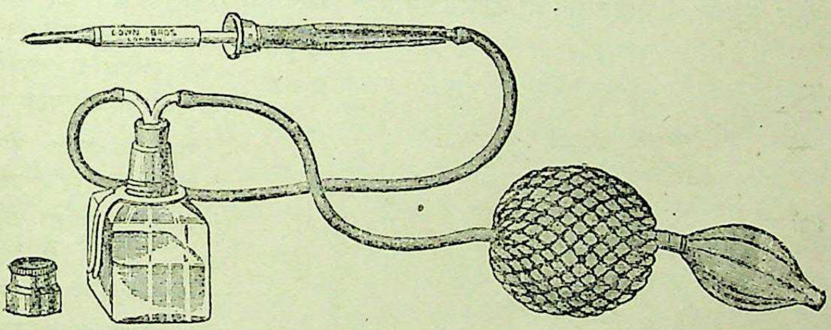

चित्र नं० ५३ ताप-दाहक

इनको 'थर्मो-कौटरी' कहते हैं। चित्र में इसी प्रकार का एक दाहक दिखाया गया है। बीच में एक शीशी है जिसके मुख पर लगे हुए काग के द्वारा एक नलिका शीशी में जा रही है। ऊपरी सिरे पर इस नलिका के दो भाग हो जाते हैं। प्रत्येक सिरे पर रबर की एक नलिका लगी हुई है। एक नलिका के एक सिरे पर रबर का पम्प और दूसरी नलिका के सिरे पर प्लेटिनम का बना हुआ वह भाग, जिससे दाह-कर्म किया जाता है, लगा हुआ है। शीशी

१ Thermo-cautery. २. Galvano-cautery.

के भीतर बेंज़ोलीन नामक वस्तु भर दी जाती है। प्रयोग करने के समय दाहक भाग को स्पिरिट लैम्प की शिखा द्वारा तप्त करके पम्प को दाबकर शीशी में वायु पहुँचाई जाती है। इससे वायु और बेंज़ोलीन के वाष्प दूसरी नलिका में होते हुए तप्त दाहक भाग में पहुँच जाते हैं और स्वयं तप्त होकर दाहक भाग के ताप को और भी बढ़ा देते हैं। इस प्रकार दो-चार बार बेंज़ोलीन के वाष्पों के वहाँ पहुँचने पर यह भाग तप्त होकर श्वेत हो जाता है। वाष्पों की मात्रा को घटाने-बढ़ाने से इस भाग को श्वेत या रक्त किया जा सकता है। रक्त-प्रवाह बन्द करने के लिए दाहक को इतना तप्त करना चाहिए कि वह रक्त-वर्ण दीखने लगे। तत्पश्चात् उसकी नोक को उन स्थानों पर लगाना चाहिए, जहाँ से रक्त निकल रहा हो।

गैलवेनो-कौटरी का दाहक भाग विद्युत् के द्वारा तप्त किया जाता है। इस कारण उसका स्वरूप बिलकुल भिन्न होता है। इन दाहकों में केवल एक दस्ता होता है, जिसके आगे की ओर धातु की बनी हुई एक नोक लगी रहती है। पीछे की ओर से विद्युत्-प्रवाह के लिए दो तार रहते हैं, जो दस्ते में होते हुए नोक तक पहुँच जाते हैं।

नासारक्त-प्रवाह[१]—कई रोगों में नासिका से रक्त-प्रवाह होता है। चिरकालिक वृक्कशोथ[२] तथा आन्त्रिक ज्वर[३] के प्रारम्भ में नासिका से प्रायः रक्त-प्रवाह हुआ करता है। कुछ व्यक्तियों में बिना किसी कारण के नासिक से समय-समय पर रक्त-प्रवाह होता रहता है। यह विशेषकर ग्रीष्म ऋतु में अधिक होता है। रोगियों की नासिका की भलीभाँति परीक्षा करनी चाहिए। प्रायः नासिका-फलक पर एक छोटा सा व्रण मिलता है जिसके द्वारा रक्त निकलता हुआ दिखाई देता है।

चिकित्सा—यदि नासिका के अग्रभाग में स्थित व्रण से रक्त-प्रवाह हो रहा है तो गौज़ के टुकड़े को एड्रिनलीन या क्रोमिक एसिड के विलयन में भिगाकर उस स्थान पर रख कुछ समय तक दाबे रहना चाहिए। इससे रक्त बन्द हो जायगा।

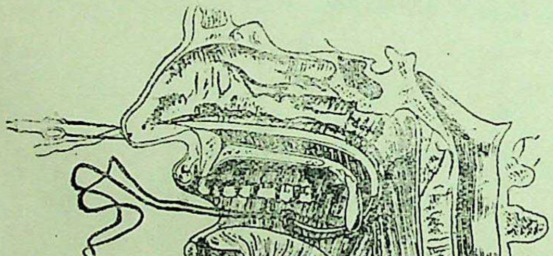

चित्र नं० ५४ नासिका-रन्ध्रों को अवरुद्ध करने की रीति

यदि रक्त-प्रवाह पीछे की ओर से हो रहा है जहाँ संदंश या उँगली को पहुँचाना कठिन है, तो नासिका-रन्ध्रों को एड्रिनलीन अथवा गरम तरल पैराफ़ीन[४] में भीगे हुए गौज़ या रूई के प्लोतों से भर देना चाहिए। यदि इससे भी रक्त न रुके तो रन्ध्र को अवरुद्ध करना आवश्यक है[५]। इस कर्म के लिए एक विशेष यन्त्र आता है जिसको

१. Epistaxis. २. Chronic Nephritis. ३. Typhoid. ४. Paraffin. ५. Plugging the Nares.

"बेलॉक्स साउण्ड"[1] कहते हैं। धातु के लम्बे दस्ते के सिरे पर एक कमानी लगी रहती है, जिसके अन्तिम भाग में एक छल्ला होता है। यह कमानी और दस्ता धातु की एक नली में रहते हैं। प्रयोग के समय शस्त्र को नासिका-रन्ध्रों की राह से भीतर डाल दिया जाता है। यहाँ तक कि उसका दूसरा सिरा रन्ध्र के पिछले छिद्र की राह से गले में निकल आता है। तब एड्रिनलीन में भींगे हुए गौज़ के एक छोटे प्लोत को कमानी के छल्ले में बाँध दिया जाता है। तत्पश्चात् दस्ते को पकड़कर शस्त्र को नासिका के द्वारा खींचने से प्लोत रन्ध्र के पिछले भाग में पहुँच जाता है। तागा नासिका के अगले रन्ध्र से बाहर निकला रहता है। इसको शस्त्र से खोलकर ऊपर के एक दाँत पर बाँध दिया जाता है। इससे प्लोत अपने स्थान से पीछे नहीं हटने पाता।

इस शस्त्र के न मिलने पर रबर का कैथिटर काम दे सकता है। उसके अगले सिरे को काटकर उसके भीतर एक दुहरा तागा डाला जाय, जो कटे हुए भाग के द्वारा बाहर निकल आवे। तत्पश्चात् कैथिटर को कटे हुए भाग की ओर से नासिका में प्रविष्ट किया जाय, यहाँ तक कि वह नासिका के पश्चिम द्वार से गले में निकल आवे। इस समय तागे को खींचकर, उसमें प्लोत को बाँधकर, कैथिटर को फिर वापस खींच लेना चाहिए और तागों को कैथिटर से निकालकर पहिले की ही भाँति दाँत पर बाँध देना चाहिए।

गुदा से रक्त-प्रवाह—अर्श रोग में गुदा से रक्त निकलता है, जिसका प्रवाह प्रायः मलत्याग के समय होता है। गुदा की श्लैष्मिक कला के फट जाने से भी रक्त निकलता है, यद्यपि वह इतना अधिक नहीं होता। चिकित्सा करने से पूर्व गुदा की परीक्षा करके प्रवाह का कारण मालूम करना चाहिए।

अर्श का रक्त-प्रवाह साधारण स्तम्भक औषधों से रोका जा सकता है। साथ में रोगी को इस प्रकार की विरेचक औषधियों का सेवन कराना चाहिए, जिससे मल पतला होकर निकले। जब इसमें सफलता न हो तब अर्श के अङ्कुरों को बाँध देना उचित है। उनका शस्त्र-कर्म द्वारा छेदन कर देना अत्युत्तम है। इस रोग में कौटरी का प्रयोग भी किया जाता है।

मूत्र-मार्ग द्वारा रक्त-प्रवाह—वृक्क, गवीनी, मूत्राशय तथा मूत्रप्रणाली से जब रक्त-प्रवाह होता है तो वह मूत्र-मार्ग द्वारा शरीर से बाहर निकलता है। वृक्क से आया हुआ रक्त सारे मूत्र में मिला रहता है जिससे मूत्र अस्वच्छ दिखाई देता है। रक्त की मात्रा के अनुसार उसका रङ्ग हलका या गहरा लाल होता है। यदि मूत्र में रक्त के लम्बे पतले रस्सी के समान जमे हुए टुकड़े मिलें, तो मूत्र-प्रणाली से रक्त-प्रवाह हुआ है। जब मूत्राशय में रक्त-प्रवाह होता है तो वह कभी-कभी जम जाता है, यद्यपि वह प्रायः मूत्र के साथ तुरन्त बाहर आ जाता है। जमे हुए रक्त के टुकड़े प्रायः मूत्र के पश्चात् निकलते हैं अथवा उसके अन्तिम भाग में मिले रहते हैं। मूत्र का पहला भाग प्रायः स्वच्छ होता है। पौरुष ग्रन्थि से जो रक्त निकलता है वह मूत्र-मार्ग में एकत्र हो जाता है और मूत्र-क्रिया में सबसे पहले बाहर निकलता है। कुछ भाग अन्त में भी निकल सकता है।

मूत्र-प्रणाली में रक्त के जम जाने से मूत्र के निकलने का मार्ग बन्द हो जाता है। इससे मूत्राशय का प्रसार होता है। ऐसी दशा में मूत्राशय में एक बड़ा कैथिटर प्रविष्ट

१. Belloc's sound.

करके रक्त के थक्के को तोड़ने का उद्योग करना चाहिए। इसके लिए चाँदी या निकल धातु के कैथिटर की आवश्यकता होगी। तत्पश्चात् मूत्राशय को बोरिक विलयन से धोना चाहिए। इससे जमा हुआ रक्त बाहर निकल आवेगा। इस समय जिस स्थान से मूत्र आ रहा है, उसका निश्चय करना आवश्यक है। इसमें मूत्राशय-दर्शक[1] से बहुत सहायता मिलती है। उसके द्वारा मूत्राशय के भीतर का सारा स्थान देखा जा सकता है।

यदि रक्त-स्राव तीव्र है तो ५००० में १ की शक्ति के एड्रिनलीन के विलयन को मूत्राशय में प्रविष्ट करना उचित है। खाने के लिए रक्त-प्रवाह को बन्द करनेवाली ओषधियाँ देनी चाहिएँ। रोगी को किसी सीरम का इंजेक्शन देना उत्तम है।

अधिक विषम अवस्थाओं में शस्त्र-कर्म द्वारा मूत्राशय को खोलकर रक्त को बन्द करना पड़ता है।

प्रकुपित शिराओं से रक्त-स्राव—प्रकुपित शिराओं के कपाट विकृत हो जाते हैं। इस कारण जब वे कट जाती हैं, तो उनसे बहुत रक्त निकलता है। कभी-कभी रक्त इतना अधिक निकलता है कि उससे तुरन्त मूर्च्छा हो जाती है। क्षत के तनिक ऊपर अथवा स्वयं क्षत ही पर दबाव डालने से रक्त-स्राव बन्द किया जा सकता है। तत्पश्चात् शिरा का बन्धन करना चाहिए। अन्य उपाय भी, जो पहले कहे जा चुके हैं, काम में लाये जा सकते हैं।

(३) दुर्घटनाओं से रक्त-प्रवाह

दुर्घटनाओं में प्रायः क्षत उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे रक्त-प्रवाह होने लगता है। अतएव चिकित्सक को सबसे पहले रक्त-प्रवाह रोकने का प्रबन्ध करना चाहिये। इसके उपाय पहले ही बताये जा चुके हैं। रक्त को रोकने के पश्चात् क्षत को पूर्णतया शुद्ध करना आवश्यक है।

चारों ओर के चर्म को विसंक्रामक विलयनों से धोने के पश्चात् क्षत को शुद्ध कर देना चाहिए। यह कर चुकने पर, यदि आवश्यक हो तो, धमनी पर संदंश या बन्धन लगाये जा सकते हैं।

शिर-चर्म के क्षत—शिर-चर्म में संदंश से रक्त-नलिका को पकड़ना कठिन होता है, क्योंकि यहाँ पर अनेक छोटी-छोटी धमनियों से रक्त निकलता है।

क्षत को २० में १ की शक्ति के कार्बोलिक विलयन से धोकर उस पर गौज़ और रूई रखकर पट्टी खींचकर बाँध देनी चाहिए। ऐसा करने से प्रायः रक्त का निकलना बन्द हो जाता है। यदि आवश्यक हो तो शिर-चर्म की मुख्य धमनियों पर भी भार डाला जा सकता है। इस प्रकार रक्त को बन्द कर और क्षत को धोकर उस स्थान के बालों को उस्तरे से साफ़ कर देना चाहिए। तत्पश्चात् क्षत के दोनों ओष्ठों को उलटकर देखना चाहिए कि रक्त कहाँ से निकल रहा है। यदि वह किसी विशेष धमनी से निकल रहा हो तो उसको संदंश द्वारा पकड़ने का उद्योग करना चाहिए। कुछ समय तक पकड़े रहने के पश्चात्

---

१. Cystoscope.

धमनी को छोड़ दिया जा सकता है। प्रायः इससे रक्त बन्द हो जाता है। यदि क्षत बड़ा हो तो उसके ओष्ठों को मिलाकर सी देना उचित है।

शिर के आघात में प्रायः कपालास्थियों का भग्न हो जाता है। इसलिए क्षत का उपचार करते समय इस सम्भावना का ध्यान रखना चाहिए। कपालास्थि के भग्न में प्रायः शस्त्र-कर्म की आवश्यकता होती है।

मुख के क्षत—मुख प्रान्त में कई धमनियों द्वारा रक्त आता है। इस कारण इस प्रान्त के क्षत से प्रायः रक्त अधिक निकलता है। अधोहन्वस्थि पर बहिर्हनव्या[१] धमनी को दाबने से रक्त-स्राव रोका जा सकता है। तत्पश्चात् क्षत को शुद्ध करके वहाँ के चर्म को रूई के प्लोतों द्वारा पूर्णतया शुष्क करने के पश्चात् क्षत को कोलोडियन[२] से बन्द कर देना चाहिए। कोलोडियन को इस प्रकार लगाया जाता है—

क्षत के ओष्ठों को अँगुली और अँगूठे से दाबकर रक्त-प्रवाह कुछ समय के लिए बिलकुल बन्द कर दो और सारे स्थान का शुद्ध करके उसको पूर्णतया शुष्क करो। तत्पश्चात् क्षत के दोनों ओष्ठों को एक दूसरे से मिलाओ और उनको इतना दाबकर पकड़े रहो कि वह रक्तहीन दीखने लगें। इस प्रकार जब दोनों ओष्ठ एक दूसरे के साथ मिल जायँ तो उन पर कोलोडियन का इतनी दूर तक प्रलेप करो कि वह क्षत के चारों ओर कुछ दूर तक फैल जाय। कोलोडियन शुष्क होने लगेगा। किन्तु जब तक वह पूर्णतया शुष्क न हो जाय तब तक क्षत को उसी भाँति पकड़े रहो। उसके शुष्क होने पर व्रणोष्ठों को छोड़ा जा सकता है। एक बार कोलोडियन का फिर से लेप कर देना उत्तम है। यदि कोलोडियन के पूर्णतया शुष्क होने से पूर्व शुद्ध रूई का एक पतला स्तर क्षत के ऊपर रखकर उस पर कोलोडियन का एक लेप कर दिया जाय तो वह सारे स्थान को वेग से पकड़ लेगा। गीले स्थान पर कोलोडियन लगाना व्यर्थ है।

यदि क्षत बड़ा हो तो उसमें टाँके लगाने की आवश्यकता है। टाँके इस प्रकार लगाने चाहिएँ कि वह क्षत के भीतर अथवा चर्म के नीचे ही रह जायँ, जिससे मुख पर अत्यन्त सूक्ष्म चिह्न बने।

ओष्ठ का क्षत—किसी कठिन वस्तु के द्वारा बाहर की ओर से चोट लगने पर प्रायः दाँत ओष्ठ में धँस जाता है। इस प्रकार चत उत्पन्न होने पर ओष्ठ से रक्त निकलता है।

प्रथम भाराधिक्य से रक्त रोक देना चाहिए। तत्पश्चात् क्षत के दोनों किनारों को मिलाकर बारीक कैटगट या घोड़े के बाल इत्यादि से सी देना उचित है। कभी-कभी दुहरे टाँके देने पड़ते हैं, एक मांसपेशी में और दूसरे श्लैष्मिक कला में। इस स्थान का व्रणोपचार करने में कठिनता होती है। इस कारण क्षत पर गौज़ या मलमल के टुकड़े को रखकर उस पर कोलोडियन का लेप कर दिया जाता है।

कर्ण से रक्त-प्रवाह—यह प्रायः भयानक नहीं होता और साधारण उपायों से रुक जाता है। कर्ण-पटह के फटने से रक्त निकलने लगता है। कपाल-तल के भग्न में भी कर्ण द्वारा रक्त-प्रवाह होता है। इस दशा में कान में पिचकारी लगाना ठीक नहीं है। रूई का एक छोटा सा प्लोत, एड्रिनलीन में भिगोकर, कान के भीतर रख देना चाहिए।

---

१. External maxillary artery. २. Collodion.

जिह्वा से रक्त-प्रवाह—जिह्वा के कट जाने से रक्त अधिक निकलता है। जिह्वा के पिछले भाग की स्थिति ऐसी है कि उसको पकड़कर व्रण का उचित उपचार करना कठिन है। इसलिए यदि आवश्यक हो तो रोगी को मूर्च्छित किया जा सकता है।

रक्त रोकने के लिए क्षत-स्थान को अँगुली और अँगूठे के बीच में वेग से दाब लो और उस पर बरफ़ मलो। क्षत पर एड्रिनलीन में भींगा हुआ गौज़ का एक टुकड़ा रखना भी उत्तम है। यदि इससे सफलता न हो तो रोगी को मूर्च्छित करके एक संदंश से जिह्वा को पकड़कर आगे की ओर खींच लेना उचित है। मुख-संदंश द्वारा मुख को भलीभाँति खोलकर क्षत की उचित परीक्षा करने पर यदि किसी विशेष धमनी से रक्त निकल रहा हो तो उसका बन्धन करना चाहिए। यदि धमनी का बन्धन न किया जा सके तो क्षत को चौड़ा करके उसमें एड्रिनलीन से भीगे हुए गौज़ को भरने के पश्चात् क्षत को उस समय तक दाबकर पकड़े रहें जब तक उससे रक्त का निकलना बन्द न हो जाय। यदि आवश्यक हो तो गौज़ को कई बार बदला जा सकता है। रक्त बन्द हो चुकने पर क्षत को, यदि वह शुद्ध हो तो, सी देना उचित है।

गले के कटने से रक्त-प्रवाह—आत्महत्या तथा पर-हत्या करने के लिए लोग गले को काटने का उद्योग करते हैं। इसके लिए छूरा, चाकू, उस्तरा, गड़ासा इत्यादि शस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। आत्महत्या के लिए शस्त्र के द्वारा किया हुआ भेदन प्रायः बायें कान के पास से आरम्भ होकर दाहिनी ओर को चला जाता है। भेदन का बाँया भाग गहरा और स्वच्छ होता है। दाहिनी ओर उसकी गहराई कम हो जाती है और अन्त में वह केवल चर्मगत रह जाता है। यदि यह भेदन इतना गहरा होता है कि उससे ग्रीवा की बड़ी धमनियाँ तथा शिराएँ कट जाती हैं तो तत्काल मृत्यु हो जाती है। पर-हत्या में हत्यारे का शस्त्र प्रायः कण्ठकास्थि और अवटुका कार्टिलेज के बीच के स्थान पर लगता है और इस कारण धमनियाँ बच जाती हैं। पर-हत्या में क्षत ग्रीवा के आगे या पीछे दोनों ओर हो सकते हैं तथा ग्रीवा को पूर्णतया काट सकते हैं।

जो क्षत वायु-प्रणाली तक नहीं पहुँचे हैं उनका साधारण क्षतों की भाँति उपचार होना चाहिए। सामान्य धमनियों के रक्त को बन्धन तथा भाराधिक्य से रोका जा सकता है। यदि कोई बड़ी धमनी कट गई है तो रोगी की तुरन्त मृत्यु हो जाती है। ऐसी दशा में चिकित्सक को कुछ भी करने का अवसर नहीं मिलता। यदि रोगी जीवित है तो सबसे प्रथम रक्त-प्रवाह बन्द करना चाहिए। तत्पश्चात् क्षतों को स्वच्छ करके उनको सीया जा सकता है। यदि इससे श्वास लेने में कुछ कष्ट हो तो कुछ टाँकों को काट देना उचित है। कभी-कभी श्वास-नलिका-भेदन का कर्म करना पड़ता है, जिससे श्वास-प्रणाली में धातु की बनी हुई नलिका प्रविष्ट कर दी जाती है। इस नलिका के द्वारा रोगी श्वास लेता रहता है।

ग्रीवा के गहरे क्षत, जो वायु-प्रणाली तक पहुँच जाते हैं, प्रायः चार स्थानों में पाये जाते हैं।

(१) कण्ठकास्थि के ऊपर।
(२) कण्ठकास्थि और अवटुका कार्टिलेज के बीच में।
(३) स्वर-यन्त्र में।
(४) वायु-प्रणाली में।

इस दुर्घटना से निम्न-लिखित उपद्रवों के कारण रोगी के जीवन का बहुत भय रहता है—(१) स्तब्धता, (२) क्षत का संक्रमण, (३) वायु-प्रणाली, प्रणालिकाओं और फुस्फुस में शोथ की उत्पत्ति और (४) क्षत-स्थान की धातुओं में वायु-प्रवेश।

चित्त की उद्विग्नता के कारण स्तब्धता की दशा और भी गम्भीर हो जाती है। अशुद्ध शस्त्रों तथा अन्य प्रकार से क्षत संक्रमित हो जाता है, जिससे वायु-प्रणालि, प्रणालिकाओं तथा फुस्फुस में शोथ उत्पन्न हो सकता है।

चिकित्सा—क्षत की परीक्षा करके जिन धमनियों से रक्त निकल रहा हो उनका बन्धन करना चाहिए। यदि क्षत की पूर्ण शुद्धि हो गई है तो टाँकों द्वारा उसको सिया जा सकता है। किन्तु यदि इनमें तनिक भी सन्देह हो तो किसी उत्तम विसंक्रामक में गौज़ को भिगोकर क्षत में भली भाँति भर देना चाहिए। क्षत के शुद्ध होने पर उसमें टाँके लगाये जायँ।

वायु-प्रणाली के कटने पर उसको प्रायः सीना पड़ता है। यदि प्रणाली कण्ठकास्थि और अवटुका ग्रन्थि के बीच में कटी है तो उसके प्रत्येक स्तर को पृथक् सीना चाहिए। सबसे पहिले श्लैष्मिक कला को सीया जाता है। किन्तु यह टाँके कला के आर-पार नहीं जाते; भित्ति की चौड़ाई ही में रह जाते हैं। तत्पश्चात् पेशियों के फटे या अस्वस्थ भाग को काटकर उनको सीया जाता है। कण्ठकास्थि से ऊपर के क्षत की भी इसी प्रकार चिकित्सा की जाती है।

रोगी को शय्या पर लिटाकर किसी एकान्त कमरे में सुलाना चाहिए। मूर्च्छा दूर हो जाने पर रोगी के शिर के पीछे की ओर तकिये लगाने चाहिएँ, जिससे उसकी गर्दन आगे की ओर झुकी रहे। रोगी को इस बात की आवश्यकता भी बता देनी चाहिए। भोजन का उचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। कुछ समय तक रोगी को केवल तरल भोज्य-पदार्थ देने चाहिएँ। यदि यह पदार्थ मुँह के द्वारा न पहुँचाये जा सकें तो अन्न-प्रणाली में छिद्र करके उसमें एक रबड़ की नली द्वारा भोजन पहुँचाना उचित है।

वेधन[1]

वेधन में भिन्न-भिन्न स्थानों के अनुसार रक्त-प्रवाह में भिन्नता पाई जाती है।

गल वेधन—इसकी चिकित्सा ऊपर कहे अनुसार होती है।

वक्षःस्थल के वेधन—इस स्थान के वेधन से कई प्रकार से रक्त-प्रवाह होना सम्भव है। अन्तर्स्तनिका[2] तथा पर्शुकान्तरिका[3] धमनियों के कटने से रक्त-प्रवाह हो सकता है। हृदय तथा फुस्फुस से निकलनेवाली बड़ी धमनियों के क्षत से भी भयङ्कर रक्त-प्रवाह होता है। अन्तर्स्तनिका धमनी को दाबना अथवा उसका बन्धन करना अत्यन्त कठिन है। अन्तर्पर्शुकीय[4] स्थान इतना छोटा होता है कि उसके द्वारा संदंश को प्रविष्ट करना प्रायः असम्भव है। अतएव यदि आवश्यक हो तो कार्टिलेज को काटकर धमनी को ग्रहण करना चाहिए।

इससे उत्पन्न स्राव घातक हो सकता है। पर्शुकान्तरिका धमनी पर्शुका के बिलकुल

१. Stab. २. Internal mammary A. ३. Intercostal Art. ४. Intercostal space.

नीचे रहती है। इसको भी पकड़ने में कठिनाई होती है। यदि वह संदंश की पकड़ में न आवे तो बन्धन को, पर्शुका के नीचे से निकालकर, पर्शुका के ऊपर बाँध देना चाहिए। इससे पर्शुका और बन्धन के बीच में आकर धमनी दब जायगी।

हृदय का वेधन अत्यन्त भयानक होता है। प्रायः रोगी की तुरन्त मृत्यु हो जाती है। अलिन्द के क्षतों की अपेक्षा निलय के क्षत अधिक भयानक होते हैं। फुस्फुस के क्षत की भी यही दशा है। इन अवस्थाओं में तत्काल शस्त्र-कर्म से कुछ आशा की जा सकती है। किन्तु हृदय के क्षत में उसका भी बहुत कम अवसर मिलता है। यदि क्षत इतना भयङ्कर न हो तो रोगी को एकान्त कमरे में मर्फ़िया का इंजेक्शन देकर सुला देना चाहिए। उसको तनिक भी छेड़ना उचित नहीं।

उदर वेधन—इससे उदर-पेशियों की धमनियाँ, उदर के भीतर स्थित अङ्ग अथवा औदर्या कला[1] की धमनियों से रक्त-प्रवाह हो सकता है। उदरकला के क्षत होने से सारे उदर में शोथ का फैलना सम्भव है। यदि अन्त्रियाँ भी क्षत हो गई हैं तो उनकी भित्तियों में छिद्र होने से सारी उदर-गुहा में मल फैल जाता है। चिकित्सा करते समय इस बात को जान लेना बहुत आवश्यक है। भित्तियों द्वारा क्षत में एक शलाका डालकर यह देखना चाहिए कि क्षत कितना गहरा है। अन्त्रियों में क्षत होने से क्षत द्वारा दुर्गन्धि और गैस निकलने लगती है। ऐसी दशाओं में शस्त्र-कर्म आवश्यक होता है। उदर की भित्तियों का भेदन करके औदर्या कला और अन्त्रियों की परीक्षा करनी चाहिए। यदि कला की किसी धमनी से रक्त निकल रहा हो तो उसका बन्धन कर देना चाहिए। यदि अन्त्रियों में क्षत हुआ हो तो उसको सीना आवश्यक है। साथ में सारी उदर-गुहा की शुद्धि करनी भी उचित है। क्षत के द्वारा जो मल निकला है उसमें उपस्थित जीवाणु कला का शोथ उत्पन्न कर सकते हैं।

पैतृक रक्तस्राव[2]

यह एक विचित्र रोग है, जिसके कारण हलके से आघात के कारण भी तीव्र रक्त-प्रवाह उत्पन्न हो जाता है और सहज में नहीं रुकता। यह रोग पारिवारिक होता है और रोग-ग्रस्त परिवार की शाखा में पाया जाता है। इसमें विचित्रता यह है कि रोग केवल स्त्रियों ही के द्वारा संतति में पहुँचता है; पुरुष रोग को प्रवृत्त नहीं करता। रोगी पिता के पुत्र रोग से पूर्णतया मुक्त होते हैं। उनके बच्चों को भी रोग नहीं होता, किन्तु कन्याओं के बच्चों में इस रोग की प्रवृत्ति पाई जाती है, यद्यपि वह स्वयं रोग से मुक्त रहती हैं। इनमें भी रोग से पीड़ित होनेवाले केवल लड़के होते हैं, कन्याओं में रोग के लक्षण नहीं दिखाई देते। किन्तु कन्याओं की सन्तति में केवल पुत्र रोग-ग्रस्त होते हैं। ऐसे परिवारों में अधिकतर कन्याएँ ही उत्पन्न होती हैं और वह भी बहुत सन्तान उत्पन्न करनेवाली। अभी तक इस रोग का कारण नहीं मालूम हो सका है। रक्त-नलिकाओं में कोई त्रुटि नहीं पाई गई है। उनकी रचना साधारण व्यक्तियों की रक्त-नलिकाओं के समान होती है। रक्त के अवयव भी स्वस्थ मनुष्य ही के समान होते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि रक्त में उसको जमानेवाले अवयवों की कमी होती है। किन्तु इससे सब विद्वान् सहमत नहीं हैं।

---

१. Peritonium. २. Hæmophilia.

साधारणतया रोगी को अपनी दशा का ज्ञान भी नहीं होता। बाल्यकाल में प्रथम दो या चार वर्षों ही में इसके लक्षण प्रकट होने लगते हैं। बच्चे के तनिक से छिल जाने अथवा पिन के समान किसी वस्तु के चुभने से रक्तस्राव होने लगता है, जो कई दिन तक होता रहता है। यदि कोई शस्त्र-कर्म करना पड़ता है, तो उसके पश्चात् तीव्र रक्त-प्रवाह होता है, जो अनेकों उपाय करने पर भी नहीं रुकता। केशिकाओं से धीरे-धीरे रक्त निकलता रहता है। कुछ दिनों तक तो वह साधारण रक्त की भाँति होता है, किन्तु अन्त को पीले रङ्ग का और पतला दिखाई देता है, और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

बिना किसी आघात या कारण के रोगियों में रक्त-स्राव होते देखा गया है। सन्धियों के भीतर रक्त एकत्र हो जाता है और चर्म के द्वारा दिखाई देता है। अधिक रक्त-स्राव से रोगी दुर्बल, कृश और पाण्डुवर्ण दिखाई देता है। रक्तोत्सेध में पीड़ा होती है। शरीर का ताप १०२° या १०३° फैरनहीट हो जाता है। पाक होते भी देखा गया है, जिसके पश्चात् वहाँ व्रण बन जाता है।

कुछ समय के पश्चात् लक्षण कम होने लगते हैं। रक्त पुनः उत्पन्न होकर रोगी के वर्ण को पूर्ववत् बना देता है।

चिकित्सा—पारिवारिक इतिहास और रक्त-स्राव के इतिहास से रोग का निर्णय करना कठिन नहीं है। किन्तु केवल एक बार रक्त-स्राव होने पर यह रोग नहीं समझा जा सकता।

इस रक्त-प्रवाह को रोकने के लिए साधारण उपाय उपयुक्त नहीं हैं। सीरम के इंजेक्शन से उत्तम परिणाम निकले हैं। जहाँ तक हो सके, यह सीरम मनुष्य या किसी जन्तु के शरीर से, ताज़ा बनाना चाहिए। सीरम की २० सी० सी० चर्म के द्वारा अथवा १५ सी० सी० शिरा के द्वारा, प्रत्येक बार, रोगी के शरीर में प्रविष्ट करनी चाहिए। इस प्रकार ३ या ४ दिन में २०० या ३०० सी० सी० सीरम प्रविष्ट किया जा सकता है। जिस स्थान से रक्त निकल रहा हो, वहाँ पर भी सीरम से भिगोकर गौज़ की कवलिका रखनी चाहिए।

यदि ताज़ा सीरम न मिल सके तो डिफ्थीरिया अथवा टिटेनस (धनुस्तम्भ) का एण्टीसीरम प्रविष्ट किया जा सकता है। यदि ऐसे रोगियों में कोई शस्त्र-कर्म करना पड़े तो तीन या चार दिन तक सीरम को प्रविष्ट करने के पश्चात् करना चाहिए।

रक्त-प्रवाह को रोकने के दूसरे उपाय यह हैं—एड्रिनलीन से गौज़ को भिगोकर क्षत पर लगाना, आक्सिजन को कुछ समय तक सुँघाना, जिलेटीन का इंजेक्शन देना, जिलेटीन का साधारण नमक विलयन में २½% का घोल बनाकर उसके ५ औंस शरीर में प्रविष्ट करना तथा पिच्युटरीन इंजेक्शन देना।

जिलेटीन के विलयन का तापक्रम ११०° फैरनहीट होना चाहिए।

रोगी को खाने के लिए कैल्शियम लेक्टेट या क्लोराइड तथा थाइमस ग्रन्थि की टिकियाँ दी जाती हैं। दूध अधिक देना चाहिए। इमेटीन-हाइड्रो-क्लोराइड से भी लाभ होता है

नवाँ परिच्छेद

बन्धेज लगाना[१]

अबद्धो दंशमशकशीतवातादिपीडितः ।
दुष्टो भवेच्छिरं चात्र न तिष्ठेत्स्नेहभेषजम् ॥
कृच्छ्रेण शुद्धिं रूढिं वा याति रूढो विवर्णताम् ॥

अष्टाङ्गहृदय—सूत्रस्थान—अ० २९

शस्त्र-चिकित्सा में बन्धेज का बहुत काम पड़ता है। प्रत्येक व्रणोपचार बन्धेज लगाकर समाप्त किया जाता है। यदि कहीं भग्न हो जाता है तो वहाँ भी कुशा को बन्धेज द्वारा बाँधा जाता है। इस कारण बन्धेज लगाना शल्य-तन्त्र का एक मुख्य कर्म है। बन्धेज लगाने से चिकित्सक का प्रयोजन अङ्ग को या उस स्थान को, जहाँ बन्धेज लगाया गया है, सुरक्षित करना होता है। अतएव उत्तम बन्धेज वह है जो सारे स्थान पर एक समान भार डाले और अङ्ग को सुरक्षित रखे। वह न इतना कड़ा हो कि उससे रोगी के अङ्ग का रक्त-सञ्चालन बन्द हो जाय या उसको असुविधा हो, और न इतना ढीला ही हो कि थोड़े ही समय के पश्चात् उसके खुल जाने से सारा व्रणोपचार अपने स्थान से हट जाय। उत्तम बन्धेज से अङ्ग को विश्राम और बुरे बन्धेज से दुःख मिलता है। थोड़े से अभ्यास से निम्न-लिखित बन्धेज सहज में सीखे जा सकते हैं। केवल पढ़ने से बन्धेज लगाना नहीं आ सकता; अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। इसका उत्तम उपाय यह है कि तीन विद्यार्थी मिलकर बन्धेज लगाने का अभ्यास करें। एक विद्यार्थी पुस्तक का पाठ करे और दूसरा विद्यार्थी तीसरे के अङ्गों पर बन्धेज लगावे। अभ्यास को दुहराने के लिए जिस विद्यार्थी के अङ्ग पर पहली बार बन्धेज लगाये गये थे वह दूसरी बार बन्धेज लगावे और जो बन्धेज लगा रहा था वह पुस्तक का पाठ करे। इस प्रकार दो-तीन बार प्रयास करने से बन्धेज लगाने का पूर्ण अभ्यास हो जायगा। बन्धेज देखने में सुन्दर हो और जिस प्रयोजन के लिए उसको लगाया गया है, उसको पूर्ण करे।

बन्धेज बनाने के लिए किसी भी साधारण वस्त्र का उपयोग किया जा सकता है। वस्त्र चिकना, दृढ़ और स्वच्छ होना चाहिए। गाढ़ा, गज़ी, मलमल, लट्ठा, गौज़, फ़लालैन, रबर इत्यादि वस्तुओं के बन्धेज बनाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों के लिए भिन्न-भिन्न लम्बाई और चौड़ाई के बन्धेज आवश्यक होते हैं। अतएव आवश्यकता के समय प्रयोग करने के लिए कई प्रकार के बन्धेजों को बनाकर रख लेना चाहिए। सुविधा के लिए निम्नलिखित आकारों के बन्धेज बनाकर एकत्र कर लिये जाते हैं—

छः इंच चौड़े और ८ गज़ लम्बे—इन बन्धेजों का अधिक प्रयोग नहीं होता। यह वक्ष इत्यादि पर लपेटने में काम आते हैं। इसलिए इनको अधिक संख्या में न बनाना चाहिए।

---

१. Bandaging.

२½ इंच चौड़े और ४ गज़ लम्बे—यह बन्धेज अधिक काम में आते हैं। अङ्गों पर व्रण इत्यादि या कुशा बाँधने में इनका प्रयोग किया जाता है। अतएव इनकी पर्याप्त संख्या तैयार कर लेनी चाहिए।

१½ इंच चौड़े और ८ फ़ुट लम्बे—इनका प्रयोग भी अधिक होता है।

¾ इंच चौड़े और चार फ़ुट लम्बे—यह बन्धेज अँगूठे या अँगुलियों पर बाँधने के काम में आते हैं।

ऊपर बन्धेजों की जो लम्बाई-चौड़ाई लिखी गई है उससे यह न समझना चाहिए कि इनके अतिरिक्त दूसरी लम्बाई-चौड़ाई के बन्धेज नहीं होते। यह आयाम केवल सुविधा के लिए लिख दिया गया है। आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक लम्बाई-चौड़ाई के बन्धेज बनाये जा सकते हैं।

बन्धेज को भलीभाँति लपेटकर रखना चाहिए। हाथों से लपेटकर उनका एक छोटा बेलन बना लिया जाता है। पट्टी लपेटने के लिए मशीनें भी आती हैं, जिनमें इच्छानुसार लम्बाई-चौड़ाई की पट्टी बना ली जाती है। बन्धेज का बेलन दृढ़ और एक समान लिपटा होना चाहिए, अन्यथा अंग पर लगाते समय कठिनाई पड़ेगी और जिस प्रकार का सुन्दर और उत्तम बन्धेज होना चाहिए वैसा न बँधेगा।

प्रत्येक बन्धेज के एक शिर और एक पुच्छ होती है। जो भाग पहले अंग पर लपेटा जाता है वह शिर और दूसरा जो अन्त पर रहता है पुच्छ कहलाता है। बन्धेज शिर की ओर से लगाया जाता है। बन्धेज के दो पृष्ठ होते हैं; एक पूर्व जो लगानेवाले की ओर रहता है और दूसरा पश्चिम, जो पीछे रहता है। बेलन को इस भाँति पकड़ना चाहिए कि रोगी के बायें अङ्ग पर बन्धेज लगाते समय बेलन चिकित्सक की ओर दाहिने हाथ में और पट्टी का शिर बायें हाथ में रहे। इससे बन्धेज का पश्चात्-पृष्ठ रोगी के अङ्ग के सम्पर्क में रहेगा। बन्धेज सदा भीतर से बाहर की ओर को लगाना चाहिए। अर्थात् बेलन अङ्ग के भीतर की ओर से आरम्भ होकर अङ्ग के ऊपर होता हुआ बाहर की ओर और वहाँ से फिर अङ्ग के नीचे होता हुआ भीतर की ओर, जहाँ से आरम्भ हुआ था, जाना चाहिए। इस प्रकार बन्धेज अङ्ग के सामने की ओर भीतर से बाहर और अङ्ग के पीछे की ओर बाहर से भीतर को ज़ाता है। इस सारे प्रयोग में बन्धेज का बेलन चर्म के सम्पर्क में रहता है।

स्थानों और आवश्यकताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के बन्धेज लगाने पड़ते हैं। यहाँ मुख्य-मुख्य बन्धेजों का वर्णन किया जाता है। चिकित्सा के समय चिकित्सक को स्वयं इस बात का निर्णय करना चाहिए कि किस स्थान पर कौन सा बन्धेज लगाना उचित है।

अनुवेल्लित बन्धेज[1]—यह बन्धेज अङ्ग पर कुण्डलों के आकार में लगाया जाता है। अन्य बन्धेजों की भाँति इसको अङ्ग के नीचे की ओर से बाँधना आरम्भ करते हैं। प्रथम लपेट बन्धेज को स्थिर करने के लिए लगाया जाता है। पट्टी को अङ्ग के चारों ओर दो बार घुमाकर बन्धेज को स्थिर कर देते हैं। यह दोनों घुमाव एक ही स्थान पर रहते हैं। अर्थात्

---

1. Spiral bandage.

दूसरा लपेट प्रथम लपेट के ऊपर रहता है। इस प्रकार बन्धेज के आदि भाग को दृढ़ करके पट्टी के दूसरे घुमावों को ऊपर की ओर ले जाना आरम्भ करते हैं। प्रत्येक लपेट इस प्रकार लगाया जाता है कि वह पूर्व लपेट के ⅔ ऊपरी भाग को ढक ले। ज्यों-ज्यों नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों अङ्ग भी अधिक मोटे होते हैं। इस कारण कुछ ऊपर चलकर पट्टी के लपेट अङ्ग पर ठीक नहीं बैठते। उनको ठीक करने के लिए, जिससे बन्धेज देखने में सुन्दर दीखे और ढीला भी न होने पावे, लपेटों को मोड़ देना पड़ता है। यह मोड़ सदा अङ्ग के बाहर की ओर दिये जाते हैं। ऐसे स्थान पर, जहाँ अस्थि का उभार हो, मोड़ न देना चाहिए। मोड़ देते समय उस स्थान पर, जहाँ मोड़ देना है, पट्टी को ढीली करने के पश्चात् उस हाथ को, जिसमें पट्टी पकड़ी हुई है, इस प्रकार घुमाना चाहिए कि यदि पूर्व में हथेली अङ्ग की ओर थी तो अब वह बाहर की ओर और हथेली का पृष्ठ अङ्ग की ओर आ जाय। ऐसा करने से पट्टी स्वयं अपने ही ऊपर मुड़ जायगी। उसका ऊपर की ओर का किनारा नीचे आ जायगा और नीचे का किनारा ऊपर की ओर चला जायगा। इस प्रकार बन्धेज में मोड़ दिया जा सकता है। इस मोड़ से बन्धेज अङ्ग पर ठीक बैठ जाता है। उससे कहीं ढील नहीं रहती। आरम्भ में उन मोड़ों को लगाते समय कुछ कठिनता अवश्य होती है। इसलिए कुछ व्यक्ति जिस स्थान पर मोड़ देना होता है वहाँ दूसरे हाथ की एक उँगली को रख लेते हैं और उसके सहारे पट्टी को मोड़ देते हैं। किन्तु यदि पट्टी काफ़ी ढीली रक्खी जाय तो अँगुली के रखने की कोई आवश्यकता नहीं। मोड़ लगाने के पश्चात् पट्टी को फिर खींचा जा सकता है। किन्तु मोड़ लगाते समय पट्टी को अवश्य ढीला कर देना चाहिए। (देखो चित्र नं० ५७ का जंघा पर लगा हुआ भाग।)

इस प्रकार अङ्ग के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पट्टी के लपेटों में मोड़ देकर यह बन्धेज बाँध दिया जाता है।

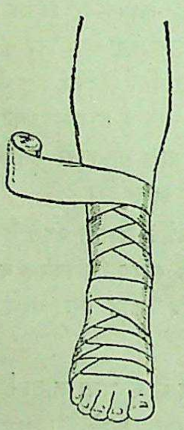

चित्र नं० ५५ जंघा का स्वस्तिक बन्धेज

स्वस्तिक बन्धेज—इस बन्धेज का स्वरूप हिन्दी के चार या अंगरेज़ी के आठ के अंक के समान होता है। यह बन्धेज सन्धि स्थानों के लिए बहुत उपयुक्त है। वहाँ अनुवेल्लित बन्धेज लगाना कठिन होता है। जिस सन्धि पर बन्धेज लगाना हो उसके नीचे से पट्टी बाँधना आरम्भ करो। प्रथम एक या दो लपेटों द्वारा बन्धन को स्थिर करने के पश्चात् पट्टी के दूसरे सिरे को अङ्ग के एक ओर से सन्धि के ऊपर होते हुए दूसरी ओर को ले जाओ। वहाँ से पट्टी को अङ्ग के पीछे से निकालकर सन्धि के ऊपर होते हुए सन्धि के नीचे अङ्ग की दूसरी ओर ले आओ। इस समय पट्टी का सिरा उसी स्थल पर पहुँच जायगा जहाँ से पट्टी बाँधनी आरम्भ की थी। उसी प्रकार अधिक लपेटों द्वारा सन्धि को ढक दो।

यदि सन्धि से ऊपर अङ्ग पर भी बन्धेज लगाना हो तो वहाँ अनुवेल्लित बन्धेज बाँधना चाहिए। इस प्रकार एक ही बन्धेज में दोनों प्रकार के बन्धेज लगाये जा सकते हैं।

पाँव के अँगूठे का बन्धेज—बायें हाथ से पट्टी के एक सिरे को अन्तर्गुल्फ के पास रखकर उसको पकड़े रहो और दूसरे हाथ से पट्टी के बेलन को टाँग के नीचे के भाग के प्रथम सामने की ओर तत्पश्चात् पीछे से निकालकर पाँव के ऊपर होकर उसके तले पर होते हुए अँगूठे के नीचे के उभार के पास पहुँच जाओ। वहाँ से पट्टी को पाँव के अन्तपार्श्व और ऊपर होते हुए अँगूठे और अँगुली के बीच की घाई में ले जाओ। तत्पश्चात् अँगूठे के शिर पर पहुँचकर वहाँ अनुवेल्लित बन्धेज लगाओ। वहाँ से पट्टी ऊपर की ओर चढ़ती हुई फिर अँगूठे के मूल तक पहुँच जाती है। यहाँ से पट्टी को फिर पाँव के ऊपर होते हुए बाहर की ओर ले जावो और पाँव के तले पर होते हुए अन्तर्गुल्फ के पास पहुँचो। यहाँ पर उसको पट्टी के पहले सिरे के साथ बाँध दो। चित्र में देखने से यह सहज में समझा जा सकता है।

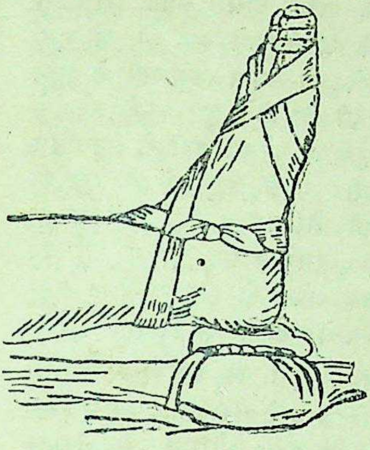

चित्र नं० ५६ अंगूठे का बन्धेज

जङ्घा का बन्धेज—बन्धेज को स्थिर करने के लिए प्रथम गुल्फ के चारों ओर कुछ स्वस्तिक लपेट दे देने चाहिएँ। इसके पश्चात् बन्धेज को जंघा के निचले भाग पर ले आना चाहिए। प्रथम दो चार लपेट साधारण अनुवेल्लित होंगे, किन्तु शेष लपेटों में मोड़ देना पड़ेगा। यह मोड़ जंघा के बाहर की ओर देने चाहिएँ और सारे मोड़ एक ही रेखा में रहने चाहिएँ। जिससे बन्धेज सुन्दर दीखे। इस प्रकार, जितने ऊपर तक आवश्यक हो, बन्धेज लगाया जा सकता है।

यदि जंघा के साथ पाँव का बन्धेज भी लगाना है तो प्रथम अँगुलियों के मूल से आरम्भ करके पाँव पर कुछ अनुवेल्लित लपेट लगाओ। तत्पश्चात् गुल्फ पर पहुँचकर स्वस्तिक लपेट लगाकर ऊपर कहे अनुसार जंघा पर बन्धेज लगा दो।

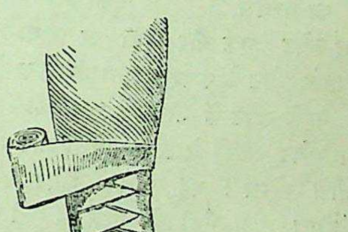

चित्र नं० ५७ पाँव, गुल्फ और जंघा का बन्धेज

गुल्फ का बन्धेज (एँड़ी और पाँव के सहित)—एँड़ी के नीचे की ओर से पट्टी बाँधना आरम्भ करो। बायें हाथ से एक सिरे को वहाँ थामकर दूसरे हाथ से पट्टी के बेलन को गुल्फ के आगे की

1. Figure of eight bandage.

ओर ले जाकर वहाँ चारों ओर एक लपेट लगा दो। इसके ऊपर दूसरा लपेट लगाओ। किन्तु उसको इस प्रकार लगाना चाहिए कि वह पहले के लपेट के नीचे के आधे भाग को ढक ले। इसके पश्चात् तीसरा लपेट इस प्रकार दो कि वह पहले लपेट के ऊपरी आधे भाग को, जो खुला रह गया है, ढके। इस लपेट को समाप्त करके पट्टी के बेलन को एँड़ी से पाँव के भीतर की ओर होते हुए उसके ऊपर से निकालकर अँगुलियों के मूल पर पहुँचो। यहाँ से अनुवेल्लित बन्धेज लगाना आरम्भ करो। पहले अङ्गुलियों के मूल पर लपेट दो और तब ऊपर की ओर बढ़ो। जहाँ आवश्यक हो वहाँ पट्टी में मोड़ लगा दो। इसके पश्चात् एँड़ी पर पहुँचकर गुल्फ के चारों ओर स्वस्तिक लपेट दो और गुल्फ के ऊपर जंघा के नीचे के सिरे पर बन्धेज को समाप्त कर दो।

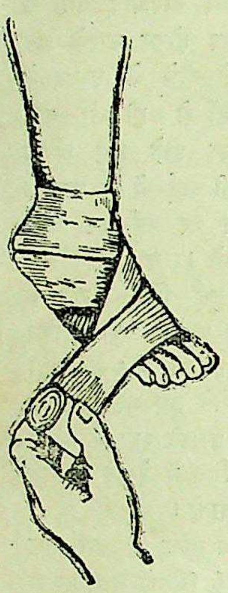
चित्र नं० ५८ गुल्फ का बन्धेज

गुल्फ का बन्धेज—(एँड़ी को छोड़कर) एँड़ी को छोड़ते हुए गुल्फ पर स्वस्तिक बन्धेज लगाना चाहिए। एक ओर का लपेट पाँव पर और दूसरे और का लपेट जंघा के निम्न भाग पर रहेगा। एँड़ी बिलकुल छोडी जा सकती है। इस स्थान के लिए स्वस्तिक बन्धेज अत्यन्त उपयुक्त है।

गुल्फ और एँड़ी का स्वस्तिक बन्धेज—इस स्थान पर स्वस्तिक बन्धेज लगाने की विधि का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। भीतर से बाहर की ओर को लपेट लगाते हुए, प्रथम लपेट गुल्फ और एँड़ी पर लगाना चाहिए। दूसरा लपेट इससे ऊपर रहेगा, जो पहले लपेट के ऊपरी भाग को ढक लेगा। तीसरा लपेट दूसरे लपेट से नीचे रहेगा और पहले लपेट के नीचे के कुछ भाग को ढकेगा। चौथा लपेट तीसरे से ऊपर रहेगा और पाँचवा तीसरे के नीचे रहेगा। यह पाँचवाँ लपेट पाँव के तले पर होता हुआ एँड़ी के पास से भीतर की ओर निकलेगा। किन्तु वहाँ से गुल्फ के ऊपर न जाकर एँड़ी के पार्श्व भाग पर होता हुआ पार्ष्णि-कण्डरा की ओर चला जायगा, जैसा चित्र में दिखलाया गया है। वहाँ से छठा लपेट आरम्भ होगा जो गुल्फ के सामने की ओर पाद-पृष्ठ पर होता हुआ पाँव के तल पर होकर एँड़ी के बाहर की ओर पहुँचेगा। यहाँ से लपेट गुल्फ के सामने न जाकर एँड़ी के बाहरी पार्श्वभाग पर होता हुआ जंघा के पीछे की ओर चला जाता है, जिस प्रकार पाँचवाँ लपेट एँड़ी के भीतर पार्श्व पर होता हुआ पीछे की ओर जाता है। वहाँ से यह सातवाँ लपेट फिर गुल्फ के सामने की ओर लाया जाता है और आवश्यकतानुसार एक या दो लपेट और लगाकर बन्धेज को समाप्त कर दिया जाता है।

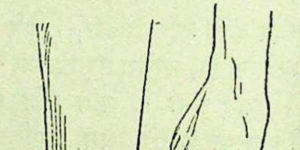
चित्र नं० ५९ गुल्फ और एँड़ी का स्वस्तिक बन्धेज

जानु-सन्धि का बन्धेज—पट्टी के एक सिरे को जान्वस्थि के नीचे रखकर पट्टी के बेलन को जंघा के नीचे ले जाकर फिर बाहर की ओर लाओ, जिससे यह लपेट पट्टी के प्रथम सिरे को ढक ले और स्थिर हो जाय। इस प्रकार यह दूसरा लपेट जंघा पर प्रथम लपेट को ढके रहेगा। यहाँ से बेलन को सन्धि के पीछे की ओर ले जाकर उसको जान्वस्थि के ऊपरी किनारे के पास निकालो। इस प्रकार यह तीसरा लपेट ऊरु के निचले भाग पर रहेगा। इस लपेट को फिर पीछे की ओर ले जाओ। इसी प्रकार चौथा लपेट भी उसी के ऊपर लगा दो। किन्तु यह लपेट तीसरे लपेट से ऊँचा रहेगा। इस लपेट को समाप्त करके पाँचवाँ लपेट चौथे लपेट को ढकता हुआ नीचे को उतरेगा। सन्धि के ऊपर होता हुआ यह लपेट जान्वस्थि के नीचे आ जायगा और सन्धि के पीछे जाकर दूसरी ओर को निकलकर फिर ऊपर चढ़ना आरम्भ करेगा। किन्तु वह प्रथम नीचे उतरनेवाले लपेट को थोड़ा ढक देगा। सन्धि के ऊपर पहुँचकर फिर वह उसके पीछे की ओर जायगा और फिर दूसरी ओर से नीचे को उतरेगा। उतरते समय पूर्व चढ़नेवाले लपेट को ढकेगा। इस प्रकार प्रत्येक लपेट एक दूसरे को ढकता हुआ चला जायगा। इसी भाँति उस समय तक लपेट लगाते जाओ, जब तक सन्धि पूर्णतया न ढक जावे।

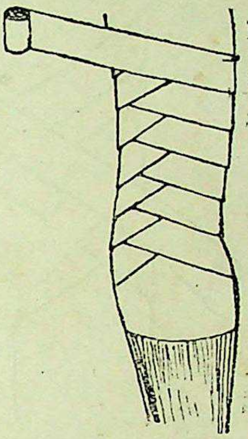

चित्र नं० ६० जानु का बन्धेज

ऊरु-सन्धि का सुपारा बन्धेज[1]—यह बन्धन ऊरु-सन्धि के पास के क्षतों को ढकने लिए लगाया जाता है इससे व्रणोपचार-वस्त्र अपने स्थान से हटने नहीं पाते।

बन्धेज ऊरु-सन्धि के नीचे, ऊरु और अण्डकोष के बीच की घाई से लगाना आरम्भ किया जाता है। बन्धेज के एक सिरे को वहाँ पर रखकर दूसरे सिरे को ऊपर और बाहर की ओर ले जाया जाता है, जिससे वह नितम्बास्थि के ऊपरी किनारे के ऊपर पहुँच जाता है। वहाँ पट्टी का बेलन नितम्बों से ऊपर कटि प्रान्त पर होता हुआ दूसरी ओर की नितम्बास्थि के ऊपरी किनारे पर होकर फिर बाहर की ओर आता है, जहाँ से वह पेडू के स्थान पर होता हुआ जहाँ से आरम्भ हुआ था वहीं आ जाता है। यहाँ से पट्टी का दूसरा लपेट आरम्भ होता है, जो पहले लपेट के ऊपर होता हुआ ऊरु के पीछे चला जाता है और फिर भीतर की ओर से निकलकर पहले लपेट के ऊपरी आधे भाग को ढकता हुआ

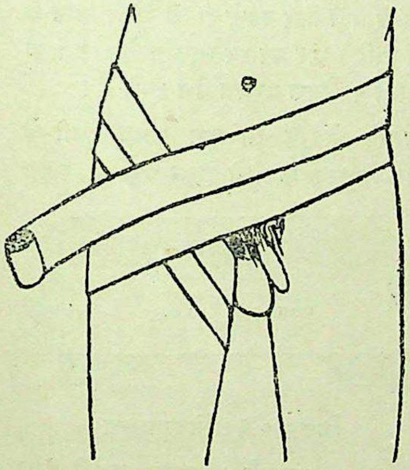

चित्र नं० ६१

1. Spica of groin.

नितम्बास्थि की ओर जाता है। वहाँ से पूर्व लपेट की भाँति वह कटि प्रान्त में होता हुआ दूसरी ओर से सामने आकर फिर क्षत ऊरु पर पहुँच जाता है। शेष लपेट भी इसी प्रकार लगाये जाते हैं। इस स्थान के लिए यह बन्धेज बहुत उपयुक्त है। इसको बाँधते समय रोगी के नितम्बों को ऊँचा कर देना चाहिए। यदि रोगी खड़ा हो सके तो इस बन्धेज को बाँधने में बहुत सुभीता होगा। आवश्यक होने पर दोनों ओर के ऊरु पर यह बन्धेज एक साथ बाँधा जा सकता है।

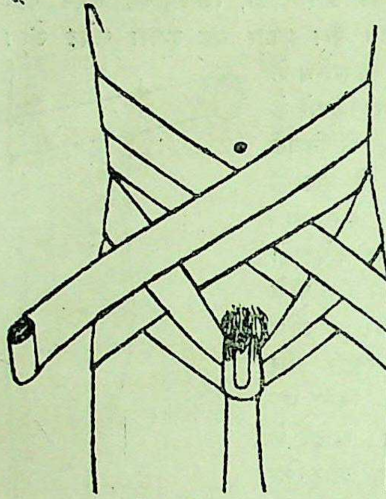

चित्र नं० ६२

दोनों ओर के ऊरु का सुपाशा बन्धेज[1]—इस बन्धेज का आरम्भ ऊपर कहे हुए बन्धेज ही की भाँति होता है। दाहिनी ओर के ऊरु की घाई से आरम्भ करके पट्टी दाहिनी नितम्बास्थि पर होती हुई कटि प्रान्त पर से निकलकर बाईं नितम्बास्थि पर पहुँचती है। यहाँ से पट्टी के बेलन को दाहिनी ओर न ले जाकर बाईं ऊरु के घाई की ओर ले जाते हैं। वहाँ से पीछे की ओर जाकर ऊरु के बाहर से फिर सामने की ओर आ जाते हैं। यहाँ से पट्टी उदर के ऊपर होती हुई दाहिनी नितम्बास्थि के ऊपर पहुँचती है, जहाँ से वह कटि के पीछे को लाई जाती है और वहाँ से बाईं ओर की नितम्बास्थि के ऊपर होती हुई दाहिनी ऊरु के ऊपर आ जाती है। इससे पट्टी का प्रथम सिरा, जो यहाँ रक्खा हुआ था, ढक जाता है। यहाँ से पट्टी फिर ऊरु के पीछे जाकर घाई में से निकलती है और बाईं ओर की नितम्बास्थि पर से होती हुई फिर बाईं ओर के ऊरु के ऊपर एक स्वस्तिक बन्धेज लगाती है। वहाँ से पट्टी फिर पहले ही की भाँति कटि के चारों ओर होकर दाहिनी ओर पहुँचती है वहाँ दाहिने ऊरु पर स्वस्तिक बन्धेज लगाया जाता है। इस प्रकार दोनों ओर के ऊरु पर एक साथ स्वस्तिक बन्धेज बँध जाते हैं।

नितम्बाश्रय—ऊरु या पेड़ू पर बन्धेज लगाने होते हैं तो उस समय रोगी के कटि प्रान्त को ऊँचा करना पड़ता है, जिससे उसके नितम्बों के नीचे होकर पट्टी को सहज में निकाला जा सके। साधारणतया दो उपचारक रोगी के दोनों ओर खड़े होकर अपने हाथ रोगी के नीचे डालकर उसको ऊँचा कर देते हैं। किन्तु अधिक समय तक कटि को ऊँचा रखने से उपचारकों की बाहु दुखने लगती हैं।

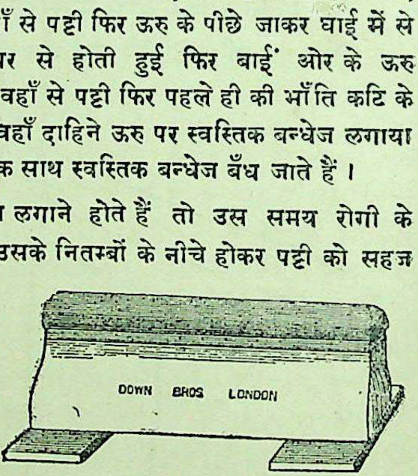

चित्र नं० ६३ नितम्बाश्रय

नितम्बाश्रय लकड़ी का बना होता है। चित्र देखने से इसका आकार सहज में समझा जा सकता है। इसका ऊपरी भाग

1. Double spica.

वस्त्र की छोटी गद्दी से ढका रहता है। इसको नितम्बों के नीचे रख दिया जाता है जिससे बन्धेज लगाने में किसी प्रकार की कठिनता नहीं होती। चित्रों में दो प्रकार के नितम्बाश्रय दिखाये गये हैं।

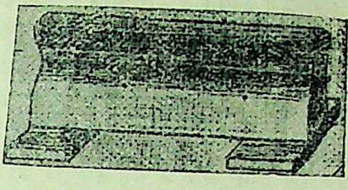

चित्र नं० ६४ नितम्बाश्रय

अण्डकोष और मलद्वार के बीच के स्थान का बन्धेज[1]—इस स्थान में शस्त्र-कर्मों के पश्चात् उपचार-वस्त्रों को यथास्थान रखने के लिए इस प्रकार बन्धेज बाँधा जाता है कि मल और मूत्र के लिए स्थान खुला रहता है। यह बन्धेज सेन्ट एंड्रूज क्रौस के नाम से पुकारा जाता है।

दाहिनी ओर नाभि के नीचे से यह बन्धेज आरम्भ किया जाता है। दाहिने नितम्ब के ऊपर पट्टी के सिरे को रखकर दूसरे हाथ से बेलन को उदर के ऊपर ले जाकर दूसरी ओर की नितम्बास्थि के ऊपर से निकालते हुए पट्टी को फिर दाहिनी ओर ले आते हैं। पट्टी का सिरा इस लपेट के नीचे आ जाता है। तब पट्टी को आगे की ओर से निकालकर दाहिने ऊरु पर होकर बाईं ओर पहुँच जाते हैं। वहाँ पट्टी बायें ऊरु के ऊपर होती हुई पीछे को जाकर बायें नितम्ब के नीचे की घाई पर होकर अण्डकोष के नीचे के स्थान पर से निकलकर, जिसको ढकना अभीष्ट है, दाहिने ऊरु के भीतर से दाहिनी नितम्बास्थि के ऊपरी किनारे की ओर लाई जाती है। यहाँ पट्टी कटि के पीछे होती हुई बाईं नितम्बास्थि के ऊपर पहुँच जाती हैं, जहाँ से वह बायें ऊरु की ओर उतरना आरम्भ करती है। यहाँ से वह अण्डकोष के नीचे के स्थान पर जाती है। इस स्थान पर व्रणोपचार-वस्त्र इत्यादि रखे हुए हैं और पट्टी का प्रथम लपेट भी स्थित है। यह लपेट पहले लपेट के ऊपर से निकला हुआ दाहिने नितम्ब के नीचे की घाई के नीचे लाया जाता है। वहाँ से फिर उसको दाहिने ऊरु के ऊपर लाकर उदर के निचले भाग पर होते हुए बायें ओर की नितम्बास्थि के किनारे पर ले जाते हैं। इसके पश्चात् पट्टी फिर कटि पर होती हुई दाहिनी ओर पहुँचती है और फिर पहले की ही भाँति लपेट लगाती है। इस प्रकार यह दोनों ओर के ऊरुस्थलों पर से निकलती है और अण्डकोष के नीचे के स्थान को अंग्रेजी के अक्षर के x आकार के बन्धेज द्वारा ढक देती है। इस स्थान पर जो वस्त्र होते हैं उनमें एक छिद्र करके उसके द्वारा शिश्न के मुख को बाहर की ओर निकाल देते हैं जिससे मूत्र-त्याग में कोई कठिनाई न हो। वस्त्रों के नीचे की ओर मलद्वार खुला रहता है।

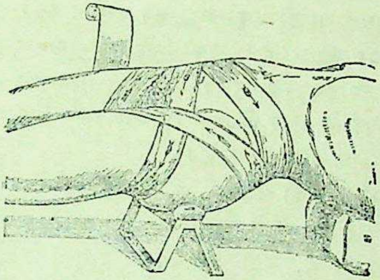

चित्र नं० ६५

मल-मूत्र त्याग करवाते समय सदा इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि उनके द्वारा व्रणोपचार-वस्त्र दूषित न होने पावें।

अण्डकोष के शस्त्र-कर्म के पश्चात् बन्धेज लगाना—इन शस्त्र-कर्मों के

---

१. Perineum.

पश्चात् सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्रणोपचार इस प्रकार हो कि मल के द्वारा व्रण दूषित न होने पावे। इसलिए व्रण को शुद्ध गोज़ और रूई से भली भाँति ढक देना चाहिए। अण्डकोषों के नीचे पर्याप्त रूई रखने की आवश्यकता है, जिससे वह रूई पर आश्रित रहे। इन सब वस्त्रों के ऊपर बरसाती का टुकड़ा लगा देना चाहिए, जिससे यदि मल-मूत्र उस पर गिर भी पड़ें तो वह भीतर के वस्त्रों तक न पहुँच सकें।

व्रणोपचार को यथास्थान रखने के लिए दुहरा सुपाशा बन्धेज लगाना चाहिए, जिसमें दोनों ओर के ऊरु उपचार को यथास्थान रखें। इसके ऊपर से उपर्युक्त बन्धेज भी लगा देना चाहिए। इन वस्त्रों और बन्धेजों द्वारा शिश्न के बाहर को निकले रहने का प्रबन्ध कर देना आवश्यक है।

किन्हीं-किन्हीं दशाओं में कोष में ऊरु की ओर छेदन किया जाता है। ऐसे समय केवल इकहरी सुपाशा पर्याप्त है।

हाथ की अँगुली का बन्धेज—अँगुली के बन्धेज के लिए ३/४ इंच चौड़ी पट्टी पर्याप्त है। उसके एक सिरे को कलाई के ऊपर एक या दो बार लपेट कर बन्धेज को स्थिर कर दिया जाता है। इस सिरे को इस भाँति लपेटना चाहिए कि उसका दो या तीन इंच का भाग लपेट से बाहर निकला रहे और अन्त में दूसरे सिरे के साथ बाँधा जा सके।

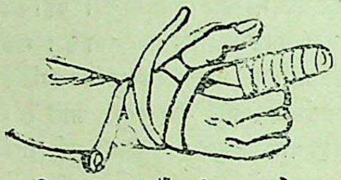

चित्र नं० ६६ अँगुली का बन्धेज

इस सिरे को लपेटने के पश्चात् पट्टी हाथ के ऊपर होकर अँगुली के सिरे तक लाई जाती है और वहाँ से ऊपर की ओर अनुवेल्लित बन्धेज बाँधा जाता है, यहाँ तक कि वह अँगुली के मूल पर पहुँच जाता है। वहाँ से पट्टी के दूसरे सिरे को हाथ के ऊपर से कलाई तक ले जाते हैं और उसका एक या दो लपेट लगाकर पट्टी के पहले सिरे के साथ उसे बाँध देते हैं।

हाथ के अँगूठे का सुपाशा बन्धेज—इसके लिए भी ३/४ इंच चौड़ी पट्टी पर्याप्त है। कलाई पर एक या दो लपेट लगाकर पट्टी को हाथ के ऊपर से अँगूठे की प्रथम कर-भास्थि तक ले जाते हैं। यहाँ अँगूठे के मूल पर एक लपेट लगाया जाता है। इसके पश्चात् पट्टी अँगूठे और तर्जनी के बीच से निकलकर कलाई के भीतर की ओर (बाह्य प्रकोष्ठास्थि से अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर) लाई जाती है। वहाँ से पट्टी फिर बाहर की ओर

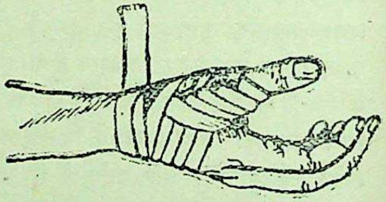

चित्र नं० ६७

जाकर हाथ के ऊपर होती हुई, अँगूठे के नीचे होकर पहले लपेट की भाँति तर्जनी और अँगूठे के बीच से निकलती है। यह दूसरा लपेट सदा पहले लपेट के लगभग १/४ भाग को ढके रहता है। इस प्रकार यह लपेट अँगूठे के मूल से, अपने से पहले लपेट का निचला चौथाई भाग ढकता हुआ नीचे की ओर को उतरता जाता है। इस प्रकार अँगूठा से ढक जाता है। अन्त में कलाई पर एक या दो लपेट देकर बन्धेज को समाप्त कर दिया जाता है।

हाथ और अग्रबाहु का बन्धेज—यह बन्धेज हाथ पर से आरम्भ किया जाता है। पहले हथेली और कलाई पर स्वस्तिक बन्धेज के कई लपेट दिये जाते हैं यह लपेट हाथ

के पृष्ठ पर एक दूसरे के ऊपर होकर निकलते हैं। वह एक ओर से हाथ के ऊपर होते हुए जाते हैं और फिर कलाई के नीचे होकर दूसरी ओर से अँगूठे के मूल पर आ जाते हैं। जब इन लपेटों से हाथ का पृष्ठ और कलाई ढक जाती है तब अग्रबाहु पर कुछ साधारण अनुवेल्लित लपेट लगा दिये जाते हैं। यदि इससे ऊपर का भाग भी बन्धेज द्वारा ढकना अभीष्ट है तो उसको मोड़ देकर अनुवेल्लित बन्धेज द्वारा ढका जा सकता है

कूर्पर सन्धि का बन्धेज—जानुसन्धि की भाँति कूर्पर-सन्धि पर भी स्वस्तिक बन्धेज लगाया जा सकता है। बन्धेज लगाते समय कुहनी को मोड़ कर कूर्पर के नीचे से बन्धेज लगाना आरम्भ करना चाहिए। इसके लपेट उसी प्रकार लगाये जायँगे जिस प्रकार जानु-सन्धि में लगाये गये थे।

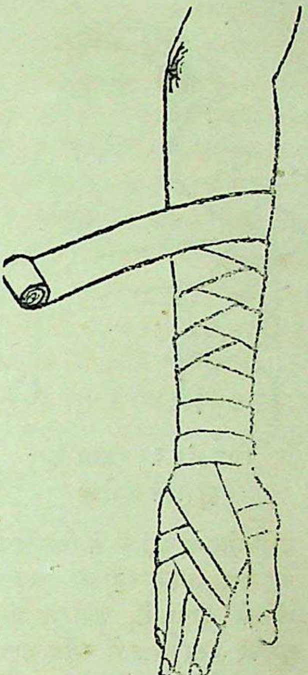

चित्र नं० ६८

बाहु का बन्धेज—साधारण अनुवेल्लित बन्धेज से बाहु को ढ़का जा सकता है। यदि कुहनी और बाहु दोनों का बन्धेज करना हो तो कुहनी के ऊपर स्वस्तिक और बाहु पर अनुवेल्लित बन्धेज का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ मोड़ की आवश्यकता हो वहाँ मोड़ देने चाहिएँ।

कक्ष का बन्धेज—बन्धेज को पीछे की ओर से कक्ष में होकर आगे को निकालते हैं। वहाँ से यह बन्धेज, उरच्छदा पेशी पर होता हुआ, कन्धे पर जाता है और वहाँ से गर्दन के पीछे होता हुआ आगे को आकर फिर कन्धे पर चला आता है। इस प्रकार बन्धेज का यह लपेट गर्दन के चारों ओर लिपट जाता है। बन्धेज कन्धे पर से फिर कक्ष में पीछे की ओर प्रवेश करके आगे पहुँचकर वक्ष पर होकर पुनः गर्दन में पहुँच जाता है और पहले की भाँति फिर कक्ष के पीछे पहुँचता है। इस प्रकार कक्ष और गर्दन में स्वस्तिक लपेट लग जाते हैं। इसी भाँति आवश्यकता के अनुसार इच्छानुसार कक्ष को ढका जा सकता है।

कुछ व्यक्ति गर्दन के चारों ओर लपेट न लगाकर दूसरी ओर के कन्धे का उपयोग करते हैं। विक्षत कक्ष में से बन्धेज को ले जाकर दूसरी ओर के कन्धे के ऊपर होकर पट्टी को उस ओर के कक्ष से निकालते हैं और उसको फिर कन्धे के ऊपर से ले जाकर, जिससे उधर के कन्धे पर एक पूर्ण लपेट लग जाता है, पीठ पर होकर क्षत-कक्ष के पीछे पहुँचते हैं जहाँ से पट्टी को फिर पहिले की भाँति बाहर निकालकर दूसरे कन्धे पर ले जाते हैं। इस प्रकार बन्धेज आवश्यकतानुसार विस्तृत किया जा सकता है।

स्कन्ध का सुपाश बन्धेज—बाहु के लगभग बीच से इस बन्धेज को लगाना प्रारम्भ किया जाता है। बाहु के बीच में एक लपेट लगाकर पट्टी को स्थिर करने के पश्चात्

उसको बाहु के पीछे से कमर पर होकर, दूसरी ओर के कक्ष में से निकालकर, सामने वक्ष पर होते हुए उसी स्थान पर आ जाना चाहिए जहाँ से पट्टी बाँधना आरम्भ किया था। इस समय पट्टी का यह भाग बाहु के लपेट के समानान्तर, किन्तु कुछ ऊँचा, रहेगा। अब पट्टी को बाहु के ऊपर होकर, पीछे की ओर ले जाकर, बाहु और वक्ष के बीच में होकर सामने की ओर ले आना चाहिए। फिर इसी प्रकार करना चाहिए, अर्थात् पट्टी को बाहु के ऊपर से ले जाकर पीठ पर होते हुए दूसरे कक्ष में से निकालकर सामने की ओर से फिर क्षत-बाहु पर ले आना चाहिए। इस प्रकार बन्धेज के लपेट बाहु पर ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं, जिससे सारा स्कन्ध तथा गर्दन ढक जाती है।

चित्र नं० ६९ स्कन्ध का सुपाशा बन्धेज

ग्रीवा का सुपाशा बन्धेज—यह बन्धेज स्कन्ध पर से आरम्भ किया जाता है। पट्टी का एक सिरा कन्धे पर रखकर दूसरा सिरा उसी ओर के कक्ष में से निकालकर प्रथम सिरे के ऊपर से ले जाया जाता है। तत्पश्चात् यह सिरा अथवा पट्टी का बेलन ग्रीवा के आगे की ओर से जाता है, जहाँ वह ग्रीवा के चारों ओर घूमकर फिर कक्ष में पहुँच जाता है। इस प्रकार ग्रीवा और कक्ष में एक या दो अनुवेल्लित लपेट लगाये जाते हैं। इसके पश्चात् पट्टी चिबुक के नीचे होकर क्षत के दूसरी ओर के कर्ण के पीछे होती हुई शिर के ऊपर लाई जाती है। वहाँ से वह क्षत ओर के कर्ण के सामने आती है। फिर ग्रीवा में उसका एक लपेट दिया जाता है। इसके पश्चात् उसको फिर चिबुक के नीचे से निकालकर शिर पर ले जाते हैं। किन्तु इस बार वह अक्षत ओर के कर्ण के सामने रहती है। तीसरी बार फिर पट्टी को शिर पर ले जाया जाता है। किन्तु शिर पर पहुँचकर उसको पीछे की ओर घुमा दिया जाता है वहाँ से आगे को माथे की ओर लाया जाता है और वहाँ पगड़ी के समान दो या तीन लपेट लगाये जाते हैं। इनका अभिप्राय दूसरे लपेटों को केवल यथास्थान रखना होता है। यदि व्रण ग्रीवा में बहुत दूर तक नीचे की ओर फैला हुआ है तो उस पर स्कन्ध का सुपाशा बन्धेज ग्रीवा के साथ बाँध देना चाहिए।

चित्र नं० ७० ग्रीवा का सुपाशा बन्धेज

लपेटों में यथास्थान आलपीन लगा दी जायँ, जिससे लपेट स्थान-च्युत न होने पावें।

शिर का बन्धेज—शिर का साधारण बन्धेज, जैसा चित्र में दिखाया गया है, केवल शिर के चारों ओर पट्टी की कुछ लपेट लगाकर बाँध दिया जाता है। यह लपेट प्रायः ऊपर की ओर को खिसकने लगते हैं। इस कारण पट्टी को कर्ण के आगे से नीचे की ओर को मोड़ दिया जाता है, जिससे चिबुक पर एक लपेट लग जाता है। यह लपेट दूसरी ओर से शिर के ऊपर ले जाकर फिर कान के पास लाकर, जहाँ से पट्टी को मोड़ा था, पहले लपेटों के साथ सी दिया जाता है।

चित्र नं० ७१ शिर का साधारण बन्धेज

जब उपचार-वस्त्रों को शिर के ऊपर रखना हो तो चिबुक के नीचे होकर तीन या चार लपेट लगाकर उसके ऊपर माथे पर होते हुए कुछ गोल लपेट पिन के द्वारा स्थिर कर देने चाहिएँ।

चित्र नं० ७२ अधिक भार के लिए प्रयुक्त बन्धेज

जब क्षत शिर के एक ओर स्थित हो और उस पर भार देना अभीष्ट हो तो चित्र की भाँति बन्धेज बाँधना चाहिए। इसमें एक लपेट ऊपर को चढ़ता है और दूसरा नीचे को उतरता है। इस प्रकार यह लपेट आपस में एक दूसरे को उस स्थान पर काटते हैं, जहाँ भार डालना अभीष्ट है।

वितान बन्धेज—जैसा चित्र से विदित है यह बन्धेज शिर को एक टोपी की भाँति ढक लेता है। और यदि इसको ठीक प्रकार से लगाया गया है तो वह सहज में शिर से नहीं उतरता। इस कारण वह शिर के उपचार-वस्त्रों को अपने स्थान से नहीं हटने देता।

इस बन्धेज के लिए दो पट्टियों की आवश्यकता होती है। एक दो इंच और दूसरी तीन इंच चौड़ी होती है। इन दोनों के सिरों को आपस में सी दिया जाता है। इस प्रकार दो ओर दो बेलन बन जाते हैं जो दोनों हाथों में थाम लिये जाते हैं। छोटा बेलन दाहिने हाथ में और बड़ा बेलन बायें हाथ में लेकर उपचारक रोगी के पीछे खड़ा होता है जो कुर्सी, तिपाई या चारपाई पर बिठा दिया जाता है। दोनों बेलनों के बीच के भाग को माथे पर रखा जाता है। इस भाग को जितना भी नीचा हो सके रखना चाहिए और भले प्रकार से स्थिर करके दोनों बेलनों को कानों की ओर ले जाना चाहिए। पीछे की ओर ले जाते समय पट्टी को नीची करते जाना चाहिए जिससे दोनों ओर की पट्टी पीछे गुद्दी पर जाकर मिलें। यदि वह

चित्र नं० ७३

ऊँची मिलेंगी तो बन्धेज के ढीले होकर उतर जाने का डर है।

गुद्दी पर दोनों ओर की पट्टियों के मिलने के पश्चात् दोनों का भावी क्रम बदल जाता है। चौड़ी पट्टी शिर के चारों ओर पहले ही की भाँति घूमती जाती है। किन्तु छोटी पट्टी आगे से पीछे और पीछे से आगे की ओर चलती है। यह इस प्रकार किया जाता है—प्रथम बार पीछे गुद्दी पर पहुँचकर छोटी पट्टी को बड़ी पट्टी के नीचे कर देते हैं जिससे बड़ी पट्टी छोटी पट्टी को दाबते हुए बाईं ओर से दाहिनी ओर को चली जाती है। किन्तु छोटी पट्टी को आगे की ओर मोड़कर शिर के ऊपर होते हुए माथे की ओर ले जाते हैं। यह प्रथम लपेट शिर के बिल्कुल बीच में रहता है। माथे पर पहुँचकर इस छोटी पट्टी को फिर बड़ी पट्टी के नीचे कर देते हैं, अर्थात् पीछे की ओर से आनेवाली छोटी पट्टी माथे पर पहले पहुँच जाती है। दाहिनी ओर से आनेवाली बड़ी पट्टी को इसके ऊपर से निकालते हैं, जो सीधी बाईं ओर को चली जाती है। छोटी पट्टी को आगे से फिर पीछे की ओर लौटा लाते हैं। और उसको पीछे की ओर, जहाँ से आरम्भ किया था उसके जितना पास हो सकता है, पहुँचा देते हैं। यहाँ फिर माथे की ही भाँति छोटी पट्टी को बड़ी पट्टी से ढककर उसमें अटका देते हैं, जिससे छोटी पट्टी को फिर आगे की ओर ले जा सकें। किन्तु छोटी पट्टी के यह लपेट प्रथम शिर के बीचवाले लपेट के दोनों ओर लगाये जाते हैं, यद्यपि यह उसको कुछ ढके भी रहते हैं। इस प्रकार अधिक लपेट लगाकर सारा शिर ढका जा सकता है।

नेत्र का बन्धेज—पट्टी के एक सिरे को रोगग्रस्त नेत्र के ऊपर माथे पर रखो और वहाँ से पट्टी के बेलन को दूसरे नेत्र की ओर (माथे ही पर) ले जाओ और शिर के चारों ओर घुमाते हुए उसको फिर दूसरी बार रोगी के नेत्र की दूसरी ओर के कर्ण के ऊपर ले आओ। वहाँ से पट्टी को गुद्दी पर होकर दूसरी ओर के कान के निम्न भाग की ओर उतारना आरम्भ करो। जब पट्टी कान के पास पहुँच जाय तो उसको कान के नीचे से निकालकर रोगी के नेत्र की ओर ले जाओ। यह पट्टी नेत्र पर रखे हुए उपचार-वस्त्रों को दबा लेगी। जब यह पट्टी माथे पर लिपटे हुए भाग पर पहुँच जाय तो उसको पिन लगाकर स्थिर कर देना चाहिए।

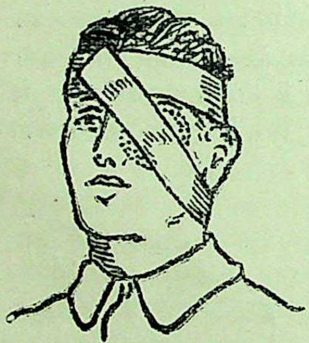

चित्र नं० ७४ नेत्र का बन्धेज

कर्ण और शंखास्थि[1] की विद्रधि का बन्धेज—कर्ण के ऊपर और उसके पीछे की ओर विद्रधि या व्रण को वस्त्रों से ढक दो। पट्टी के एक सिरे को इस पर रखकर उसको पीछे की ओर ले जाकर शिर के चारों ओर एक लपेट लगा दो। इस लपेट से वस्त्र स्थिर हो जायँगे। यह लपेट कान के पीछे से कर्ण के आगे होता हुआ माथे की ओर जायगा। वहाँ से दूसरे कान पर होते हुए रोगग्रस्त कर्ण के पीछे आ जायगा। यह दूसरा लपेट कान के नीचे होता हुआ और उपचार-वस्त्रों के निचले भाग को ढकता हुआ आगे

1. Mastoid.

की ओर शिर पर चला जायगा। इसके पश्चात् तीसरा लपेट फिर शिर के चारों ओर घूमेगा। चौथा लपेट फिर दूसरे की ही भाँति चलेगा। किन्तु उससे ऊँचा रहेगा, जिससे वस्त्रों का अधिक भाग ढक जायगा। इस प्रकार एक लपेट माथे के चारों ओर लगाया जाता है और दूसरा लपेट टेढ़ा चलता है जो व्रण और उस पर के वस्त्रों को दबा लेता है। इस भाँति यह बन्धेज पूर्ण कर दिया जाता है।

चित्र नं० ७५ कर्ण तथा शंखास्थि का बन्धेज

ठूँठ का बन्धेज—अङ्गच्छेदन के पश्चात् जो ठूँठ रह जाता है उसका बन्धेज करना कुछ कठिन होता है। इस कारण उस पर विशेष प्रकार का बन्धेज लगाया जाता है। ठूँठ पर वस्त्रों को यथास्थान रखने में कठिनाई होती है। वह बहुधा अपने स्थान से सरकने लगते हैं। इससे अङ्गच्छेदन से उत्पन्न हुए व्रण को भी हानि पहुँचती है। इस कारण वस्त्रों को भली भाँति रखकर उस पर कसकर पट्टी बाँधनी चाहिए। पट्टी को अङ्ग पर सदा पर्याप्त दूरी तक लगाना आवश्यक है। केवल ठूँठ को ढककर न छोड़ देना चाहिए।

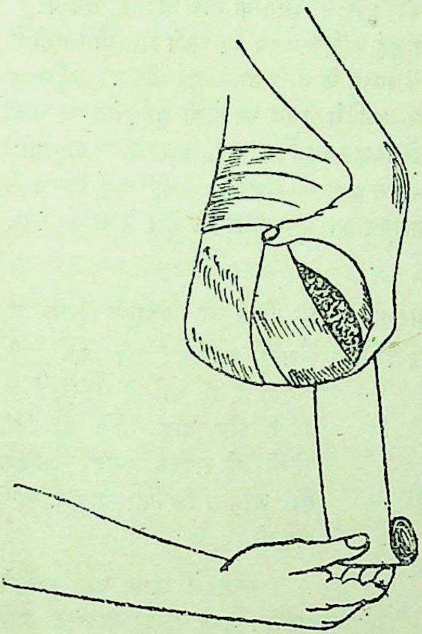

चित्र नं० ७६ ठूँठ का बन्धेज

ठूँठ को ढकने के लिए कटे हुए स्थान से पाँच या छः इंच ऊपर बायें हाथ के अँगूठे और अँगुलियों के बीच में अंग को पकड़ लिया जाता है। इस स्थान पर अङ्ग के चारों ओर दो या तीन लपेट लगा दिये जाते हैं। इसके पश्चात् पट्टी को अङ्ग के आगे की ओर अँगूठे से दाबकर उसको उलटकर नीचे की ओर ले आते हैं। वहाँ ठूँठ पर होती हुई पट्टी पीछे की ओर जाती है जहाँ उसको अँगुलियों से दाब लिया जाता है। इस प्रकार पट्टी का यह लपेट आगे की ओर अँगूठे से और पीछे की ओर अँगुलियों से स्थिर कर दिया जाता है। इसके पश्चात् लपेट को पीछे से फिर आगे की ओर लाते हैं। यह लपेट पहले लपेट के बाहर के भाग को ढके रहता है। पहले लपेट की भाँति यह भी अँगूठे और अँगुलियों के द्वारा दब जाता है। तीसरा लपेट पहले लपेट के भीतर की ओर रहता है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार लपेटों को लगाकर ठूँठ को ढक दिया जाता है।

इसके पश्चात् इन लपेटों पर अङ्ग के चारों ओर गोल लपेट लगा दिये जाते हैं जिनसे यह लपेट ढीले नहीं होने पाते।

स्तन का बन्धन—पहले स्तन के नीचे कमर के चारों ओर दो या तीन लपेट लगाये जाते हैं। इसके पश्चात् रोगग्रस्त स्तन के नीचे से पट्टी दूसरे ओर के कन्धे पर लाई जाती है। वहाँ से पट्टी पीठ पर होकर फिर स्तन के नीचे आ जाती है, जहाँ से वह फिर कमर के चारों ओर घूमकर स्तन के नीचे आकर स्कन्ध की ओर जाती है। इस प्रकार एक लपेट कमर के चारों ओर घूमता है और दूसरा स्तन के नीचे होता हुआ स्कन्ध के ऊपर चला जाता है।

दोनों स्तनों का बन्धेज—बाईं ओर के स्तन के नीचे से पट्टी बाँधना आरम्भ करो। वहाँ से पट्टी का स्तन के नीचे होते हुए वक्ष पर से निकालकर दाहिने कन्धे पर पहुँच जाओ। वहाँ से पट्टी को पीठ पर होकर फिर बाईं ओर के स्तन के नीचे ले आओ। तत्पश्चात् पट्टी को स्तनों के नीचे होते हुए पीठ पर ले जाओ। वहाँ आधी पीठ पर से पट्टी को दाहिने कन्धे पर ले जाओ। कन्धे से पट्टी को दाहिने स्तन के नीचे लाकर पीठ पर ले जाओ। वहाँ से पट्टी बायें स्तन के नीचे होती हुई दाहिने कन्धे पर चली जायगी। यहाँ से पट्टी फिर पीठ पर होती हुई बायें और दायें स्तनों के नीचे होती हुई पीठ पर पहुँचकर बायें कन्धे की ओर मुड़ेगी जहाँ से वह फिर दाहिने स्तन पर होती हुई पीठ पर चली जायगी। वहाँ से वह बायें स्तन के नीचे से निकलकर फिर दाहिने कन्धे पर जायगी। इस प्रकार दोनों ओर के स्तन ढक जायँगे। दाहिने स्तन को ढकनेवाली पट्टी बाएँ स्कन्ध से उतरकर पीठ पर जायगी और बायें स्तन को ढकनेवाली पट्टी कमर की ओर से आकर स्तन को ढककर दाहिने स्कन्ध को चली जायगी।

स्तन-छेदन के पश्चात् बन्धेज लगाना—जैसा चित्र में दिखाया गया है, रोगी की बाहु को ऊपर उठाकर व्रणोपचार पर पट्टी बाँधनी चाहिए। जब व्रण भरने लगता है तो चर्म में सङ्कोच होता है। यदि बाहु नीचे को रखी रहेगी तो सङ्कोच इतना अधिक हो जायगा कि फिर बाहु न खुल सकेगी।

चित्र नं० ७७ स्तन-छेदन के पश्चात् बन्धेज

स्तन के ऊपर वस्त्र रखकर पहले कमर पर दो या तीन बार साधारण लपेट लगाकर स्कन्ध का सुपाशा बन्धेज बाँध देना चाहिए। जिधर का स्तन निकाला गया है उधर के कक्ष और दूसरे स्कन्ध में होकर कुछ लपेट देने होंगे।

टी-बन्धेज—इस बन्धेज का आकार अँग्रेजी के T अक्षर जैसा होता है। इस कारण इसका नाम टी-बन्धेज रख दिया गया है। अण्डकोष के नीचे स्थित व्रण इत्यादि

के लिए यह बन्धेज बहुत उपयुक्त है। यह दो पट्टियों का बना होता है। दोनों पट्टियाँ प्रायः चार इंच चौड़ी रखी जाती हैं। एक पट्टी को दूसरे पट्टी के बीच में लम्बाई की ओर समकोण पर सी दिया जाता है जिससे T आकार का बन्धेज बन जाता है। बाँधते समय आड़ी पट्टी रोगी की कमर के नीचे से निकालकर उसके दाहिने और बायें ओर से उदर पर ले आते हैं और पेड़ू के समीप दोनों ओर के सिरों को बाँध देते हैं। दूसरी पट्टी को नितम्बों के बीच से होते हुए अण्डकोष के नीचे के स्थान को ढकते हुए सामने की ओर ले आते हैं और पेड़ू पर लाकर पहली पट्टी में बाँध देते हैं। यदि आवश्यक हो तो इस पट्टी के बीच में छिद्र करके अण्डकोषों को उसके द्वारा बाहर निकाल सकते हैं।

अण्डकोषों को लटकाने का बन्धेज—साधारणतया तिकोनिया लँगोट कोषों को आश्रय देने के लिये अत्युत्तम है। जहाँ इससे काम चल सकता हो वहाँ इसी का प्रयोग करना चाहिए। जब किसी रोग के कारण कोष फूल जाते हैं या उनमें कोई व्रण उत्पन्न हो जाता है तो लँगोट से कोष दबते हैं और उनमें पीड़ा हो जाती है। इस कारण ऐसी अवस्था में इस प्रकार का बन्धेज होना चाहिए कि वह कोषों को सँभाले रहे, किन्तु उन पर किसी प्रकार का दबाव न डाले।

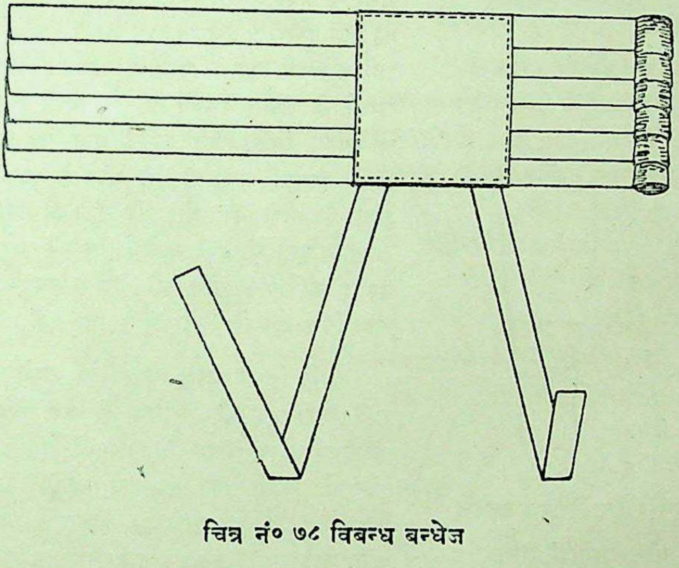

चित्र नं० ७८ विबन्ध बन्धेज

इसके लिए एक साधारण रुमाल का उत्तम बन्धेज बनाया जा सकता है। रुमाल को बीच से मोड़कर त्रिकोणाकार कर लेना चाहिए। उसको कोषों के नीचे इस प्रकार लगाना चाहिए कि त्रिकोण की सबसे लम्बी भुजा अण्डकोषों के पीछे की ओर और त्रिकोण का शिखर कोषों से नीचे को लटकता रहे। त्रिकोणीय रुमाल के दोनों कोने एक पट्टी में, जो कमर के चारों ओर लपेट दी जाती है, बाँध दिये जाते हैं। आगे के कोने को कोषों के ऊपर से लाकर इस पट्टी में बाँधा जाता है। इस प्रकार रुमाल से एक थैला

बन जाता है जिसके भीतर कोष रखे रहते हैं। इस थैले को आवश्यकतानुसार छोटा-बड़ा किया जा सकता है।

विबन्ध बन्धेज—यह बन्धेज उदर और वक्ष के व्रणों में बहुत उपयोगी है। विशेषकर जब उपचार-वस्त्रों को बार-बार बदलना होता है तब इस बन्धेज के प्रयोग में सुभीता रहता है। इस बन्धेज को बनाने के लिए नरम फ़लालैन काम में लाते हैं। फ़लालैन की इतनी लम्बी और लगभग दो इञ्च चौड़ी पट्टियाँ काटते हैं कि वह उदर या वक्ष के चारों ओर डेढ़ बार लपेटी जा सकें, जिससे वह दूसरी ओर की पट्टियों को ढक लें। यह पट्टियाँ एक दूसरी के ऊपर इस प्रकार रखी जाती हैं कि ऊपरवाली पट्टी नीचेवाली पट्टी के ऊपरी भाग (लगभग $\frac{1}{4}$ भाग) को ढके रहे। इसके पश्चात इन पट्टियों का बीच का भाग एक फ़लालैन के टुकड़े के साथ, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई आवश्यकतानुसार दो से छ इंच तक होती है, सी दिया जाता है। यदि इस बन्धेज का उदर के ऊपर प्रयोग किया जाय तो सबसे नीचे की पट्टी दूसरी पट्टियों से लगभग ६ इंच या उससे अधिक लम्बी रहनी चाहिए, जिससे बन्धेज को लगाने के पश्चात् उसको ऊरु के चारों ओर लपेटा जा सके। किन्तु जब उसको वक्ष पर लगाने के लिये बनाया गया है तो बीच के फ़लालैन के टुकड़े के नीचे की ओर दो इंच की दूरी पर दो लम्बी पट्टियाँ सी देनी चाहिएँ, जिससे वह कन्धों पर होकर फिर आगे की ओर लाकर बन्धेज के साथ पिन इत्यादि से स्थिर की जा सकें।

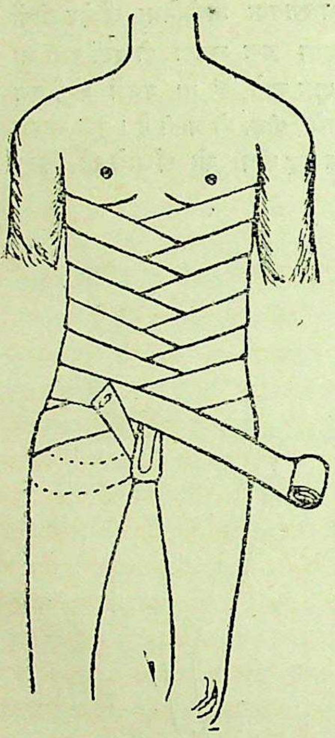

चित्र नं० ७९ विबन्ध बन्धेज को लगाने की रीति

यदि किसी कारण पहले से बन्धेज तैयार नहीं हो सका है तो फ़लालैन के एक बड़े टुकड़े को लेकर उसके बीच के भाग को छोड़कर दोनों ओर के भागों को दो इंच चौड़ी पट्टियों में विभाजित कर देना चाहिए। बीच का भाग नहीं काटा जायगा। उसके द्वारा यह पट्टियाँ यथा स्थान रहेंगी। केवल इतना अन्तर अवश्य पड़ेगा कि पट्टियाँ एक दूसरे को ढक न सकेंगी।

हाथ या बाहु का गोफण बन्धेज—अस्थि-भग्न का सन्धान करने के पश्चात् बहुधा हाथ या अग्रबाहु को वस्त्र के एक लटकन में रखकर गरदन में लटका देते हैं। यह बन्धेज किसी चौकोर वस्त्र या बड़े रुमाल के बनाये जा सकते हैं। रुमाल या दूसरे वस्त्र को बीच से मोड़कर त्रिकोणाकार कर लेना चाहिए। इस त्रिकोण को कई बार

लपेटने से एक लंबी पट्टी बन जायगी, जिसका बीच का भाग सिरों की अपेक्षा अधिक चौड़ा होगा। इन दोनों ओर के सिरों को गर्दन के पीछे डालकर उनमें एक गाँठ लगा देनी चाहिए। इससे जो लटकन बनेगी वह हाथ को आश्रय देने के लिए पर्याप्त है। यदि हाथ को अधिक ऊँचा उठाना हो तो गर्दन पर की ग्रन्थि को तनिक आगे की ओर हटाकर लगाने से लटकन को छोटा कर सकते हैं। इसको लगाते समय इतना ध्यान रखना चाहिए कि पट्टी का वह सिरा, जो हाथ के ऊपर रहे, दूसरे कन्धे पर होकर ग्रीवा के पीछे जाना चाहिए। ऐसा न करने से हाथ को उत्तम आश्रय नहीं मिलेगा।

चित्र नं० ८० गोफण बन्धेज

यदि सारी अग्रबाहु को बन्धेज में रखना हो तो वस्त्र को अधिक बेर नहीं लपेटना चाहिए। आवश्यकता के अनुसार उसको चौड़ा रखना उचित है। कभी-कभी ऐसा भी किया जाता है कि वस्त्र को केवल त्रिकोणाकार बना लेते हैं, किन्तु अधिक नहीं मोड़ते। त्रिकोण के दोनों सिरों को गर्दन में डालकर गर्दन के पीछे बाँध देते हैं। किन्तु बाहु के ऊपर रहनेवाला सिरा गर्दन के उसी ओर जायगा जिधर की बाहु को लटकन में रखना है। वह दूसरे ओर के कन्धे पर नहीं जायगा।

चित्र नं० ८१ गोफण बन्धेज

इस प्रकार इन दोनों सिरों को गर्दन के पीछे ले जाते हैं और तीसरा सिरा या त्रिकोण का शिखर बाहु की कोहनी के ऊपर होता हुआ पहले दोनों सिरों से मिल जाता है। तीनों सिरों को एक साथ आलपीन इत्यादि से भी सी देते हैं। इस प्रकार यह लटकन सारी अग्रबाहु और बाहु को भली भाँति सुरक्षित रखती है। किन्तु इस बन्धेज से गरदन पर जो भार पड़ता है वह कभी-कभी असह्य हो जाता है और उससे कष्ट तो सदा ही मालूम होता रहता है। इसके लिये यदि लटकन को पिनों के साथ रोगी के कोट में सी दिया जाय तो गरदन पर तनिक भी भार नहीं पड़ेगा। जब लटकन में केवल अग्रबाहु को रखना होता है तो उसको लपेटकर छोटा कर दिया जाता है। चौड़ी लटकन में त्रिकोण के शिखर को कुहनी के कुछ ऊपर पिन द्वारा वस्त्रों से जोड़ दिया जाता है।

कैथिटर को बाँधना—कई शल्य-कर्मों के पश्चात् कैथिटर को मूत्रमार्ग में

डालकर छोड़ देना पड़ता है, जिससे मूत्रा-शय से मूत्र केवल कैथिटर ही के द्वारा बाहर निकले। इसमें कठिनाई यह होती है कि कैथिटर अपने स्थान पर नहीं रहता। वह सदा बाहर निकल आता है। इस कारण उसको अपने स्थान में रखने के लिए कुछ प्रबन्ध करना पड़ता है।

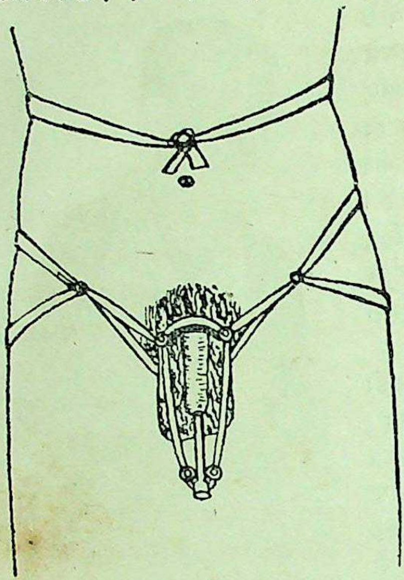

चित्र नं० ८२ कैथिटर बाँधना

धातु के कैथिटर में उसके बाहरी सिरे पर दो कुण्डल होते हैं। इनमें बारह इंच फ़ीते का टुकड़ा या साधारण पतली पट्टी डाली जाती है और उसको शिश्न के दोनों ओर रखकर शिश्न के चारों ओर एक और पट्टी बाँध दी जाती है। कभी-कभी इस पट्टी के स्थान पर प्लस्तर का प्रयोग करते हैं। इस प्लस्तर या बन्धेज को प्रयोग करने से पूर्व शिश्न के अग्रचर्म को कैथिटर के ऊपर जितना भी हो सकता है खींच देते हैं।

प्लस्तर को प्रयोग न करके कैथिटर के बाँधने के लिए एक दूसरा उपाय भी किया जाता है। एक मोटा रबर या अस्थि का बना हुआ छल्ला शिश्न पर पहनाकर चित्र के समान पट्टियों द्वारा स्थिर कर दिया जाता है। तत्पश्चात् कैथिटर को मूत्रमार्ग के द्वारा मूत्राशय तक पहुँचाकर कैथिटर के कुण्डे में पतली पट्टी या मोटा तागा डालकर उसको शिश्न के दोनों ओर छल्ले से बाँध दिया जाता है।

कैथिटर को बाँधने के लिए एक तीसरी विधि का भी प्रयोग किया जाता है। मोटे चिकने दो धागों को कैथिटर में बाँधा जाता है। कैथिटर पर धागों के बीच के भाग में गाँठ लगाई जाती है, जिससे धागों का समान भाग कैथिटर के दोनों ओर निकला रहता है। इस प्रकार कैथिटर के दोनों ओर दो धागे लटकते रहते हैं। इन धागों को शिश्न के ऊपर ले जाया जाता है और थोड़ी दूर नीचे चलकर उनमें दोनों ओर एक-एक गाँठ लगा दी जाती है। यहाँ से प्रत्येक ओर से एक-एक धागा शिश्न को पार करता हुआ दूसरी ओर जाता है। दाहिनी ओर का धागा बाईं ओर और बाईं ओर का धागा दाहिनी ओर जाता है। इसी प्रकार दो धागे पीछे की ओर भी रहते हैं। इस भाँति इन धागों से शिश्न घिर जाता है। आगे और पीछे के धागों में फिर एक बार गाँठ लगाई जाती है। और फिर दोनों ओर के दोनों धागे इस स्थान के बालों के गुच्छों में बाँध दिये जाते हैं।

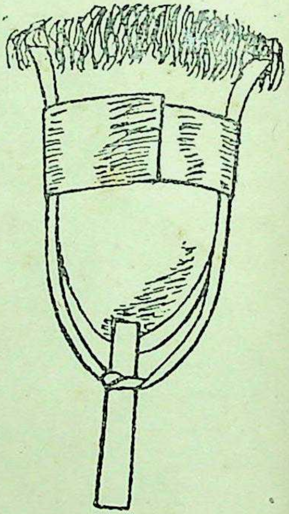

चित्र नं० ८३ कैथिटर को स्थिर करना

दसवाँ परिच्छेद

लघु शस्त्र-कर्म

उदर से तरल निकालना[1]—जलोदर रोग में उदर-गुहा में तरल द्रव्य एकत्र हो जाता है। तरल के अधिक होने से रोगी को चलने, फिरने तथा श्वास लेने में कष्ट होता है। ऐसी दशा में तरल को उदर से निकाल देने में रोगी की असुविधा कम हो जाती है। उदर के अङ्गों पर जो भार पड़ता है वह कम हो जाता है। इस रोग की कोई चिकित्सा नहीं है। केवल रोगी की पीड़ा को कम कर देने का एक साधन है।

कर्म—रोगी को शय्या पर कमर के पीछे तकिये, कम्बल इत्यादि लगाकर बैठा देना चाहिए जिससे वह पीछे की ओर को झुका रहे। टाँगें सामने की ओर फैली रहें। उदर के नीचे बरसाती के एक टुकड़े को लगाकर उसको शुद्ध किये हुए तौलिये से ढक देना चाहिए। नाभि और भग-सन्धानिका के बीच के स्थान को पहिले ही पूर्णतया शुद्ध कर लिया जाय। यन्त्र को उदर में प्रविष्ट करने के लिये यही स्थान उपयुक्त है। टिंक्चर आयोडीन का लेप करने के पश्चात् इस स्थान में एक पतली सिरिंज द्वारा नोवोकेन के दो प्रतिशत विलियन को प्रविष्ट किया जाता है और एक तीव्र वेधसपत्र से उदर सींवन पर $\frac{1}{4}$ इंच लम्बा भेदन करके उसके द्वारा यन्त्र को उदर में प्रविष्ट किया जाता है। चर्म का भेदन कर देने से यन्त्र को प्रविष्ट करने में अधिक शक्ति नहीं लगानी पड़ती। और इस कारण उदर के भीतर अङ्गों के क्षत होने की भी सम्भावना नहीं रहती।

यह यन्त्र दो भागों का बना होता है। बाहर एक धातु की छोटी नली रहती है जिसके पीछे एक चौड़ा भाग लगा होता है। इस पोली नली के भीतर एक तीव्र नोकवाली शलाका होती है, जिसके पीछे हाथ में पकड़ने के लिए दस्ता लगा रहता है। बाहर का भाग केन्युला[2] (व्रीहिमुख) और भीतर का ट्रोकार[3] कहा जाता है। चित्र से इसका आकार स्पष्ट है।

प्रयोग करने से पूर्व यन्त्र को पूर्णतया शुद्ध कर लेना आवश्यक है। कर्म करते समय चिकित्सक केन्युला को ट्रोकार के पर ऊ चढ़ाकर अपने शुद्ध हाथों से यन्त्र को पकड़ता है। ट्रोकार की अगली नोक को, जो केन्युना से तनिक आगे निकली रहती है, केन्युला सहित उदर के भीतर प्रविष्ट करता है। केन्युला का अग्र-भाग उदर के भीतर चला जाता है,

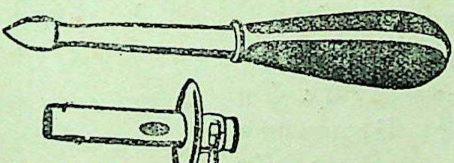

चित्र नं० ८४ ट्रोकार केन्युला

---

१. Paracentesis Abdominis.

२. Canula. ३. Trocar.

किन्तु पीछे का चौड़ा भाग बाहर रहता है। तत्पश्चात् चिकित्सक ट्रोकार को खींच लेता है और उदर से तरल निकलने लगता है। तरल के निकल चुकने के पश्चात् केन्युला को

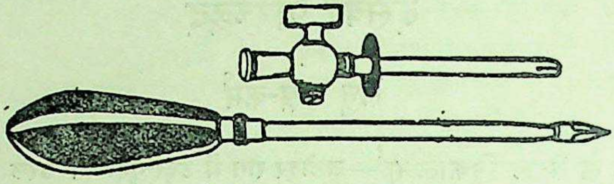

चित्र नं० ८५ ट्रोकार केन्युला

बाहर खींचकर क्षत को रेशम या सिल्क-वर्मगट से सी दिया जाता है।*

एक बार में बहुत अधिक तरल निकालना अथवा चौड़े केन्युलावाले यन्त्रों को प्रयोग करता उचित नहीं। इनसे तरल बहुत शीघ्रता के साथ निकलता है, जिससे रोगी को स्तब्धता अथवा मूर्छा हो जाती है। कुछ केन्युलों में पीछे की ओर एक पेंच लगा होता है। ट्रोकार को पीछे की ओर खींचकर पेंच को बन्द कर देने से तरल द्रव्य वस्त्रों पर नहीं गिरने पाता। ट्रोकार को निकाल लेने पर उसके साथ एक रबर की नलिका जोड़ दी जाती है जिसके द्वारा तरल निकलकर प्याले या बाल्टी में गिरता रहता है।

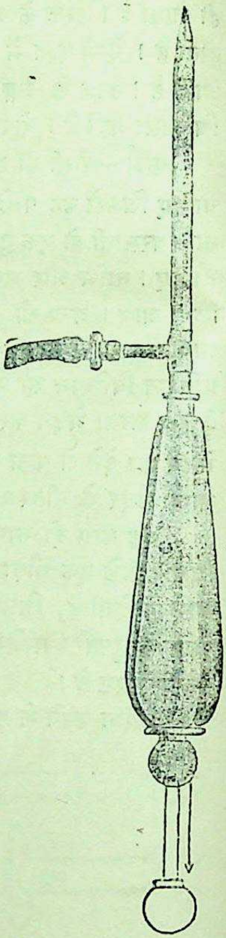

चित्र नं० ८६ ट्रोकार और केन्युला

वक्ष से तरल का निकलना[१]—उरःशूल[२] नामक रोग की दूसरी अवस्था में फुस्फुसावरण में तरल भर जाता है। जब तरल की मात्रा अधिक हो जाती है तो फुस्फुस और हृदय दोनों पर भार पड़ता है और रोगी को श्वास लेने में कष्ट होता है। द्रव्य के दूसरी पर्शुका तक पहुँच जाने पर कष्ट इतना बढ़ जाता है कि उसको निकालना आवश्यक होता है। यदि वह पहली पर्शुका तक पहुँच जावे तो उसको निकालने में देर करना उचित नहीं। साधारणतया केवल समाघात से तरल की स्थिति का पता चल जाता है। किन्तु यदि इसमें कुछ कठिनाई हो तो अन्वेषक[३] सूचिका द्वारा तरल की स्थिति जान लेनी चाहिये।

कर्म—यह कर्म प्रायः छठे पर्शुकान्तरिक स्थान की मध्य-कक्षीय[४] रेखा में अथवा अंसफलक के अधःकोण के नीचे ८ वें या ९ वें पर्शुकान्तरिक स्थान में किया जाता है। टिंक्चर-आयोडीन का लेप करके नोवोकेन के दो प्रतिशत विलयन को एक सिरिंज द्वारा भीतर प्रविष्ट किया जाता है जिससे वह स्थान चेतना-हीन हो जाता है। सिरिंज पर लगी हुई सूचिका पतली और कम से

* देखो सुश्रुत चिकित्सा अ० १४ न० १७

१. Paracentesis thorasis २. Pleurisy. ३. Exploring needles. ४. Midaxillary line.

कम $1\frac{1}{2}$ इंच लम्बी होनी चाहिए। सिरिंज में एक ड्राम नोवोकेन-विलयन को भरकर बायें हाथ की तर्जनी और अँगूठे से उस स्थान के चर्म को चौड़ा करके सूचिका को चर्म में प्रविष्ट करके सिरिंज के दस्ते को दाबा जाता है। नोवोकेन के प्रभाव से चर्म का रङ्ग श्वेत दिखाई देने लगता है। इस प्रकार जब चवन्नी के बराबर स्थान श्वेत दीखने लगता है तो सूचिका को बाहर निकालकर सिरिंज में नोवोकेन-विलयन भरकर इसी चेतना-हीन स्थान के द्वारा फिर प्रविष्ट किया जाता है। किन्तु इस बार चर्म के नीचे पहुँचकर ठहरा नहीं जाता। सूचिका को पर्शुकान्तरिक स्थान में निरन्तर फुस्फुसावरण की ओर प्रविष्ट करते जाते हैं और साथ में अँगूठे से सिरिंज के दस्ते को दबाते रहते हैं, जिससे उस स्थान में नोवोकेन का विलयन भर जाता है। इस प्रकार जब सूचिका फुस्फुसावरण पर पहुँचकर उस पर लगती है तो रोगी को तीव्र पीड़ा होती है। पीड़ा होने पर सूचिका को तनिक बाहर की ओर खींचकर दस्ते को दबाकर नोवोकेन-विलयन को वहाँ भर दिया जाता है, जिससे फुस्फुसावरण संज्ञाहीन हो जाता है। तत्पश्चात् सूचिका को निकाल लेना चाहिए।

तरल का निश्चय करने के लिए २० सी० सी० की सिरिंज प्रयुक्त की जाती है। उचित आकार की सूचिका को इस सिरिंज पर लगाकर नोवोकेन-विलयन-सहित पर्शुकान्तरिक स्थान में प्रविष्ट करके विलयन को वहाँ की धातुओं में भर दिया जाता है। जब सूचिका लगभग एक इंच भीतर जा चुके तो सिरिंज के दस्ते को धीरे से बाहर की ओर खींचना चाहिए। यदि सिरिंज में तरल न आवे तो सूचिका को और गहरी प्रविष्ट करना उचित है। दस्ते को फिर बाहर की ओर खींचकर देखना चाहिए कि सिरिंज में क्या आता है। यदि उसमें रक्त आ जावे तो समझना चाहिए कि सूचिका फुस्फुस में पहुँच गई है। ऐसी दशा में दस्ते को दाबकर रक्त को वहीं निकालकर सिरिंज को बाहर की ओर खींच लेना उचित है। तत्पश्चात् उसको इसी प्रकार दूसरी दिशाओं में प्रविष्ट करना चाहिए, जब तक उसमें तरल न आ जावे।

तरल का निश्चय करने और ऊपर कहे अनुसार नोवोकेन को पर्शुकान्तरिक स्थान में प्रविष्ट करने के पश्चात् एक वेधसपत्र से उचित आकार का वेधन करके ट्रोकार और केन्युला वक्ष में प्रविष्ट किये जाते हैं; और ट्रोकार को निकालकर केन्युला के साथ एक सिरिंज को जोड़ दिया जाता है।

इस सिरिंज के निचले सिरे पर इस प्रकार का एक पेंच लगा होता है कि उसको एक तरफ घुमाने से एक ओर का और दूसरी ओर को घुमाने से दूसरी ओर का मार्ग खुल जाता है।

केन्युला से सिरिंज को जोड़कर प्रथम मार्ग को खोल देते हैं जिससे वक्षीय तरल सिरिंज में भर जाता है। तत्पश्चात् पेंच दूसरी ओर घुमाया जाता है। इससे पहला मार्ग बन्द हो जाता है और दूसरा मार्ग खुल जाता है। सिरिंज के दस्ते को दाबने से इस मार्ग के द्वारा सिरिंज का सारा तरल निकल जाता है। तत्पश्चात् पुनः पहला मार्ग खोल दिया जाता है। इस भाँति कुछ समय में सारा तरल निकाला जा सकता है।

पोटेन का चूषक यन्त्र—वक्ष से तरल को निकालने के लिए पोटेन के चूषक यन्त्र का प्रयोग किया जाता है। चित्र में इसका आकार और भिन्न भिन्न भाग स्पष्ट हैं।

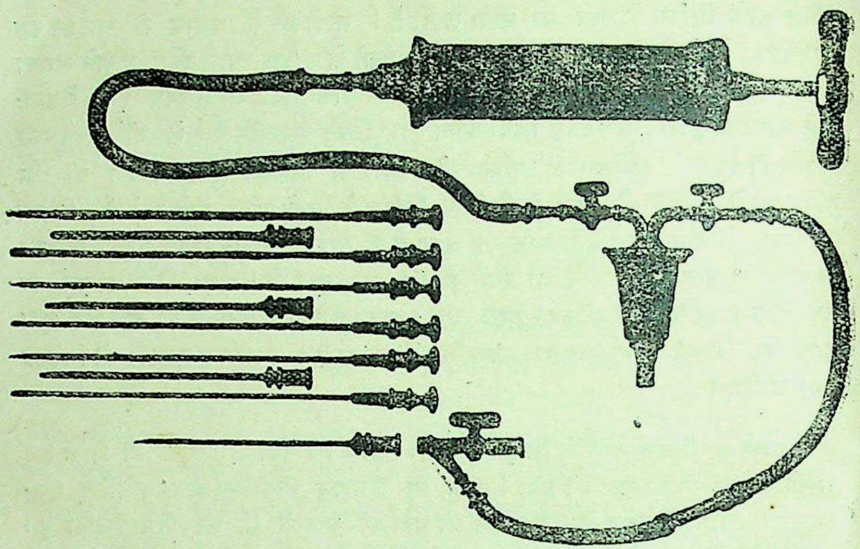

चित्र नं० ८७ पोटेन का चूषक यन्त्र

सब के बीच में एक चौड़ी काँच की बोतल होती है, जो चित्र में नहीं दिखाई गई। इसके मुख पर रबर की एक डाट लगी रहती है। उस डाट के भीतर होती हुई धातु की एक नलिका बोतल के भीतर की ओर निकली हुई है। डाट के ऊपर धातु की एक टोपी है जिससे दो मुड़ी हुई नलिकाएँ, जिनके सिरों पर पेंच लगे हुए हैं, दो विरुद्ध दिशाओं में जा रही हैं। इन पेंचों से नलिकाओं के मार्ग को खोला या बन्द किया जा सकता है। इन दोनों धातु की नलिकाओं के सिरे पर रबर की नलिकाएँ लगी हुई हैं। एक नलिका का सम्बन्ध धातु की एक चौड़ी सिरिंज से है और दूसरी नलिका ट्रोकार और केन्युला से सम्बद्ध है। इस रबर की नलिका का जिस धातु की नलिका से सम्बन्ध है वह बोतल में नीचे तक चली जाती है। किन्तु दूसरी नलिका इससे ऊपर ही समाप्त हो जाती है। चित्र में प्रथम नलिका इस नलिका के भीतर स्थित है और नीचे की ओर को निकली हुई है। ट्रोकार-केन्युलावाली रबर की नलिका को दो भागों में काटकर उनके बीच में प्रायः एक काँच की छोटी नलिका लगा दी जाती है जिसके द्वारा तरल का प्रवाह दीखता रहता है।

यन्त्र के प्रयोग की विधि—यन्त्र को प्रयोग करने से पहले उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए। डाट को बोतल में लगाकर सिरिंज और ट्रोकार-केन्युला को रबर की नलिकाओं द्वारा धातु की नलिका में जोड़कर सिरिंज की ओर पेंच को खोल दो। किन्तु दूसरे पेंच को बन्द रखो। तत्पश्चात् सिरिंज को चलाओ। ऐसा करने से बोतल से वायु खिंचेगी। किन्तु दूसरी ओर के पेंच के बन्द होने से भीतर न आ सकेगी। इस कारण बोतल में शून्य-स्थान उत्पन्न हो जायगा। अब यदि सिरिंजवाले पेंच का बन्द कर दिया जाय और

दूसरे पेंच को खोला जावे तो केन्युला में होती हुई वायु, अथवा अन्य कोई वस्तु, जिसके साथ केन्युला सम्बद्ध है, बोतल में खिंच आवेगी। यदि केन्युला को एक प्याले में भरे हुए जल में डुबोकर रखा जाय और तत्पश्चात् इसके सम्बन्ध का पेंच खोला जाय तो जल बोतल में खिंच जायगा। इस प्रकार यन्त्र की परीक्षा की जाती है। यदि बोतल में जल न खिंचे तो यन्त्र के सब भागों को खोलकर प्रत्येक भाग की परीक्षा करनी चाहिए। कोई न कोई मार्ग अवरुद्ध मिलेगा। जब यन्त्र भली भाँति काम करने लगे तो उसको कर्म से पूर्व शुद्ध करके रोगी के पास रख लेना चाहिए।

कर्म करते समय नोवोकेन के प्रयोग के पश्चात् रोगी को शय्या पर बैठाकर संज्ञाहीन स्थान पर वेधसपत्र से $\frac{1}{4}$ इंच के लगभग भेदन करना चाहिए। तत्पश्चात् यन्त्र के ट्रोकार को भेदन द्वारा वक्ष में प्रविष्ट करना उचित है। यह स्मरण रखना चाहिए कि केन्युला के प्रविष्ट करने के पूर्व बोतल से वायु पूर्णतया निकाल दी जावे। इस भूल से कभी कभी भयङ्कर परिणाम होते हैं। केन्युला को प्रविष्ट करके ट्रोकार को पीछे की ओर खींचा जाय जब तक वह पेंच के तनिक पीछे न पहुंच जावे। तत्पश्चात् पेंच को घुमाकर ट्रोकार के मार्ग को बन्द कर देना चाहिए। बिना इस मार्ग के बन्द किये ट्रोकार को केन्युला से पृथक् कर देना भयङ्कर भूल है। ट्रोकार को निकालने और पेंच को बन्द करने के पश्चात् बोतल की डाट और केन्युला सम्बन्धी नलिका के बीच का पेंच खोलना चाहिए। इस समय दूसरी ओर का पेंच बन्द रहे। ऐसा करने पर वक्ष का तरल बड़े वेग से बोतल में आने लगेगा।

जब तरल आना बन्द हो जावे तो खुले हुए पेंच को बन्द करके सिरिंज के पच को खोलो। बोतल में फिर शून्य स्थान उत्पन्न करो। तत्पश्चात् इस पेंच को बन्द करके केन्युला-वाले पेंच को खोल दो। इससे तरल फिर निकलेगा। इसी प्रकार तीन या चार बार करो, जब तक रोगी को पीड़ा और श्वासावरोध न मालूम होने लगे और वह खाँसना न प्रारम्भ करे। इन लक्षणों के उत्पन्न होने के पश्चात् तरल को निकालना वर्जनीय है।

अधिक तरल के खिंच जाने से फुस्फुसावरण के भीतर का भार बहुत कम हो जाता है और रोगी को खाँसी तथा पीड़ा मालूम होने लगती है। कभी-कभी उसके प्राण सङ्कट में पड़ जाते हैं। ऐसी दशा में फुस्फुसावरण में आक्सिजन को पहुंचाकर भार की कमी पूरी की जा सकती है।

अन्वेषक सूचिका तथा ट्रोकार-केन्युला को वक्ष में पर्शुकान्तरिक स्थान के नीचे की पर्शुका के ऊपरी किनारे पर होते हुए प्रविष्ट किया जावे। इससे रक्त-नलिकाएँ क्षत होंगी। यन्त्र को वक्ष के निचले भाग में प्रविष्ट करना उत्तम है। इसी लिए आठवें या नवें पर्शुकान्तरिक स्थान में अंसफलक के नीचे अथवा मध्यकक्षीय रेखा में यन्त्र को प्रविष्ट किया जाता है। कर्म करने से पूर्व चर्म को संज्ञाहीन करके उसका भेदन कर देना आवश्यक है। यह कर्म रोगी को बैठाकर करना चाहिए।

उरःपूय[१]—तरल की भाँति फुस्फुसावरण में पूयोत्पादक जीवाणुओं के द्वारा पूय भी उत्पन्न हो जाती है। इसको **उरःपूय** कहते हैं। वक्ष में पीड़ा, श्वासावरोध, कास,

---

१. Empyema.

ज्वर, स्वेद, दुर्बलता इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं। यह रोग प्रायः अन्य रोगों के उपद्रव-स्वरूप उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में लक्षण प्रबल नहीं होते। बच्चों में यह रोग प्रायः निमोनिया के पश्चात् उत्पन्न होता है।

पूयोत्पादन के सारे लक्षण उपस्थित होते हैं। जिस ओर पूय होती है वह बाहर की ओर को उभरी हुई दीखती है। पर्शुकान्तरिक स्थान उत्सेधित हो जाते हैं। वक्ष पर शोथ होता है। यदि लक्षण तीव्र न हों और रोगी की चिकित्सा न की जाय तो कुछ समय के पश्चात् प्रायः पूय पाँचवें या छठे पर्शुकान्तरिक स्थान में होकर बाहर निकलने लगती है। किन्तु लक्षणों के तीव्र होने पर शीघ्र ही उचित चिकित्सा न होने से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा शस्त्र-कर्म द्वारा की जाती है। फुस्फुसावरण से सारी पूय को बाहर निकाल दिया जाता है। यदि पूय इतनी अधिक है कि उससे हृदय पर भार पड़ रहा है और श्वास लेने में भी कष्ट होता है तो चूषक यन्त्र द्वारा कुछ पूय को बाहर निकालने के पश्चात् शस्त्र-कर्म का आयोजन करना चाहिए। इससे रोगी का सङ्कट हट जायगा।

पूय का पूर्ण निश्चय कर लेना आवश्यक है। जहाँ तक हो सके, क्लोरोफार्म न सुँघाकर केवल संज्ञा-हारी वस्तुओं के प्रयोग से शस्त्र-कर्म करना उचित है। नोवोकेन का दो प्रतिशत विलयन पर्याप्त है।

रोगी को मेज़ पर पीठ के बल लिटाकर अंसफलक के अधःकोण और कक्ष के बीच की रेखा में आठवीं पर्शुका के ऊपर नोवोकेन के विलयन को चर्म में प्रविष्ट किया जाता है। तत्पश्चात् दो या तीन इञ्च के लगभग लम्बा ऊपर से नीचे की ओर को भेदन करना चाहिए। कुछ सर्जन नवीं और दसवीं पर्शुका के बीच में वक्ष के पार्श्व में कक्षीय रेखा पर भेदन करना उत्तम समझते हैं। चर्म और उसके नीचे की धातुओं का भेदन करने के पश्चात् पर्शुका दिखाई देने लगती है। पेशी इत्यादि को ऊपर और नीचे की ओर खींचकर पर्शुका का दो या तीन इञ्च लम्बा भाग स्पष्ट कर लिया जाता है और वेधसपत्र से

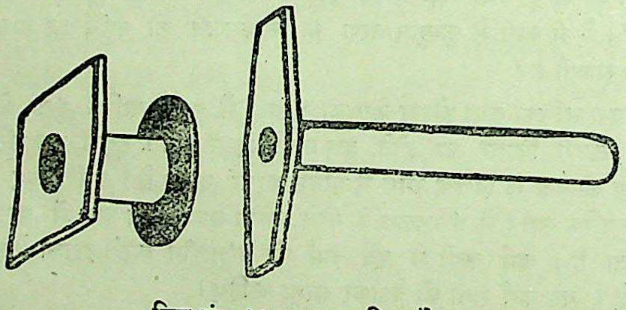

चित्र नं० ८८ उरःपूय-नलिकाएँ

अस्थ्यावरण को बीच से काटकर पर्शुका से हटा दिया जाता है। पीछे की ओर से भी पर्शुका को अस्थ्यावरण से मुक्त कर देना आवश्यक है। तत्पश्चात् अस्थि-संदंश से अस्थि का दो या तीन इञ्च लम्बा भाग काटकर निकाल दिया जाता है। अस्थ्यावरण से मुक्त

हो जाने के कारण पर्शुका के छेदन में कोई कठिनाई नहीं होती। तत्पश्चात् पर्शुका के सहारे वेधसपत्र को भीतर की ओर प्रविष्ट करके अस्थ्यावरण और फुस्फुसावरण का भी भेदन किया जाता है, जिससे भीतर से पूय निकलने लगती है। जब पूय निकल चुके, अथवा उसका निकलना कम हो जावे तो भेदन के द्वारा अँगुली को भीतर डालकर चारों ओर घुमाकर सारे स्थान को स्वच्छ कर देना चाहिए। यदि भीतर कहीं पर कुछ भाग जुड़ गये हों, या कोष्ठ से बन गये हों तो उन सबको तोड़ देना चाहिए। किन्तु पूय को तीव्र गति से निकलने देना उचित नहीं।

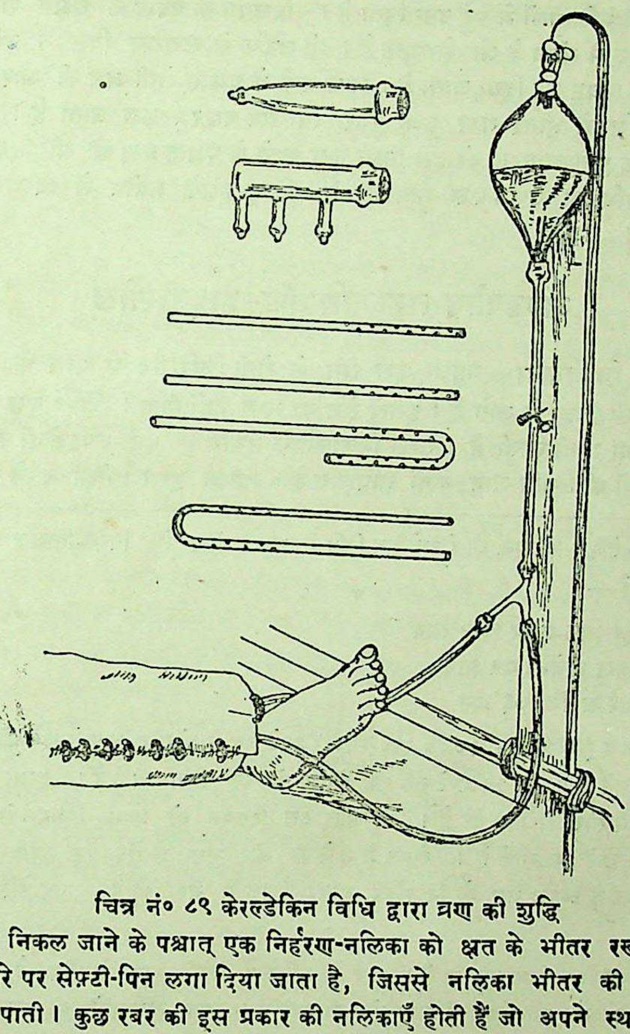

चित्र नं० ८९ केरलडेकिन विधि द्वारा व्रण की शुद्धि

पूय निकल जाने के पश्चात् एक निर्हरण-नलिका को क्षत के भीतर रखकर उसके बाहरी सिरे पर सेफ़्टी-पिन लगा दिया जाता है, जिससे नलिका भीतर की ओर नहीं खिसकने पाती। कुछ रबर की इस प्रकार की नलिकाएँ होती हैं जो अपने स्थान से नहीं हटतीं। चित्र में इस प्रकार की नलिका दिखाई गई है। इसके द्वारा भीतर से बराबर पूय निकलती रहती है। कुछ समय में सारा स्थान शुद्ध हो जाता है और व्रण भर

जाता है। यदि आवश्यक समझा जावे तो फुस्फुसावरण का परिशोधन किया जा सकता है। कुछ सर्जन फुस्फुसावरण को भीतर से धोने के पश्चात् व्रण को सी देते हैं। व्रण तथा फुस्फुसावरण की शुद्धि कई प्रकार से की जाती है। केरलडेकिन की विधि इसके लिए उपयुक्त है।

५ या ६ पतली-पतली नलिकाएँ, जो बाहर की ओर एक बड़ी नलिका से जुड़ी होती हैं, व्रण के द्वारा भीतर प्रविष्ट कर दी जाती हैं। इस नलिका का विसंक्रामक विलयन से भरे हुए एक पात्र के साथ सम्बन्ध होता है, जिससे इस नलिका में होता हुआ विलयन छोटी नलिकाओं में पहुँचता रहता है। विलयन के प्रवाह के समय रोगी उस ओर की करवट से सोता है जो रोगमुक्त है। दो छटाँक के लगभग विलयन नलिकाओं द्वारा व्रण में प्रविष्ट कर दिया जाता है। आध घण्टे के पश्चात् रोगी व्रण की ओर करवट ले लेता है, जिससे भीतर गया हुआ सारा विलयन बाहर निकल जाता है। आठ या दस दिन तक फुस्फुसावरण को इस प्रकार शुद्ध करने के पश्चात् व्रण को सी दिया जाता है। इस विधि से उत्तम फल निकलते हैं। किन्तु इसके प्रयोग में विलम्ब करना उचित नहीं।

अण्डकोष तरलातिवृद्धि-हाइड्रोसील

तरल निकालना—बहुधा इस रोग के रोगी चिकित्सक के पास केवल तरल निकलवाने की इच्छा से आते है। इससे रोग का अन्त नहीं होता। केवल कुछ समय के लिये असुविधा जाती रहती है। तरल निकालने के उद्योग से पूर्व अण्डकोषों की परीक्षा करके ग्रन्थियों की स्थिति जान लेनी आवश्यक है। प्रकाश द्वारा परीक्षा करने से इनकी

नोट—डेकिन विलयन, जो केरल्डेकिन विधि में प्रयुक्त होता है, निम्न-लिखित प्रकार से बनाया जाता है—

क्लोराइड-आफ-लाइम १८४ ग्राम
शुष्क सोडा कार्वोनेट ८२ ग्राम
सोडा बाई कार्वोनेट ७६ ग्राम

पाँच लिटर (१ लिटर = १००० सी० सी०) ठण्डे जल में क्लोराइड-आफ-लाइम को मिलाकर भलीभाँति हिलाने के पश्चात् १२ घण्टे तक एक बोतल में रख दिया जाता है। दूसरी बोतल में ५ लिटर जल में सोडे को घोल देते हैं। तत्पश्चात् इस विलयन को प्रथम विलयन में धीरे धीरे मिलाकर आध घण्टे तक रखते हैं। बोतल में नीचे की ओर कुछ अवक्षेप बैठ जाता है। इस अवक्षेप से ऊपर के स्वच्छ भाग को निथारकर दूसरी बोतल में भर लेते हैं। यह डेकिन विलयन कहलाता है।

डेकिन की विधि चित्र से स्पष्ट है। काँच की नलिकाएँ, जिनमें बहुत से छिद्र हैं, विलयन से भरे पात्र के साथ रबर की नलिकाओं द्वारा जोड़ दी जाती हैं। इन नलिकाओं को व्रण के भीतर रखकर उनको गौज से ढक दिया जाता है। ऊपर के पात्र से विलयन मन्द गति से प्रवाह करता हुआ इन नलिकाओं द्वारा व्रण के भीतर पहुँचकर उसको शुद्ध करता है।

स्थिति का ज्ञान सहज में हो जाता है। रोगी को लिटाकर या कुर्सी पर बैठाकर उसकी टाँगों पर एक कम्बल डाल दिया जाता है। एक सहायक मोमबत्ती या बिजली के लम्प को रोगी के अण्डकोष के पार्श्व के पास रखता है। चिकित्सक अपने दाहिने हाथ से अण्डकोषों के चर्म को दबाता है और बायें हाथ को मोमबत्ती और अण्डकोष के बीच में रख लेता है, जिससे मोमबत्ती का प्रकाश उस स्थान पर सीधा नहीं पड़ने पाता। यदि अण्डकोष में केवल तरल है तो उसके भीतर की वस्तु प्रकाश द्वारा चमकती हुई लाल दिखाई देती है। उसके द्वारा कुछ प्रकाश दूसरी ओर पहुँच जाता है। यदि अण्डकोष प्रकाशहीन दिखाई दें तो उनमें तरल नहीं है। इस प्रकार रोग का निश्चय करके अण्डकोष के चर्म को शुद्ध करने के पश्चात् चिकित्सक अपने बायें हाथ से कोष को पकड़ता है और अँगूठे और अँगुलियों से उसको ऊपर और पीछे की ओर को दाबता है। इससे कोष के भीतर स्थित ग्रन्थियाँ ऊपर की ओर हट जाती हैं। तत्पश्चात् चिकित्सक दाहिने हाथ में ट्रोकार-केन्युला को लेकर उसको कोष में शुद्ध किये हुए स्थान द्वारा, पीछे और नीचे की ओर, प्रविष्ट करता है। यन्त्र के भीतर चले जाने के पश्चात् ट्रोकार को बाहर खींच लिया जाता है, जिससे केन्युला से तरल निकलने लगता है। तरल निकल चुकने पर केन्युला को निकालकर चर्म के छिद्र पर कोलोडीयन में भिगोकर एक रूई का टुकड़ा लगा दिया जाता है*।

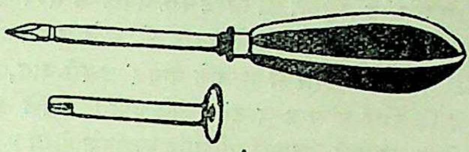

चित्र नं० ९० ट्रोकार-केन्युला

प्रक्षेपण[1]—यह दो प्रकार का होता है। एक रक्त-प्रक्षेपण और दूसरा साधारण प्रक्षेपण। रक्त-प्रक्षेपण[2] क्रिया द्वारा एक व्यक्ति के रक्त को दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। साधारण प्रक्षेपण से रोगी के शरीर में तरल की कमी होने पर शिरा के द्वारा लवण तथा किसी अन्य वस्तु के विलयन को रक्त में प्रविष्ट करके तरल की कमी को पूरा कर दिया जाता है। विशूचिका, प्रवाहिका तथा शरीर से रक्त-प्रवाह के अधिक होने पर यह विधि काम में लाई जाती है। प्रायः सामान्य शक्ति का लवण-विलयन, जिसका उल्लेख पृष्ठ १२८ की टिप्पणी में हो चुका है, प्रयुक्त होता है। कभी-कभी उच्च लवण-विलयन भी प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त वस्तुओं को मिलाकर एक काँच के बरतन में उबाला जाता है। तत्पश्चात् उस बर्तन के मुख पर शुद्ध वस्त्र बाँधकर उसको रख दिया जाता है।

ग्ल्यूकोज़ का विलयन बनाकर उसको भी शरीर में प्रविष्ट करते हैं। इसका निमोनिया रोग में अधिक प्रयोग होता है। १५६ ग्रेन सोडियम-क्लोराइड और २ औंस ग्ल्यूकोज़ को ढाई सेर जल में मिलाकर उबालने के पश्चात् प्रयोग किया जाता है।

---

* मूत्रजां स्वेदयित्वा वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्।
सेवन्याः पार्श्वतो हस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु ॥
अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्वा विस्रावयेत् भिषग्
मूत्रं नाडीमथोद्धृत्य स्थगिका बन्धमाचरेत् ॥

१. Infusion. २. Transfusion of blood.

साधारण प्रक्षेपण दो प्रकार का होता है। एक अन्तशिरीय[1] और दूसरा अधस्त्वक्[2]। यह दोनों विधियाँ शरीर में तरल की कमी को पूरा करने के लिए प्रयोग की जाती हैं। अन्तशिरीय प्रक्षेपण की विधि रक्त-प्रवाह के सम्बन्ध में बताई जा चुकी है। यह ध्यान रखना चाहिए कि तरल के प्रवाह की गति इतनी हो कि पाँच मिनट में १० छटाँक से अधिक तरल शरीर में न जाने पावे। दूसरी बात, जिसको कभी न भूलना चाहिए, यह है कि तरल का पात्र ख़ाली न होने पावे। उसके ख़ाली होने से रक्त-नलिकाओं में वायु खिंच जायगी, जिसका परिणाम भयानक होगा।

अधस्त्वक्-प्रक्षेपण उस समय किया जाता है जब शिराएँ इतनी संकुचित हो जाती हैं कि उनको छेदन करके निकालना भी कठिन होता है। ऐसी अवस्था में रोगी की दशा भी विषम होती है। उसके लिए पल-पल भारी होता है। इस दशा में एक ओर अधस्त्वक्-प्रक्षेपण और दूसरी ओर शिरा का छेदन करना प्रारम्भ कर दिया जाता है। अधस्त्वक्-प्रक्षेपण के लिए स्तनों के नीचे अथवा ऊरु का स्थान उत्तम है। यहाँ से तरल का शोषण शीघ्र होता है। विलयन को काँच के एक गोल पात्र में भर दिया जाता है, जिसके नीचे की ओर रबर की नली लगी रहती है। इस नली के सिरे पर एक इस प्रकार की काँच की नली लगी होती है जो आगे की ओर दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है। ये दोनों सिरे रबर की नलिकाओं द्वारा तीव्र नोकवाके केन्युलों से जुड़े होते हैं। प्रक्षेपण करते समय इन केन्युलों को चर्म के नीचे प्रविष्ट करके तरल के पात्र को ऊँचा उठा दिया जाता है, जिससे तरल वहाँ की धातुओं में भर जाता है।

रक्त-प्रक्षेपण—शरीर से अधिक रक्त निकल जाने, किसी रोग के कारण रक्त के कणों की क्षति से पाण्डुता उत्पन्न हो जाने तथा कुछ प्लैहिक रोगों में रोगी के शरीर में किसी स्वस्थ व्यक्ति का रक्त प्रविष्ट किया जाता है। किन्तु रक्त की पहले परीक्षा कर लेन चाहिए। कुछ व्यक्तियों के रक्त एक दूसरे के विपरीत होते हैं। यदि ऐसे व्यक्तियों के रक्त आपस में मिलेंगे तो उससे भयङ्कर परिणाम होगा। परीक्षा से यह पाया गया है कि कुछ व्यक्तियों का रक्त सब व्यक्तियों के रक्त के अनुकूल होता है। परीक्षा द्वारा ऐसे व्यक्तियों की एक सूची तैयार कर ली जाती है। आवश्यकता के समय इन्हीं व्यक्तियों का रक्त रोगियों के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है।

रक्त-प्रक्षेपण कई प्रकार से किया जाता है। दाता के शरीर की एक धमनी को रोगी की शिरा के साथ जोड़ दिया जाता है। कुछ विद्वान् एक विशेष आकार का यन्त्र प्रयोग करते हैं, जिससे यह मालूम होता रहता है कि रोगी के शरीर में कितना रक्त गया है। कर्म के समाप्त हो जाने पर दाता को कुछ समय तक लिटा रखते हैं और भोजन के लिए उसे पौष्टिक पदार्थ दिये जाते हैं।

रोगी की प्राण-रक्षा की यह अत्यन्त उत्तम विधि है।

लवण-विलयन का गुदा के द्वारा प्रक्षेपण—विशूचिका तथा अन्य दशाओं में, जिनसे शरीर में तरल की कमी हो जाती है, अन्तर्शिरीय प्रक्षेपण के साथ-साथ गुदा के द्वारा भी लवण का विलयन शरीर के भीतर पहुँचाया जाता है। विलयन की शक्ति

---

१. Intraveinous. २. Subcutaeneous.

इच्छानुसार रखी जाती है। रोगी की शय्या के पास तामचीनी या काँच के पात्र में दो या ढाई सेर विलयन भरकर एक ऊँची मेज़ या स्टूल पर रख देते हैं। इस पात्र को चार या पाँच फुट लम्बी रबर की नली से जोड़ दिया जाता है। इस नली के अगले सिरे पर लकड़ी का एक लम्बा छिद्रयुक्त भाग लगा रहता है, जिसमें विलयन के प्रवाह को घटाने या बढ़ाने के लिए एक पेंच होता है। पात्र को स्टूल पर रखकर लकड़ी के भाग को, जिसको नोज़िल[1] कहते हैं, गुदा में प्रविष्ट किया जाता है। प्रविष्ट करने से पूर्व इस भाग के पेंच को खोलकर विलयन के प्रवाह की गति को ठीक कर लेना चाहिए। यह प्रवाह इतना मन्द होना चाहिए कि विलयन बूँद-बूँद करके गुदा में पहुँचे। अधिक तीव्र प्रवाह से विलयन का शोषण न होगा। वह बस्ति की भाँति काम करेगा। इस प्रकार एक या डेढ़ घण्टे में १० छटांक विलयन गुदा में पहुँचना चाहिए।

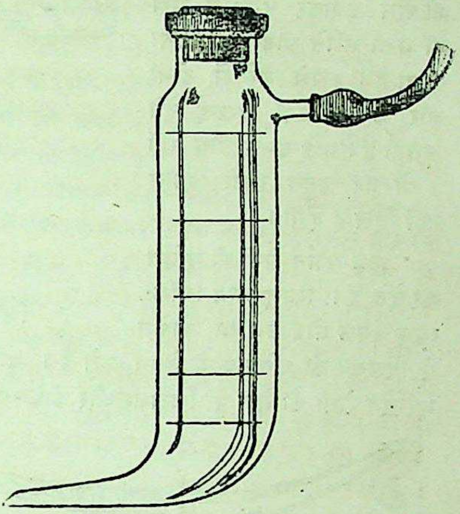

चित्र नं० ९१
रक्त-प्रक्षेपण में प्रयुक्त होनेवाली काँच की नालिका

विलयन की उष्णता का भी ध्यान रखना आवश्यक है। गुदा में पहुंचने के समय उसका तापक्रम शारीरिक तापक्रम के समान होना चाहिए। जिस समय विलयन पात्र से रबर की नलिका द्वारा प्रवाहित होता है उस समय उसका तापक्रम निरन्तर कम होता जाता है। अनुभव से यह पाया गया है कि यदि पात्र में १४० फैर[illegible] विलयन भरा जावे तो गुदा में पहुँचने तक उसका तापक्रम ९० .फैर[illegible] कुछ ऐसे यन्त्र भी होते हैं जिनसे पात्र में भरे हुए विलयन का [illegible] होने पाता।

उपजिह्विका[2] या गलग्रन्थियों का छेदन

ये ग्रन्थियाँ जिह्वा के पीछे गले में दोनों ओर होती हैं। जब इनका शोथ दीर्घकालिक हो जाता है तब वह प्रलेप करनेवाली औषधों से दूर नहीं होता। ऐसी दशा में उनको निकाल देना पड़ता है। तरुण शोथ की अवस्था में यह कर्म नहीं किया जाता। उस समय केवल शामक औषधियों द्वारा उसके निवारण का प्रयत्न करना चाहिए। जब शोथ जाता रहे और शारीरिक दशा उन्नत हो जावे तब यह कर्म करना उचित है।

---

१. Nozzle. २. Tonsillotomy.

रोगी को विरेचन इत्यादि द्वारा तैयार करने के पश्चात् मेज़ पर लिटाकर सर्जन उसके मुख में उँगली डालकर ग्रन्थियों को प्रतीत करता है। एक यन्त्र से जिह्वा को नीचे की की ओर दबाकर दूसरे से मुख को भली भाँति चौड़ा कर दिया जाता है। इससे गले में दोनों ओर की ग्रन्थियाँ दिखाई देने लगती हैं। यदि उनमें शोथ नहीं है तो वह बहुत छोटी अथवा नहीं दिखाई देंगी।

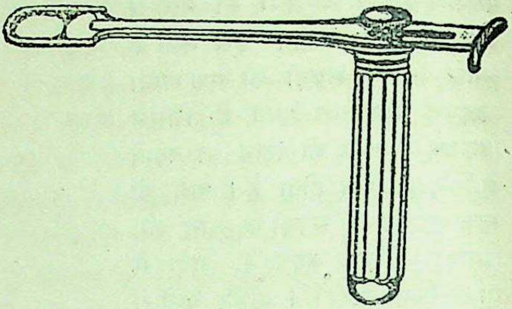

चित्र नं० ९७ उपजिह्विका-छेदक-यंत्र

कुछ सर्जन रोगी को मूर्छित कर देते हैं। किन्तु अन्य चिकित्सक केवल नोवोकेन या कोकेन के विलयन को प्रविष्ट करके छेदन करते हैं। बालकों को मूर्च्छित करना आवश्यक है। मूर्च्छित रोगी को मेज़ पर लिटाकर और कोकेन-प्रयुक्त रोगियों को कुर्सी पर बैठाकर उनके शिर को पीछे की ओर लटका दिया जाता है। तत्पश्चात् जिह्वा को दाबकर और मुख को चौड़ा करके गले में तीव्र प्रकाश डाला जाता है। इस प्रकार ग्रन्थियों का भलीभाँति निरीक्षण करने के पश्चात् सर्जन छेदक-शस्त्र को, जिसको 'गिलोटीन' कहते हैं, मुख में डालकर उसके आगे के छिद्र में ग्रन्थियों के उभरे हुए भाग को पकड़ लेता है। इस समय एक सहायक बाहर की ओर से ग्रन्थियों को भीतर की ओर दबाता है, जिससे उनका बहुत सा भाग शस्त्र के छिद्र में आ जाता है। शस्त्र के छिद्र द्वारा एक संदंश से ग्रन्थि को पकड़कर ऊपर की ओर खींच लिया जाता है। इन क्रियाओं से ग्रन्थियों का पर्याप्त भाग शस्त्र के भीतर आ जाता है। तत्पश्चात सर्जन अपने अँगूठे से शस्त्र के चाकू को, जो छिद्र से बाहर की ओर शस्त्र ही के भीतर बंद रहता है, आगे की ओर दबाता है। इससे ग्रन्थि का जितना भाग शस्त्र के छिद्र में होता है, वह सब कट जाता है। इस प्रकार ग्रन्थि के बढ़े हुए भागों को काट डाला जाता है। कर्म के पश्चात् संदंशों में लगे हुए प्लोतों से, जिनको पहले ही तैयार करके रखा गया है, ग्रन्थि से निकले हुए रक्त इत्यादि को पोंछ दिया जाता है।

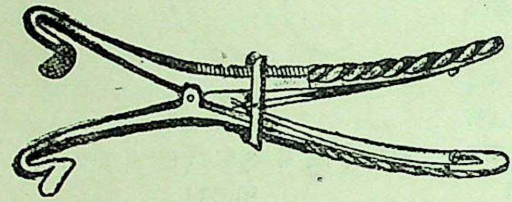

चित्र नं० ९८ मुख विस्फारक यन्त्र

साधारण मुड़े हुए वेधस-पत्र द्वारा भी ग्रन्थियों का छेदन किया जाता है। किन्तु इससे ग्रन्थियों के सम्पर्क में स्थित अन्तर्मातृका धमनी के क्षत हो जाने का भय रहता है, जिससे तुरन्त मृत्यु हो सकती है। इस कारण केवल इस शस्त्र-कर्म में निपुण सर्जनों को वेधस-पत्र द्वारा कर्म करना चाहिए।

गलग्रन्थियों का सम्पूर्ण छेदन—साधारण छेदन के कुछ समय पश्चात् ये ग्रन्थियाँ फिर बढ़ जाती हैं। इसलिए समस्त ग्रन्थि को गले से निकाल देना अत्युत्तम है।

रोगी के मुख को भलीभाँति खोलकर ग्रन्थियों पर नोवोकेन या कोकेन का प्रलेप करके अथवा रोगी को मूर्च्छित करके एक ग्राहक संदंश से ग्रन्थि को पकड़कर आगे की ओर खींच लिया जाता है। तत्पश्चात् तीव्र वेधस-पत्र द्वारा उस स्थान में, जहाँ ग्रसनिका और ग्रन्थि का सामने की ओर सम्पर्क होता है (यह स्थान पूर्व तोरण[1] कहलाता है), एक छोटा सा छेदन कर दिया जाता है। इस छेदन के द्वारा चिकित्सक अपनी तर्जनी अँगुली को भीतर डालकर ग्रन्थि को चारों ओर की श्लैष्मिक कला से पृथक् कर देता है। इस प्रकार धीरे-धीरे अँगुली और चिमटी की सहायता से ग्रन्थि को उसके स्थान से पृथक् करके निकाल दिया जाता है। कुछ चिकित्सक प्रारम्भिक छेदन करने के पश्चात् ग्रन्थि को चिमटी से ग्रहण करके ग्रन्थि और कला के सम्बन्ध को कैंची द्वारा विच्छिन्न करते हैं।

साधारणतया रक्त-प्रवाह अधिक नहीं होता; केवल स्राव होता है। उसको उष्ण अथवा अत्यन्त शीतल बोरिक विलियन में भीगे हुए प्लोतों द्वारा दाबने से बन्द किया जा सकता है। इन प्लोतों को, जिस स्थान से रक्त निकल रहा हो उस पर रखकर, कुछ समय तक दाबे रखना चाहिये। इस प्रकार कई प्लोतों का प्रयोग करना पड़ता है। यदि इससे भी स्राव बन्द न हो तो व्रण के ऊपर दस या बारह परत गौज़ की एक छोटी कवलिका को रखकर उसके ऊपर दोनों ओर से श्लैष्मिक कला को खींचकर सी देना चाहिए। यदि आवश्यक समझा जाय तो कवलिका को एड्रिनलीन में भिगो सकते हैं। चौबीस घण्टे के पश्चात् कवलिका को निकाल देना उचित है।

नासा-पश्चिम-ग्रन्थियाँ[2]

ये ग्रन्थियाँ नासा के पश्चिम भाग में अथवा नासिका और ग्रसनिका के बीच में पाई जाती हैं। प्रायः यह गल-ग्रन्थियों के साथ बढ़ी हुई मिलती हैं। यह रोग बच्चों में अधिक होता है, जिससे श्वास लेने में बाधा पड़ती है। कभी-कभी इनके कारण कर्ण-ग्रसनिका नलिका के अवरुद्ध होने से बधिरता और मध्यकर्ण में शोथ तक उत्पन्न हो जाता है। रोगी को क्लोरोफ़ार्म सुँघाकर मेज़ पर लिटा दिया जाता है। गलग्रन्थि-छेदन की भाँति उसके मुख को चौड़ा करके उसमें प्रकाश डाला जाता है। तत्पश्चात् सर्जन शस्त्र को मुट्ठी में पकड़ता है। इस शस्त्र में दो भाग होते हैं। पीछे की ओर के मुड़े हुए भाग में कई अङ्कुर लगे रहते हैं, जिनमें ग्रन्थि के भाग अटक जाते हैं। इसके आगे की ओर दूसरा तीव्र भाग होता है, जो चाकू की भाँति काम करता है। अंकुरों में अटक जाने के पश्चात् यह भाग ग्रन्थि को काट देता है। इस प्रकार ग्रन्थि को तीन या चार बार में पूरा काटकर निकाला जा सकता है। कर्ण-ग्रसनिका-नलिका के ऊपर ग्रन्थि का जो भाग हो उसका विशेष ध्यान से छेदन करना चाहिए। ज्योंही ग्रन्थि का छेदन हो चुके त्योंही रोगी को एक ओर करवट से लिटाकर मुँह को नीचे की ओर लटका देना उचित है। बरफ़ के जल से मुँह पर छींटे दिये जावें और उसको धोया जावे। शुद्ध रूई के प्लोत से गले को स्वच्छ किया जाय।

निरुद्ध प्रकर्ष[3]—यह उस दशा का नाम है जिसमें शिश्न के ऊपर के चर्म का छिद्र इतना छोटा होता है कि उसके द्वारा शिश्न बाहर नहीं आ सकता। चर्म को शिश्न

१. Interion Pillars of fouces. २. Adenoids. ३. Phimosis.

पर ऊपर की ओर खींचना असम्भव होता है। बच्चों में और कभी-कभी युवकों में भी यह छिद्र इतना छोटा होता है कि उसके द्वारा मूत्र निकलने में कठिनाई होती है। इससे शिश्न सदा चर्म के भीतर रहता है, जहाँ श्वेत रङ्ग का मैल एकत्र होता रहता है। बच्चों में कभी-कभी यह मैल इतना अधिक और कड़ा हो जाता है कि वह अश्मरी की भाँति प्रतीत होता है। बच्चा बार-बार चर्म को आगे की ओर खींचता है। कभी-कभी शोथ भी उत्पन्न हो जाता है। इस दशा से बालकों को प्रायः हस्तमैथुन का अभ्यास पड़ जाता है। यदि यह दशा बहुत दिनों तक बनी रहती है तो वहाँ व्रण तथा घातक अर्बुद उत्पन्न हो सकते हैं। पूयमेह में भी यह दशा उत्पन्न हो सकती है। अग्रचर्म इतना सूज जाता है कि वह शिश्न के ऊपर की ओर नहीं खींचा जा सकता।

चिकित्सा—यदि बच्चे में भी जन्म से यह विकार उपस्थित हो तो प्रत्येक दिवस १०-१५ मिनट तक लगाकर चर्म को ऊपर की ओर खींचने का प्रयत्न करना चाहिए। सम्भव है कि कुछ मास के पश्चात् छिद्र बढ़ जाने से चर्म शिश्न के ऊपर को चढ़ने लगे। यदि एक वर्ष के भीतर ऐसा न हो तो शस्त्र-कर्म करना आवश्यक है। यदि सम्भव हो तो छिद्र द्वारा एक बन्द संदंश के अग्रिम भाग को अग्रचर्म के नीचे प्रविष्ट करके उसको चारों ओर को घुमाना चाहिए। यदि कहीं पर चर्म और शिश्न का अग्रभाग जुड़ गये हैं तो वह इससे पृथक् हो जायँगे। तत्पश्चात् संदंश को खोलकर उसके द्वारा छिद्र को चौड़ा करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि इसमें सफलता हो जावे तो चर्म के नीचे के स्थान को स्वच्छ करके उस पर तैल लगाकर चर्म को फिर उतार देना चाहिए। दूसरे दिन फिर इसी प्रकार किया जाय। यदि इसमें सफलता न हो तो मणिच्छद-छेदन[1] द्वारा सारे अग्र-चर्म को काट देना उचित है।

मणिच्छद-छेदन—यह शस्त्र-कर्म बच्चों में प्रथम वर्ष की आयु के भीतर करना चाहिए। इस समय उनको पीड़ा अधिक नहीं होती और रक्त-स्राव भी कम होता है।

अग्रचर्म को दो संदशों द्वारा मध्य रेखा के दोनों ओर पकड़कर आगे को खींचा जाता है। तत्पश्चात् चर्म के नीचे अर्थात् चर्म और शिश्नाग्र-भाग के बीच में एक शलाका, जिसके बीच में एक परिखा रहती है, डाली जाती है और उसके सहारे एक तेज़ कैंची को डालकर चर्म को बीच से विभक्त कर दिया जाता है। शिश्न के ऊपर एकत्र मैल को स्वच्छ करके चर्म के दोनों भागों को पकड़कर कैंची से उनको काटना आरम्भ करते हैं। ऊपर से नीचे और पीछे की ओर काटते चले जाते हैं। इस प्रकार जितना भी चर्म का भाग अधिक बढ़ा होता है उसको काट दिया जाता है। जिन रक्त-नलिकाओं से रक्त निकल रहा हो उनका बन्धन करके और व्रण के किनारों पर के क्रम-हीन भाग को काटकर चर्म और श्लैष्मिक कला को टाँकों द्वारा सी दिया जाता है। तत्पश्चात् शिश्न के चारों ओर व्रण पर शुद्ध गौज़ रखकर उसको रूई से ढककर उस पर पट्टी बाँध दी जाती है। पाँच दिन के पश्चात् यह टाँके काटे जा सकते हैं।

इस कर्म को करने की दूसरी विधि यह है कि शिश्नाग्र-चर्म को मणि के आगे की ओर खींचकर उस पर एक नाडी-व्रण-संदंश अथवा मणिच्छेद-संदंश लगा देते हैं।

---

१. Circumscission.

इस प्रकार चर्म का जितना अधिक भाग होता है वह संदंश से आगे की ओर निकला रहता है। एक तीव्र वेधस-पत्र से संदंश के सहारे इस भाग को काटने के पश्चात् संदंश को हटा दिया जाता है। इस प्रकार चर्म को काटने से चर्म तो कट जाता है, किन्तु चर्म के नीचे की कला वैसी ही रह जाती है। इसको एक कैंची से इस प्रकार काटा जाता है कि मणि के चारों ओर $\frac{1}{4}$ इंच के लगभग कला की एक झालर सी रह जाती है। अन्त में चर्म और कला के इस भाग को आपस में टाँकों से सी दिया जाता है। तत्पश्चात् साधारण व्रणोपचार कर देना चाहिए।

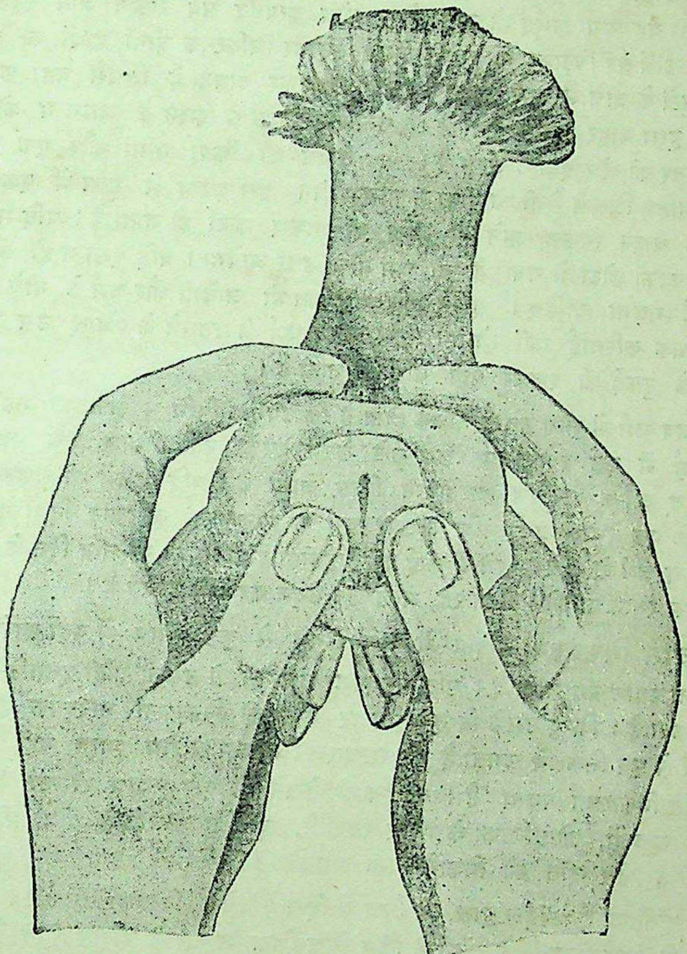

चित्र नं० ९९ परिवर्तिका के संधान की गति

परिवर्तिका[१]—निरुद्ध प्रकर्ष से विरुद्ध दशा को परिवर्तिका कहते हैं। इसमें शिश्नाग्र-चर्म अथवा मणिच्छद मणि के ऊपर की ओर चढ़ जाता है और वहाँ से नीचे

१. Paraphymosis.

को नहीं उतरता। निरुद्ध प्रकर्ष की दशा में जब बच्चे चर्म को वेग से ऊपर खींच लेते हैं तो यह दशा उत्पन्न हो जाती है। चर्म में शोथ उत्पन्न हो जाता है। इस कारण उसका नीचे को उतारना और भी कठिन होता है। यदि कुछ समय तक यह दशा बनी रहती है तो चर्म में व्रणोत्पादन होने लगता है। पूयमेह के प्रारम्भ में भी रोगियों में यह दशा पाई जाती है।

चिकित्सा—यदि रोग के प्रारम्भ होते ही रोगी चिकित्सा के लिए आ जावे तो केवल हस्त-कौशल से चर्म को नीचे उतारा जा सकता है। यदि रोग का कारण पूयमेह नहीं है तो वह प्रायः शान्त हो जाता है। शोथ इत्यादि सब लक्षण जाते रहते हैं। रोगी को कुर्सी पर बिठाकर अथवा शय्या पर लिटाकर चिकित्सक दोनों हाथों की अँगुली और अँगूठों के बीच में ऊपर चढ़े हुए चर्म को पकड़कर दाबता है जिससे वहाँ का रक्त शिराओं द्वारा बाहर निकल जाता है। तत्पश्चात् अँगूठों से शिश्न के अग्रभाग को नीचे और भीतर की ओर दबाया जाता है। यह दबाने की क्रिया धीमी और एक समान होनी चाहिए जिससे रोगी को पीड़ा न मालूम हो। इस दबाव से मणि में एकत्र हुए रक्त के बाहर निकल जाने से मणि का आकार छोटा हो जाता है। यदि मणि का आकार काफी छोटा हो गया है तो चर्म नीचे उतर आयेगा। यदि ऐसा न हो तो मणि पर बर्फ रगड़ना चाहिए। इससे मणि संकुचित हो जावेगी और चर्म के नीचे उतरने में अधिक कठिनाई नहीं होगी। इस प्रकार चर्म को उतारने के पश्चात् उस पर शुद्ध गौज़ के टुकड़े को रखकर पट्टी बाँध दी जाती है।

जब चर्म में शोथ इतना अधिक होता है कि उपर्युक्त विधि से सफलता नहीं होती तो चर्म में कई स्थानों पर छोटे-छोटे छेदन करके रक्त निकाल देना पड़ता है। तत्पश्चात् चर्म को उतारने का प्रयत्न किया जाता है। यदि इसमें भी सफलता नहीं होती तो एक वेधस-पत्र से मणि के ऊपर चर्म के आकुञ्चन[1] को काट दिया जाता है। तत्पश्चात् चर्म के नीचे उतरने में कोई कठिनाई नहीं होती। दो या तीन दिन के पश्चात्, जब उस स्थान का शोथ जाता रहे, मणिच्छद-छेदन कर देना उचित है।

दाँत निकालना—दाँत में घुण लगने से कुछ समय में वहाँ काले रङ्ग का खोखला स्थान बन जाता है। यदि यह कोटर छोटा हो तो उसको चाँदी इत्यादि से भरा जा सकता है। किन्तु उसके विस्तृत होने पर दाँत को निकालना आवश्यक है। जब मसूढ़ों से पूय निकलने लगती है और साधारण चिकित्सा से रोग शान्त नहीं होता तो भी दाँत निकालना पड़ता है। कभी-कभी देखने में दाँत स्वस्थ दीखता है, किन्तु उसके मूल में, जो हन्विका के भीतर रहती है, घुण लग जाने से तीव्र पीड़ा हुआ करती है और दाँत को निकाले बिना शान्त नहीं होती।

दाँतों को दंत-संदंश द्वारा, जो चित्र में दिखाये गये हैं, निकाला जाता है। ऊपर और नीचे के तथा भिन्न-भिन्न दाँतों के लिए भिन्न-भिन्न आकार के संदंश होते हैं। इनके ऊपर उनके नाम लिखे रहते हैं। आगे के मुड़े हुए भाग से दाँत को पकड़ा जाता है। इसी भाग के आकार में भिन्नता होती है।

---

१. Constriction.

दाँत निकालने के पूर्व पुटाशियम-परमैंगनेट के विलयन से रोगी को कुल्ले कराये जाते हैं। रोगी को प्रकाश की ओर मुँह करके बिठाया जाता है और उसकी गर्दन और वक्ष पर एक शुद्ध तौलिया डाल दिया जाता है। यदि दाँत हिलता हुआ ढीला न हो तो मसूढ़े में चार प्रतिशत कोकेन या नोवोकेन के विलयन को प्रविष्ट कर देना उचित है। तत्पश्चात् दाहिने हाथ में संदंश को पकड़कर चिकित्सक रोगी के सामने खड़ा होता है और उसको दाँत पर इस प्रकार लगाता है कि संदंश की नोक दाँत की ग्रीवा पर पहुँचकर उसको दृढ़ता के साथ पकड़ लेती है। एक सहायक मुख को मुख-संदंश द्वारा खोले रखता है।

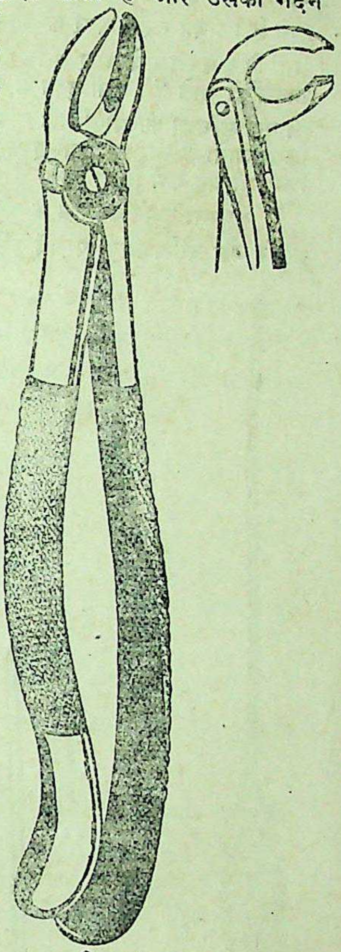

चित्र नं० १००

तत्पश्चात् संदंश से पकड़े हुए दाँत को हिलाकर बाहर की ओर मोड़ दिया जाता है, जिससे दाँत अस्थि से पृथक् होकर बाहर निकल आता है। यदि दाँत तनिक भी न हिलता हो तो उसको संदंश से इधर-उधर को हिलाकर छोड़ देना चाहिए। दूसरी बार दाँत निकालना उचित है।

दाँत निकालने पर रक्त-प्रवाह अधिक नहीं होता और स्वयं ही बन्द हो जाता है। यदि अधिक रक्त निकले तो पुटेशियम परमैंगनेट से कुल्ले कराकर एड्रिनलीन में गौज़ को भिगोकर उस स्थान पर रख देना चाहिए। रोगी इस गौज़ को ऊपर के दाँत से दाबे रहे। यदि आवश्यक हो तो इस गौज़ को कई बार बदला जा सकता है।

शिरा-छेदन[१]—कुछ रोगों में रोगी के शरीर से रक्त निकालना पड़ता है। जब हृदयपर भार अधिक होता है और रक्तसञ्चालन में गड़बड़ी होती है तो शिरा के छेदन द्वारा शरीर से कुछ रक्त निकाल दिया जाता है। इससे न केवल हृदय ही का सङ्कट जाता रहता है किन्तु शरीर में विषों की मात्रा भी कम हो जाती है। निमोनिया रोग में प्रायः यह कर्म करना पड़ता है। अधिकतर कूर्पर के सामने शिरा का छेदन अन्तर्शिरीय प्रक्षेपण की भाँति किया जाता है। शिरा के नीचे दो बन्धन डालकर एक बन्धन को ऊपर की ओर बाँध देते हैं। इस बन्धन से नीचे की ओर शिरा में छिद्र किया जाता है, जिसके द्वारा रक्त निकलने लगता है। इस रक्त को चीनी के एक शुद्ध पात्र में, जिसमें भाप के चिन्ह अङ्कित रहते हैं, भरा जाता है। इससे यह मालूम होता रहता है कि शिरा से कितना रक्त निकला है। रक्त की इच्छित मात्रा को निकालने के पश्चात् नीचे के बन्धन को बाँधकर व्रण को सी दिया जाता है।

कटिवेधन[२]—कपाल की पश्चादस्थि के नीचे से प्रारम्भ होकर सुषुम्ना कशेरुक

१. Venesection २. Lumbor Puncture.

११

दण्ड की नलिका में नीचे की ओर प्रथम और द्वितीय कटि-कशेरुक के सङ्गम तक चली जाती है। इसके चारों ओर एक आवरण है जिसके भीतर एक प्रकार का तरल भरा हुआ है। यह तरल ऊपर की ओर मस्तिष्क के समान तरल से मिला हुआ है। कुछ रोगों में इस तरल के भार में विकृति आ जाती है, जिससे मस्तिष्क के संक्षोभ के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी दशा में नलिका से कुछ तरल निकालने के लिए उचित आकार की एक सूचिका को सौषुम्निक नलिका में प्रविष्ट करना पड़ता है। यह कर्म कटिप्रान्त में किया जाता है और इस कारण कटि-वेधन कहलाता है। प्रान्तिक मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिए भी यह कर्म किया जाता है।

सुषुम्ना दूसरे कशेरुक के ऊपर पहुँचकर समाप्त हो जाती है, इस कारण दूसरे, तीसरे और चौथे अथवा पाँचवें कशेरुकों के बीच के स्थान में सूचिका को सौषुम्निक नलिका में प्रविष्ट करने से सुषुम्ना को किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं रहती। प्रायः तीसरे और चौथे कशेरुक के बीच के स्थान को इस कर्म के लिए चुना जाता है। इस स्थान को मालूम करने के लिए जघन धाराओं के सबसे ऊँचे भागों को, जो पीठ में पार्श्व की ओर प्रतीत किये जा सकते हैं, एक सीधी रेखा द्वारा मिला दिया जाता है। इस रेखा के बीच का भाग कटि के चौथे कशेरुक के कण्टक पर रहता है। इससे तनिक ऊपर की ओर सूचिका को दृढ़ता से भीतर और ऊपर की दिशा में प्रविष्ट किया जाता है। सूचिका, जिसको चित्र में दिखाया गया है, वास्तव में एक ट्रोकार-केन्युला के समान है। इसके आगे का भाग ४ इंच के लगभग लम्बा होता है। क्योंकि नलिका २½ या ३ इंच गहरी होती है। सूचिका को प्रविष्ट करने पर चर्म और कशेरुकान्तरिक बन्धन का प्रतिरोध प्रतीत होता है। तत्पश्चात् सुषुम्ना का आवरण आता है। यहाँ भी सूचिका को कुछ कठिनता प्रतीत होती है। इसके पार करने पर सूचिका नलिका के भीतर पहुँच जाती है और कर्म-कर्त्ता को, सूचिका के प्रतिरोध के हट जाने से, उसका नलिका के भीतर पहुँचना मालूम हो जाता है। तत्पश्चात् ट्रोकार को खींच लिया जाता है। सूचिका के छिद्र से तरल निकलने लगता है। यदि तरल न निकले अथवा प्रवेश करते समय सूचिका अस्थि से टकरा जाय तो उसको तनिक बाहर की ओर खींचकर फिर से प्रविष्ट करना चाहिए। यदि इसमें भी सफलता न हो तो सूचिका को दूसरे, तीसरे अथवा चौथे और पाँचवें कशेरुक के बीच में प्रविष्ट करके तरल को निकालने का उद्योग करना चाहिए।

चित्र नं० १०१ कटिवेधन की सूचिका

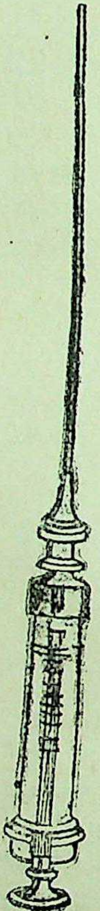

चित्र नं० १०२ सिरिंज सूचिका सहित

जब सौषुम्निक नलिका में औषध को प्रविष्ट करना होता है तो उपर्युक्त कथन के अनुसार तरल निकालने के पश्चात् औषध से भरी हुई सिरिंज सूचिका में जोड़ दी जाती है और दस्ते को दबाकर औषध को नलिका में प्रविष्ट कर दिया जाता है।

अन्त में सूचिका को निकालकर व्रण पर कोलोडियन का फ़ाया लगा देते हैं।

सिस्ट[१]—यह एक प्रकार के छोटे-छोटे अर्बुद होते हैं जिनमें कुछ तरल अथवा ठोस पदार्थ भरा रहता है। इसकी भित्ति सौत्रिक धातु की बनी हुई होती है। यह प्रायः ऐसे स्थानों में पाये जाते हैं जहाँ शरीर के किसी अङ्ग का उद्रेचन बाहर न निकलकर भीतर ही एकत्र हो जाता हो। जब किसी अवरोध के कारण स्वेद-ग्रन्थियों अथवा नलिकाओं से स्वेद बाहर नहीं निकल सकता तो स्वेद-ग्रन्थि के सम्बन्ध में यह अर्बुद बन जाते हैं। स्तन-ग्रन्थियों और मुख की लाला-ग्रन्थियों में भी सिस्ट पाई जाती है। निस्रोत ग्रन्थियों में भी सिस्ट मिलती है। स्वेद-ग्रन्थि सम्बन्धी सिस्ट चर्म पर उभरी हुई दिखाई देती हैं। इनमें पीड़ा नहीं होती। यदि इनके भीतर तरल भरा हुआ है तो वह दबाने से पिचक जायँगी। कभी-कभी इनमें संक्रमण पहुँचने से पूयोत्पादन होने लगता है।

चिकित्सा—छेदन करके उनको सम्पूर्ण निकाल देना उचित है। तीव्र वेधस-पत्र से एक लम्बा भेदन करके चर्म को इधर-उधर को हटाकर पत्र के मूल से सिस्ट को चारों ओर की धातुओं से पृथक् करके निकाला जा सकता है। इस कर्म में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि सिस्ट टूटने न पावे। यह कर्म नोवोकेन के विलयन को चर्म में प्रविष्ट करके किया जा सकता है। कभी-कभी एक प्रतिशत फ़ार्मेलीन के विलयन को प्रविष्ट करने से सिस्ट का नाश हो जाता है।

गैंग्लियन[२]—यह भी एक प्रकार की सिस्ट होती है। इसके भीतर स्वच्छ रङ्ग-रहित गाढ़ा लसदार पदार्थ भरा रहता है। यह किसी सन्धि के पास अथवा पेशी की कण्डरा के आवरण के साथ जुड़ी रहती है।

गैंग्लियन अन्य स्थानों की अपेक्षा कलाई के पृष्ठ पर अधिकतर पाई जाती है; और प्रायः किसी प्रसारक पेशी की कण्डरा से जुड़ी रहती है। ऊपर का चर्म पूर्णतया स्वतंत्र होता है। साधारणतया इनसे कोई कष्ट नहीं होता। किन्तु कभी-कभी वे सारी बाहु में पीड़ा उत्पन्न कर देती हैं। वे पाँव की छोटी अस्थियों तथा सन्धियों के सम्बन्ध में भी पाई जाती हैं।

चिकित्सा—अर्बुदों का आकार छोटा होने पर केवल टिंक्चर आयोडीन के लेप से लाभ होता है। किन्तु जब उनका आकार बढ़ जाता है तो शस्त्र-कर्म के बिना काम नहीं चलता। इसकी दो विधियाँ हैं। प्रथम विधि में चर्म का भेदन नहीं किया जाता। एक लम्बी दृढ़ सूचिका में रेशम के दुहरे तागे को पिरोकर चर्म द्वारा एक ओर से गैंग्लियन में प्रविष्ट करके दूसरी ओर से निकाल लेते हैं। इस प्रकार दोनों ओर जो छिद्र हो जाते हैं उनमें होकर गैंग्लियन के भीतर का तरल निकलने लगता है। तागे के दोनों सिरे बाँध दिये जाते हैं। शेष तागे को काटकर कोलोडियन से दोनों छिद्रों को बन्द कर दिया जाता

१. Cyst. २. Ganglion.

है। उसके ऊपर गौज़ के टुकड़े को रखकर व्रणोपचार कर देते हैं। रेशम के तागे एक सप्ताह तक गेंग्लियन के भीतर पड़े रहते हैं। इनके कारण वहाँ रोहण धातु बनने लगती है, जिससे गेंग्लियन नष्ट होकर क्षताङ्क बन जाता है।

दूसरी विधि में सिस्ट की भाँति गेंग्लियन का छेदन किया जाता है।

रक्तार्बुद[1]—यह अर्बुद धमनी, शिरा तथा केशिकाओं के मिलने से बनते हैं। यद्यपि इन सबों को एक नाम से पुकारा जाता है किन्तु वह शिरा, धमनी या केशिका के रचनानुसार एक दूसरे से भिन्न होते हैं। केशिकाओं के समूह से जो अर्बुद बनते हैं, उनको रक्तगुल्म कहा जाता है।

रक्तगुल्म[2]—यह प्रसरित केशिकाओं का समूह होता है जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म धमनी और शिरा भी सम्मिलित होती हैं। धमनियों के द्वारा रक्त आता है और शिराओं द्वारा लौट जाता है। यह अर्बुद प्रायः जन्म ही से होते हैं। यदि वह किसी प्रत्यक्ष स्थान में नहीं होते तो उनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता है।

इन गुल्मों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है—(१) वह, जो केवल त्वचा से ढके रहते हैं। (२) वह गुल्म, जो चर्म के नीचे स्थित होते हैं। (३) वह गुल्म, जो चर्म के नीचे से प्रारम्भ होकर चर्म के कुछ भाग को नष्ट कर डालते हैं।

प्रथम प्रकार का गुल्म चर्म को तनिक खींचने से केशिकाओं के एक जाल के समान दिखाई देता है। केशिकाएँ एक दूसरे के समानान्तर अथवा चारों ओर को फैली हुई दीखती हैं। इनके बीच में प्रायः एक प्रसरित पेशिका स्थित होती है। इनका रङ्ग हलके गुलाबी से गहरा लाल तक हो सकता है।

दूसरे प्रकार के गुल्म वास्तव में अर्बुद होते हैं। उनके ऊपर अर्बुदों की भाँति एक आवरण या कोष चढ़ा रहता है। वह एक स्थान पर परिमित होते हैं। दाबने से उनमें से रक्त निकल जाता है, किन्तु हाथ को हटा लेने से रक्त फिर भर आता है।

तीसरे प्रकार का गुल्म मुख और कपाल में अधिक होता है, यद्यपि वह जिह्वा, कपोल के भीतर की ओर, तालु तथा अन्य स्थानों में भी पाया जाता है। यह एक अर्बुद की भाँति चारों ओर के स्थान से ऊँचा उठा रहता है। कभी-कभी गुल्म का बाह्य रूप उसके भीतरी भाग के ही समान हो जाता है। उस पर केशिकाओं के समूह दिखाई देते हैं।

चिकित्सा—प्रथम प्रकार के गुल्मों को, यदि वे गुप्त स्थानों में हों तो, वैसे ही छोड़ देना चाहिए। शस्त्र-कर्म द्वारा उनको निकालने से क्षताङ्क बनेगा जो गुल्म की अपेक्षा अधिक विकृत उत्पन्न कर देगा। छोटे गुल्मों को पैक्विन की दाहक शलाका से नष्ट किया जा सकता है। बड़े गुल्मों में रेडियम के प्रयोग से लाभ हुआ है। कार्बन-डाई-आक्साइड-स्नो, जो केवल जमा हुआ कार्बन-डाई-आक्साइड होता है, का प्रयोग भी लाभदायक सिद्ध हुआ है।

---

१. Angioma. २. Naevus.

दूसरे और तीसरे प्रकार के गुल्म प्रायः स्वयं जाते रहते हैं। इस कारण प्रारम्भ में उनको न छोड़ना चाहिए। यदि वे शीघ्रता के साथ बढ़ें अथवा उनसे किसी अङ्ग को क्षति पहुँचने की आशंका हो तो उनकी चिकित्सा करना आवश्यक है। मुख तथा ऐसे ही स्थानों पर के गुल्मों की रेडियम द्वारा चिकित्सा करने से सन्तोषजनक फल हुए हैं। काँच की छोटी नलिका को, जिसमें रेडियम रखा रहता है, गुल्म के ऊपर लगाया जाता है। भिन्न-भिन्न समय पर नलिका को गुल्म के भिन्न-भिन्न भागों पर लगाते हैं। इस प्रयोग का समय नलिका की शक्ति पर निर्भर करता है। अधिक शक्तिवाली नलिका थोड़े समय तक और थोड़ी शक्तिवाली अधिक समय तक लगाई जाती है। इससे गुल्म की धातु संकुचित होने लगती है और क्षताङ्क बनना आरम्भ हो जाता है।

दाहक शलाका का भी प्रयोग किया जाता है। उसकी सूचिका को गुल्म में कई स्थानों पर प्रविष्ट करने से क्षताङ्क धातु बनकर गुल्म का नाश कर देती है।

विद्युत्कर्म[१]—गुल्म की विद्युत्-धारा के द्वारा भी चिकित्सा की जाती है। अन्य विधियों की अपेक्षा इस विधि से उत्तम परिणाम निकले हैं। पीड़ा अधिक होने के कारण रोगी को मूर्च्छित करके विद्युत्-यन्त्र के दोनों ध्रुवों पर लगी हुई पतली सूचिकाओं को गुल्म में प्रविष्ट किया जाता है। धनध्रुव[२] एक ही स्थान पर रखा रहता है। किन्तु ऋण-ध्रुव[३] को गुल्म पर यतस्ततः लगाते रहते हैं, जिससे गुल्म में कई स्थानों पर छिद्र हो जाते हैं। कुछ चिकित्सक धन-ध्रुव को बाहु के पीछे अथवा पीठ पर रखते हैं। इन सूचिकाओं को नियुक्त स्थान पर रखकर अथवा गुल्म में प्रविष्ट करके धारा का प्रवाह किया जाता है। कुछ समय तक प्रवाह करने के पश्चात् जब चर्म पीला और रक्त-रहित दिखाई देने लगे तो विद्युत्-प्रवाह को रोक देना चाहिए। तत्पश्चात् सूचिका को धीरे-धीरे बाहर की ओर खींचा जाय। किन्तु सूचिका के चर्म से पृथक् होने से पूर्व धारा-प्रवाह को बन्द कर देना आवश्यक है। तत्पश्चात् सूचिका द्वारा उत्पन्न हुए छिद्रों को कोलोडियन लगाकर बन्द किया जा सकता है। छः या आठ सप्ताह के पश्चात् फिर दूसरी बार कर्म करना चाहिए। इस प्रकार एक बड़े गुल्म के लिए आठ या दस बार कर्म करना पड़ता है। छोटा गुल्म दो या तीन बार के दाह से नष्ट हो जाता है।

छेदन—गुल्म को पूर्णतया काटकर निकाल देना उसका अन्तिम और निश्चित उपाय है। किन्तु मुख इत्यादि पर शस्त्र-कर्म से क्षताङ्क बन जाता है। ढके हुए स्थानों में छेदन द्वारा गुल्म को निकाल देने में संकोच करना उचित नहीं।

सूचिकाभरण[४]—इंजेक्शन

विषम अवस्थाओं में उत्तेजक तथा शामक ओषधियों को रक्त में तत्काल पहुँचाने की

---

१. Electrolysis. २. Positive pole. ३. Negative pole.
४. Ingection.

आवश्यकता होती है। दारुण पीड़ा में, जैसे शस्त्र-कर्म अथवा वृक्काश्मरी इत्यादि रोगों में, मर्फ़िया को सूचिका द्वारा रक्त में प्रविष्ट किया जाता है। इसी प्रकार हृदयावसाद में डिजिटेलीन या स्ट्रिक्नीन का इंजेक्शन देना पड़ता है। कुछ औषधियाँ भी ऐसी होती हैं

चित्र नं० १०३ रेकर्ड सिरिंजों का बक्स

जो मुख द्वारा न देकर सूचिका द्वारा ही प्रविष्ट की जाती हैं।

इंजेक्शन तीन प्रकार के होते हैं—(१) अधस्त्वक्[1], (२) अन्तर्पेशीय[2] और (३) अन्तर्शिरीय[3]।

अधस्त्वक् सूचिकाभरण—यह इंजेक्शन चर्म के नीचे दिया जाता है। इसमें एक या दो सी० सी० की सिरिंज को, जिसके आगे एक पतली सूचिका लगी रहती है, प्रयोग किया जाता है। यह सिरिंज कई प्रकार की बनाई जाती है। कुछ केवल काँच की होती हैं। दूसरी सिरिंजों में बीच की नली, जिसमें औषध भरी जाती है, काँच की बनी होती है। शेष सब भाग धातु के होते हैं। 'रेकर्ड सिरिंज' का बहुत प्रयोग किया जाता है। ये एक सी० सी० से २५ सी० सी० तक की बनाई जाती हैं।

प्रयोग करने से पूर्व सिरिंज के प्रत्येक भाग को पृथक् करके उनको उबाल कर शुद्ध कर लेना चाहिए। वह कम से कम २० मिनिट तक उबाली जावें। सिरिंजों को रखने के

---

१. Subcutaneous. २. Intramuscular. ३. Intraveinous.

लिए कुछ धातु अथवा काँच और धातु के बने हुए ऐसे बक्स या शीशियाँ आती हैं, जिनमें शुद्ध अल्कोहल या रेक्टीफ़ाइड स्पिरिट को भरकर उसमें सिरिंज को रख दिया जाता है। इससे सिरिंज सदा विसंक्रमित रहती है।

जिन वस्तुओं का इंजेक्शन दिया जाता है उनकी एक मात्रा की छोटी टिकियाँ अथवा उनके विलयन की मात्राएँ काँच की सूक्ष्म शीशियों में, जिनको 'एम्प्यूल' कहते हैं, भरी हुई बाज़ार में बिकती हैं। यदि टिकियों का उपयोग किया जावे तो उनको एक या दो सी० सी० परिस्रुत जल में उबालकर विलयन बना लेना चाहिए। एम्प्यूल में विलयन बना हुआ तैयार रहता है। एम्प्यूल को तोड़कर विलयन को सिरिंज में भरके इंजेक्शन दिया जाता है।

इंजेक्शन देने के समय चिकित्सक अपने हाथों को शुद्ध करके ओषधि के विलयन को सूचिका-युक्त शुद्ध सिरिंज में भरकर दाहने हाथ में लेता है। एक सहायक रोगी के उस स्थान पर, जहाँ इंजेक्शन देना है, टिंक्चर आयोडीन लगाता है। तत्पश्चात् चिकित्सक बायें हाथ की तर्जनी और अँगूठे के बीच में शुद्ध किये हुए स्थान को पकड़कर और चर्म को तनिक ऊपर उठाकर सूचिका को चर्म के नीचे प्रविष्ट कर देता है। तत्पश्चात् सिरिंज के दस्ते को दाबने से औषधि वहाँ की धातुओं में पहुँच जाती है। अन्त में सूचिका को बाहर खींचकर टिंक्चर आयोडीन का फिर लेप कर दिया जाता है। यदि आवश्यक हो तो छिद्र को कोलोडियन या टिंक्चर-बेंजोइन से बन्द किया जा सकता है।

अन्तर्पेशीय इंजेक्शन—इस इंजेक्शन के लिए ऐसा स्थान चुना जाता है जहाँ पर पेशियाँ अधिक और मोटी होती हैं। प्रायः नितम्ब के प्रान्त में पीछे की ओर इंजेक्शन दिया जाता है। स्कन्ध में भी दे सकते हैं। जो औषधि इस प्रकार शरीर में प्रविष्ट की जाती है उसकी मात्रा अधिक होती है। इस कारण बड़े आकार की सिरिंज और तदनुसार सूचिका का प्रयोग करना पड़ता है।

चिकित्सक शुद्ध की हुई सिरिंज में ओषधि को भरकर दाहिने हाथ में पकड़ लेता है और दूसरे हाथ के अँगूठे और अँगुलियों से चर्म को स्थिर करके सिरिंज की सूचिका को सीधा भीतर की ओर प्रविष्ट करता है। सिरिंज को धीरे-धीरे दबाना चाहिए, जिससे रोगी को पीड़ा कम हो। जब सूचिका २ या २½ इंच भीतर पहुँच जाती है तो उसके दस्ते को दाबकर ओषधि को प्रविष्ट कर दिया जाता है। सूचिका को निकालने पर कोलोडियन से छिद्र को बन्द कर देना चाहिए।

अन्तर्शिरीय इंजेक्शन—फ़िरङ्ग रोग, कालाजार तथा अन्य कई रोगों में शिरा के द्वारा ओषधि को रक्त में पहुँचाया जाता है। इसके लिए प्रायः कूर्पर के सामने की शिराएँ चुनी जाती हैं। रोगी को मेज़ पर लिटाकर कुहनी से ऊपर की ओर एक टूर्निके[1] बाँध दिया जाता है और अग्रबाहु को नीचे से ऊपर को दबाया जाता है अथवा रोगी से बार-बार मुट्ठी खोलने तथा बन्द करने को कहा जाता है। इससे शिराएँ फूल जाती हैं और उनमें सूचिका को प्रविष्ट करना सहज होता है। इंजेक्शन देने से पूर्व कूर्पर के सामने के स्थान को पूर्णतया शुद्ध कर लेना चाहिए।

---

१. Tourniquet.

इंजेक्शन के लिए प्रायः दस सी० सी० की सिरिंज प्रयुक्त की जाती है। ऐसी सिरिंज, जिसमें सूचिका लगाने का स्थान बीच में न होकर एक ओर को होता है, इस इंजेक्शन के लिए अधिक उपयुक्त है।

प्रयोग के समय चिकित्सक ओषधि के विलयन को सिरिंज में भरकर उसके निचले भाग को ऊपर की ओर मोड़कर, जिससे दस्ता नीचे हो जाता है, दस्ते को दाबकर सिरिंज से वायु को पूर्णतया निकाल देता है। वायु के शिरा के भीतर पहुँच जाने से मस्तिष्क में रक्तावरोध उत्पन्न होकर मृत्यु हो सकती है। तत्पश्चात् चिकित्सक सिरिंज को दाहिने हाथ में लेकर बायें हाथ के अँगूठे और तर्जनी के बीच में पकड़कर शिरा के उस भाग को स्थिर कर लेता है जिसमें सूचिका को प्रविष्ट करना है। तत्पश्चात् वह सूचिका को आड़ी रखकर उसकी नोक को शिरा के ऊपर की ओर प्रविष्ट करता है। जहाँ तक हो सके, सिरिंज को अङ्ग के समानान्तर रखना चाहिए। इससे सूचिका शिरा की दूसरी भित्ति को छेदकर पीछे न निकलने पावेगी। वह शिरा के भीतर ही रहेगी। किन्तु प्रारम्भ में सूचिका को तनिक नीचे की ओर प्रविष्ट करना आवश्यक है। शिरा में प्रवेश के पश्चात् उसको पूर्णतया चर्म के समानान्तर कर देना चाहिए।

जब सूचिका शिरा की भित्ति को भेदकर उसके भीतर पहुँचती है तो अवरोध के अकस्मात् हट जाने से चिकित्सक को सूचिका का शिरा में प्रवेश प्रतीत हो जाता है। यदि केवल सूचिका ही प्रविष्ट की गई है तो उससे रक्त की बूँदें निकलने लगती हैं। यदि सूचिका सिरिंज-युक्त है तो दस्ते को तनिक पीछे की ओर खींचने से सिरिंज में रक्त की धार आती हुई दिखाई पड़ेगी। इसके पश्चात् सहायक टूर्निके को ढीला कर देता है। चिकित्सक सिरिंज के दस्ते को धीरे-धीरे दबाकर विलयन को शरीर में प्रविष्ट करता है। सूचिका को शिरा से बाहर निकालने के पश्चात् छिद्र का जिससे रक्त की कुछ बूँदें निकलने लगेंगी, कोलोडियन से बन्द कर देना चाहिए।

इस इंजेक्शन में सबसे बड़ी दुर्घटना यह होती है कि सूचिका को प्रविष्ट करते समय शिरा इधर-उधर को हट जाती है। ऐसा उन स्थानों में अधिक होता है जहाँ का चर्म ढीला होता है; जैसे, हाथ के पृष्ठ पर। इसके लिए कूर्पर के सामने की शिरा को इंजेक्शन देने से पूर्व भली भाँति स्थिर कर लेना चाहिए। यदि शिरा में सूचिका के प्रविष्ट करने में एक बार सफलता न हो तो उसको थोड़ा पीछे खींचकर फिर से प्रविष्ट करना चाहिए। कभी-कभी सूचिका की नोक शिरा के भीतर पहुँचकर उसकी दूसरी भित्ति के द्वारा बाहर निकल जाती है। इसमें प्रथम तो सूचिका से रक्त निकलने लगता है, किन्तु तुरन्त ही बन्द हो जाता है। ऐसी दशा में भी पूर्व ही के समान करना चाहिए। जिनको इस कर्म का अभ्यास न हो उनको उचित है कि वह प्रथम केवल सूचिका को शिरा में प्रविष्ट करें। जब सूचिका से रक्त निकलने लगे तब विलयन से भरी हुई सिरिंज को सूचिका में लगाकर विलयन को प्रविष्ट कर दें।

आमाशय का प्रक्षालन—अफ़ीम तथा अन्य वस्तुओं से विषाक्त होने पर आमा-

शय का प्रक्षालन करना पड़ता है। यह एक साधारण रबर की नलिका के साथ काँच की कीप लगाकर किया जा सकता है। नलिका ३० इंच के लगभग लम्बी होनी चाहिए। उसके सिरे पर ग्लिसरिन या कोई तैल लगाकर उसको रोगी के गले द्वारा अन्न-प्रणाली में प्रविष्ट किया जाता है। जब बीस या बाईस इंच नलिका भीतर जा चुकती है तो पुटाशियम-परमैंगनेट या अन्य ओषधि के विलयन को कीप के द्वारा भीतर डाला जाता है। जब पर्याप्त विलयन भीतर पहुँच जावे तो कीप को नीचे की ओर उलट देना चाहिए।

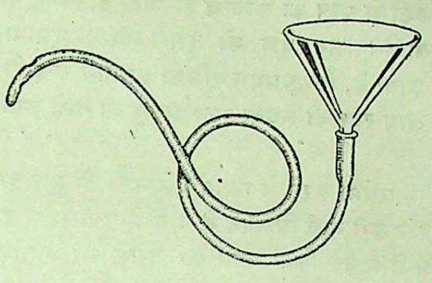

चित्र नं० १०४
आमाशय के प्रक्षालन के लिए रबर की नलिका और काँच की कीप

यह ध्यान रहे कि कीप को उस समय उलटा जावे जब उसमें कुछ जल रहे। इससे आमाशय के भीतर गया हुआ सारा विलयन बाहर निकल आवेगा। किन्तु कीप के खाली हो जाने पर ऐसा नहीं होगा। इस प्रकार की कुछ आमाशय नलिकाएँ बाज़ार में बिकती हैं जिनमें कीप भी रबर की होती है। चित्र में एक ऐसी ही नलिका दिखाई गई है।

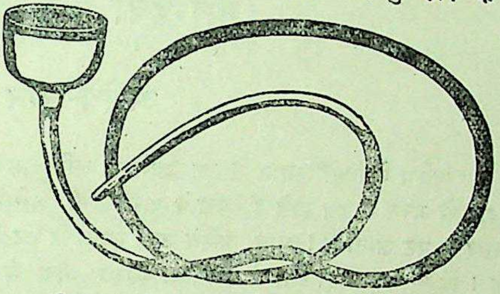

चित्र नं० १०५ रबर की नलिका और कीप

आमाशय को धोने के लिए एक विशेष प्रकार का पम्प भी आता है। इस पम्प का एक पेंच द्वारा दो पीतल की नलिकाओं से सम्बन्ध होता है। पेंच में दो दिशाओं में दो लम्बे छिद्र

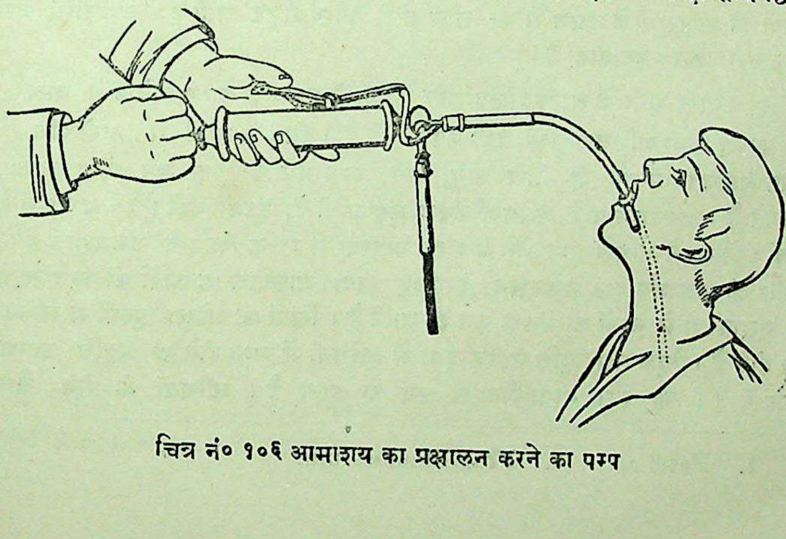

चित्र नं० १०६ आमाशय का प्रक्षालन करने का पम्प

होते हैं। इनकी स्थिति इस प्रकार की होती है कि पेंच को घुमाने से एक छिद्र द्वारा एक नलिका से पम्प का सम्बन्ध हो जाता है, किन्तु दूसरी ओर की नलिका का मार्ग बन्द हो जाता है। जब पेंच को दूसरी ओर को घुमाया जाता है तो दूसरी नलिका से सम्बन्ध हो जाता है, किन्तु प्रथम नलिका का मार्ग बन्द हो जाता है। पीतल की दोनों नलिकाओं के साथ रबर की अथवा अन्य प्रकार की नली लगी रहती है।

प्रयोग करने के समय एक नली को मुख द्वारा आमाशय में प्रविष्ट कर दिया जाता है। दूसरी नली विलयन के पात्र में डूबी रहती है। पम्प को चलाकर विलयन को आमाशय में प्रविष्ट किया जाता है। दूसरी बार आमाशय से विलयन को निकाल लिया जाता है। इस प्रकार आमाशय का प्रक्षालन किया जाता है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

अस्थि-भग्न

अस्थि के किसी स्थान से टूट जाने को अस्थि-भग्न कहते हैं। साधारणतया अभिघात से भग्न उत्पन्न होते हैं, यद्यपि कभी-कभी अस्थि, रोगग्रस्त होने पर, तनिक से भार से टूट जाती है। प्रायः अस्थि उसी स्थान से टूटती है जहाँ उस पर आघात लगता है। किन्तु बहुधा दो ओर से दबने पर अस्थि बीच से टूट जाती है। जब पेड़ से गिरने पर अस्थि टूटती है तो उसका कारण पृथ्वी और शरीर के बीच में अस्थि का दबना होता है। ऐसी दशाओं में भग्न अभिघात के स्थान से कुछ दूरी पर होता है। कभी-कभी पेशियों की कण्डराओं के कर्षण से भी छोटी-छोटी अस्थियाँ टूट जाती हैं। जान्वस्थि[१] का प्रायः इसी प्रकार भग्न होता है।

कारण—भग्न के तात्कालिक और गौण दो प्रकार के कारण होते हैं। तात्कालिक कारण प्रायः अभिघात तथा पेशी-कर्षण होते हैं। जिन दशाओं से भग्नोत्पत्ति में विशेष सहायता मिलती है—जैसे आयु, रोग, व्यवसाय इत्यादि—वह गौण कारण कहलाते हैं। बाल्यावस्था में अस्थियाँ केवल मुड़ जाती हैं, टूटती नहीं। ३० से ४० वर्ष के बीच में सबसे अधिक भग्न होते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति अत्यन्त उद्यमशील होते हैं और जीवनोपार्जन तथा मनोरञ्जन के लिए प्रायः आपत्तिजनक कार्यों को करते रहते हैं। वृद्धावस्था में भग्नों की संख्या कम हो जाती है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक भग्न होते हैं। पैतृक-भग्न-प्रवृत्ति[२] नामक दशा में अस्थियों में भग्न होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यह रोग माता-पिता से बच्चों को होता है। अस्थियों के रोग—जैसे

---

१. Patella. २. Fragilitas ossium.

अस्थि-क्षय[1], पक्षाघात[2] तथा अस्थि-वक्रता[3] इत्यादि भी भग्न की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देते हैं।

भग्न के प्रकार—भग्न दो प्रकार के होते हैं, एक **साधारण** और दूसरे **संयुक्त**।

साधारण भग्न में चर्म भिन्न नहीं होता। चर्म और पेशी सब पूर्व ही के समान रहते हैं। केवल भीतर की अस्थि टूट जाती है। इस कारण भग्न हुई अस्थि तक वायु नहीं पहुँच पाती। संयुक्त भग्न में चर्म, पेशी तथा श्लैष्मिक कला इत्यादि छिन्न हो जाती हैं जिससे वायु का अस्थि तक प्रवेश होने लगता है। ऐसे भग्न से चर्म और माँस के भिन्न होने से रक्त-प्रवाह होता है। यदि क्षत में जीवाणु प्रविष्ट हो जाते हैं तो वह शोथ उत्पन्न कर देते हैं।

भग्न **पूर्ण** तथा **अपूर्ण** दोनों भाँति के हो सकते हैं।

अपूर्ण भग्न में पूरी अस्थि नहीं टूटती। केवल लम्बाई की ओर से उसका कुछ भाग टूट जाता है। बच्चों में इसी प्रकार के भग्न होते हैं। इनको 'नव-शाखा-भग्न'[4] कहते हैं। **अवनत भग्न** कपाल की अस्थियों में पाये जाते हैं। इन अस्थियों में दो स्तर होते हैं। अभिघात से बाहर का स्तर केवल नीचे को दब जाता है। किन्तु नीचे का

चित्र नं० १०७ नव-शाखा-भग्न

स्तर ज्यों का त्यों बना रहता है। कभी-कभी दोनों स्तर टूटकर नीचे को दब जाते हैं। **रन्ध्रित भग्न** वह होता है जिसमें अस्थि में दरारें पड़ जाते हैं।

पूर्ण-भग्न कई प्रकार के होते हैं। जब अस्थि अभिघात ही के स्थान पर पूर्णतया टूट जाती है तो वह **अनुप्रस्थ[5] भग्न** कहलाता है। **तिर्यग्भग्न**[6] में भग्न की रेखा टेढ़ी होती है। वह अस्थि के एक ओर एक स्थान से प्रारम्भ होकर दूसरी ओर दूर तक चली जाती है। **अनुदैर्घ्य भग्न**[7] अस्थि की लम्बाई की ओर होता है। अस्थि का एक पतला लम्बा टुकड़ा टूटकर पृथक् हो जाता है। बन्दूक की गोली से इस प्रकार का भग्न हो सकता है। **अनुवेल्लित भग्न**[8] में भग्न की रेखा लहरदार या चक्र के समान होती है। यह केवल लम्बी अस्थियों में पाया जाता है। **अवशीर्ण भग्न**[9] में अस्थि के कई छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं।

---

१. Caries of bone. २. Paralysis. ३. Rickets. ४. Green stick fracture. ५. Transverse fracture. ६. Oblique fracture. ७. Longitudinal. ८. Spinal. ९. Comminuted.

जब अस्थि का एक टूटा भाग दूसरे में धँस जाता है तो वह **अन्तराविष्ट भग्न** कहलाता है।

भग्न के लक्षण और चिह्न—(१) **पीड़ा**—अभिघात के स्थान पर नाड़ी इत्यादि के क्षत से पीड़ा होती है।

(२) **स्थानिक लक्षण**—भग्न के स्थान पर अभिघात के चिन्ह, चर्म का छिलना पेशी-सूत्रों का टूटना तथा शोथ दिखाई देता है।

(३) **अङ्ग की विकृति**—भग्न के कारण स्थान विकृत हो जाता है। अस्थि के टूटे हुए भाग अपने स्थान से भ्रष्ट होकर विकृति को और भी बढ़ा देते हैं।

(४) **कर्महीनता**—अङ्ग अकर्मण्य हो जाता है।

(५) **अस्वाभाविक[1] अस्थिरता**—यदि भग्न के दोनों ओर से अङ्ग को पकड़ कर हिलाया जाय तो दोनों भाग स्वतन्त्र दिशाओं में हिलेंगे। इस चिह्न को प्रतीत करने का सदा उद्योग न करना चाहिए। इससे अक्षत धमनियों और नाड़ियों को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है।

(६) ***भग्नध्वनि[2]**—अङ्ग को हिलाने से अस्थि के दोनों टुकड़े आपस में रगड़ खाते हैं, जिससे एक विशेष प्रकार का शब्द उत्पन्न होता है। इस शब्द को भग्न-ध्वनि कहते हैं। अस्थि के दोनों भागों की रगड़ अँगुली को प्रतीत होती है और उससे उत्पन्न हुआ शब्द सुनाई देता है। किन्तु, जहाँ तक हो सके, इस चिह्न को प्रतीत करने का उद्योग न करना चाहिए।

भग्न से अङ्ग की लम्बाई में भी कुछ कमी हो जाती है। इस कारण परीक्षा करते समय दोनों ओर के अंगों को नापकर देखना चाहिए कि भग्न के कारण अङ्ग कितना छोटा हो गया है। लम्बाई नापने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। दोनों ओर यह माप समान होना चाहिए; अर्थात्, यदि एक ओर की बाहु को चंचु-प्रवर्धन[3] से अन्तर्मणिक[4] तक नापा गया है तो दूसरी ओर भी इन्हीं दोनों भागों के अन्तर को नापना चाहिए। बाहु का माप असंकूट[5] के शिखर से प्रगण्डास्थि के बहिरार्बुद तक और अंसतुण्ड[6] से अन्तरार्बुद तक किया जाता है। अग्रबाहु में प्रगण्डास्थि के अर्बुदों से अन्तः तथा बहिर्मणिक[7] की लम्बाई नापी जाती है। ऊरु प्रान्त में नितम्बास्थि के पुरोर्ध्वकूट[8] से जान्वस्थि की निम्नधारा के अन्तर को नापा जाता है। नितम्ब के पीछे की ओर जघन-धारा से उर्विका के महाशिखरक तक नापना चाहिए। जंघा प्रान्त में जान्विका अथवा बहिर्जंघिका के ऊर्ध्व धारा से अन्तः तथा बहिर्गुल्फ[10] की लम्बाई नापना उचित है। सारे अङ्ग की लम्बाई पुरोर्ध्वकूट से गुल्फों तक नापी जाती है।

---

१. Preter natural mobility. २. Crepitus.

* अवपीड्यमाने शब्दाः—

सुश्रुत—निदानस्थान अ० १५।

३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०—इन शब्दों के लिए लेखक-कृत 'शरीर-रचना-विज्ञान' देखिए।

यदि भग्न-स्थान पर अधिक शोथ नहीं है और रोगी दुर्घटना के एक या दो ही घण्टे में चिकित्सा के लिए आ गया है तो निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। किन्तु एक या दो दिन के पश्चात् शोथ की अधिकता के कारण रोग-निर्णय में कठिनाई हो सकती है। रोगी की उचित परीक्षा करके रोग तथा उसके स्वरूप को पहिचानना आवश्यक है। परीक्षा में रोगी को जितना कम हिलाया-डुलाया जा सके उतना ही उत्तम है।

एक्स-रे चित्रण—जब भग्न तथा उसके स्वरूप के निर्णय में कोई भी कठिनाई प्रतीत हो तो एक्स-रे द्वारा भग्न का चित्र लेना चाहिए। ये किरणें मांस में होकर निकल जाती हैं, किन्तु अस्थि को पार नहीं कर सकतीं। इस कारण अस्थि की छाया दिखाई देती है।

आजकल इन किरणों का बहुत उपयोग किया जाता है। भग्न-स्थान के सामने और पार्श्व से दो चित्र लेने आवश्यक हैं। भग्न-स्थान के चित्र में अस्थि के दोनों टुकड़ों के बीच में अन्तराल दिखाई देता है। जिन दशाओं में भग्न-भाग अन्तराविष्ट हो जाते हैं उनमें यह अन्तर स्पष्ट नहीं होता। जब अस्थि जुड़ने लगती है तब सन्धान वस्तु में होकर किरणें निकल जाती हैं और इस कारण उसकी कोई छाया नहीं बनती। चित्र को देखते समय इन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

भग्न से उत्पन्न होनेवाले उपद्रव

(१) **स्तब्धता**—यदि आघात किसी मर्मस्थान पर होता है तो उससे गाढ़ी स्तब्धता उत्पन्न होती है।

(२) **भग्नज्वर**[१]—भग्न के दूसरे, तीसरे या चौथे दिवस ज्वर हो आता है, जो दो या तीन दिन तक रह कर जाता रहता है।

(३) **बसा रक्तावरोध**[२]—बसामय धातुओं के फटने से बसा के कण पृथक् होकर रक्त द्वारा फुस्फुस और मस्तिष्क में पहुँच जाते हैं। फुस्फुस में अधिक बसा के एकत्र होने से श्वासावरोध उत्पन्न हो जाता है, जिससे मृत्यु तक हो सकती है। मस्तिष्क में बसा पहुँचकर मूर्च्छा उत्पन्न कर सकती है।

(४) **सकम्प उन्माद**[३]—जो व्यक्ति मद्य के अभ्यस्त होते हैं उनमें यह दशा उत्पन्न होती है। रोगी को निद्रा बहुत कम आती है। उन्माद की सी दशा उत्पन्न हो जाती है। रोगी को भयानक स्वप्न दिखाई देते हैं, जिनसे वह डरकर शय्या से कूद पड़ता है। ये रोगी कभी-कभी खिड़की से कूदकर अपनी जान गँवा देते हैं। सारे शरीर में कम्प होता रहता है। दूसरी अवस्था में मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है और अन्त को रोगी का प्राणान्त हो जाता है।

चिकित्सा—भग्न की चिकित्सा करने के पश्चात् रोगी की साधारण दशा की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। यदि इस उपद्रव का पूर्व ही से भय हो तो रोगी को

---

१. Fracture fever. २. Fat embolism. ३. Delerium tremens.

पुष्टिकारक लघु भोजन देकर उसकी शक्ति को सँभालना चाहिए। निद्रा की कमी के लिए निद्रालु औषधों का प्रयोग करना उचित है। ब्रोमाइड, क्लोरल हाईड्रेट, अफ़ीम, फ़ारमेलडीहाइड, वेरोनाल इत्यादि वस्तुओं से विशेष लाभ होता है।

(५) रक्त-प्रवाह—यह प्रायः अधिक नहीं होता।

(६) धमनियों के क्षत—संयुक्त भग्नों में धमनियाँ क्षत हो जाती हैं, जिससे उस स्थान में रक्त एकत्र हो जाता है। इससे निर्जीवाङ्गत्व उत्पन्न हो सकता है।

(७) नाड़ियों के क्षत—अभिघात के समय नाड़ी क्षत हो सकती है अथवा आरोहण के समय सन्धान-वस्तु के बीच में आ सकती है। यदि क्षत सूक्ष्म है तो केवल संज्ञा-शक्ति में कुछ विकृति हो जायगी। क्षत के गहरे होने से नाड़ी की सञ्चालन-शक्ति नष्टप्राय हो जाती है।

(८) मांस पेशियों को हानि—साधारण की अपेक्षा संयुक्त भग्न में मांस-पेशियों को अधिक हानि पहुँचती है।

(९) सन्धियों को हानि—सन्धियों के पास के भग्नों में सन्धि के भीतरी अवयवों को भी हानि पहुँचती है। सन्धि में आवरण-शोथ तथा अस्थि-शोथ उत्पन्न हो सकते हैं।

(१०) सन्धि-च्युति—अस्थि-भग्न के कारण कभी-कभी सन्धि भी विश्लिष्ट हो जाती है।

अस्थि-संयोजन—अस्थि-भग्न के कुछ समय के पश्चात् टूटे हुए भागों में फिर रोहण आरम्भ होता है। वहाँ पर नवीन धातु बनने लगती है। चारों ओर नये अंकुर उग आते हैं, जिनसे नवीन सूक्ष्म रक्त-नलिकाएँ बन जाती हैं। इन नलिकाओं के चारों ओर सौत्रिक धातु बन जाती है, जिसका कुछ समय के पश्चात् अस्थिजनक धातु में परिवर्तन हो जाता है। इस समय इस धातु में अस्थिजनक कोषाणु उपस्थित होते हैं। धीरे-धीरे वहाँ चूने के लवण एकत्र होने लगते हैं और अस्थि का निर्माण आरम्भ हो जाता है। अस्थि के दोनों भागों के बीच में जो नवीन वस्तु बनती है उसको **सन्धान-वस्तु**[१] कहते हैं। प्रथम यह वस्तु अस्थि के चारों ओर फैली रहती है; किन्तु धीरे धीरे यह संकुचित होती जाती है और अन्त में उसका केवल इतना भाग रह जाता है कि वह अस्थि के भग्न सिरों को जोड़े रहे। कुछ समय में यह वस्तु अस्थि में परिणत हो जाती है और भग्न भागों के बीच में पूर्ण अस्थि बन जाती है। इसके बीच में अस्थि की स्वाभाविक नलिका होती है। उचित सन्धान के पश्चात् भग्न अस्थि का आकार पूर्ववत् हो जाता है। किन्तु सन्धान ठीक न होने से अस्थि की आकृति बिगड़ जाती है।

कुसंयोजन[२]—जब अस्थि के भग्न भागों का सन्धान ठीक नहीं होता तो दोनों भागों के बीच में अन्तर रह जाता है अथवा एक भाग दूसरे के ऊपर चढ जाता है। ऐसी अवस्था में उचित संयोजन नहीं होता। अङ्ग विकृत हो जाता है। उत्तम सन्धान के पश्चात् भी अङ्गों के हिलने से यही परिणाम होता है।

---

१. Callus. २. Mal-union.

ऐसी दशा में सन्धित भग्न अथवा सन्धान-वस्तु को तोड़कर फिर से भग्न भागों का सन्धान करना पड़ता है। वृद्धावस्था में सन्धान-वस्तु के बन जाने के पश्चात् उसको तोड़ना न चाहिए। इस आयु में अस्थि का जुड़ना कठिन होता है। सन्धान-वस्तु को तोड़ना अङ्ग की विकृति और उसकी अनुपयोगिता की सीमा पर निर्भर करता है।

चिकित्सा—भग्न के पश्चात् जितना जल्दी हो सके चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। अधिक समय व्यतीत होने पर वहाँ रक्त और सीरम एकत्र हो जाते हैं और मांस-पेशियाँ संकुचित होकर उत्तम सन्धान में बाधा डालती हैं।

भग्न की चिकित्सा में तीन योजनाएँ करनी होती हैं—(१) टूटे हुए भागों का पूर्ण और उत्तम सन्धान, जिससे भग्न भागों के आपस में मिलने से अस्थि पूर्ववत् हो जाय। (२) आवश्यक समय तक अङ्ग को इस प्रकार स्थिर करना कि रोगी उसको हिला न सके। अङ्ग के हिलने से सन्धित भागों के अपने स्थान से हटने से विकृति उत्पन्न हो जाती है। (३) अङ्ग के आकार और कर्म को पूर्ववत् बनाये रखना। इन तीन अभिप्रायों को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा का आयोजन करना चाहिए।

(१) अस्थि-सन्धान—भग्न भागों को, जो स्थान-च्युत हो जाते हैं, पूर्व स्थिति में ले आने को अस्थि-सन्धान कहते हैं। अङ्ग की विकृति विशेषकर पेशियों के कर्षण और अङ्ग के भार के कारण उत्पन्न होती है। इस कारण सन्धान करते समय पेशियों को ढीली कर देना आवश्यक है। प्रायः पेशियों को धीरे-धीरे मलने और अङ्ग को उचित स्थिति में रखने से वह ढीली हो जाती हैं।

यदि पेशियाँ इस प्रकार ढीली न हों तो रोगी को क्लोरोफ़ार्म देना आवश्यक है। इससे सारे शरीर की पेशियाँ ढीली हो जाती हैं। साधारण भग्नों में केवल पेशियों के ढीली होने से प्रायः अस्थि के भाग पूर्व स्थिति में आ जाते हैं। सन्धान के लिए किसी विशेष उद्योग की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जब इस प्रकार से सन्धान न हो तो अङ्ग का प्रसारण[1] आवश्यक है। अङ्ग को भग्न के नीचे से पकड़कर लम्बाई की दिशा में नीचे की ओर और भग्न से ऊपर के भाग को ऊपर की ओर खींचना चाहिए। किन्तु यह अत्यन्त आवश्यक है कि दोनों भागों का कर्षण एक ही रेखा में किया जाय। कोई भाग एक दूसरे के ऊपर नीचे न होने पावें। यदि दोनों भागों के कर्षण की दिशा में कुछ भी अन्तर रहेगा तो सन्धान ठीक न होगा। यह कर्षण सहायकों द्वारा होना चाहिए। जिस समय चिकित्सक के आज्ञानुसार सहायक भग्न भागों को खींचे उस समय स्वयं चिकित्सक को हस्त-कौशल से अस्थि के भागों का सन्धान करना उचित है।

---

१. Extension.

* अवनामितमुन्नह्येदुन्नतं चावपीडयेत्।
आंछेदतिक्षिप्तमेथागतं चोपरिवर्त्तयेत्॥
आंछनैः पीडनैश्चैव संक्षेपैः बन्धनैस्तथा।
सन्धीं शरीरे सर्वांस्तु चलानप्यचलानपि॥
एतैस्तु स्थापनोपायैः स्थापयेत् मतिमान् भिषक्।

सुश्रुत—चिकित्सा स्थान अ० ३।

यदि पेशियाँ पूर्णतया ढीली हो गई हैं तो उपयुक्त सन्धान में कोई कठिनाई न होगी। अङ्गों को मोड़ने से भी पेशियाँ ढीली हो जाती हैं।

पेशियों का उस समय तक बराबर कर्षण करते रहना चाहिए जब तक भग्न भाग स्वाभाविक स्थिति में न आ जावें।

(२) अङ्ग को स्थिर करना—अङ्ग को स्थिर करने के लिए कई प्रकार के कुशा[१] प्रयोग किये जाते हैं। यह कुशा लकड़ी, चमड़े, नमदे, गटापार्चा, लोह की शलाका इत्यादि वस्तुओं के बनाये जाते हैं।

अन्य वस्तुओं की अपेक्षा लोहे और लकड़ी के कुशा अधिक काम में लाये जाते हैं। साधारण भग्नों में लकड़ी के कुशा द्वारा अङ्ग को स्थिर कर दिया जाता है। कुशा की लम्बाई अङ्ग के अनुसार रखी जाती है। जो कुशा अङ्ग के भीतर की ओर रहता है वह बाहर के कुशा की अपेक्षा छोटा होता है। कभी-कभी बाहर का कुशा छोटा होता है। किसी-किसी कुशा का आकार अङ्ग के अनुसार बनाया जाता है। उनको कहीं-कहीं से काट या रेतकर गहरा कर दिया जाता है। इनकी लम्बाई अङ्ग से कुछ अधिक होती है, जिससे वह अङ्ग को पूर्णतया ढक लेते हैं। प्रयोग करने के पूर्व उन पर पर्याप्त रूई लगा देनी चाहिए, जिससे वह अङ्ग पर रगड़ने न पावें। उनके रगड़ खाने से चर्म पर व्रण बन जाते हैं। अङ्ग पर कुशाओं को लगाकर उनको पट्टी से बाँध दिया जाता है। जो पट्टी कुशा पर बाँधी जावे वह न बहुत कसी और न बहुत ढीली होनी चाहिए, जिससे फलक अपने स्थान पर रहे, और रक्त-सञ्चालन में भी कोई बाधा न पड़े। *

गूक का कुशा[२] पदार्थ काठ का बना होता है। एक मोटे वस्त्र पर काठ के लम्बे और पतले पत्र लगे रहते हैं। बाज़ार में इस वस्तु के लम्बे-लम्बे टुकड़े बिकते हैं। आवश्यकतानुसार इस वस्तु के टुकड़े काटकर प्रयोग किये जा सकते हैं।

नमदे के कुशाओं में यह गुण होता है कि उनको जिस आकार का चाहें काट सकते हैं। अङ्ग पर लगाने से पूर्व उनको उपयुक्त आकार का काटकर जल में भिगो दिया जाता है, जिससे वह नरम हो जाते हैं। तत्पश्चात् उनको अङ्ग पर लगाकर उसीके आकार के समान बना दिया जाता है। शुष्क होने पर वह वैसे ही बने रहते हैं।

आधुनिक समय में कङ्काल कुशाओं[२] का बहुत उपयोग होता है। भिन्न-भिन्न अङ्गों के लिए भिन्न-भिन्न आकार के कुशा बनाये जाते हैं।

यह कुशा लोहे की दो छड़ों के बने होते हैं, जो अङ्ग के दोनों ओर रहती हैं। आगे की ओर यह छड़ें आपस में एक सीधी छड़ से जुड़ी रहती हैं। जो भाग अङ्ग के मूल पर रहता है, वह वृत्त के समान गोल होता है। इसको रूई से ढककर उस पर चमड़ा चढ़ा दिया जाता है।

---

१. Splint. २. Skeleton splint.

* तत्रापि शिथिलं बद्धे सन्धिस्थैर्य्यं न जायते।
गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक् पाक एव च।
तस्मात् साधारणं बन्धं भग्नेशं सन्ति तद्विधः॥

सुश्रुत—चिकित्सास्थान अ० ३।

इसके भीतर अङ्ग को डालकर दोनों ओर की छड़ों में लिंट के टुकड़े पिनों द्वारा लगाकर उन पर अङ्ग को रख दिया जाता है। आवश्यकतानुसार इन टुकड़ों को ढीला या तंग किया जा सकता है। अङ्ग के प्रसारण के लिये अनुबन्धक प्लस्तर की दो पट्टियाँ भग्न के ऊपर से अङ्ग के दोनों ओर लगाई जाती हैं और पाँव या हाथ के नीचे तक ले जाकर कुशा की अनुप्रस्थ छड़ में, जिसके द्वारा दोनों ओर की छड़ें जुड़ी रहती हैं, बाँध दी जाती हैं। दोनों ओर की लम्बी पट्टियों के ऊपर होती हुई प्लस्तर की कई छोटी-छोटी पट्टियाँ अङ्ग के चारों ओर लगाई जाती हैं, जिससे लम्बी पट्टियाँ हटने न पावें। जब अधिक प्रसारण करना होता है तो लम्बी पट्टियों के सिरों को कङ्काल की छड़ में न बाँधकर लकड़ी के एक ३″ × ३″ के टुकड़े पर लगा दिया जाता है। इस टुकड़े के बीच में एक

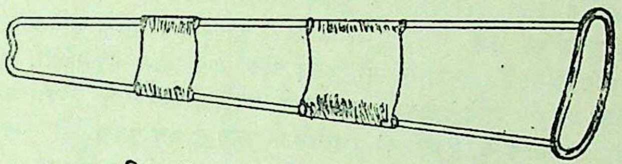

चित्र नं० १०८ टोमास का कङ्काल कुशा

छिद्र होता है। इसमें होकर रस्सी का एक टुकड़ा डाल दिया जाता है। इस रस्सी को एक घिर्री पर होकर, जो रोगी की शय्या पर पाँव की ओर लगी रहती है, निकालते हैं और उसके दूसरे सिरे से एक टीन के पीपे को, जिसमें कङ्कड़ अथवा छोटे-छोटे छर्रे भरे रहते हैं, लटका देते हैं। इस प्रकार इस पीपे के भार से जंघा अथवा बाहु सदा खिंचती रहती है।*

इस प्रकार के कुशाओं में यह सुविधा होती है कि अङ्ग को जिस दशा में चाहें रख सकते हैं। विशेषकर संयुक्त भग्नों में इनका प्रयोग बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है। व्रणोपचार करते समय केवल लिंट के एक या दो टुकड़ों को निकाल देना पर्याप्त है। व्रण की शुद्धि के पश्चात् उनको फिर पूर्ववत् लगाया जा सकता है। इस प्रकार अङ्ग को बिना हिलाये हुए ही व्रणोपचार हो जाता है।

पैरिस का प्लस्तर[१]—यह उस समय प्रयोग किया जाता है जब अङ्ग को बहुत समय तक स्थिर रखना होता है। बच्चों में, जिनको पूर्णतया स्थिर रखना असम्भव ही सा है, इस वस्तु का अधिक प्रयोग किया जाता है।

यह एक श्वेत रङ्ग का बारीक चूर्ण होता है। प्रयोग करने के समय इसको इस प्रकार तैयार करते हैं। जिस अङ्ग पर प्लस्तर का कुशा लगाना होता है उसके बालों को उस्तरे से मूँड़ दिया जाता है। तत्पश्चात् अङ्ग पर एक साधारण चिकनी मलमल की पट्टी बाँध दी जाती है। इसके पश्चात् तीन गज़ के लगभग लम्बी मोटी मलमल या किसी दूसरे मोटे वस्त्र की पट्टी में, प्लस्तर के शुष्क चूर्ण को भली भाँति रगड़कर उसको ठण्डे

---

* देखो बारहवाँ परिच्छेद।

१. Plaster of Paris.

जल में भिगो देते हैं। जब तक उससे वायु के बुलबुले निकलते रहें उसको जल ही में पड़ा रहने देना चाहिए। जब वायु का निकलना बन्द हो जाय तब पट्टी को जल से निकालकर मलमल की पट्टी के ऊपर, जो अङ्ग पर बँधी हुई है, नीचे से ऊपर की ओर बाँधना चाहिए। पट्टी को कड़ी बाँधना उचित नहीं। उसका प्रत्येक भाग जल से पूर्णतया भींगा हो। तत्पश्चात् इस पट्टी पर प्लस्तर की लेई, जो गरम जल में थोड़े-थोड़े चूर्ण के मिलाने और किसी लकड़ी इत्यादि के चलाने से बनाई जाती है, लगावें। पट्टी पर लेई का हलका स्तर लगाना चाहिए। तत्पश्चात् पाँच मिनट तक अङ्ग को थामे रहना आवश्यक है। इस समय में लेई के कड़े हो जाने से बन्धेज दृढ़ हो जायगा।

इस प्लस्तर का कुशा दूसरे प्रकार से भी बनाया जाता है। अङ्ग के आकार के अनुसार फ़लालैन के दो इस प्रकार के टुकड़े काटे जाते हैं कि वह अङ्ग को पूर्णतया ढक लें और एक टुकड़े का कुछ भाग दूसरे के ऊपर आ जावे। इनसे छोटे फ़लालैन के दो और टुकड़े काटे जाते हैं। इनमें से दो टुकड़े, एक बड़ा और एक छोटा, अङ्ग के बाहर और दो भीतर की ओर रहते हैं। प्लस्तर की लेई पहले ही की भाँति तैयार की जाती है। इस लेई में फ़लालैन के टुकड़ों को भिगोने के पश्चात् बड़े टुकड़ों से अङ्ग को ढककर उन पर छोटे टुकड़ों को लगाना चाहिए। लगाते समय इनमें कोई सिलवट न आने पावे। इस प्रकार अङ्ग की आकृति और आवश्यकता के अनुसार उचित कुशा बनाये जा सकते हैं। भीतर के फ़लालैन के टुकड़ों के जो भाग कुशा के किनारों से बाहर निकले हों उनको ऊपर की ओर मोड़ देना चाहिए। इस प्रकार यह कुशा दो भागों में तैयार होगा, जिनको जब उचित समझें तब अङ्ग से उतार सकते हैं।

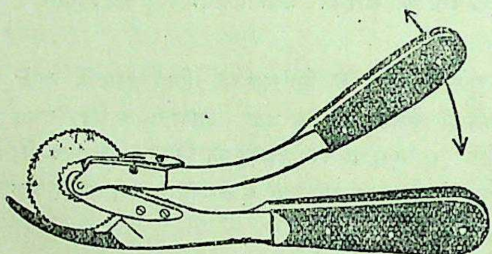

चित्र नं० १०९ पैरिस-प्लस्तर के कुशा को काटनेवाला यन्त्र

प्लस्तर चढ़ाने के दूसरे दिन उस पर गोंद का पानी या अण्डे की सफ़ेदी लगाई जाती है, जिससे प्लस्तर शुष्क नहीं होने पाता। बच्चों में प्लस्तर पर स्पिरिट में मिली हुई वार्निश लगा दी जाती है। इससे मूत्र इत्यादि से प्लस्तर के भीगने का डर नहीं रहता। उतारने के समय प्लस्तर को कुछ समय तक जल से भिगो देना चाहिए। इससे वह ढीला हो जायगा। इसको काटने के लिए एक विशेष आकार का यन्त्र भी आता है।

गटापार्चा के भी उत्तम कुशा बनते हैं और नमदे की भाँति अङ्ग के आकार और आवश्यकतानुसार बनाये जा सकते हैं। गटापार्चा को अङ्ग के आकार का काटकर गरम जल में भिगोकर ठण्ढा करने के पश्चात् उसको अङ्ग पर लगा दिया जाता है। जब वह कड़ा हो जावे तो अङ्ग पर से हटाकर उसके किनारों को छीलकर समान कर देना चाहिए। उसमें छोटे-छोटे छिद्र कर देना उचित है, जिनके द्वारा वायु चर्म तक पहुँचती रहे।

चमड़े को भी कुशा बनाने के काम में लाया जाता है।

अङ्ग को स्थिर करने का दूसरा उपाय शस्त्र-कर्म है। भग्न भागों को धातु की प्लेट या खूँटों से जोड़ दिया जाता है। निम्न-लिखित दशाओं में शस्त्र-कर्म की प्रायः आवश्यकता होती है। (१) सन्धि के भीतर अथवा उसके अत्यन्त समीपवर्ती भग्न। (२) जान्वस्थि और अन्तःप्रकोष्ठास्थि के कूर्पर-कूट के भग्न। इन दोनों भग्नों में अस्थि के टूटे हुए भाग पेशियों द्वारा इतनी दूर खिंच जाते हैं कि साधारण उपायों से उनका सन्धान नहीं होता। (३) जब भग्न भागों का स्थान-भ्रंश अन्य उपायों से ठीक न किया जा सके। (४) जब भग्न के साथ नाड़ी, पेशी, रक्त-नलिकाएँ इत्यादि भी कट गई हों। (५) जब यह भय हो कि शस्त्र-कर्म के बिना अस्थियाँ नहीं जुड़ेंगी, जैसे वृद्धावस्था में ऊर्वस्थि की ग्रीवा के भग्न।

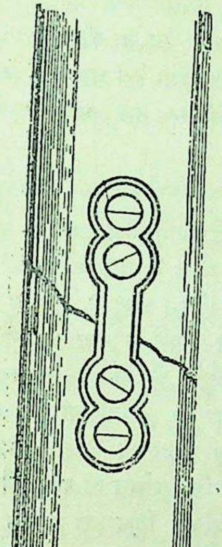

चित्र नं० ११०
लेन की प्लेट द्वारा अस्थि-संधान

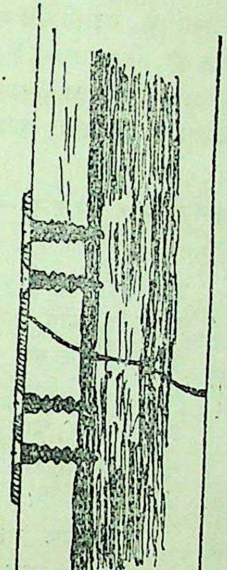

चित्र नं० १११
लेन की प्लेट और पेंच सहित अस्थि का अनुदैर्घ्य परिच्छेद

साधारणतया भग्न के चार से दस दिवस के भीतर शस्त्र-कर्म कर देना चाहिए उसके पश्चात् नवीन अस्थि का बनना आरम्भ हो जाता है, जिससे शस्त्र-कर्म में बाधा पड़ती है। शस्त्र-कर्म के पूर्व भी प्रसारण का आयोजन करना उचित है जिससे अङ्ग की विकृति बढ़ने न पावे। शस्त्र-कर्म के पूर्व, यदि हो सके तो, भग्न का एक्स-रे के द्वारा चित्र ले लेना चाहिए, जिससे भग्न के स्वरूप का पूरा ज्ञान हो जावे। शस्त्र-कर्म में निर्विषता का पूर्ण आयोजन अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे कर्मों में संक्रमण के प्रवेश से अत्यन्त भयङ्कर परिणाम होते हैं।

शस्त्र-कर्म द्वारा टूटे हुए भागों को जोड़ने के लिए कई वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है जिनमें से निम्न-लिखित मुख्य हैं।

(१) चाँदी का तार—यह जान्वस्थि और कूर्पर-कूट के भग्नों में प्रयुक्त होता है।

(२) लेन की प्लेट—यह धातु की प्लेट होती है जिनमें छिद्र होते हैं। छिद्रों द्वारा अस्थि में पेंच या कील ठोंक दी जाती है जो अस्थि के भीतर पहुँचकर उसको दृढ़ता से पकड़ लेती है। यह प्लेट कई आकार की होती है, जिनमें छिद्रों की संख्या भिन्न होती है।

(३) धातु, अस्थि या हाथी-दाँत की कीलें, पेंच तथा खूँटियाँ भी प्रयोग की जाती हैं। अर्बुद अथवा शिखरों के भग्न में पेंच या कील प्रयोग किये जाते हैं। प्रथम अस्थि में एक यन्त्र द्वारा छिद्र कर दिया जाता है। तत्पश्चात् पेंच या कील लगा दी जाती है। उसी अस्थि की बनी हुई कील अधिक सन्तोषजनक होती है। धातु की बनी वस्तुओं का, जहाँ तक हो सके, प्रयोग न करना चाहिए। चाँदी का तार अवश्य प्रयोग किया जा सकता है।

(४) उद्वर्तन[१] और चालन[२]—उद्वर्तन का अर्थ अङ्ग पर मालिश करना है और चालन से यह प्रयोजन है कि चिकित्सक अथवा उपचारकगण रोगी के अङ्ग को पकड़कर उसको धीरे-धीरे हिलावें और साथ में गति भी करावें। इससे सन्धि-जाड्य नहीं होने पाता। लकड़ी या धातु के कड़े कुशाओं में महीने या डेढ़ महीने तक अङ्गों को रखने से वह कड़े पड़ जाते हैं, और कभी-कभी पेशियाँ अकर्मण्यता के कारण नष्टप्राय हो जाती हैं। उद्वर्तन और चालन से अङ्ग की उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं आता। उचित समय पर जब कुशा को अङ्ग से हटाया जाता है तो भी अङ्ग की गति करने की शक्ति पूर्ववत् ही रहती है।

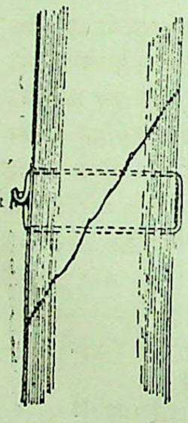

चित्र नं० ११२
चाँदी के तार द्वारा अस्थि-सन्धान

साधारण भग्नों में पाँचवें दिन या इससे भी पूर्व उद्वर्तन प्रारम्भ किया जा सकता है। लकड़ी के कुशाओं की अपेक्षा कङ्काल-कुशाओं द्वारा अङ्ग का उद्वर्तन करना सहज होता है। सन्धियों का धीरे-धीरे चालन भी आरम्भ किया जा सकता है। यदि पुरानी भाँति के लकड़ी के कुशा प्रयोग किये गये हैं तो उनको भी आठ या दस दिवस के पश्चात् खोलकर उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ प्रारम्भ कर देनी चाहिएं। इस समय सन्धान-वस्तु बन जाती है और टूटे हुए भागों को अपने स्थान से भ्रष्ट नहीं होने देती।

भग्नों की आधुनिक चिकित्सा की सफलता उद्वर्तन और चालन ही पर निर्भर करती है। कङ्काल-कुशा भी, जो आजकल प्रयोग किये जाते हैं, ऐसे होते हैं कि उनमें अङ्ग को गति कराने में कोई बाधा नहीं पड़ती।

---

१. Message. २. Passive movements.

संयुक्त भग्न—इस प्रकार के भग्नों में अङ्ग पर व्रण बन जाता है, जिसके द्वारा वायु का अस्थि तक प्रवेश होता है। कभी-कभी कुशा के ठीक न लगने अथवा अन्य प्रकार से भार पड़ने से साधारण भग्न भी संयुक्त हो जाता है। अस्थि का कोई नुकीला सिरा चर्म छेदकर बाहर निकल आता है। मशीन इत्यादि से कुचल जाने से अस्थि के टूटकर कई भाग हो जाते हैं और पेशी, त्वचा इत्यादि भी फट जाते हैं। ऐसे भग्न अत्यन्त चिन्ता-जनक होते हैं।

इन भग्नों में जीवाणुओं के क्षत में प्रविष्ट होकर पूयोत्पादन करने का बहुत भय रहता है, जिससे अस्थि-शोथ इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। अधस्त्वक्-शोथ तथा विसर्प बहुत बार उत्पन्न होते देखे गये हैं। इस कारण भग्न के पश्चात् तुरन्त ही व्रण की शुद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि व्रण पूर्णतया शुद्ध हो जाता है अथवा वहाँ जीवाणुओं का प्रवेश ही नहीं होता तो अस्थियों के जुड़ने में कोई बाधा नहीं पड़ती। किन्तु जब व्रण संक्रमित हो जाता है तो अस्थिमज्जा-शोथ[1] अथवा अस्थिगलन[2] के उत्पन्न होने से अस्थि का कुछ भाग नष्ट होकर पृथक् हो जाता है। जब तक यह भाग[3] अस्थि ही में रहता है तब तक अस्थि का संयोजन नहीं हो सकता। इन कारणों से संयोजन में बहुत समय लगता है।

चिकित्सा—सबसे पहले क्षत को पूर्णतया शुद्ध करने की आवश्यकता है। यदि क्षत छोटा और साधारण है तो उसको विसंक्रामक विलयनों द्वारा शुद्ध करने में अधिक कठिनाई नहीं होगी। किन्तु यदि व्रण क्रमहीन है और कुचल जाने से मांस खिंचकर फट गया है तो उसके स्वस्थ होने की अधिक आशा न करनी चाहिए। ऐसी दशा में जो माँस या चर्म फटकर लटकने लगा है उसको काटकर निकाल देना ही उचित है, जिससे समस्त क्षत एक समान और विस्तृत हो जावे। तत्पश्चात् विसंक्रामकों द्वारा उसको शुद्ध करने का आयोजन करना चाहिए। कुछ समय तक विलयनों से धोने के पश्चात् जब यह समझा जाय कि व्रण पूर्णतया शुद्ध हो गया है तो उसको शुद्ध अल्कोहल से धोकर उसमें बिस्मिथ-आइडोफ़ार्म का कल्क भरकर व्रण को सीया जा सकता है। यदि व्रण के पूर्ण शुद्ध होने में सन्देह हो तो उसमें दूसरी ओर भेदन करके एक निर्हरण-नलिका डाल देनी चाहिए। किन्तु यह नलिका अस्थि के भग्न भागों के सम्पर्क में न आने पावे, नहीं तो वहाँ घुण-रोग[4] प्रारम्भ हो जावेगा। व्रण की पूर्ण शुद्धि के पश्चात् अस्थिसन्धान करना चाहिए। तत्पश्चात् अंग को उचित कुशा पर स्थिर कर देना उचित है। ऐसे भग्नों के लिए कङ्काल-कुशा उपयुक्त हैं। इनमें व्रण का उपचार बहुत सहज में किया जा सकता है।

जब अस्थि के कई टुकड़े हो जाते हैं तो उन छोटे-छोटे टुकड़ों को, जो अस्थ्यावरण से पृथक् हो गये हैं, काटकर निकाल देना चाहिए। बड़े टुकड़ों को, जो आवरण के साथ जुड़े हुए हैं, निकालना आवश्यक नहीं। किन्तु यदि उनमें पाक प्रारम्भ हो गया हो अथवा प्रारम्भ होने की सम्भावना हो तो उनको भी निकाल देना उचित है। तो भी आवश्यकता से अधिक भाग के निकालने से अंग की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। इस कारण अस्थि का जितना भाग भी बचाया जा सके उसको बचाने का उद्योग करना चाहिए।

---

१. Osteomylitis. २. Necrosis of bone. ३. Sequestrum. ४. Necroasis.

व्रण की शुद्धि और टूटे हुए भागों का सन्धान करने के पश्चात् साधारण भग्न की भाँति कुशा, उद्वर्तन और चालन का प्रबन्ध करना उचित है।

संयुक्त भग्नों में अनेक बार अंगछेदन करना पड़ता है। ऐसा करने के पूर्व यह भली भाँति विचार लेना चाहिए कि अंग को किसी प्रकार से रक्षा की जा सकती है अथवा नहीं। यदि पूर्ण विचार के पश्चात् इस बात का निश्चय हो जाय कि अंग को बचाना सम्भव नहीं है अथवा यदि बच भी गया तो भी वह उपयोगी न होगा तो अंगच्छेदन करने में विलम्ब करना उचित नहीं।

अस्थियों का न जुड़ना—सन्धान करने के पश्चात् अस्थि के न जुड़ने के प्रायः ये कारण होते हैं—(१) उचित सन्धान न होना। (२) अस्थि भागों के बीच में पेशियों का आ जाना। (३) सन्धान के पश्चात् अङ्गों को विश्राम न मिलना। (४) अस्थि-रोग। (५) रोगी की शारीरिक दशा का क्षीण होना।

संयोजन न होने पर अस्थियों को हिलाने से दोनों भाग स्वतन्त्र दिशाओं में हिलते हैं। भग्नध्वनि भी होती है। अङ्ग की पेशियों को ढीला करने पर अङ्ग की विकृति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

चिकित्सा—यदि अङ्ग में विकृति न हो तो अस्थि को उपयुक्त स्थिति में रखकर स्थिर कर देना उचित है। ऊष्म स्वेद इत्यादि के प्रयोग से रक्त-सञ्चालन बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। रोगी को उत्तम भोजन और औषधि देने की आवश्यकता है।

यदि अस्थि के भागों की स्थिति उत्तम न हो और उनके द्वारा अंग में विकृति उत्पन्न हो गई हो तो उनको शस्त्र-कर्म द्वारा ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिए। कोमल भागों को छेदन करके और यदि आवश्यक हो तो अस्थि के सिरों का आकार ठीक करके उनको चाँदी के तार या प्लेट इत्यादि से जोड़ा जा सकता है। इस कर्म में अस्थि के कुछ भाग को काटना भी आवश्यक हो सकता है। किन्तु उससे अंग की उपयोगिता में कोई हानि न होगी। वृद्धावस्था में अस्थि को केवल प्लेट इत्यादि से जोड़ देना उचित है। स्थिति बुरी होने पर भी उसमें हस्तक्षेप करना उचित नहीं।

बारहवाँ परिच्छेद

ऊर्ध्वशाखा के भग्न

कपालास्थियों के भग्न—इस प्रान्त के भग्नों में प्रायः मस्तिष्क-सन्ताप अथवा संपीडन के लक्षण पाये जाते हैं। भग्न प्रायः अवनत प्रकार के होते हैं, जिनसे मस्तिष्क पर दबाव पड़ता है। ऐसी दशा में तुरन्त शस्त्र-कर्म करना आवश्यक है। रोगी की उपयुक्त परीक्षा करके भग्न के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान कर लेना चाहिए। कभी-कभी केवल रक्तोत्सेध भग्न

के समान दीखता है; किन्तु उत्सेध में तरङ्ग प्रतीत होती है। यदि रक्त जम गया है तो भी वह अस्थि के समान कठिन नहीं होगा और सन्ताप अथवा संपीड़न के लक्षण भी

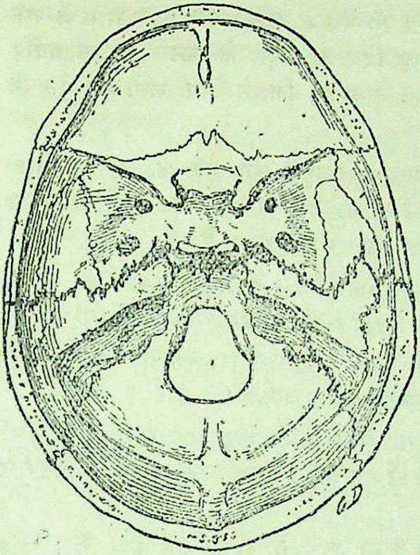

चित्र नं० ११३
कपाल-तल का व्यत्यस्त भग्न

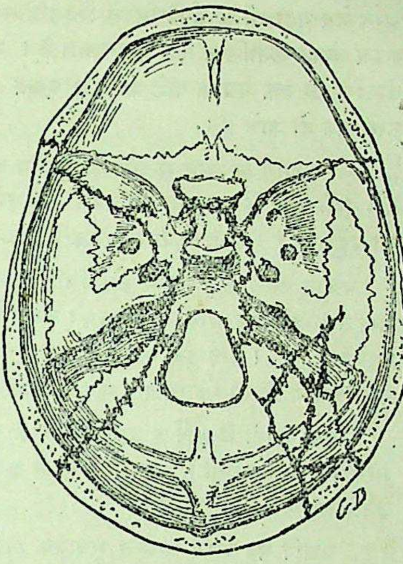

चित्र नं० ११४
पश्चादिका के अभिघात के कारण कपाल-तल का भग्न जो महाविवर के चारों ओर होता हुआ पश्चात् से मध्यखात में पहुँच गया है।

नहीं होंगे। इस प्रकार भग्न का निश्चय करके शस्त्र-कर्म करना चाहिए। यदि अस्थि अवनत हो गई है तो उसको ऊपर की ओर उभार देना आवश्यक है। इस प्रान्त के शस्त्र-कर्म प्रायः कठिन होते हैं, क्योंकि अधिकतर कोई न कोई बड़ी धमनी क्षत हो जाती है। इस कारण केवल सिद्धहस्त व्यक्तियों को इस प्रान्त के शस्त्र-कर्म करने चाहिएँ।

करोटि के तल के भग्न—यह भग्न करोटि के पूर्व[1], मध्य[2] तथा पश्चात्खात[3] में हो सकते हैं। प्रायः यह बड़े भयानक होते हैं। किन्तु सदा घातक नहीं होते। इनमें मस्तिष्क के तल, सुषुम्ना-शीर्षक तथा सेतु इत्यादि क्षत हो सकते हैं, जिससे रोग की गम्भीरता बहुत बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त शिरा-कुल्याओं या मस्तिष्कगत धमनियों के कटने से रक्त का तीव्र प्रवाह हो सकता है।

लक्षण—लक्षणों में प्रायः भिन्नता पाई जाती है।

(१) कपाल तथा मस्तिष्क के क्षत होने के लक्षण—सन्ताप या संपीड़न के लक्षण भी उपस्थित हो सकते हैं, यद्यपि यह सदा नहीं पाये जाते।

---

१. २. ३. Anterior, middle and posterior Fossa.

(२) रक्त-स्राव—पूर्व खात के भग्न में नासिका से रक्त-स्राव हो सकता है। यह रक्त मस्तिष्क से झर्झरास्थि के चालनी-पटल के द्वारा नासिका में पहुँचता है। जब भग्न नेत्र-गुहा की ऊर्ध्व भित्ति में स्थित होता है तो नेत्र के पलकों तथा श्वेत भाग में रक्त एकत्र होकर कनीनिका तक फैल जाता है। जब शिरा-कुल्याओं के फटने से रक्त-प्रवाह होता है तो रक्त नेत्र के पीछे की ओर एकत्र हो जाता है, जिससे नेत्र आगे की ओर को उत्सेधित हो जाते हैं।

मध्यखात के भग्न में प्रायः शङ्खास्थि क्षत हो जाती है और कर्ण-पटह भी फट जाता है। ऐसी दशा में रक्त कान से बहने लगता है। कुछ रक्त नासिका और मुख के भीतर भी पहुँचता है। कभी-कभी मस्तिष्क-सौषुम्निक तरल भी निकलता है।

पश्चात् खात के भग्न में कोई विशिष्ट लक्षण नहीं होते। प्रायः रक्त कपाल के पश्चिम ओर तथा कर्णमूल भाग में एकत्र हो जाता है। यहाँ से वह ग्रीवा के चर्म और पेशियों में फैल सकता है। यदि इस स्थान में रक्त एकत्र मिले किन्तु चर्म पर आघात के कोई लक्षण उपस्थित न हों तो पश्चात्खात के भग्न का सन्देह करना चाहिए।

कुछ भग्नों में कर्ण के द्वारा मस्तिष्क-वस्तु को निकलते देखा गया है। जो नाड़ियाँ मस्तिष्क से निकलती हैं वह भी भग्न में क्षत हो सकती हैं। भिन्न-भिन्न नाड़ियों के अनुसार उनके लक्षण भिन्न होते हैं।

यद्यपि यह भग्न अत्यन्त भयानक होते हैं तो भी रोगी बहुधा बच जाते हैं। यदि मस्तिष्क के क्षत से कोई उपद्रव नहीं उत्पन्न होते तो अस्थियों के भग्न भाग थोड़े ही समय में जुड़ जाते हैं। किन्तु नाड़ियों के क्षत होने से अन्य उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

चिकित्सा—इन भग्नों में नासिका अथवा गले में उपचार-वस्त्रों का उपयोग करना अथवा उनका पूर्ण प्रक्षालन असम्भव होता है। जब कान के द्वारा रक्त निकलने लगे तो श्रोत्रगुहा को शुद्ध रखने के लिए तुरन्त आयोजन करना चाहिए।

उसको बहुत सावधानी से २० में १ की शक्ति के कार्बोलिक विलयन से धोकर शुद्ध हुए गौज़ का टुकड़ा गुहा के भीतर रखकर ऊपर से रूई इत्यादि बाँध देनी चाहिए। जितनी बार भी आवश्यक हो इस पट्टी को बदला जा सकता है। इसके अतिरिक्त सन्ताप या संपीड़न ही की भाँति चिकित्सा की जाती है। शिर पर शीत का प्रयोग करना उचित है। रोगी को अँधेरे एकान्त कमरे में रखना और उसको हलका भोजन देना चाहिए।

संपीड़न इत्यादि के लक्षणों की अनुपस्थिति में रोगी को एक सप्ताह के पश्चात् बैठने की अनुमति दी जा सकती है। किन्तु दो सप्ताह तक उसको शय्या से उतरने न देना चाहिए। स्वास्थ्य-लाभ करने पर छः सप्ताह के पश्चात् रोगी अपना काम प्रारम्भ कर सकता है।

अक्षक का भग्न

इस अस्थि की ऐसी स्थिति है कि उस पर बाहु प्रान्त के प्रत्येक अभिघात का धक्का पहुँचता है। कन्धे या हाथ के बल गिरने से भी अस्थि टूट जाती है। स्वयं अस्थि के ऊपर

आघात लगने से भी उसका भग्न हो सकता है। भग्न के पश्चात् कभी-कभी अस्थि का एक भाग चर्म को छेदकर बाहर निकल आता है। जब टूटा हुआ कोई भाग पीछे की ओर से दबकर बड़ी रक्त-नालिकाओं और नाड़ियों को दाब देता है तो सारे अङ्ग में तीव्र वेदना होने लगती है। वहाँ का रक्त-सञ्चालन भी बन्द हो सकता है।

इस अस्थि का भग्न प्रायः चार स्थानों पर होता है—

(१) सबसे अधिक अस्थि के मध्य तृतीयांश का भग्न होता है। इसका कारण प्रायः दूरवर्त्ती अभिघात होता है। इससे भग्न की रेखा टेढ़ी हो जाती है और बाहर से और भीतर की ओर मुड़ती हुई नीचे को चली जाती है[१]।

अस्थि का जो भाग वक्षकास्थि से मिला रहता है वह उरः-कर्ण-मूलिका पेशी के सूत्रों द्वारा ऊपर की ओर खिंच जाता है। बाहर का अंसकूट-भाग, बाहु के बोझ के कारण, नीचे को खिंचता है। अस्थि के दोनों भाग $\frac{1}{2}''$ के लगभग एक दूसरे पर चढ़ जाते हैं, जिससे अस्थि की लम्बाई तथा बाहु और वक्ष का अन्तर तथा कक्ष का स्थान छोटा हो जाता है। अस्थि के बाहरी भाग का नीचे, आगे और भीतर की ओर भ्रंश होता है।

(२) अंसकूट भाग का भग्न—यह भग्न उसी स्थान पर आघात लगने से होता है। पृष्ठच्छद[२] बन्धन के बाहर का भग्न प्रायः अनुप्रस्थ होता है। इसमें बाहर का भाग नीचे की ओर झुक जाता है, जिससे स्कन्ध आगे और भीतर की ओर हटा हुआ दीखता है।

(३) वक्षकीय भाग का भग्न—यह बहुत कम होता है। इस भग्न में विकृति अधिक नहीं होती। किन्तु भग्न-रेखा के टेढ़े होने पर बाहरी भाग नीचे, आगे और भीतर की ओर झुक जाता है।

(४) अंस-तुण्ड-संयोजक बन्धनों[३] के बीच का भग्न—इसमें स्थान-भ्रंश नहीं उत्पन्न होता। भग्न-ध्वनि भी बहुत मन्द होती है। यह दुर्घटना असाधारण है।

चिकित्सा—भ्रंश के अधिक न होने पर अस्थि-सन्धान में कठिनाई नहीं होती। केवल अङ्ग को स्थिर कर देना आवश्यक है। रोगी को अधिक चलने फिरने नहीं देना चाहिए।

भग्न भागों के भ्रष्ट होने पर निम्नलिखित विधियों के अनुसार उनका सन्धान करना चाहिए।

---

१. भग्नों का उचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए अस्थियों की रचना का पूर्ण परिचय आवश्यक है जिसको लेखक के "शरीर-रचना विज्ञान" से प्राप्त किया जा सकता है। अस्थि-सम्बन्धी रक्त-नलिकाओं, नाड़ियों और पेशियों के ज्ञान के बिना इस विषय का अध्ययन और भग्न की चिकित्सा करने से लाभ की अपेक्षा हानि होने की अधिक सम्भावना है।

भग्न प्रकरण में भग्न रेखाओं के सम्बन्ध में जो दिशा-सूचक शब्द प्रयोग किये गये हैं उनकी व्याख्या इस प्रकार है। ऊपर = शिर की ओर या इससे ऊपर। नीचे = पाँवों की ओर। आगे = शरीर के सामने की ओर। पीछे = पीठ की ओर। बाहर = शरीर की मध्यरेखा से बाहर को ओर। भीतर = मध्य रेखा की ओर।

२. Trapezoid ligment. ३. Coraco-clavicular ligment.

"सायर[1] की विधि"—(१) चिपकनेवाले प्लस्तर की २½" चौडी और आवश्यकतानुसार लम्बी पट्टियों द्वारा, सन्धान करने के पश्चात्, अंग को स्थिर कर दिया जाता है। रोगी को बिठाकर चिकित्सक अपनी जानु रोगी की पीठ के बीच में लगाकर उसके स्कन्ध को बाहर, पीछे और ऊपर की ओर खींचता है। इस समय सहायक दूसरे कन्धे को पकड़े रहता है जिससे रोगी का शरीर दूसरी ओर को घूमने नहीं पाता। इस प्रकार अस्थि का उत्तम सन्धान हो जाता है। तत्पश्चात् भग्न अक्षक के ओर की बाहु के बीच में एक पट्टी का इस प्रकार लपेट लगाया जाता है, कि उसका चिपकनेवाला पृष्ठ बाहर की ओर रहता है। इस लपेट को टाँके या सेफ़्टी-पिन से बाहु के पीछे स्थिर कर देते हैं। यहाँ से पट्टी पीठ पर होकर शरीर के चारों ओर इस प्रकार लपेटी जाती है कि पट्टी का भीतरी चिपकनेवाला पृष्ठ शरीर के चर्म पर लग जाता है और उसका दूसरा सिरा, शरीर के सामने की ओर होता हुआ, प्रथम लपेट के नीचे पहुँच जाता है। इस सिरे को पीठ पर ले जाकर पहले लपेट से जोड़ दिया जाता है। शरीर पर लपेट लगाते समय बाहु भले प्रकार पीछे की ओर खिची रहनी चाहिए, जिससे भग्नास्थि के दोनों भाग भली भाँति सन्धित रहें।

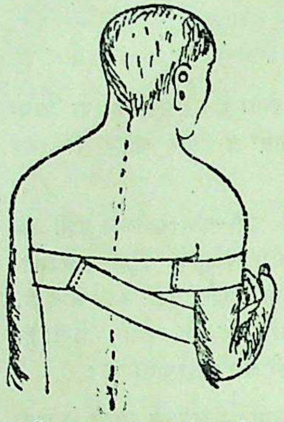

चित्र नं० ११५ सायर की विधि—प्रथम पट्टी को लगाया गया है

दूसरी पट्टी के बीच में लम्बाई की ओर एक छिद्र काटा जाता है जिसमें कूर्पर का उभार रहता है। इस पट्टी के सिरे को भग्न के दूसरे ओर के स्कन्ध पर चिपका दिया जाता है। और दूसरे सिरे को, कूर्पर को छिद्र में रखकर, पीछे पीठ के ऊपर को ले जाकर स्कन्ध पर पहिले सिरे से जोड़ देते हैं। भग्न की ओर का हाथ दूसरे कन्धे की ओर वक्ष पर रख दिया जाता है और पट्टी का जो भाग कुहनी से स्कन्ध की ओर आता है वह हाथ और अग्रबाहु को ढक लेता है। इस प्रकार कुहनी आगे और ऊपर की ओर खिंच जाती है, जिससे अक्षक ऊपर और पीछे को खिंचती है। इस क्रिया से अङ्ग की विकृति दूर हो जाती है। पट्टी लगाते समय स्थान-भ्रंश को देखकर हाथ के रखने का स्थान निश्चय करना चाहिए। बच्चों में हाथ और बाहु पर होती हुई वक्ष पर एक तीसरी पट्टी लगा दी जाती है। अथवा अङ्ग को पैरिस प्लस्तर द्वारा स्थिर कर दिया जाता है।

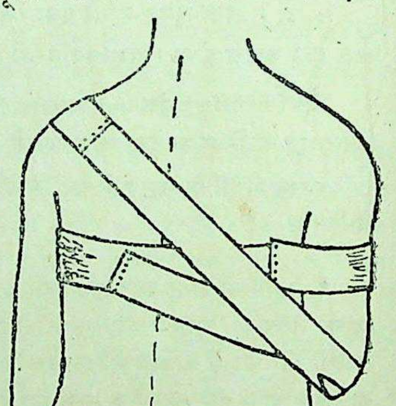

चित्र नं० ११६ सायर की विधि दूसरी पट्टी सहित पीठ की ओर

1. Syre's method.

इन पट्टियों को १४ दिवस से अधिक नहीं रखना चाहिए। इस समय के पश्चात् अङ्ग की दुर्बलता दूर करने के लिए उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ आरम्भ करनी चाहिएँ, जिससे सन्धियाँ कड़ी न पड़ने पावें।

चित्र नं० ११७ पट्टियाँ लगाने के पश्चात सामने की ओर

(२) दोनों कन्धों के पीछे एक लम्बा रूई से ढका हुआ कुशा लगा दिया जाता है। पीठ के बीच में एक रेत से भरा हुआ थैला रहता है। इससे स्कन्ध पीछे को ओर खिंचा रहता है, जिससे सन्धित भाग अपने स्थान से हटने नहीं पाते। हाथ की शय्या के सिरहाने की ओर एक लटकन में लटका दिया जाता है। दस दिवस के पश्चात् प्रत्येक दिन कुशा को खोलकर उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ करनी चाहिएँ।

(३) भग्न-स्थान के ऊपर पट्टी की सात-आठ तह मोटी गद्दी रखकर भग्न के दूसरी ओर नाभि के पास से चिपकनेवाले प्रस्तर की एक चौड़ी पट्टी को लगाना आरम्भ करके, भग्न-स्थान के ऊपर से निकाल पीठ पर ले जाकर दूसरी ओर के अंस-फलक के नीचे चिपका देना चाहिए। हाथ को गोफण बन्धेज में रखना उचित है। दस दिवस के पश्चात् उद्वर्तन आरम्भ करना उचित है।

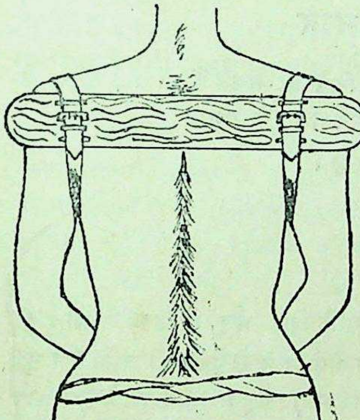

चित्र नं० ११८ स्कन्धों के पीछे की ओर कुशा का प्रयोग

(४) स्वस्तिक बन्धेज—भग्न के नीचे के कक्ष में रूई की एक मोटी कवलिका रखकर उस पर एक स्वस्तिक बन्धेज बाँध दिया जाता है। कूर्पर को एक साधारण बन्धेज से स्थिर कर देना चाहिए। हाथ और अग्रबाहु को गोफण में रख दिया जाता है।

(५) पीठ के बीच में एक रेत से भरे हुए थैले को रखकर रोगी की बाहु को ऊपर की ओर उठा देते हैं जिससे कन्धा स्वयं अपने भार से पीछे को झुक जाता है। हाथ को ऊपर की ओर उठाने से भग्न भागों का सन्धान हो जाता है। तीन सप्ताह तक रोगी को इसी दशा में रखना चाहिए। कक्ष में एक मोटी गद्दी रखना आवश्यक है। चौथे दिवस से उद्वर्तन प्रारम्भ किया जा सकता है।

अंस-फलक का भग्न—इस अस्थि का भग्न बहुत कम होता है। प्रायः अस्थि के ऊपर आघात लगने से भग्न होता है। अंसतुंड, अंसकूट गात्र और ग्रीवा के भग्न पाये

जाते हैं। अंसकूट पर आघात लगने से वह टूट जाता है। बाहु नीचे की ओर लटक जाती है। और अंग अकर्मण्य हो जाता है। स्कन्ध चपटा दीखने लगता है। इसकी चिकित्सा कूर्पर को ऊपर की ओर उठाकर बाहु को वक्ष के ऊपर बाँधकर स्थिर कर देना है।

अंसतुण्ड का भग्न भी असाधारण है। इसकी चिकित्सा अंसकूट ही की भाँति की जाती है।

ग्रीवा का भग्न स्कन्ध पर अत्यन्त तीव्र अभिघात लगने से होता है। इसके साथ कभी-कभी अंसतुण्ड और अंसपीठ का भी कुछ भाग टूट जाता है। टूटे हुए भाग के नीचे की ओर लटकने से स्कन्ध चपटा दिखाई देता है।

चिकित्सा—स्कन्ध को पीछे की ओर हटाकर बाहु को वक्ष के पार्श्व में बाँध देना चाहिए। कूर्पर को अक्षक के भग्न की भाँति गोफण में रखना उचित है। उद्वर्तन और चालन आरम्भ ही से करना चाहिए।

गात्र का भग्न तीव्र अभिघात के कारण होता है। अभिघात का स्वरूप अवशीर्ण अथवा अनुदैर्घ्य होता है, जिससे अस्थि की अन्तःधारा टूटकर ऊपर और बाहर की ओर को खिंच जाती है। निश्चिति में कभी-कभी उत्सेध तथा पेशियों के कारण कठिनाई होती है।

चिकित्सा—बाहु को, यदि भ्रंश अधिक हो तो, कुछ पीछे की ओर खींचकर वक्ष पर स्थिर कर देना चाहिए।

प्रगण्डास्थि के भग्न

इस अस्थि के भग्न तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) अस्थि के ऊर्ध्व प्रान्त के भग्न। (२) गात्र के भग्न। (३) अधःप्रान्त के भग्न।

ऊर्ध्व प्रान्त में निम्न-लिखित भग्न पाये जाते हैं।

(१) अस्थि की ग्रीवा का भग्न।
(२) शल्य-ग्रीवा का भग्न।
(३) पिण्डकों का भग्न।

(१) अस्थि का ग्रीवा का भग्न—अस्थि के शिर और पिण्डकों के बीच की परिखा अस्थि की ग्रीवा कहलाती है। इस भग्न में शिर शेष भाग से पृथक् हो जाता है। यह प्रायः कन्धे के बल गिरने से उत्पन्न होता है। ऊपरी भाग बहुधा आवरण के द्वारा शेष भाग से कुछ जुड़ा रहता है। ऐसी दशा में स्थान-भ्रंश अधिक नहीं होता। किन्तु जब वह पूर्णतया पृथक् हो जाता है तो भ्रंश स्पष्ट होता है। शिर बाहर की ओर घूमकर कभी-कभी कक्ष में पहुँच जाता है। नीचे का भाग ऊपर और भीतर की ओर खिंचकर अंसतुण्ड के नीचे चला जाता है। स्कन्ध में रक्त के एकत्र होने से शोथ उत्पन्न हो जाता है। पीड़ा अत्यन्त तीव्र होती है। अङ्ग की लम्बाई लगभग $\frac{1}{2}''$ कम हो जाती है। कभी-कभी टूटा हुआ भाग अन्तराविष्ट हो जाता है।

चिकित्सा—स्थान-भ्रंश की अनुपस्थिति में रूई की एक मोटी गद्दी कक्ष में रखने के अनंतर कूर्पर को ऊपर की ओर उठाकर बाहु को कक्ष के पार्श्व में बाँधकर स्थिर कर देना

चाहिए । चौथे या पाँचवे दिन उद्वर्तन और आठवें दिन चालन-क्रिया प्रारम्भ की जा सकती है ।

यदि अस्थि का शिर पूर्णतया भिन्न हो गया हो तो अस्थि-सन्धान करने के पश्चात् कक्ष में एक मोटी कवलिका और स्कन्ध पर कुशा लगाना आवश्यक है । कुहनी को मोड़कर एक हाथ से आगे की ओर और दूसरे हाथ से प्रगण्डास्थि के ऊपरी सिरे को बाहर की ओर खींचना चाहिए । अस्थि के भागों को इस प्रकार पकड़कर कुशा और गद्दी लगाने का आयोजन करना उचित है । गटापार्चा या नमदे का कुशा इस स्थान के लिए उपयुक्त है । कवलिका के स्थान में Ω के आकार का कुशा लगाया जा सकता है । हाथ और अग्रबाहु को गोफण में रखना चाहिए, जिससे अङ्ग के भार के कारण अस्थि नीचे को न खिँचने पावे ।

छः सप्ताह में अस्थि पूर्णतया जुड़ जाती है । कुशा लगाने के ८ या १० दिन के पश्चात् मन्द-मन्द उद्वर्तन प्रारम्भ कर देना चाहिए । चार सप्ताह के पश्चात् कुशा का त्याग किया जा सकता है । केवल गोफण ही पर्याप्त है । यदि भग्न के साथ सन्धि-विश्लेष भी हो गया हो, अथवा अस्थि कई भागों में टूट गई हो तो शस्त्र-कर्म आवश्यक है ।

(२) शल्यग्रीवा का भग्न—यह वह स्थान है जहाँ अस्थि का ऊर्ध्व भाग—शिर, पिण्डक, इत्यादि—गात्र के साथ जुड़ता है । स्कन्ध के उन्नत भाग में आघात लगने से इस स्थान का भग्न हो जाता है । कूर्पर के बल गिरने से भी यह भग्न उत्पन्न हो सकता है । इस भग्न में प्रायः भ्रंश अधिक नहीं होता । द्विशिरस्का और त्रिशिरस्का की कण्डराओं द्वारा अस्थि के भाग अपने स्थानों से हटने नहीं पाते । प्रायः टूटे हुए भाग अन्तराविष्ट हो जाते हैं । भग्न के अनुप्रस्थ होने पर जब स्थान-भ्रंश होता है तब अस्थि का निचला भाग भीतर और ऊपर की ओर खिँच जाता है । आघात के समय बाहु की स्थिति के अनुसार स्थान-भ्रंश में भिन्नता पाई जाती है । इस भग्न में प्रायः पीड़ा बहुत होती है । यदि स्थानभ्रंश अधिक नहीं है तो सन्धान करने में कोई कठिनाई नहीं होगी । यदि भ्रंश अधिक हो और पेशियाँ तनी हुई हों तो मन्द उद्वर्तन से पेशियों को ढीला करके और यदि आवश्यक हो तो क्लोरोफ़ार्म सुँघाकर सन्धान करने के लिये दाहिने हाथ से नीचे के भाग को बाहर की ओर खींचना चाहिए । जब दोनों भाग एक रेखा में आ जावें तो हस्तव्यापार से उनका सन्धान करके कक्ष के भीतर गद्दी अथवा Ω के आकार का कुशा लगा देना चाहिए । स्कन्ध के ऊपर भी उसी प्रकार का एक कुशा, जैसा पूर्व भग्न में प्रयोग किया गया है । लगाना उचित है ।

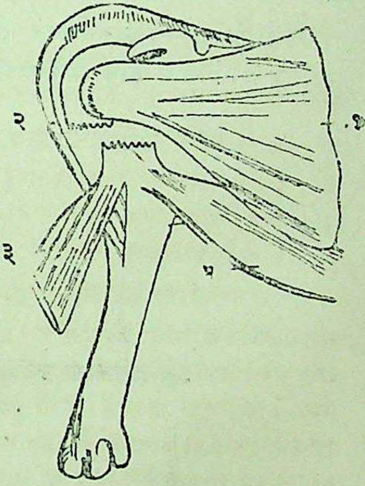

चित्र नं० ११९ ग्रीवा के भग्न में स्थान-च्युति अथवा भ्रंश
१ अंसान्तरिका, २ अंसाच्छादनी, ३ कटिपार्श्वच्छदा, ४ उरच्छदा बृहती पेशी ।

भग्न के तिर्यक् होने पर प्रसारण का आयोजन आवश्यक है । सन्धान और साधारण

उपायों द्वारा स्थिर करने पर भी टूटे हुए भाग अपने स्थान से हट जाते हैं। प्रसारण के लिए, जैसा चित्र नं० १२० में दिखाया गया है, कंकाल कुशा प्रयोग किया जाता है। कुशा के ऊपरी कुण्डल में होकर अङ्ग को उसके भीतर डाल दिया जाता है, जिससे उसका ऊपरी भाग स्कन्ध पर जाकर बैठ जाता है। बाहु के दोनों ओर चिपकनेवाले प्लस्तर की पट्टियों को लगाकर, उनके दूसरे सिरों को कुशा के निचले सिरे के पास काठ के एक चौकोर या लम्बे टुकड़े में बाँध दिया जाता है। इससे बाहु आगे की ओर खिंची रहती है। इस काठ के टुकड़े के बीच में एक रस्सी लगाई जा सकती है, जिसके दूसरे सिरे पर कंकड़ों या सीसे के छर्रों से भरा हुआ टीन का बक्स लटका दिया जाता है। इससे प्रसारण निरन्तर और सन्तोषजनक होता रहता है। टीन के बक्स में कङ्कणों या छर्रों के घटाने बढ़ाने से प्रसारण अधिक या कम किया जा सकता है। जहां बलवान् पेशियों के कारण भ्रंश अधिक होता है वहाँ अधिक भार की आवश्यकता होती है।

अस्थि के जुड़ने में चार से छः सप्ताह लगते हैं तीन सप्ताह के पश्चात् कुशा को निकालकर किसी साधारण कुशा का प्रयोग किया जा सकता है। इस समय उद्वर्तन प्रारम्भ कर देना चाहिए। रोगी को बैठने की भी आज्ञा दी जा सकती है।

(३) पिण्डकों का भग्न—यह तीव्र अभिघात अथवा पेशियों के प्रबल कर्षण के कारण उत्पन्न होता है। बृहत्पिण्डक के टूटने से स्कन्ध की चौड़ाई बढ़ जाती है। भग्न-ध्वनि प्रतीत की जा सकती है। टूटा हुआ भाग ऊपर और पीछे की ओर और अस्थि का गात्र आगे की ओर खिंच जाता है।

चिकित्सा—शस्त्र-कर्म करके तार या कील द्वारा पिण्डक और अस्थि को जोड़ना सर्वोत्तम है। ऐसा न करने पर शल्यग्रीवा के भग्न के समान चिकित्सा करना उचित है।

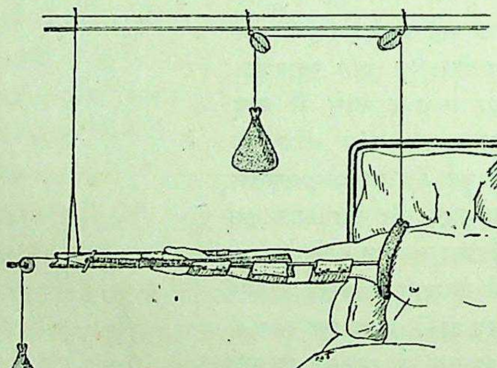

चित्र नं० १२० टोमास के कङ्काल
कुशा द्वारा प्रसारण

प्रगण्डास्थि के गात्र के भग्न—गात्र के भग्न प्रायः अभिघात से उत्पन्न होते हैं। किन्तु हाथ या कुहनी के बल गिरने से भी भग्न हो सकता है। लक्षण प्रायः स्पष्ट

होते हैं। स्थान-च्युति अभिघात की स्थिति और दिशा पर निर्भर करती है। अंसाच्छादनी पेशी के निवेश-स्थान और पिण्डकान्तरिक परिखा के बीच भग्नों में ऊपर का भाग भीतर की ओर, और नीचे का भाग बाहर की ओर खिंच जाता है। किन्तु जो भग्न अंसाच्छादनी पेशी के निवेश-स्थान से नीचे होता है उसमें ऊपर का भाग बाहर और नीचे का भाग भीतर की ओर खिंचता है।

इन भग्नों में नाड़ी धमनियों इत्यादि के क्षत होने का बहुत भय रहता है। कभी-कभी वह सन्धान वस्तु में जुड़ जाती हैं। अतएव चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व उनकी भली भाँति परीक्षा कर लेनी चाहिए।

बच्चों में तीन से चार सप्ताह और युवावस्था में चार से छः सप्ताह में अस्थि जुड़ जाती है।

चिकित्सा—प्रायः भग्न भागों का सन्धान करना कठिन नहीं होता। अग्र बाहु को मोड़कर कूर्पर के तनिक नीचे से पकड़कर नीचे की ओर को खींचना चाहिए, जिससे वह अस्थि के ऊपरी भाग की रेखा में आ जाय। यदि आवश्यक हो तो रोगी को लिटाकर एक सहायक से कूर्पर को आगे की ओर खिंचवाया जाय। टूटे हुए भागों का सन्धान स्वयं चिकित्सक हस्त-व्यापार से करे। यदि भ्रंश अधिक नहीं है, तो सन्धान करने के पश्चात् बाहु को वक्ष पर बाँधकर स्थिर किया जा सकता है। अग्र बाहु को गोफण में इस प्रकार रखना चाहिए कि वह वक्ष से तनिक आगे की ओर और हथेली ऊपर की ओर रहे। उद्वर्तन और चालन प्रारम्भ ही से करना उचित है। स्कन्ध और कूर्पर सन्धि से कुछ व्यायाम करवाना आवश्यक है। ऐसा न करने से सन्धियों में थोड़े ही समय में जाड्य उत्पन्न हो जाता है। इन क्रियाओं को करते समय बाहु को पूर्णतया स्थिर रखना चाहिए।

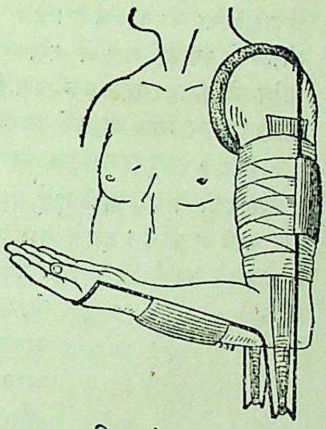

चित्र नं० १२१
रॉबर्ट-जोन्स के कुशा द्वारा बाहु का स्थिरीकरण

जब भग्न तीर्यक् होता है तो स्थानच्युति अधिक होती है। ऐसी दशा में अंग का प्रसारण आवश्यक है। इसके लिये कङ्काल कुशा, जैसे चित्र में दिखाये गये हैं, प्रयोग करने पड़ते हैं। अंग के बर्हिनयन[1] और प्रसारण के लिए यह बहुत उपयोगी हैं। अग्रबाहु इस प्रकार रहनी चाहिए कि हथेली ऊपर की ओर रहे। आठ या दस दिवस के पश्चात् बाहु को स्थिर करके अग्रबाहु का चालन प्रारम्भ करना उचित है।

कुछ दशाओं में अङ्गों को शरीर से दूर रखना पड़ता है। उसके लिए टोमास का कङ्काल कुशा उपयुक्त है। किन्तु जब ऐसा करने की आवश्यकता न हो तो रॉबर्ट-जोन्स का कुशा प्रयोग किया जा सकता है। इसके लगाने की विधि चित्र से स्पष्ट है।

प्रगण्डास्थि के अधःप्रान्त के भग्न—इस प्रान्त में निम्नलिखित भग्न पाये जाते हैं—

---

१. Abduction.

(१) अर्बुदोपरि भग्न[१]।
(२) अर्बुदान्तरिक भग्न।
(३) अर्बुदों का भग्न[२]।

ये भग्न प्रायः कुहनी अथवा खुले हुए हाथ पर गिरने से बालकों में अधिक होते हैं।

(१) अर्बुदोपरि भग्न—यह भग्न खुली हुई हथेली के बल गिरने से उत्पन्न होता है। आघात से भी अस्थि टूट सकती है। जब गिरने से भग्न उत्पन्न होता है तो अग्रबाहु की अस्थियों के साथ प्रगण्डास्थि के नीचे का भग्न भाग पीछे की ओर भ्रष्ट हो जाता है और ऊपरी भाग बाहु में आगे की ओर उत्सेधित दिखाई देता है।

चिकित्सा—कुहनी को नीचे की ओर खींचकर हस्त-व्यापार द्वारा तुरन्त सन्धान करना चाहिए। तत्पश्चात् अग्रबाहु को पूर्णतया मोड़कर वक्ष के ऊपर इस प्रकार बाँध देना चाहिए कि हाथ ठोड़ी के नीचे पहुँच जाय और खुली हुई हथेली वक्ष पर रखी रहे। इस आयोजन में किसी कुशा की आवश्यकता नहीं है। अग्रबाहु और बाहु दोनों को अनुबन्धक प्लस्तर से वक्ष पर स्थिर किया जा सकता है। वक्ष और बाहु तथा अग्रबाहु के बीच में अन्तर रहना आवश्यक है। इस स्थान में पर्याप्त रूई लगा देनी चाहिए। कुहनी को गोफण में रखकर गले में लटका देना उचित है, जिससे बाहु पर भार न पड़ने पावे। अस्थि को तीन सप्ताह तक इस स्थिति में रखना चाहिए। उद्वर्तन और चालन जितने जल्दी प्रारम्भ किये जा सकें उतना ही उत्तम है।

(२) अर्बुदान्तरिक भग्न—इस भग्न में वास्तव में एक अर्बुदोपरि भग्न होता है और उसी से एक खड़ी हुई भग्न-रेखा दोनों अर्बुदों के बीच में होती हुई नीचे की ओर चली जाती है। इससे भग्न रेखाओं का आकार अँगरेजी के T जैसा दिखाई देता है। कभी-कभी रेखाएँ Y जैसी हो जाती हैं। दोनों अर्बुद अस्थि से भिन्न हो जाते हैं। सम्भव है, उनका कुछ भाग जुड़ा रहे। ऐसी दशा में भग्न-ध्वनि सुनाई नहीं देती। उनके भिन्न होने की दशा में अर्बुदोपरि भग्न के समान लक्षण दिखाई देते हैं। सन्धि में रक्त तथा सीरम भर जाते हैं, जिससे भग्न के स्वरूप का निश्चय करना कठिन होता है। अर्बुदों का स्वतन्त्रतापूर्वक हिलना इस भग्न का मुख्य सूचक है।

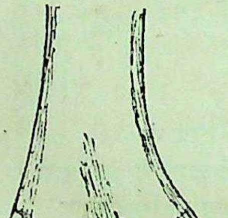

चित्र नं. १२२
प्रगण्डास्थि के अर्बुदों का भग्न

चिकित्सा—यदि अर्बुद अस्थि से पृथक् नहीं हुए हैं तो अर्बुदोपरि भग्न के समान चिकित्सा करनी चाहिए। उनके पृथक् होने पर प्रायः शस्त्र-कर्म की आवश्यकता होती है।

(३) अर्बुदों का भग्न—अन्तरार्बुद की अपेक्षा बाह्यार्बुद का भग्न अधिक होता है। इसका कारण प्रायः अभिघात होता है। इस भग्न का कुछ भाग सन्धि के भीतर और कुछ बाहर रहता है। किन्तु अन्तरार्बुद के भग्न में सन्धि

---

१. Supnacondylar fracture. २. Intercondylar fracture.
३. Fracture of condyles.

का विक्षत होना आवश्यक नहीं है। इन भग्नों में पीड़ा, भग्न-ध्वनि तथा भग्न के अन्य सब लक्षण पाये जाते हैं। स्थान-च्युति बहुत कम होती है।

चिकित्सा—अर्बुदोपरि भग्न के समान चिकित्सा करनी चाहिए। उद्वर्तन और चालन में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। यदि इसमें सफलता न हो तो शस्त्र-कर्म अनिवार्य है।

तीन या चार वर्ष की आयु के बच्चों में अस्थि का अधःप्रान्त, जो इस समय तक कार्टिलेज का बना होता है, अस्थि के गात्र से पृथक् हो जाता है।

कूर्पर-सन्धि के पीछे की ओर दो उत्सेध दिखाई देने लगते हैं। इसकी चिकित्सा अर्बुदोपरि भग्न के समान अत्यन्त सावधानी से करनी चाहिए।

अन्तःप्रकोष्ठास्थि के भग्न

(१) कूर्पर-कूट का भग्न—यह भग्न प्रायः मुड़ी हुई कुहनी के बल गिरने से उत्पन्न होता है। कभी-कभी कूट पेशियों के कर्षण से भी टूट जाता है। भग्न-रेखा अनुप्रस्थ होती है। Y और V के आकार की रेखाएँ भी पाई गई हैं।

अस्थ्यावरण के पूर्णतया विच्छिन्न न होने पर कूट और अस्थि में अधिक अन्तर नहीं रहता। किन्तु आवरण के टूटने पर कूट त्रिशिरस्का पेशी द्वारा खिंचकर ऊपर चला जाता है। अग्रबाहु की अस्थियाँ आगे की ओर लटक जाती हैं। अग्रबाहु को आगे की ओर मोड़ने से यह अन्तर और भी अधिक हो जाता है। किन्तु उसको सीधा करने पर अन्तर कम रह जाता है।

चिकित्सा—अग्रबाहु को पूर्णतया फैला देना चाहिए, जिससे अस्थि के गात्र और कूर्पर-कूट का अन्तर कम हो जाय। तत्पश्चात् उत्तम सन्धान कर चुकने पर कूट के तनिक ऊपर रूई रखकर पट्टी कसकर बाँध देनी चाहिए। इससे कूट ऊपर की ओर न खिंचने पावेगा। कूर्पर के आगे एक साधारण लम्बा कुशा लगा देना चाहिए, जिससे कुहनी आगे की ओर न मुड़ने पावे। दस दिवस के पश्चात् उद्वर्तन और धीमा चालन प्रारम्भ कर देना उचित है।

कूर्पर-कूट के टूटकर अधिक खिंच जाने तथा भग्न के संयुक्त होने पर शस्त्र-कर्म की आवश्यकता होती है। टूटे हुए भाग को चाँदी के तार से अस्थि के साथ जोड़ दिया जाता है।

(२) चंचु-प्रवर्धन का भग्न—यह भग्न असाधारण है। पेशियों से ढके होने के कारण स्थान-च्युति बहुत कम होती है। इसका निश्चय करना भी कठिन है। इस कारण एक्स-रे की सहायता आवश्यक होती है।

चिकित्सा—अग्रबाहु को आगे की ओर मोड़कर अस्थि-सन्धान करने के पश्चात् बाहु को गोफण में रख देना पर्याप्त है।

(३) गात्र का भग्न—अस्थि के गात्र का अधिक भाग केवल चर्मगत है, इससे उसका प्रायः भग्न हो जाता है। अन्य स्थानों की अपेक्षा गात्र के ऊपरी तिहाई भाग

का भग्न अधिक होता है। यह भग्न प्रायः संयुक्त होता है, क्योंकि अस्थि पर केवल चर्म रहता है। यदि भग्न में बहिःप्रकोष्ठास्थि नहीं टूटती तो भ्रंश नहीं उत्पन्न होता। अस्थि के भाग एक दूसरे पर नहीं चढ़ने पाते। केवल ऊपरी भाग तनिक आगे की ओर और नीचे का भाग बहिःप्रकोष्ठास्थि की ओर खिंच जाता है।

चिकित्सा—अस्थि-सन्धान करना सरल है। तत्पश्चात् आगे और पीछे की ओर दो कुशाएँ लगा देने चाहिएँ। अग्रबाहु को वक्ष पर इस प्रकार गोफण में रखना चाहिए कि हथेली, वक्ष अथवा उदर की ओर रहे। दो सप्ताह के पश्चात् कुशाओं का प्रयोग छोड़ा जा सकता है।

(४) अन्तर्मणिक का भग्न—अभिघात तथा बहिःप्रकोष्ठास्थि के भग्न के साथ यह भाग भी टूट जाता है। हस्त-व्यापार द्वारा इस भाग को अपने स्थान में बिठाकर उस पर अनुबन्धक प्लस्तर की एक पट्टी बाँध देनी चाहिए। सामने की ओर कुशा लगाया जा सकता है।

बहिःप्रकोष्ठास्थि के भग्न

(१) शिर का भग्न—प्रायः यह भग्न कूर्पर के अन्य अभिघातों के साथ होता है। जब तक शिर का बन्धन नहीं टूटता तब तक स्थान-च्युति नहीं होती। किन्तु जब शिर पृथक् हो जाता है या उसके दो या तीन टुकड़े हो जाते हैं तो उसको प्रतीत किया जा सकता है। हाथ को घुमाने से शिर भी उसके साथ गति करता है। भग्न के सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

चिकित्सा—शिर के पृथक् हुए भाग को शस्त्र-कर्म द्वारा निकाल देना चाहिए। तत्पश्चात् बाहु को इस प्रकार मोड़कर वक्ष के ऊपर रखना चाहिए कि हथेली ऊपर की ओर रहे। उद्वर्तन और चालन क्रियाओं को शीघ्र ही प्रारम्भ कर देना उचित है।

(२) ग्रीवा का भग्न—इस स्थान का भग्न अत्यन्त असाधारण है। भग्न में नीचे का भाग ऊपर और आगे की ओर खिंच जाता है, जिससे कूर्पर के सामने की ओर एक उभार दिखाई देने लगता है। हाथ नीचे की ओर घूम जाता है, जिससे हाथ का पृष्ठ ऊपर और हथेली नीचे की ओर मुड़ जाती है।

चिकित्सा—अग्रबाहु को आगे की ओर मोड़कर और हाथ को ऊपर की ओर घुमाकर अस्थि-सन्धान करना चाहिए। तत्पश्चात् अग्रबाहु को वक्ष पर इस प्रकार स्थिर करना आवश्यक है कि हथेली ऊपर की ओर रहे। चालन क्रिया प्रारम्भ करने में बहुत शीघ्रता नहीं करनी चाहिए।

(३) गात्र का भग्न—यह भग्न अभिघात तथा हाथ के बल गिरने से उत्पन्न होता है। कर-विवर्तनी-दीर्घा पेशी के निवेश से ऊपर के भग्न में अस्थि का ऊपरी भाग आगे की ओर मुड़ जाता है और कुछ बाहर की ओर खिंच भी जाता है। नीचे का भाग अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर खिंचता है। किन्तु कर-विवर्तनी-दीर्घा के निवेश से नीचे भग्न होने से ऊपरी भाग आगे और भीतर तथा नीचे का भाग अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर खिंच जाता है। हथेली नीचे की ओर मुड़ जाती है।

भग्न के साधारण लक्षण उपस्थित होते हैं। अग्रबाहु को कुहनी पर से मोड़कर और हाथ को ऊपर की ओर घुमाकर अस्थि-सन्धान करने के पश्चात् एक विशेष आकार के कुशा को, जिसका बीच का भाग गहरा होता है, बाहु के पीछे की ओर, तथा एक छोटा साधारण कुशा आगे की ओर लगा देना चाहिए। अग्रबाहु को सदा इस प्रकार आगे की ओर मोड़कर रखना चाहिए कि हथेली आकाश की ओर रहे।

(४) अधःप्रान्त[1] का भग्न—यह भग्न हथेली के बल गिरने से होता है। जब हाथ खुला होता है और हथेली पृथ्वी की ओर कुछ बाहर की ओर भी घूमी होती है तो यह भग्न उत्पन्न होता है। गिरने से आघात का धक्का मणिबन्ध द्वारा अस्थि के अधःप्रान्त पर पहुँचता है, जिससे अस्थि मणिबन्ध के लगभग $\frac{1}{2}''$ या $\frac{3}{4}''$ ऊपर टूट जाती है। भग्न आगे की ओर अनुप्रस्थ होता है। किन्तु यह रेखा अस्थि में होती हुई पीछे और ऊपर की ओर को चली जाती है। इससे यद्यपि यह रेखा अस्थि के पीछे की ओर भी अनुप्रस्थ होती है, किन्तु सामने की रेखा की अपेक्षा इसकी ऊँचाई अधिक होती है। इस भग्न की स्थान-च्युति में कई विशेषताएँ होती हैं—(१) शरीर-भार और पृथ्वी के बीच में दबने तथा अभिघात की दिशा के कारण अस्थि का नीचे का भाग पीछे और ऊपर की ओर चला जाता है। (२) नीचे का भाग इस प्रकार घूम जाता है कि उसका अधःपृष्ठ, जो मणिबन्ध की अस्थियों के सम्पर्क में रहता है, पीछे और नीचे की ओर घूम जाता है। (३) अधःप्रान्त की बाहरी ओर से अधिक स्थान-च्युति होती है, क्योंकि अन्तःपृष्ठ एक बन्धन द्वारा अन्तःप्रकोष्ठास्थि से जुड़ा रहता है। वहिर्मणिक की अपेक्षा अन्तर्मणिक नीचा दिखाई देता है। (४) अस्थि का ऊपरी भाग अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर खिंच जाता है।

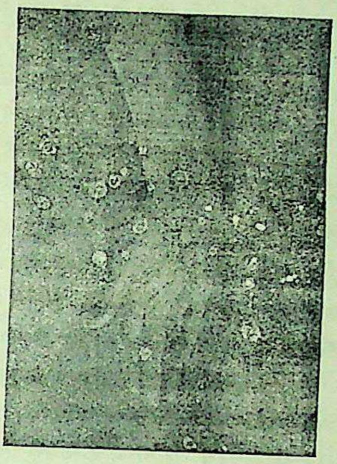

चित्र नं० १२३
कौलीज़ भग्न के पश्चात् अङ्ग की आकृति

भग्न की परीक्षा करने से कलाई चौड़ी और हाथ बाहर को घूमा हुआ दीखता है। मणिबन्ध के पीछे की ओर अस्थि के निचले भाग का ऊपरी सिरा उत्सेधित होता है। मणिबन्ध के सामने की ओर इसी स्थान पर ऊपरी भाग का निचला सिरा दिखाई देता है अँगुलियाँ अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर घूम जाती हैं। भग्न के अन्य लक्षण स्पष्ट होते हैं। अस्थिरता तथा ध्वनि को प्रतीत करने का उद्योग न करना चाहिए। कभी-कभी भग्न भाग अन्तराविष्ट हो जाते हैं।

चिकित्सा—इस भग्न का पूर्ण सन्धान करना अत्यन्त आवश्यक है। विकृति रह जाने से मणिबन्ध जीवन भर के लिए बेकाम हो जाता है। साधारणतया अस्थियों को अपने उचित स्थान में बैठाने में कठिनता नहीं होती। किन्तु स्थान-च्युति के अधिक होने पर

---

1. Colle s fracture.

रोगी को मूर्च्छित करने की आवश्यकता होती है।

रोगी को कुर्सी पर बिठाकर चिकित्सक उसके सामने खड़ा होता है और दाहिनी ओर के भग्न में दाहिने हाथ से और बाईं ओर के भग्न में बायें हाथ से रोगी के हाथ को पकड़ता है। रोगी का हाथ इस प्रकार पकड़ा जाता है, जैसे हाथ मिलाते समय पकड़ते हैं। इस प्रकार एक हाथ से रोगी के हाथ को पकड़कर आगे की ओर खींचा जाता है। दूसरे हाथ से कुहनी को पीछे की ओर दबाते हैं। साथ में हाथ को अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर एक हल्का सा झटका दिया जाता है। इस प्रकार दोनों हाथों से अङ्ग का कर्षण विरुद्ध दिशाओं में होता है। इससे अङ्ग की लम्बाई फिर पूर्ववत् हो जाती है और अस्थि के टूटे हुए भाग अपने स्थानों में आ जाते हैं।

इस प्रकार अस्थि के भागों को विरुद्ध दिशाओं में खींचकर, और यदि आवश्यक हो तो हस्त-व्यापार से भग्न का उत्तम सन्धान करना चाहिए। कुहनी को पीछे की ओर खींचने का काम किसी सहायक से लिया जा सकता है।

यदि इस विधि से सफलता न हो तो निम्न-लिखित उपाय काम में लाना चाहिए। भग्न-स्थान को अपने दोनों हाथों में बलपूर्वक इस प्रकार पकड़ो कि एक हाथ का अङ्गुष्ठ-मूल का उत्सेध भग्नास्थि के उपरी भाग के निचले सिरे पर सामने की ओर और दूसरे हाथ का उत्सेध निचले भाग के ऊपरी सिरे पर मणिबन्ध के पीछे की ओर रहे। तत्पश्चात् दोनों हाथों को विरुद्ध दिशाओं में तनिक झटका देकर घुमाओ और अस्थि के भागों को दोनों हाथों के बीच में दाबो। इससे अस्थि के भाग अपने स्थान में आ जायँगे। इस विधि में अधिक बल की आवश्यकता नहीं होती। सफलता कर्म-कौशल पर निर्भर करती है।

सन्धान होने पर भग्न में जो विकृति उत्पन्न हुई थी वह जाती रहती है और उसके पुनः उत्पन्न होने की प्रवृत्ति भी नहीं होती। इस कारण कुशा को कूर्पर से अँगुलियों तक लगा देना पर्याप्त होता है। साधारण गूक की कुशा को इस प्रकार लगाया जा सकता है कि वह बाहु में आधे पूर्व-पृष्ठ, पार्श्व-भाग, और आधे पश्चात्-पृष्ठ को ढक ले।

इस भग्न के लिए एक विशेष कुशा का प्रयोग किया जाता है जिसको "कार का कुशा"[1] कहते हैं। इसके दो भाग होते हैं—एक भाग बाहु के सामने और दूसरा बाहु के पीछे रहता है। यह भाग पहले भाग की अपेक्षा छोटा होता है। सामनेवाले भाग के अगले सिरे पर एक तिर्यक् गोल छोटा डण्डा लगा रहता है, जिसको रोगी अपनी मुट्ठी में पकड़ लेता है। इससे हाथ सदा भीतर की ओर झुका रहता है। वह बाहर की ओर नहीं खिंचने पाता।

गोर्डन का कुशा भी इसके लिए काम में लाया जाता है।

दस से चौदह दिवस में अस्थियाँ जुड़ जाती हैं। उस समय कुशाओं को उतार देना चाहिए। किन्तु अङ्ग को विश्राम देने के लिए कुछ समय तक नमदे इत्यादि के कुशा प्रयोग किये जा सकते हैं।

मोटरकार चलानेवालों में कभी-कभी मोटर को चालू करते समय हैंडिल के घुमाने

---

1. Carr's splint.

से मणिबन्ध प्रान्त का भग्न हो जाता है। इसकी चिकित्सा उपर्युक्त भग्न ही के समान होती है।

सात और बीस वर्ष की अवस्था के बीच में अस्थि का अधःप्रान्त कभी-कभी आघात के कारण गात्र से भिन्न हो जाता है। लक्षण प्रायः कोलीज़ भग्न ही के समान होते हैं। चिकित्सा भी उसी प्रकार की जाती है।

अग्रबाहु की दोनों अस्थियों का भग्न

इस प्रान्त में तीव्र आघात लगने अथवा हाथ के बल गिरने से प्रायः दोनों अस्थियों का भग्न होता है, यद्यपि प्रत्येक अस्थि का स्वतन्त्र भग्न भी हो सकता है। अभिघात से सदा दोनों अस्थियों का, समान स्थिति पर अनुप्रस्थ भग्न होता है। किन्तु गिरने से बहिःप्रकोष्ठास्थि की अपेक्षा अन्तःप्रकोष्ठास्थि कुछ ऊँचाई पर टूटती है। साधारणतया दोनों अस्थियाँ बाहर या भीतर की ओर झुक जाती हैं। बहिःप्रकोष्ठास्थि के निचले भाग का पूर्ण भग्न और अन्तःप्रकोष्ठास्थि का अपूर्ण भग्न भी देखा गया है। भग्न के सब लक्षण स्पष्ट होते हैं।

चिकित्सा—भग्नास्थियों का उत्तम सन्धान अत्यन्त आवश्यक है। कुसंयोजन से अङ्ग की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। असावधानी के कारण एक अस्थि दूसरे के साथ जुड़ती देखी गई है।

अस्थि-सन्धान करते समय, यदि आवश्यक हो तो, रोगी को क्लोरोफ़ार्म से मूर्च्छित करने के पश्चात् कुहनी को मोड़कर और हथेली को ऊपर करके हाथ को आगे की ओर खींचना चाहिए। सहायक कुहनी के ऊपर बाहु को पकड़कर पीछे की ओर खींचे रहे। इस प्रकार बाहु को दोनों ओर से उस समय तक खींचे रखना चाहिए, जब तक भग्न भाग अपनी पूर्व-स्थिति में न आ जावे और विकृति पूर्णतया न मिट जावे। तत्पश्चात् बाहु पर एक कुशा सामने की ओर और दूसरा पीछे की ओर लगाना चाहिए। सामनेवाला कुशा कूर्पर के मोड़ से मणिबन्ध तक और पश्चिम कुशा करभास्थियों तथा अँगुलियों तक रहता है। कुशा को लगाने से पूर्व अग्रबाहु को वक्ष की ओर इस प्रकार मोड़ दिया जाता है कि वह बाहु के समकोण पर रहती है। हथेली ऊपर की ओर मुड़ी होती है। बहिःप्रकोष्ठास्थि के गात्र के सब भग्नों में बाहु की यही स्थिति होनी चाहिए। अग्रबाहु और हाथ को, गोफण द्वारा, गले में लटका देना उचित है।

जब स्थान-च्युति अधिक होती है तो रॉबर्ट जोन्स का कंकाल कुशा प्रयोग किया जाता है। इससे उत्तम प्रसारण द्वारा अस्थियों में जुड़ने के पश्चात् विकृति नहीं उत्पन्न होने पाती।

यदि अस्थियों का संयोजन उपयुक्त न हो और विकृति रह जावे तो शस्त्र-कर्म द्वारा जितनी सन्धान वस्तु अधिक बनी हो, उसको काटकर निकाल देना चाहिए। यदि अस्थियाँ टेढ़ी पड़ गई हों तो जुड़े हुए भाग को तोड़कर उनका फिर से सन्धान करना आवश्यक है।

मणिबन्ध की अस्थियों के भग्न

तीव्र आघात से कभी-कभी मणिबन्ध की कई अस्थियाँ टूट जाती हैं। नौनिभ और अर्धचन्द्र का भग्न अधिक होता है। मणिबन्ध के बाहर की ओर बहिःप्रकोष्ठास्थि के नीचे

शोथ उत्पन्न हो जाता है। पार्श्व को दबाने से पीड़ा होती है। मणिबन्ध अधिक चौड़ा हो जाता है। हाथ को घुमाना असम्भव होता है। भग्न-ध्वनि नहीं सुनाई देती।

चिकित्सा—हाथ को ऊपर की ओर झुकाकर उसको विश्राम देना आवश्यक है। यदि कोई भाग टूटकर पृथक् हो जावे और उसके न जुड़ने से हाथ की गति में बाधा और पीड़ा हो तो शस्त्र-कर्म करना आवश्यक है।

करभास्थियों का भग्न

अभिघात से इन अस्थियों का प्रायः अनुप्रस्थ भग्न होता है। अन्य की अपेक्षा तीसरी और चौथी अस्थियाँ अधिक टूटती हैं। कभी-कभी भारी वस्तुओं के बीच में आकर अस्थियों का कई स्थानों पर भग्न हो जाता है। स्थान-च्युति आघात पर निर्भर करती है। अनुप्रस्थ भग्न में वह प्रायः बहुत कम होती है। गिरने से टूटने के कारण भग्न भाग एक दूसरे पर चढ़ जाते हैं।

चिकित्सा—अनुप्रस्थ भग्न में, जहाँ स्थान-च्युति अधिक नहीं होती, हथेली में एक गोल कड़ी कवलिका रखकर रोगी से मुट्ठी बँधवा देनी चाहिए। उसके ऊपर एक

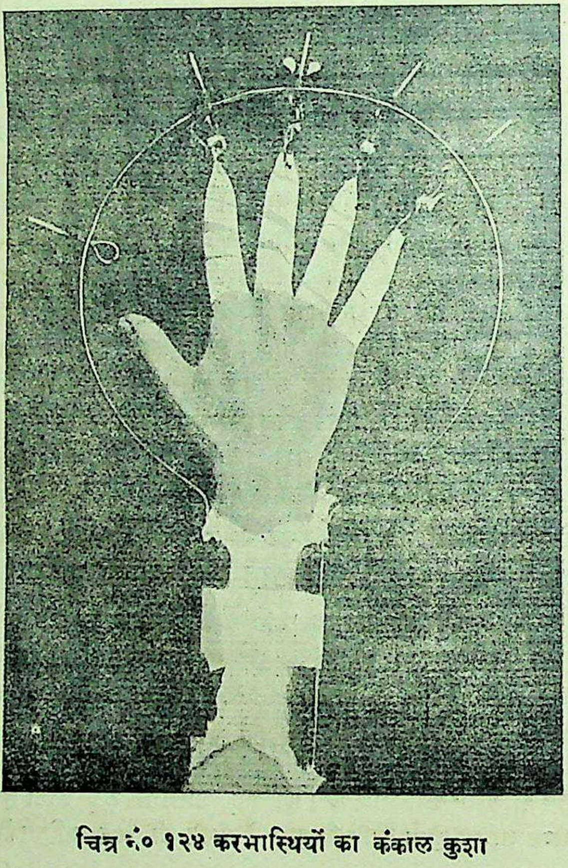

चित्र नं० १२४ करभास्थियों का कंकाल कुशा

स्वस्तिक बन्धेज लगा दिया जाता है। आठ या दस दिन के पश्चात् पट्टी को खोल दिया जाता है। उद्वर्तन और चालन पूर्व ही से प्रारम्भ कर देने चाहिएँ। यदि स्थान-च्युति के अधिक होने से प्रसारण की आवश्यकता हो तो कङ्काल कुशा का प्रयोग करना चाहिए।

यदि केवल एक ही अस्थि टूटी हो तो उसके सम्बन्ध की अँगुली द्वारा प्रसारण किया जा सकता है। इसका आयोजन इस प्रकार किया जाता है। हथेली में धातु की एक लम्बी पटरी बाँध दी जाती है। इस पटरी के अन्त पर एक छोटा अनुप्रस्थ भाग लगा रहता है। यह पटरी इतनी लम्बी होनी चाहिए कि अँगुलो से आगे की ओर निकली रहे। लम्बी पटरी को हथेली में भग्नास्थि पर स्थिर करके अँगुली के दोनों ओर अनुबन्धक प्लस्तर की पट्टियाँ लगाकर उनको अंगुलियों से आगे निकली हुई अनुप्रस्थ पटरी पर बाँध दिया जाता है। आठ या दस दिन के पश्चात् उसको निकाल देना चाहिए।

अंगुल्यस्थियों का भग्न

यह अभिघात से उत्पन्न होता है और प्रायः संयुक्त होता है। भग्नास्थि के निचले भाग का ऊपरी सिरा सामने की ओर उठ जाता है और हथेली में उभरा हुआ दिखाई देता है। शोथ के सब लक्षण उपस्थित होते हैं। स्थान-च्युति के अधिक होने पर भग्न भागों का कुसंयोजन हो सकता है।

चिकित्सा—भग्न भागों का पूर्ण सन्धान करके अँगुलियों को आठ या दस दिन तक पूर्ण विश्राम देना आवश्यक है। यहाँ पर भी उपर्युक्त कुशा का प्रयोग किया जा सकता है। स्थान-च्युति के अधिक होने पर चित्र नं० १२५ में दिखाया हुआ कुशा अधिक उपयोगी होता है। स्थान-च्युति न होने पर लकड़ी का एक छोटा कुशा अँगुली के सामने की ओर लगाकर उस पर पट्टी बाँध देना पर्याप्त है। उद्वर्तन और चालन प्रारम्भ ही से करने चाहिएँ।

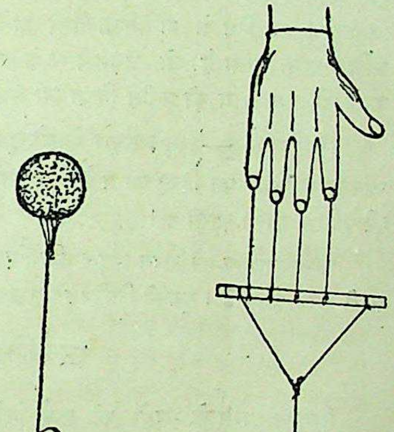

चित्र नं० १२५

तेरहवाँ परिच्छेद

निम्नशाखा के भग्न

श्रोणिचक्र के भग्न—जब श्रोणिप्रान्त पर कोई बहुत भारी वस्तु, जैसे कोई बड़ा पत्थर या लट्ठा, गिर पड़ता है तो चक्र की भग्नरेखा प्रायः सब अस्थियों में पाई जाती

है। ऐसी दशा में सम्पूर्ण चक्र भग्न हो जाता है। श्रोणि के भीतर के अङ्ग तक विदीर्ण हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न अस्थियों का भग्न भी पाया जाता है।

अन्य की अपेक्षा भग्नास्थि का भग्न अधिक होता है। यह भग्न प्रायः दोनों ओर की अस्थियों में होता है, जिससे बीच का भाग स्वतन्त्र हो जाता है। मूत्राशय और मूत्र-मार्ग प्रायः, और गुदा तथा योनि भी कभी-कभी, विदीर्ण हो जाते हैं। भग्न के लक्षण उपस्थित होते हैं। गुदा तथा योनि में अँगुली डालकर परीक्षा करने से भग्न-ध्वनि और अस्थि के टूटे हुए भागों को प्रतीत किया जा सकता है।

चिकित्सा—रोगी को दुर्घटना के स्थान से हटाने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। उसको तख़्त पर सुलाना चाहिए।

चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व इस बात का निश्चय कर लेना आवश्यक है कि किसी आशय को तो हानि नहीं पहुँची है। रबर के कैथिटर द्वारा यह मालूम करना चाहिए कि मूत्राशय क्षत तो नहीं हुआ है। रोगी की पूर्ण और आवश्यक परीक्षा करने के पश्चात् हस्त-कौशल द्वारा अस्थि के भग्न भागों का उचित सन्धान करने पर श्रोणिप्रान्त के चारों ओर विबन्ध बन्धेज बाँध देना चाहिए। दोनों ओर की जंघाओं को भी, उनके बीच में रूई रखकर, एक दूसरे से बाँध देना आवश्यक है, जिससे ऊरु और श्रोणि पूर्णतया स्थिर हो जावें। भगास्थि के अतिरिक्त अन्य अस्थियों की अपेक्षा जघनास्थि के पक्ष का भग्न अधिक पाया जाता है, जो जघनधारा के लगभग मध्य में होता है। पेशियों को ढीली करके टूटे हुए भाग को प्रतीत किया जा सकता है। भग्न-ध्वनि भी सुनाई देती है।

चिकित्सा—हस्त-व्यापार से टूटे हुए भागों का सन्धान करके उनको अनुबन्धक प्लस्तर से स्थिर कर दिया जाता है और रोगी को ऐसी स्थिति में रखा जाता है कि नितम्ब की पेशियाँ ढीली रहती हैं।

कुकुन्दरास्थि का भग्न बहुत कम होता है। पुरोर्ध्व और पुरोधः कूटों का भी कभी-कभी भग्न होता है। इनकी चिकित्सा शस्त्र-कर्म द्वारा की जाती है।

ऊर्वस्थि के भग्न

नितम्ब प्रान्त के भग्नों की पूर्ण निश्चिति करने के लिए निम्न-लिखित स्थानों के अन्तर की दूसरी ओर के समान अन्तर से तुलना की जाती है—

(१) पुरोर्ध्व कूट—यह नितम्ब के ऊपर जघनधारा का सबसे आगे का स्थान है, जहाँ से वंक्षणी[१]-बन्धन भगसन्धानिका[२] की ओर जाता है।

(२) कुकुन्दर-पिण्ड—इसको नितम्ब के पीछे और नीचे के भाग में मल-द्वार से बाहर की ओर नितम्ब-पिण्डिका गरिष्ठा पेशी को ऊपर की ओर को दाबने से प्रतीत किया जा सकता है।

(३) ऊर्विका का महाशिखरक—यह भाग नितम्ब के बाहर की ओर गरिष्ठा पेशी को दाबने से प्रतीत होता है।

---

१. Inguinal ligment. २. Symphisis pubis.

इस प्रान्त के भग्नों को निम्न-लिखित विधियों द्वारा जाँच की जाती है—

(१) निलेटन की रेखा[1]—जघनास्थि के पुरोर्ध्व कूट से कुकुन्दरपिण्ड तक एक रेखा खींची जाती है। इस रेखा के ठीक बीच का बिन्दु शिखरक को अङ्कित करता है। किन्तु यदि जंघा बाहर या भीतर की ओर मोड़ दी जावे, तो शिखरक इस रेखा से ऊपर या नीचे चला जायगा। यदि शिखरक इस रेखा के ऊपर स्थित हो तो वह अङ्ग की लम्बाई की कमी का सूचक है।

(२) ब्राइंट[2] की रेखा—रोगी को पीठ के बल मेज़ या शय्या पर लिटाकर उसके पुरोर्ध्व कूट से एक सीधी रेखा नितम्ब की ओर खींची जाती है। लकड़ी का एक साधारण रूल काम दे सकता है। इस रेखा से महाशिखरक का अन्तर नापकर उसकी दूसरी ओर के समान अन्तर से तुलना की जाती है। प्रायः स्वस्थ व्यक्तियों में यह अन्तर २½ इंच के लगभग होता है।

(३) मोरिस[3] की द्विशिखरक परीक्षा—धातु की एक लम्बी पटरी पर दो इस प्रकार के सूचक पट्ट लगे रहते हैं कि उनको आगे या पीछे हटाया जा सकता है। यह पट्ट चौड़ी पटरी के साथ समकोण बनाते हैं। पटरी को, जिस पर इंच और उसके भागों के चिह्न अंकित रहते हैं, पेड़ू के प्रान्त पर रखकर सूचक पट्टों से शिखरकों को स्पर्श किया जाता है। और भग-सन्धानिका के मध्य-बिन्दु से शिखरकों की दूरी नाप ली जाती है। दोनों ओर की दूरी स्वस्थ दशा में समान होनी चाहिए। सन्धि-च्युति में दोनों ओर की दूरी समान नहीं होती।

(४) शीन[4] की परीक्षा—रोगी को लिटाकर एक फीता या तागा एक ओर के पुरोर्ध्व कूट से दूसरी ओर के पुरोर्ध्व कूट तक लगाया जाता है। इसी प्रकार का दूसरा फ़ीता एक ओर के महाशिखरक से दूसरी ओर के महाशिखरक तक रहता [illegible] दोनों फीते पूर्णतया समानान्तर होने चाहिएँ। यदि इसमें कुछ भी भेद है तो [illegible] अपने स्थान से हटा हुआ है।

ऊर्वस्थि के ऊर्ध्वप्रान्त के भग्न—इस प्रान्त में निम्न-लिखित भग्न [illegible] सकते हैं—

(१) शिर का भग्न।
(२) ग्रीवा का भग्न, शिर के पास।
(३) ग्रीवा का भग्न, शिखरकों के पास।
(४) महाशिखरक का भग्न।
(५) महाशिखरक के किसी भाग का भग्न।
(६) लघुशिखरक के नीचे का भग्न।

(१) शिर का भग्न—कभी-कभी वंक्षण-सन्धि-च्युति के साथ यह भग्न हो जाता है। शिर का वह भाग, जो सन्धि के भीतर रहता है, वंक्षणोदूखल से टकराने के कारण टूट जाता है। इसकी चिकित्सा ग्रीवा के अन्य भग्नों के समान होती है।

---

१. Neleton's line. २. Bryant's test-line. ३. Morri's bitrochanteric test-line. ४. Chiene's test.

ग्रीवा के भग्न—ग्रीवा में दो स्थानों में भग्न होते हैं। एक, शिर के नीचे, जहाँ पर ग्रीवा संकुचित होती है और सन्धि-कोष के भीतर रहती है। इसको कोषान्तःभग्न[1] कहते हैं। दूसरा, जिसको बहिर्कोषीय[2] भग्न कहते हैं, ग्रीवा के मूल के समीप, जहाँ वह कुछ चौड़ी होकर अस्थि-गात्र के साथ जुड़ती है, होता है। कोषान्तःभग्न अधिकतर वृद्धावस्था में होता है, जिससे प्रायः ग्रीवा का कुछ भाग नष्ट हो जाता है और अस्थियों का संयोजन भी उत्तम नहीं होता। इस भग्न में भग्न-रेखा प्रायः सन्धि-कोष के भीतर रहती है। बहिर्कोष भग्न में यह रेखा आगे की ओर कोष के भीतर, किन्तु पीछे की ओर उसके बाहर, आ जाती है।

(२) ग्रीवा का भग्न शिर के पास—वृद्धावस्था में यह स्थान बहुत दुर्बल हो जाता है, जिससे साधारण अभिघातों के कारण भी उसका भग्न हो सकता है। सीढ़ी पर चढ़ते समय केवल पाँव के फिसलने से भग्न होते देखा गया है। भग्नरेखा प्रायः अनुप्रस्थ होती है। उसका अधिक भाग कोष के भीतर रहता है। स्थान-च्युति सन्धि-कोष और अस्थ्यावरण के टूटने पर निर्भर करती है। जब अस्थि के दोनों भाग एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं तो नीचे का भाग ऊपर और पीछे की ओर खिंचकर कुछ बाहर की ओर घूम जाता है। अस्थि के दोनों भाग बहुत कम अन्तराविष्ट होते हैं। साधारण भग्नों में सब लक्षण स्पष्ट होते हैं। अङ्ग की लम्बाई १″ से ३″ तक कम हो जाती है। सारा अङ्ग कुछ बाहर को ओर घूमा हुआ दिखाई देता है। वृद्धावस्था के कारण प्रायः अस्थि का पूर्ण संयोजन नहीं होता। यदि यह भग्न वृद्ध व्यक्तियों में अन्तराविष्ट हो जावे तो उसको उसी प्रकार छोड़ देना चाहिए।

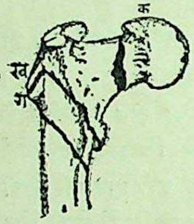

चित्र नं० १२६ ऊर्वस्थि के ऊर्ध्व प्रान्त के भग्न

क—ऊर्विका की ग्रीवा का भग्न, शिर के पास

ख—शिखरक के ऊपर का भग्न

ग—शिखरक के नीचे का भग्न

कभी-कभी बच्चों में भी इसी प्रकार का भग्न पाया जाता है। किन्तु वह अपूर्ण होता है। पूर्ण होने पर प्रायः दोनों भाग अन्तराविष्ट हो जाते हैं। बच्चे की चलने-फिरने की शक्ति नष्ट नहीं होती। किन्तु वह लँगड़ाने लगता है। टाँग कुछ बाहर की ओर मुड़ जाती है और लम्बाई भी कम हो जाती है।

चिकित्सा—यदि वृद्ध व्यक्ति में भग्न के पश्चात् अस्थि के भाग अन्तराविष्ट हो गये हैं तो उनको उसी दशा में छोड़ देना अत्युत्तम है। इस अवस्था में चिकित्सा द्वारा इससे अधिक उत्तम परिणाम की आशा करना भूल है। अभिघात के पश्चात् प्रथम रोगी के जीवन की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। उसके पश्चात् अस्थियों को जोड़ना और तत्पश्चात् विकृति को मिटाने का उद्योग करना उचित है। वृद्ध व्यक्तियों को अधिक समय तक शय्यारूढ़ रखने से उनको शय्या-व्रण अथवा फुस्फुस के तथा अन्य रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इस कारण जितना भी शीघ्र हो सके उनको चलने-फिरने की अनुमति दे देनी चाहिए।

भग्न के अन्तराविष्ट न होने पर टोमास-कङ्काल-कुशा द्वारा अङ्ग का प्रसारण करना

१. Intracapsular fracture. २. Extracapsular fracture.

आवश्यक है। अंग को इस प्रकार स्थिर करना चाहिए, जिससे वह सदा मध्यरेखा से बाहर की ओर खिंचा हुआ रहे। कभी-कभी शस्त्र-कर्म द्वारा धातु की एक खूँटी से शिखरक और ग्रीवा के भग्न भाग को जोड़ दिया जाता है।

उचित संयोजन के पश्चात् भी कुछ समय तक रोगी को शय्यारूढ़ रखकर उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ करनी चाहिएँ। जब तक फुस्फुस या हृदय का कोई रोग उत्पन्न न हो तब तक रोगी को शय्यारूढ़ रखने में कोई आपत्ति नहीं है।

यदि बच्चों में इस प्रकार के भग्न अन्तराविष्ट हो जावें तो उनको तोड़कर, उनका उपयुक्त सन्धान करने के पश्चात् कङ्काल-कुशा अथवा पैरिस-प्लस्तर का कुशा अंग पर चढ़ाकर उचित समय तक प्रसारण करना चाहिए।

(३) ग्रीवा का भग्न शिखरकों के पास—इसमें भग्नरेखा पीछे की ओर कोष के बाहर, किन्तु आगे की ओर उसके भीतर अथवा कोष और अस्थि के संगम पर, रहती है। प्रायः यह भग्न नितम्ब के बल गिरने से उत्पन्न होता है। अभिघात से प्रथम ग्रीवा पीछे की ओर से टूटती है। क्योंकि पूर्व ओर की अपेक्षा पश्चिम भाग अधिक दुर्बल होता है। तत्पश्चात् ग्रीवा के सामने का भाग भी टूट जाता है। यह भग्न प्रायः अन्तराविष्ट होते हैं। अभिघात की दिशा और शरीर के भार से शिखरक गात्र की ओर दबकर उसमें धँस जाता है। कभी-कभी इस भग्न में दोनों शिखरक भी टूटते हुए देखे गये हैं।

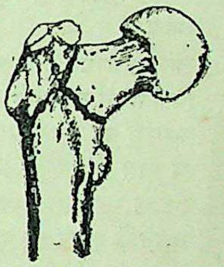

चित्र नं० १२७ ग्रीवा का भग्न, शिखरकों के पास

नितम्ब के पार्श्व में अभिघात तथा भग्न के लक्षण उपस्थित होते हैं। जंघा बाहर की ओर घूम जाती है। अङ्ग की लम्बाई १½ या २ इंच कम हो जाती है। कोषान्तःभग्न की प्रारम्भिक अवस्थाओं में यह स्पष्ट नहीं होती, किन्तु वह बहिर्कोष भग्न में अत्यन्त स्पष्ट होती है। महाशिखरक पर लगी हुई पेशियों द्वारा नीचे का भाग ऊपर की ओर खिंच जाता है। अङ्ग प्रायः बाहर को मुड़ा रहता है। किन्तु कभी-कभी भीतर की ओर भी मुड़ जाता है। बहिर्कोष भग्न में अङ्ग बिलकुल अकर्मण्य हो जाता है; किन्तु कोषान्तःभग्न में ऐसा नहीं होता।

चिकित्सा—यदि आवश्यक हो तो क्लोरोफ़ार्म द्वारा रोगी को मूर्च्छित करके भग्न भागों का उत्तम सन्धान करना चाहिए। युवा व्यक्तियों में अन्तराविष्ट भागों को पृथक् करके उनका फिर से सन्धान करना उचित है। तत्पश्चात् कङ्काल-कुशाओं द्वारा प्रसारण करना चाहिए।

(४) महाशिखरक का भग्न—यह प्रायः शिखरकों पर आघात लगने से उत्पन्न होता है। अस्थि से भिन्न होकर पेशियों द्वारा शिखरक खिंच जाता है, जिससे नितम्ब का पार्श्व अधिक चौड़ा दिखाई देता है। भग्नध्वनि सुनाई देती है।

चिकित्सा—अंग को बाहर की ओर खींचकर रेत भरे हुए थैलों के बीच में रख देना चाहिए, जिससे शिखरक अस्थि से मिला हुआ रहे। स्थानच्युति के अधिक होने पर शस्त्र-कर्म की आवश्यकता है।

(५) **महाशिखरक के भाग का भग्न**—इसमें शिखरक का केवल एक भाग टूटता है। प्रायः नीचे का भाग टूटकर ऊपर की ओर खिंचने के अनंतर बाहर की ओर घूमता है। यदि अंग को पकड़कर घुमाया जावे तो शिखरक का ऊपरी भाग उसके साथ नहीं घूमेगा।

चिकित्सा—अस्थि-सन्धान करके जङ्घा को बाहर की ओर खींचकर स्थिर कर देना चाहिए। उद्वर्तन इत्यादि साधारण प्रकार से करने चाहिएँ।

(६) **लघुशिखरक के नीचे का भग्न**—चित्र में इस भग्न की रेखा दिखाई गई है। यह कभी-कभी दूरवर्ती आघात से भी हो जाता है। ऊपर के भाग का निचला सिरा आगे की ओर उठ जाता है, और घूमकर कुछ बाहर की ओर भी खिंच जाता है।

चिकित्सा—यदि स्थान-च्युति के पुनः उत्पन्न होने की आशङ्का न हो तो अस्थि-सन्धान करके अंग को गात्र के भग्नों के समान स्थिर कर देना चाहिए। यदि सन्धान सहज में न किया जा सके तो ऊरू को ऊपर की ओर मोड़कर और बाहर की ओर घुमाकर खींचना उचित है। आवश्यक होने पर हस्त-व्यापार से भग्न भागों को उनके स्थान में बिठाया जा सकता है। इसके लिए होजिन का कङ्काल-कुशा उपयुक्त है। इसके द्वारा प्रसारण का उत्तम प्रबन्ध हो जाता है। प्रसारण का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि नीचे का भाग सदा आगे की ओर खिंचा रहे। ऊपर के भाग का भी दूसरी ओर से १० या १५ पौंड के भार द्वारा प्रसारण करके ऊपर को उठा देना चाहिए। इससे दोनों भागों के मिलने के स्थान पर एक छोटा-सा कोण बन जायगा। एक मास के पश्चात् भग्नास्थियों के बीच इतनी कठिन सन्धान-वस्तु बन जायगी कि कङ्काल के निकाल देने पर भी वह न टूटेगी। उस समय ऊपर के भाग का प्रसारण ढीला करने से वह दूसरे भाग को भी नीचे की ओर झुकावेगा। इससे दोनों भागों के मिलने के स्थान पर जो कोण बन गया था वह मिट जायगा और अस्थि की रेखा सीधी हो जायगी।
(देखो चित्र नं० १३०)

ऊर्वस्थि के गात्र का भग्न

इस भाग का भग्न बहुत बार होता है। यह ऊरु पर चोट लगने तथा दूरवर्त्ती अभिघात से उत्पन्न हो सकता है। सबसे अधिक गात्र के नीचे के भाग का भग्न होता है। किन्तु दूरवर्ती अभिघात से अस्थि के बीच का भाग अधिक टूटता है।

ऊर्ध्व भाग का भग्न—अस्थि अपने ऊपरी तिहाई भाग में टूट जाती है। ऊपर का छोटा भाग सामने की ओर खिंचकर बाहर की ओर घूम जाता है। नीचे का भाग ऊपरी भाग के भीतर और ऊपर की ओर खिंचता है और अन्तर्नायनी पेशी तथा अङ्ग का भार उसको बाहर की ओर घुमा देते हैं।

बीच के भाग का भग्न—जब उसी स्थान पर चोट लगने से भग्न उत्पन्न होता है तो भग्न-रेखा अनुप्रस्थ होती है। किन्तु दूरवर्ती अभिघात से तिर्यक् भग्न होता है। भग्न रेखा ऊपर से प्रारम्भ होकर नीचे और पीछे की ओर चली जाती है। इससे ऊपर का भाग सामने और नीचे की ओर और नीचे का भाग ऊपर और भीतर की ओर खिंचकर ऊपरी

भाग के पीछे या सामने पहुँच जाता है। इस भग्न में प्रायः रक्त-प्रवाह अधिक होता है। अस्थि के टुकड़ों के सिरे ऊरु-प्रसारिणी चतुरस्रा पेशी में धँस जाते हैं।

नीचे के भाग का भग्न—यह भी दोनों प्रकार के अभिघात से उत्पन्न हो सकता है। समीपवर्ती अभिघात से अनुप्रस्थ भग्न होता है। अस्थि का निचला भाग जंघा की प्रसारिणी पेशियों द्वारा पीछे की ओर खिंच जाता है, जिससे रक्त-नलिकाएँ दब जाती हैं और अङ्ग का रक्त-सञ्चालन बन्द हो जाता है। दूरवर्ती अभिघात से तिर्यक् भग्न होता है। ऊपर का भाग आगे की ओर खिंचकर चतुरस्रा पेशी में धँस जाता है और आगे की ओर उठा हुआ दीखता है तथा प्रतीत किया जा सकता है। अभिघात के अधिक तीव्र होने से चर्म छिन्न होकर संयुक्त भग्न बन जाता है।

चिकित्सा—इन भग्नों की चिकित्सा प्रायः कठिन होती है। बलवान् पेशियों की सन्धान को विकृत कर देने की प्रवृत्ति होती है।

चिकित्सा के चार मुख्य सिद्धान्त हैं—(१) बहुकालिक[1] प्रसारण, (२) उद्बन्धन[2], (३) बहिर्नयन[3] और (४) उद्वर्तन तथा चालन।

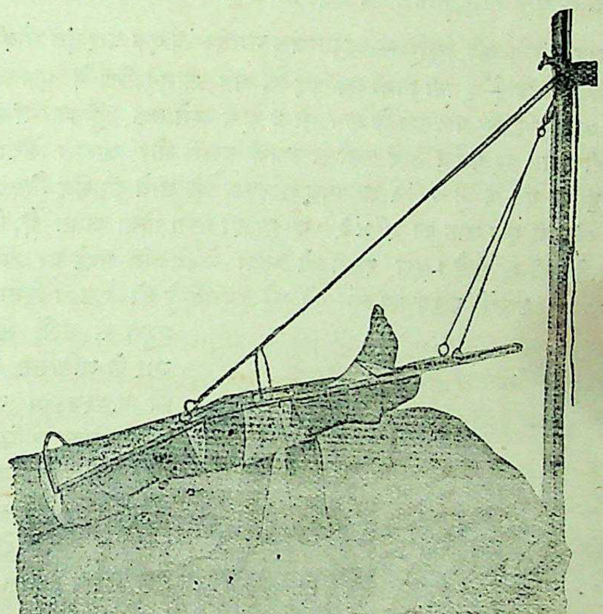

चित्र नं. १२८

होजिन का कङ्काल कुशा और उसको लगाने की रीति

(१) बहुकालिक प्रसारण—इसके लिए टोमास या होजिन के कङ्काल-कुशा

१. Prolonged-extension. २. Suspension. ३. Abduction.

का उपयोग किया जाता है। टोमास कुशा का एक इस प्रकार का परिवर्तित रूप बाजार में बिकता है जिससे जंघा को मोड़कर रखा जा सकता है और समय-समय पर गति भी कराई जा सकती है (चित्र नं० १३१)।

होजिन के कुशा में ऊपरी सिरे पर गोल चक्र के स्थान में केवल एक मुड़ी हुई शलाका होती है जो दोनों पार्श्वों की शलाकाओं को जोड़ती है। यह भाग ऊरु पर सामने की ओर रहता है। पार्श्व की शलाकाएँ जानु-सन्धि के स्थान पर कुछ मुड़ी रहती हैं, जिससे जानु को मोड़कर रखा जा सकता है। इस कुशा को अंग पर लगाकर अनुबन्धक पट्टियों द्वारा उसी प्रकार प्रसारण किया जाता है जैसा बाहु के सम्बन्ध में बताया जा चुका है। चित्र से इसकी विधि पूर्णतया स्पष्ट है। कुशा को अंग पर लगाकर दोनों ओर की शलाकाओं में फ़लालेन की चौड़ी पट्टियाँ आलपीनों द्वारा लगा दी जाती हैं। इन पर अंग रक्खा रहता है। आवश्यकतानुसार कुशा से लटकनेवाले भार को घटा-बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार अंग और उसके साथ नीचे का भग्न भाग आगे की ओर खिंचा रहता है। ऊपर का भाग शरीर-भार के कारण ऊपर को खिंचता है। यदि यह पर्याप्त न हो तो शय्या की पाँयत को ऊँचा कर देना चाहिए। कई बार ऊपर के भाग का भी शिर की ओर को प्रसारण करना होता है। यह विप्रसारण कहलाता है।

प्रसारण करने की विधि—अनुबन्धक प्लस्तर की एक चार इंच चौड़ी पट्टी काटी जाती है। इसकी लम्बाई इतनी होनी चाहिए कि वह जानु-सन्धि के एक ओर २ या ३ इंच नीचे से आरम्भ होकर पादतल के लगभग ४ इंच आगे तक पहुँचकर जंघा की दूसरी ओर फिर उसी स्थान पर पहुँच जावे जहाँ से उसको दूसरी ओर आरम्भ किया गया था। इस प्रकार पट्टी का एक ६ या ८ इंच का भाग पादतल से आगे की ओर निकला रहेगा। इस भाग के बीच में एक काठ का ३″×३″ का टुकड़ा लगा दिया जाता है, जिसमें छिद्र द्वारा एक रस्सी पड़ी रहती है। इस रस्सी को शय्या के निचले डण्डे पर लगी हुई घिर्री पर से निकालकर उसमें कङ्कड़ या छर्रों से भरे हुए डिब्बे को लटका दिया जाता है।

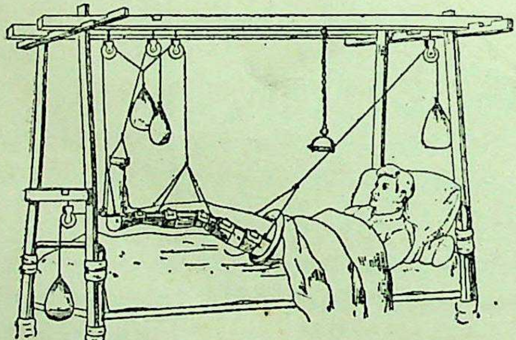

चित्र नं० १२९ बालकन बीम द्वारा प्रसारण, विप्रसारण तथा उद्बन्धन की रीति

बहुत से भग्नों में इस पट्टी भार के अतिरिक्त किसी कुशा की आवश्यकता नहीं होती। भिन्न-भिन्न रोगियों में भार की भिन्न मात्रा की आवश्यकता होती है। साधारणतया बलवान् शरीर के लिए १० सेर भार अधिक नहीं है। प्रारम्भ में ४ या ५ सेर भार लटकाना चाहिए। इसको धीरे-धीरे १० सेर तक बढ़ाया जा सकता है। संयोजन प्रारम्भ होने पर भार कम कर देना चाहिए। वास्तव में भार इतना होना चाहिए कि उससे अंग की लम्बाई ½ इंच बढ़ जावे। इस प्रसारण के साथ पाँव को आगे की ओर खींचकर

रखना भी आवश्यक है।

(२) उद्बन्धन—प्रसारण करके अंग को लटका दिया जाता है। लटकाने के लिए कई प्रकार के प्रबन्ध किये जाते हैं। 'वाल्कन बीम', जो चित्र में दिखाया गया है, बहुत प्रयुक्त होता है। चित्र से इस आयोजन का उचित ज्ञान हो जायगा। इसके द्वारा विप्रसारण का भी, यदि आवश्यक हो तो, प्रबन्ध किया जा सकता है।

(३) बहिर्नयन—ऊर्वस्थि के भग्नों में बहुधा अंग को बाहर की ओर खींचकर रखना आवश्यक होता है। यदि शय्या पर वाल्कन बीम का प्रयोग किया है तो उसके द्वारा यह प्रबन्ध सहज में हो सकता है। बीम को बीच में न रखकर तनिक बाहर की ओर रख दिया जाता है। उसमें अंग को लटका देने से वह बाहर की ओर खिंचा रहेगा।

(४) जानु-सन्धि को सदा ढीला रखकर उससे गति कराते रहना चाहिए, जिससे सन्धि-जाड्य न उत्पन्न होने पावे। जहाँ तक हो सके उद्वर्तन और चालन पूर्व ही से प्रारम्भ कर देने चाहिएँ।

ऊर्वस्थि के भग्नों की चिकित्सा के सिद्धान्तों का ऊपर वर्णन कर दिया गया है। भिन्न-भिन्न स्थानों में जो विशेषताएँ हैं उनका उल्लेख नीचे किया जाता है।

ऊर्ध्व प्रान्त के भग्न में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि अस्थि का ऊपरी भाग, जो ऊपर और बाहर की ओर खिंच जाता है; इतना छोटा होता है कि उसको कुशा के द्वारा इच्छित स्थान में रखना असम्भव है। इसलिए नीचे के बड़े भाग को ऊपरी छोटे भाग की रेखा में लाना आवश्यक होता है, जिससे दोनों भागों का उत्तम सन्धान हो सके। इस भग्न की चिकित्सा के लिए टोमास का कुशा बहुत उत्तम है। होजिन कुशा भी उपयोगी है। टोमा... परिवर्त्तित स्वरूप बाज़ार में बिकता है, जिसके बीच में जानु-सन्धि क... हुआ भाग लगा रहता है। जंघा को मोड़कर इस भाग में रख दिया जा सक... का प्रसारण ऊपरी भाग द्वारा होता रहता है।

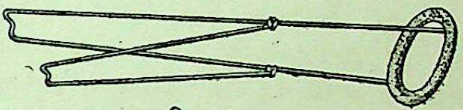

चित्र नं० १२०
टोमास का कङ्काल कुशा जिसमें नीचे की ओर मुड़नेवाला भाग ल...

मध्य भाग के अनुप्रस्थ भग्न में भग्न भागों को ठीक स्थिति में रखने में ... कठिनाई नहीं होती। किन्तु जब भग्न के तिर्यक् या अनुवेल्लित होने से स्थान-च्यु... अधिक होती है, अथवा विकृति की पुनः-पुनः उत्पन्न होने की प्रवृत्ति होती है तो शस्त्र-कर्म से उत्तम परिणाम होते हैं।

साधारणतया अस्थि-सन्धान करने में कठिनता नहीं होती। उसके पश्चात् टोमास या होजिन के कुशा द्वारा प्रसारण का आयोजन करना चाहिए।

अनुप्रस्थ भग्न के अधिक विकृति में न होने पर अनुबन्धक प्लस्तर की पट्टियों द्वारा प्रसारण का प्रबन्ध करना उचित है, बहुत बार मंजूष कुशा का, जिसमें एक लम्बा कुशा पीछे और दो कुशा दोनों पार्श्व में रहते हैं, भी उपयोग किया जाता है।

अधःप्रान्त के भग्न में नीचे का छोटा भाग मुड़कर जंघा-पिण्डिका पेशी में धँस जाता है। इस कारण जंघा को नीचे की ओर मोड़कर प्रसारण करना पड़ता है। होजिन या टोमास का कुशा, जिसके बीच में नीचे की ओर मुडनेवाला भाग लगा होता है, प्रयोग किया जाता है। इसमें दो ओर से प्रसारण करना होता है, एक ऊर्वस्थि की ओर और दूसरे नीचे की ओर मुड़ी हुई जंघा की दिशा में। इससे अंग स्थिर हो जाता है।

कुशाओं को छः से आठ सप्ताह के पश्चात् अंग से उतार देना चाहिए। रोगी को बैसाखी के सहारे चलने-फिरने की आज्ञा दी जा सकती है। किन्तु उसको ३ मास तक भग्न अंग पर शरीर का बोझ डालना उचित नहीं है। टोमास का वंक्षण-कुशा लगाकर रोगी थोड़ी दूर तक चल-फिर सकता है। इस स्थान में संयोजन बहुत धीमा होता है। कुसंयोजन भी प्रायः हो जाता है।

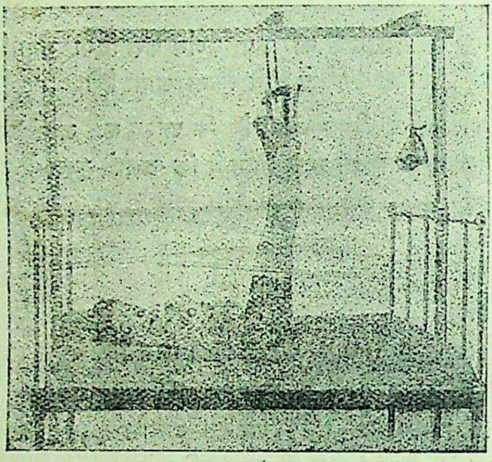

चित्र नं० १३१
वाल्कन बीम द्वारा प्रसारण

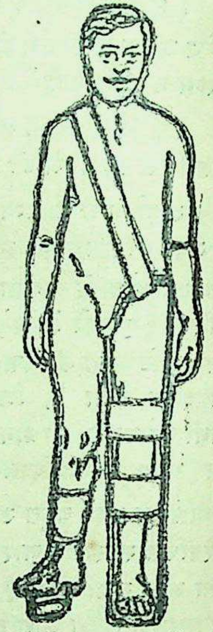

चित्र नं० १३२ टोमास
का वंक्षण कुशा

बच्चों में ऊर्वस्थि के गात्र का भग्न प्रायः देखने में आता है। उनको, अंग पर कुशा लगाकर, आवश्यक समय तक शय्या पर आरूढ रखना अत्यन्त कठिन है। इस कारण चित्र में दिखाई हुई विधि से उनकी चिकित्सा की जाती है। शय्या के ऊपर एक वाल्कन बीम लगा दी जाती है। बालक के दोनों अंगों पर, प्लस्तर की पट्टियाँ लगाकर, प्रसारण का आयोजन किया जाता है। स्वस्थ अंग की पट्टी बीम में बाँध दी जाती है। किन्तु भग्न ओर की पट्टी के बीच से पाँव के सामने लगे हुए काठ के टुकड़े से एक रस्सी को निकालकर बीम पर स्थित दो घिरिंयों में डाला जा जाता है और उसके दूसरे सिरे पर कङ्कड़ या छर्रों से भरा हुआ बक्स लटका दिया जाता है।

स्वस्थ अंग को बाँधने का केवल यह प्रयोजन है कि समस्त श्रोणी ऊपर को उठी रहे। ऐसा न करने से स्वस्थ अङ्ग के भार से भग्न अंग भी नीचे की ओर खिंचता है, जिससे विकृति उत्पन्न हो सकती है। चार या पाँच सप्ताह तक बच्चों को इसी प्रकार रखने के पश्चात् अंग को ढीला करके उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ आरम्भ कर दी जाती हैं।

ऊर्वस्थि के अधःप्रान्त के भग्न—इस प्रान्त में निम्न-लिखित भग्न उत्पन्न हो सकते हैं।

(१) अर्बुदोपरि भग्न।
(२) T और Y आकार का भग्न।
(३) अर्बुदों का भिन्न होना।

(१) अर्बुदोपरि भग्न—घुटनों या पाँवों के बल गिरने अथवा चोट लगने से यह भग्न हो सकता है। समीपवर्ती अभिघात से भग्न-रेखा अनुप्रस्थ और दूरवर्ती अभिघात से तिर्यक् होती है, जो ऊपर से आगे और नीचे की ओर चली जाती है। जान्वस्थि के ऊपर की ओर ऊपरी भग्न भाग का निचला सिरा आगे की ओर उठा हुआ दीखता है। कभी-कभी यह भग्न संयुक्त हो जाता है। भग्न भाग पीछे की ओर मुड़कर अस्थि को क्षत कर सकता है, जिससे नीचे के अंग में रक्त-सञ्चालन बन्द होकर निर्जीवांगत्व या कोथ तक उत्पन्न हो जाता है।

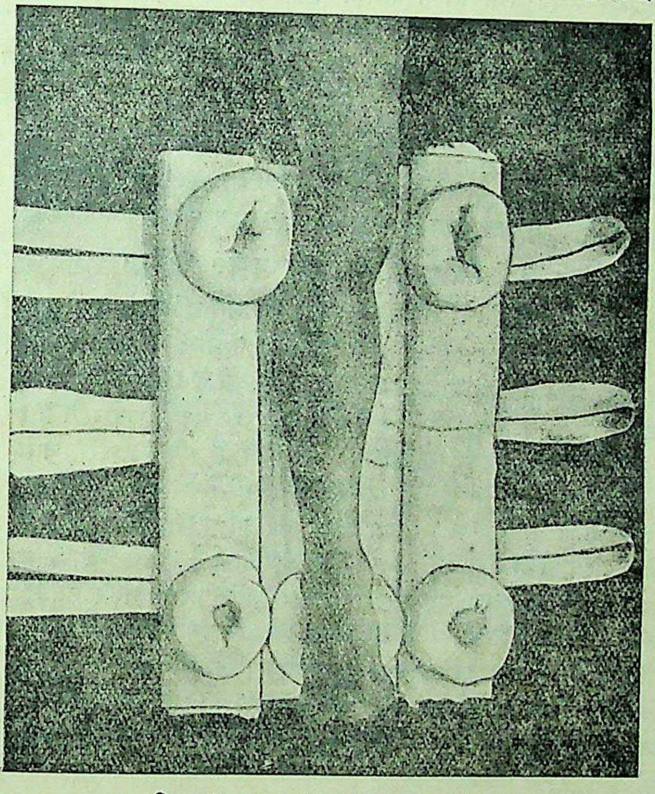

चित्र नं० १३४ मंजूष कुशा का प्रयोग

चिकित्सा—प्रायः सन्धि में और उसके चारों ओर रक्त एकत्र हो जाता है, जिससे भग्न का निश्चय करने में कठिनाई होती है। भग्न भागों का सन्धान करने के लिए जंघा को पीछे की ओर और ऊरु को उदर पर मोड़ना पर्याप्त है। इससे भग्न भागों का स्वयं सन्धान हो जाता है। प्रायः रोगी को मूर्च्छित करने की आवश्यकता होती है। सन्धान करने के पश्चात् यदि विकृति अधिक न हो, तो मंजूष[1] कुशा का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु विकृति की उपस्थिति में टोमास कुशा, जिसमें नीचे की ओर मुड़नेवाला भाग लगा रहता है, उत्तम है। चार या पाँच सप्ताह के पश्चात् कुशाओं को उतारकर जानु के पीछे एक मोटा तकिया लगाकर उसको आगे की ओर मोड़कर रखना चाहिए। उद्वर्तन पहले ही से प्रारम्भ कर देना उचित है।

यदि इन साधनों से सफलता न हो तो शस्त्र-कर्म की आवश्यकता होती है।

(२) T और Y आकार के भग्न—यह भग्न प्रगण्डास्थि के भग्नों के समान होते हैं। वास्तव में यह दो भग्न होते हैं जो आपस में मिल जाते हैं। ऊपरी भग्न अनुप्रस्थ होता है और दूसरा भग्न प्रथम भग्न के बीच से प्रारम्भ होकर अर्बुदों के बीच में होता हुआ नीचे को चला जाता है। सन्धि कुछ चौड़ी हो जाती है। पीड़ा तीव्र होती है। भग्न-ध्वनि इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं।

चिकित्सा—पूर्व-भग्न ही के समान होती है। इस भग्न में सन्धि-जाड्य के उत्पन्न होने की आशङ्का रहती है।

(३) अर्बुदों का पृथक् होना—प्रायः अर्बुदों पर आघात लगने से तथा कभी-कभी दूरवर्ती अभिघात से भी यह भग्न हो जाते हैं। अर्बुद अस्थि से पृथक् होकर पीछे की ओर खिंच जाते हैं। जंघा टूटे हुए अर्बुद की ओर कुछ घूम जाती है।

चिकित्सा—पेशियों के कर्षण के कारण अस्थि-सन्धान कठिन होता है। यदि हस्त-व्यापार से अस्थि-सन्धान करने में सफलता न हो तो शस्त्र-कर्म आवश्यक है।

जान्वस्थि का भग्न

इस अस्थि के ऊपरी और निचले दोनों भागों में बलवान् पेशियाँ लगी हुई हैं। इस कारण इस अस्थि का भग्न प्रायः इन पेशियों के विरुद्ध दिशाओं में कर्षण करने से होता है। अस्थि पर अभिघात लगने से भी वह टूट सकती है। किन्तु ऐसी दशा में प्रायः अस्थि के कई टुकड़े हो जाते हैं, और वह आपस में एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। अस्थ्यावरण नहीं टूटता। भग्न-रेखाएँ कई होती हैं, जो बीच में एक केन्द्र से चारों ओर को जाती हुई दिखाई देती हैं। सन्धि के भीतर रक्त और सीरम भर जाते हैं।

जब पेशियों के कर्षण से भग्न होता है तो अस्थि बीच से टूटती है। भग्न-रेखा अनुप्रस्थ और अस्थि के बीच में या कुछ नीचे की ओर होती है। इस भग्न में स्थान-च्युति ऊरु-प्रसारिणी चतुरस्रा के कला-वितान के, जो इस अस्थि पर चढ़ा रहता है, टूटने पर निर्भर करती है। यदि उसका थोड़ा ही भाग टूटता है तो च्युति कम होती है और दोनों भागों के बीच में एक इंच से अधिक अन्तर नहीं होता। किन्तु वितान के पूर्णतया टूट जाने पर अस्थि के दोनों भाग तीन या चार इंच अथवा इससे भी अधिक दूर हट जाते हैं।

सन्धि शोथ-युक्त हो जाती है। उसमें पीड़ा होती है। रोगी खड़ा होने में असमर्थ

---

१. Box spint.

होता है। वह अपने पाँव को पृथ्वी पर से नहीं हटा सकता। अस्थि के दोनों भाग प्रतीत किये जा सकते हैं।

चिकित्सा—अभिघात के कारण उत्पन्न हुए भग्न में, जहाँ च्युति अधिक नहीं होती, सारे अंग को केवल एक लम्बे कुशा पर रख देना पर्याप्त है, जिससे जंघा पीछे की ओर न मुड़ने पावे। उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ शीघ्र ही प्रारम्भ कर देनी चाहिएँ। जब पेशियों के कर्षण से अस्थि टूटती है और दोनों भागों के बीच में स्थानान्तर अधिक होता है तो विकृति को प्रायः शस्त्र-कर्म के द्वारा मिटाना पड़ता है। यदि स्थानच्युति अधिक न हो और रोगी को अपने जीवनोपार्जन के लिए विशेष शारीरिक परिश्रम न करना पड़ता हो तो अंग को केवल कुशा के ऊपर रखने से भी काम चल सकता है। अस्थि-भागों का संयोजन सौत्रिक धातु द्वारा हो जाता है। ऐसी अवस्था में प्रारम्भ ही से मन्द-मन्द चालन क्रियाएँ कराते रहना चाहिए, जिससे भग्न भाग ऊर्वस्थि के साथ न जुड़ने पावे। साथ में अस्थि के टूटे हुए भागों को एक दूसरे से मिलाकर रखने की भी आवश्यकता है। अनुबन्धक प्लस्तर का एक अर्ध-चन्द्राकार टुकड़ा जान्वस्थि के ठीक नीचे लगाया जाता है, और उसके दोनों सिरों को पकड़कर ऊपर और पीछे की ओर खींचकर अंग के पीछे लगे हुए कुशा पर बाँध दिया जाता है। अस्थि का ऊपरी भाग उचित आकार के मोटे किन्तु नरम चमड़े के अर्ध-चन्द्राकार टुकड़े द्वारा नीचे की ओर दाबा जाता है। इस टुकड़े के दोनों सिरों पर दो पतली रस्सियाँ लगी रहती हैं, जो कुशा के दोनों ओर होती हुई पाँव तक लाई जाती हैं। यदि आवश्यक हो तो इनको एक घिर्री पर से निकालकर छर्रे या कङ्कड़ के डिब्बे से बाँध दिया जाता है, जिससे अस्थि का भाग सदा नीचे की ओर खिंचता रहता है। चित्र में दिखाये हुए चमड़े के कुशा से भी यह काम लिया जा सकता है।

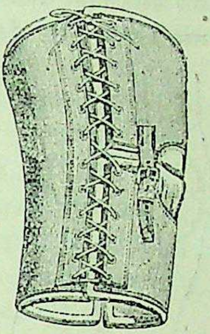

चित्र नं० १२५ जान्वस्थि के भग्न में प्रयुक्त होने-वाला चमड़े का कुशा

शस्त्र-कर्म निम्न-लिखित विधियों के अनुसार किये जाते हैं—

(१) जान्वस्थि के निचले सिरे के नीचे अंग की चौड़ाई की ओर चाकू से एक $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{4}$ इंच के लगभग लम्बा छेदन किया जाता है। इस छेदन द्वारा एक मुड़ी हुई चौड़ी सुई को इस प्रकार प्रविष्ट किया जाता है कि वह अस्थि के दोनों भागों के पीछे होती हुई ऊपरी भाग के ऊर्ध्वधारा के ऊपर होकर चर्म द्वारा बाहर निकल आवे। इस सुई में चाँदी का तार पिरो दिया जाता है और सुई के साथ उसको भी ऊपरी किनारे पर होकर चर्म द्वारा बाहर निकाल लिया जाता है। तत्पश्चात् सुई को तार सहित, जिसका एक सिरा जान्वस्थि के नीचे के छेदन द्वारा बाहर निकल रहा है, फिर चर्म के नीचे प्रविष्ट किया जाता है। किन्तु इस बार सुई जान्वस्थि के दोनों भागों के सामने होती हुई नीचे के भेदन द्वारा बाहर निकल आती है। तत्पश्चात् सुई को अलग करके तार के दोनों सिरों को

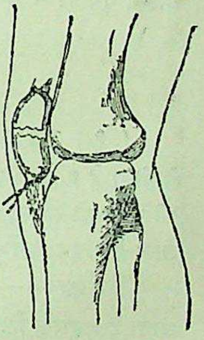

चित्र नं० १२६ शस्त्र कर्म की प्रथम विधि

खींचकर बाँधा अथवा मोड़ दिया जाता है। इससे अस्थि के दोनों भाग आपस में मिल जाते हैं। एक सप्ताह तक अङ्ग को कुशा पर रखकर उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ की जाती हैं। दूसरे सप्ताह के अन्त में रोगी चल सकता है। किन्तु उसको ४ सप्ताह तक बैसाखी अथवा किसी ऐसे ही साधन का उपयोग करना चाहिए।

(२) जान्वस्थि के सामने के चर्म में एक अर्धचन्द्राकार छेदन करके चर्म को ऊपर की ओर उलट दिया जाता है। तत्पश्चात् अस्थि के दोनों भागों में तार डालने के लिए 'ड्रिल' नामक यन्त्र से छेद किया जाता है। यह छेद नीचे के भाग में नीचे की ओर से और ऊपर के भाग में ऊपर की ओर से करना चाहिए। दोनों भागों में छिद्रों की स्थिति इस प्रकार की हो कि वह एक दूसरे से मिल जावें। तत्पश्चात् चाँदी के शुद्ध किये हुए तार को नीचे के छिद्र से प्रविष्ट करके ऊपरी भाग के छिद्र के ऊपरी सिरे से निकालकर पहले ही की भाँति तार के दोनों सिरों को खींचकर मिला दिया जाता है। तार की ग्रन्थि ऊपर के भाग पर लगाई जाती है। तार को काटने के पश्चात् उनके सिरों को कण्डरा अथवा अस्थ्यावरण के नीचे दाब दिया जाता है।

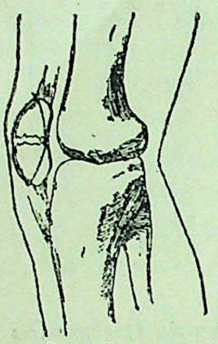

चित्र नं० १३७
शस्त्र-कर्म की दूसरी विधि

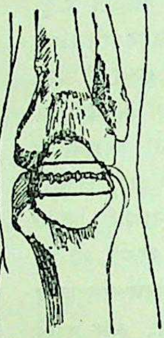

चित्र नं० १३८
तीसरी विधि

(३) कुछ सर्जन अस्थि के दोनों भागों में उनकी चौड़ाई की ओर लम्बे छिद्र करते हैं और उनमें तार डालकर ग्रंथि लगा देते हैं।

अङ्ग को कम से कम दस दिन तक कुशा पर रखना आवश्यक है। उद्वर्त्तन और चालन पूर्व ही से आरम्भ कर देने चाहिएँ।

जंघा प्रान्त के भग्न

अन्तर्जंघिका के भग्न

(१) ऊर्ध्व प्रान्त या शिर का भग्न प्रायः उसी स्थान पर आघात लगने से होता है। ऐसी दशा में इस भाग के कई टुकड़े हो जाते हैं। दूरवर्त्ती अभिघात से भी भग्न हो सकता है। इसके साथ ही प्रायः बहिर्जंघिका का ऊपरी भाग भी भग्न हो जाता है। इन भग्नों में प्रायः स्थान-च्युति अधिक नहीं होती।

चिकित्सा—जंघा को आगे की ओर मोड़कर उसके पीछे उपयुक्त कुशा लगा दिया जाता है। इसके लिए 'मेकिंटायर' का कुशा उपयुक्त है। यदि अर्बुद भी टूट गये हों तो हस्त-कौशल से उनको अस्थि के साथ मिलाकर अनुबन्धक प्लस्तर से स्थिर कर देना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो 'टोमास' के कुशा का उपयोग किया जा सकता है। मंजूष-कुशा भी प्रयोग किया जाता है। भग्न-रेखा के टेढ़ी होने पर प्रसारण का आयोजन करना आवश्यक है।

(२) गात्र का भग्न—इसमें बहुधा अन्तः और बहिर्जंघिका दोनों का एक साथ भग्न होता है। उसी स्थान पर चोट लगने से केवल अन्तर्जंघिका का गात्र भी भग्न हो

सकता है। ऊपरी भाग में भग्न-रेखा प्रायः अनुप्रस्थ, किन्तु निचले भाग में तिर्यक्, होती है। बहिर्जंघिका के सम्पूर्ण रहने पर अन्तर्जंघिका के भग्न भागों की स्थान-च्युति बहुत कम होती है। कभी-कभी ऊपरी भाग का निचला सिरा चर्म को फाड़कर भग्न को संयुक्त बना देता है। लक्षण प्रायः स्पष्ट होते हैं। पहले तीन या चार दिन तक अङ्ग के पीछे एक लम्बा कुशा लगाकर शोथ इत्यादि को कम करना चाहिए। तत्पश्चात् यदि स्थान-च्युति न हो तो पेरिस-प्लस्तर के कुशा द्वारा अङ्ग का प्रसारण करना आवश्यक है। किन्तु अंश की उपस्थिति में टोमास का कुशा अधिक उपयोगी होता है।

(१) अन्तर्गुल्फ का भग्न—इसमें प्रायः स्थान-च्युति अधिक नहीं होती। किन्तु टूटा हुआ भाग अस्थि से पृथक् हो जाता है और उचित चिकित्सा न करने पर गात्र के साथ अस्वाभाविक स्थिति में सौत्रिक संयोजन कर लेता है।

चिकित्सा—पाँव को भीतर की ओर मोड़कर हस्त-व्यापार से अस्थि-सन्धान करने के पश्चात् अनुबन्धक-प्लस्तर अथवा पेरिस-प्लस्तर द्वारा पाँव को स्थिर कर देना चाहिए। आठ या दस दिन के पश्चात् उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ प्रारम्भ करनी उचित हैं। यदि इस प्रकार सफलता न हो तो शस्त्र-कर्म करना आवश्यक है।

बहिर्जंघिका का भग्न—इस अस्थि के भग्नों में प्रायः स्थान-च्युति नहीं होती। अन्तर्जंघिका भग्न भागों को अपने स्थान से नहीं हटने देती। भग्न-ध्वनि प्रतीत की जा सकती है।

चिकित्सा—अङ्ग को कुछ दिनों तक विश्राम देकर पेरिस-प्लस्तर में स्थिर कर देना चाहिए। प्लस्तर के कुशा को दो भागों में बनाना चाहिए, जिनको प्रतिदिन हटाकर उद्वर्तन किया जा सके।

दोनों जंघिकाओं का भग्न

यह दुर्घटना बहुत देखने में आती है। अस्थि के ऊपर चोट लगने तथा दूरवर्ती अभिघात—दोनों से भग्न उत्पन्न हो सकता है। जब उसी स्थान पर आघात लगने से भग्न होता है तो प्रायः दोनों अस्थियाँ एक ही स्थान पर टूटती हैं और भग्न-रेखा अनुप्रस्थ होती है। स्थान-च्युति बहुत कम होती है, अथवा नहीं होती। जब दूरवर्ती अभिघात से, जैसे किसी ऊँचे स्थान से पैरों के बल गिरने से, अस्थियाँ टूटती हैं तो दोनों अस्थियों के भग्न की स्थिति में कुछ अन्तर होता है। अन्तर्जंघिका मध्य और अधःतृतीयांश भागों के सङ्गम पर टूटती है। बहिर्जंघिका का इससे कुछ ऊपर भग्न होता है। दोनों अस्थियों की भग्न-रेखाएँ तिर्यक् होती हैं, और ऊपर से नीचे, आगे और भीतर की ओर जाती हुई दिखाई देती हैं। इस भग्न में गुल्फ-सन्धि का भी क्षत होते हुए देखा गया है। दोनों जंघिकाओं के निचले सिरों के बीच के बन्धन टूट जाते हैं। अन्तर्जंघिका के द्वारा भग्न संयुक्त हो सकता है।

चिकित्सा—भग्न के निर्णय करने में अधिक कठिनाई नहीं होती। अन्तर्जंघिका के सामने की धारा पर ऊपर से नीचे की ओर को अँगुली फेरने से भग्न-स्थान पर पीड़ा, भग्न-ध्वनि और अस्थि के दोनों भागों के बीच में कुछ अन्तर प्रतीत होता है। बहिर्जंघिका के भग्न के निर्णय में कुछ कठिनाई हो सकती है।

स्थान-च्युति के अधिक न होने पर सन्धान में कठिनाई नहीं होती। ऊरु को

उदर की ओर मोड़कर जंघा को नीचे अथवा ऊरु की ओर मोड़ा जाता है। एक सहायक जानु-सन्धि के ऊपर से अङ्ग को पकड़कर ऊपर की ओर और दूसरा गुल्फ-सन्धि से जंघा को पकड़ कर नीचे की ओर खींचता है। किन्तु दोनों का कर्षण एक ही रेखा में होना चाहिए। सर्जन हस्त-कौशल से भग्न भागों का उचित सन्धान कर देता है, जिससे विकृति मिट जाती है। उचित सन्धान होने पर पाँव के अँगूठे के भीतर की ओर का उभार, अन्तर्गुल्फ और जान्वस्थि का भीतरी ओर का किनारा—तीनों एक रेखा में आ जाते हैं। स्थान-च्युति के अधिक होने पर रोगी को क्लोरोफ़ार्म द्वारा मूर्च्छित करना आवश्यक होता है।

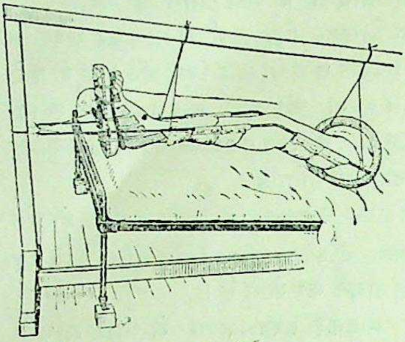

चित्र नं० १३३ सिंक्लेयर का पाद-कुशा लगाकर टोमास कुशा में अंग को रखने की रीति

सन्धान करने के पश्चात् जब स्थान-च्युति के पुनः उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं होती तो साधारण कुशाओं को, जैसे 'क्लाईन' अथवा 'मैकिंटायर' के कुशाओं[1] का

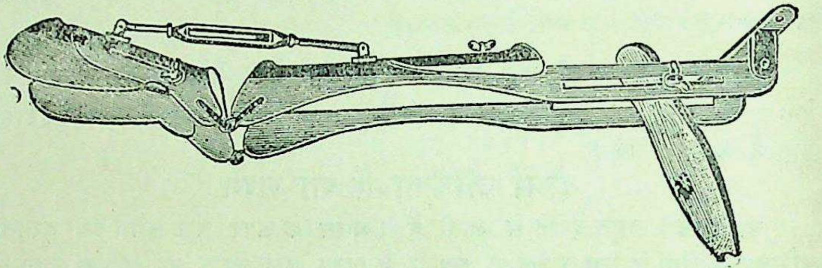

चित्र नं० १४० मैकिन्टायर का कुशा

प्रयोग किया जा सकता है। इन कुशाओं में पाँव को रखने के लिए काठ का एक विशेष भाग लगा रहता है, जैसा चित्र से स्पष्ट है। उद्वर्तन और चालन प्रारम्भ ही से करने चाहिएँ। किन्तु यदि विकृति के उत्पन्न होने की आशङ्का हो तो इन क्रियाओं को दो या तीन सप्ताह के पश्चात् प्रारम्भ करना उचित है।

स्थान-च्युति के अधिक होने पर टोमास के कङ्काल-कुशा द्वारा, जो जानु पर से पीछे की ओर को मुड़ा होता है, प्रसारण का प्रबन्ध करना आवश्यक है। इस कुशा को 'बालकन बीम' में लटकाकर नीचे की ओर से भार इत्यादि के प्रयोग द्वारा अङ्ग का प्रसारण कर दिया जाता है। कुछ सर्जन प्रसारण के लिए पाँव पर 'सिंक्लेयर' का कुशा लगा देते हैं, जैसा चित्र नं० १२९ में दिखाया गया है।

उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ प्रतिदिन करनी चाहिएँ। तीन सप्ताह के पश्चात् यदि रोगी की अवस्था सन्तोषजनक हो तो अङ्ग पर दोनों ओर नमदे के कुशा लगाकर रोगी को चलने-फिरने की आज्ञा दी जा सकती है।

---

1. Mackentyre's splint.

यदि इन साधनों से स्थान-च्युति को ठीक करने में सफलता न हो तो शस्त्र-कर्म करना आवश्यक है। चर्म-भेदन करके अस्थि के भागों को प्लेट या तार से जोड़कर चर्म को सी दिया जाता है।

भग्न के संयुक्त होने पर साधारण नियमों के अनुसार उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

गुल्फ-प्रान्त के भग्न

इस प्रान्त के भग्न प्रायः सन्धि-विश्लेष के साथ उत्पन्न होते हैं। प्रथम पाँव बाहर या भीतर की ओर फिसलता है, जिससे सन्धि विश्लिष्ट हो जाती है। तत्पश्चात् अस्थि का भग्न होता है।

'पौट का भग्न'—यह भग्न गिरते या कूदते समय पाँव के बाहर की ओर फिसलने या मुड़ जाने से होता है। प्रथम गुल्फ-सन्धि का अन्तःपार्श्व-बन्धन[1] भार की अधिकता से टूट जाता है। कूर्च-शिर बाहर की ओर भ्रष्ट होकर बहिर्गुल्फ को उसी ओर को दबाता है। इससे बहिर्जंघिका भी बाहर की ओर को दबती है और अन्त में गुल्फ के कुछ ऊपर टूट जाती है। अन्तः और बहिर्जंघिका के बीच का बन्धन तथा बहिर्जंघिका का वह भाग जिस पर यह बन्धन लगा रहता है—टूट जाता है। भग्न-रेखा ऊपर से नीचे और आगे की ओर बहिर्गुल्फ के द्वारा जाती हुई दीखती है। जब भग्न केवल टाँग के बाहर की ओर खिंचने से उत्पन्न हो जाता है, तो अस्थि का गुल्फ के लगभग ३ इंच ऊपर भग्न होता है। अस्थि के नीचे के भाग का ऊपरी सिरा अन्तर्जंघिका की ओर खिंचता है, और पाँव बाहर की ओर घूम जाता है। साथ में एँड़ी ऊपर की ओर उठ जाती है और अँगुलियाँ आगे की ओर झुक जाती हैं। केवल अन्तःपार्श्व-बन्धन के टूटने से गुल्फ चर्म के नीचे उभरा हुआ दीखता है। किन्तु बन्धन और गुल्फ दोनों के टूट जाने [illegible] एक गढ़ा बन जाता है।

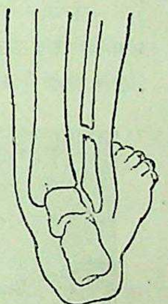

चित्र नं० १४१
पौट का भग्न

'डुपीट्रन' का भग्न—इस भग्न में दोनों जंघिकाओं के निचले सिरों के बीच [illegible] बन्धन और जंघिकाओं के वे भाग जिन पर यह बन्धन लगा रहता है तथा बहिर्जंघिका का निचला भाग टूट जाता है। पाँव का नीचे का भाग इन दोनों टूटे हुए अस्थि-भागों तथा बन्धन के साथ बाहर की ओर को सरक जाता है। कूर्च-शिर जंघिकाओं से बिलकुल पृथक् होकर बाहर की ओर हट जाता है। जब तक यह अस्थि पूर्णतया पृथक् नहीं होती तब तक पाँव केवल बाहर की ओर को मुड़ा हुआ दीखता है।

चिकित्सा—सन्धि के अधिक शोथ-युक्त न होने से भग्न-भागों का तुरन्त सन्धान किया जा सकता है। किन्तु शोथ अधिक होने पर ऐसा करना उचित नहीं। दो या तीन दिन तक अङ्ग को विश्राम देकर तथा शीतोत्पादक वस्तुओं के उपयोग से शोथ को कम करने के पश्चात् सन्धान का उद्योग करना चाहिए।

चित्र नं० १४२
डुपीट्रन का भग्न

1. Internal lateral ligament.

जंघा को नीचे की ओर झुकाकर, जिससे उसकी पेशियाँ ढीली पड़ जायँ, अस्थि-सन्धान करना उचित है। एक सहायक पाँव को नीचे की ओर और दूसरा जानुसन्धि को ऊपर की ओर खींचता है। इस समय सर्जन हस्त-कौशल से भग्न-भागों का सन्धान कर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक भाग को उसके स्थान में बिठाकर दूसरी ओर के अङ्ग से तुलना करके देख लेना चाहिए कि सब भाग अपने-अपने स्थान पर बैठ गये हैं या नहीं। यदि सन्धान उचित हुआ हो तो पाँव जंघा के समकोण पर आ जायगा। अन्तः और बहिर्गुल्फ अपने स्वाभाविक स्थान पर और कूर्च-शिर दोनों गुल्फों के भीतर रहेगा। अंगुष्ठ का भीतरी उभार, अन्तर्गुल्फ और जान्वस्थि का भीतरी किनारा सब एक रेखा में रहेंगे। एँड़ी और अंगुलियों की स्थिति दूसरे अङ्ग के समान होगी।

सन्धान के पश्चात् कुछ समय तक कुशा का प्रयोग आवश्यक है। साधारण दशाओं में क्लाइन का कुशा प्रयोग किया जा सकता है। डुपिट्रन के कुशा का भी प्रयोग किया जाता है। यह एक साधारण लम्बा कुशा होता है जिसका नीचे का भाग आगे की ओर पाँव की भाँति मुड़ा रहता है। इसका प्रयोग चित्र से स्पष्ट है।

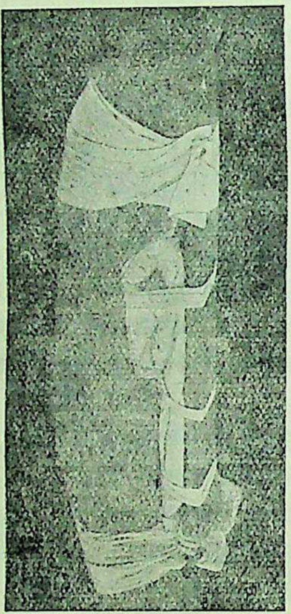

चित्र नं० १४३ डुपीट्रन के कुशा को लगाने की रीति

जब एँड़ी पीछे की ओर हट जाती है तो घोड़े के खुर के आकार का कुशा प्रयोग किया जाता है। यह जंघा के सामने की ओर लगाया जाता है।

दस या बारह दिन में अस्थियाँ जुड़ जाती हैं। इस समय उपर्युक्त कुशाओं को उतारकर नमदे या पैरिस-प्लस्तर का दो भागों में बना हुआ कुशा प्रयोग करना चाहिए। नित्य-प्रति उद्वर्तन और चालन क्रियाओं के पश्चात् उनको फिर से लगाया जा सकता है। जब रोगी चलने-फिरने योग्य हो जावे तो उसको कुछ समय तक बैसाखी का प्रयोग करना चाहिए।

कुछ दशाओं में शस्त्र-कर्म की आवश्यकता होती है।

कूर्च-शिर का भग्न—कुछ ऊँचाई से गिरने से जंघिका और पार्ष्णि के बीच में दबकर यह अस्थि टूट जाती है। आघात लगने से भी इसका भग्न हो सकता है। कभी-कभी दोनों भाग अन्तराविष्ट हो जाते हैं। सन्धि में रक्त और सीरम के भरने से शोथ दिखाई देता है। यदि भग्न का निर्णय न हो सके तो एक्स-रे की सहायता लेनी चाहिए।

चिकित्सा—पैरिस-प्लस्तर चढ़ाकर पाँव को स्थिर करने के पश्चात् जितना भी शीघ्र हो सके उद्वर्तन प्रारम्भ करना चाहिए।

कभी-कभी अस्थि में केवल दरारें पड़ जाती हैं। ऐसी दशा में सन्धि को स्थिर

करके उद्वर्तन करना चाहिए। जब तक पीड़ा बिलकुल न जाती रहे तब तक चलने-फिरने का पूर्ण निषेध होना चाहिए।

पार्ष्णि का भग्न—यह भग्न किसी ऊँचे स्थान से पाँव के तले तथा एँड़ी के बल गिरने से होता है। इस कारण यह प्रायः दोनों पाँवों में एक ही साथ उपस्थित मिलता है। यह आघात से भी उत्पन्न हो सकता है। कभी-कभी पेशियों के कर्षण से भी भग्न हो जाता है। पार्ष्णि-कण्डरा के द्वारा पार्ष्णि का पिछला भाग टूटकर ऊपर की ओर खिंच जाता है।

ऊँचाई से गिरने पर भग्न-रेखा अस्थि के बीच में स्थित होती है और उससे कई छोटी-छोटी दरारें चारों ओर को जाती हुई दिखाई देती हैं।

स्थान-च्युति अधिक नहीं होती। भग्न के लक्षण उपस्थित होते हैं।

चिकित्सा—यदि आवश्यक हो तो रोगी को मूर्च्छित करके भग्न का पूर्ण अन्वेषण करना चाहिए। तत्पश्चात् सन्धान करके पैरिस-प्लस्तर से अङ्ग को स्थिर करना उचित है।

जब पार्ष्णि-कण्डरा द्वारा अस्थि का पिछला भाग टूटकर ऊपर की ओर खिंच जाता है तब प्रायः शस्त्र-कर्म की आवश्यकता होती है। किन्तु ऐसा करने से पहले अस्थि-भागों को मिलाने का उद्योग करना चाहिए। उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ जितनी शीघ्र की जा सकें उत्तम है।

प्रपादास्थियों और अंगुल्यस्थियों का भग्न

इन अस्थियों का भग्न प्रायः चोट लगने से होता है। चारों ओर की धातुओं के शोथ-युक्त हो जाने से भग्न के स्वरूप का निर्णय करना कठिन होता है। इनमें स्थान-च्युति बहुत कम होती है। जब भार इत्यादि के गिरने से कई अस्थियों का एक ही साथ भग्न होता है तो वह प्रायः संयुक्त होता है।

चिकित्सा—केवल विश्राम और उद्वर्तन से भग्न ठीक हो जाते हैं। उद्वर्तन और चालन क्रियाओं का प्रारम्भ ही से प्रयोग करना चाहिए।

चौदहवाँ परिच्छेद

सन्धियों के अभिघात

सन्धि-विवर्त[1]—यह दशा सन्धि-बन्धनों के अधिक खिंच जाने से उत्पन्न होती है। जिस समय वेग से दौड़ने, कूदने या इसी प्रकार के किसी अन्य कर्म करने में अङ्ग अनुचित दिशा में अत्यधिक मुड़ जाता है तो जिस सन्धि पर अधिक भार पड़ता है उसके बन्धनों के कुछ सूत्र टूट जाते हैं। कभी-कभी अस्थि का वह भाग भी, जिस पर यह बन्धन लगे होते हैं, टूट जाता है। सन्धि में शोथ उत्पन्न हो जाता है। अङ्ग को हिलाने पर तीव्र पीड़ा होती है। अङ्ग को फैलाने का प्रयत्न करने से पीड़ा बढ़ जाती है।

1. Contusion.

कुछ समय के पश्चात् शोथ जाता रहता है और टूटे हुए बन्धन फिर से जुड़ने लगते हैं।

चिकित्सा—सन्धि को स्थिर करके उसको पूर्ण विश्राम देना उचित है। शोध की अवस्था में, जब सन्धि के भीतर रक्त और सीरम भरे होते हैं, सन्धि पर रबर की पट्टी बाँधना उत्तम है। शीतोत्पादक विलयनों के प्रयोग से शोथ और पीड़ा कम हो जाती है। दो या तीन दिन के पश्चात् उद्वर्तन और चालन क्रियाएँ प्रारम्भ कर देनी चाहिएँ। शोथ-युक्त भाग पर धीरे-धीरे हाथ फेरने से उद्वर्तन होता है और पीड़ा भी कम होती है।

सन्धि-च्युति (विश्लेष)[1]

सन्धियों के भीतर बन्धनों द्वारा अस्थियों के सिरे एक दूसरे के समीप रहते हैं और एक कोष द्वारा ढके रहते हैं जो सन्धि-कोष कहलाता है। इस कोष में कहीं-कहीं सूक्ष्म छिद्र होते हैं। यह स्नैहिक-कला निर्मित होता है। सन्धि-विश्लेष के समय अस्थियो के सिरे अपने स्थान से हट जाते हैं, जिससे उनके बीच का अन्तर बढ़ जाता है। यह अस्थि-प्रान्त कोष के छिद्रों के विस्तृत हो जाने तथा बन्धनों के टूटने से, जिसके साथ कभी-कभी कोष का कुछ भाग भी टूट जाता है, कोष के बाहर आ जाते हैं। यह विकृति प्रायः अभिघात से उत्पन्न होती है। समीपवर्ती और दूरवर्त्ती दोनों प्रकार के अभिघात इस दशा को उत्पन्न कर सकते हैं

लक्षण—अङ्ग के आकार का विकृत हो जाना सन्धि-विश्लेष का सबसे बड़ा लक्षण है। सन्धि में सम्मिलित अस्थियों के भाग अपने स्थान से हटकर दूसरी अस्वाभाविक स्थिति में पहुँच जाते हैं। इससे जिस स्थान पर पहले अस्थि थी वहाँ पर गढ़ा और दूसरे स्थान में उभार दिखाई देने लगता है। परीक्षा करते समय क्षत सन्धि की दूसरी ओर की स्वस्थ सन्धि से तुलना करनी चाहिए।

अंग की गति परिमित हो जाती है, अथवा वह अकर्मण्य हो जाता है। रोगी को कुछ स्तब्धता भी हो जाती है, यद्यपि वह अस्थि-भग्न के समान गाढ़ी नहीं होती। सन्धि-अवयवों के क्षत हो जाने से पीड़ा अधिक होती है। उसमें शोथ भी उत्पन्न हो जाता है।

चिकित्सा—सन्धि-विश्लेष के पश्चात् जितना भी शीघ्र हो सके सन्धान कर देना चाहिए। जिस मार्ग से अस्थि सन्धि से बाहर निकली थी उसी के द्वारा फिर सन्धि के भीतर पहुँचाने का उद्योग करना आवश्यक है। अतएव सन्धि की रचना को ध्यान में रखते हुए हस्त-व्यापार से अस्थि को उसके पूर्व स्थान में बैठाया जा सकता है। अस्थि को बैठाने के लिए शारीरिक बल की अपेक्षा कौशल की आवश्यकता अधिक होती है।

सन्धि-विश्लेष के सन्धान करने में विशेषकर तीन बाधाएँ उपस्थित होती हैं—

(१) सन्धि के चारों ओर की पेशियों का सङ्कोच, जिससे अस्थि को चारों ओर घुमाने और उचित स्थान पर पहुँचाने में कठिनाई होती है।

(२) कभी-कभी सन्धि के भीतर अस्थि का कोई भाग पेशी-सूत्र, बन्धन[2] अथवा दूसरी अस्थि के किसी प्रवर्धन इत्यादि में अटक जाता है।

(३) सन्धि-कोष का छिद्र इतना छोटा होता है कि वह अस्थि के सन्धि में पुनः प्रवेश करने में बाधा डालता है।

---

[1] Dislocation. २. इनको स्नायु भी कहते है।

पेशियों को ढीली करने के लिए अङ्ग को कुछ समय तक निरन्तर खींचे रखना आवश्यक है। यदि इससे भी पेशियाँ ढीली न हों तो क्लोरोफार्म सुँघाकर रोगी को मूर्च्छित कर देना चाहिए।

जिस समय अस्थि सन्धि-कोष के भीतर प्रविष्ट होती है उस समय एक धीमा सा शब्द होता है। एक बार सन्धान कर चुकने पर विकृति की पुनः, उत्पन्न होने की, प्रवृत्ति नहीं होती। सन्धि में उपस्थित रक्त, सीरम इत्यादि का शोषण हो जाता है। टूटे हुए बन्धन भी फिर से जुड़ जाते हैं। कुछ व्यक्तियों में बन्धन इतने ढीले हो जाते हैं कि सन्धि का बार-बार विश्लेष हो जाता है। सन्धान के पश्चात् प्रत्येक दिवस कम से कम १० या १५ मिनिट तक उद्वर्तन और चालन करने से बहुत लाभ होता है।

यदि सन्धान किये बिना अस्थियों को उसी प्रकार छोड़ दिया जावे तो अस्वाभाविक सम्पर्क से उनमें असत्य सन्धि[1] बन जाती है। अस्थियों के जो पृष्ठ एक दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं उनमें से एक में गोल उत्सेध उत्पन्न हो जाता है और दूसरे में उसी के आकार के समान एक गढ़ा बन जाता है। गोल उत्सेध इस गढ़े में रहता है। सन्धि में जो पहले गढ़ा था यह भर जाता है और कार्टिलेज सौत्रिक धातु में परिवर्त्तित हो जाता है। अङ्ग की उपयोगिता कम हो जाती है।

अभिघात की प्रबलता से संयुक्त भग्न की भाँति संयुक्त सन्धि-विश्लेष भी हो जाता है। इसकी चिकित्सा कठिन होती है। सन्धि के संक्रमित होने से अस्थि-शोथ उत्पन्न होकर मृत्यु तक हो सकती है।

चिकित्सा—संयुक्त विश्लेष को चिकित्सा संक्रमित क्षतों की भाँति की जाती है। चारों ओर के स्थान को शुद्ध करके क्षत को पूर्णतया शुद्ध करने का आयोजन करना चाहिए। तत्पश्चात् सन्धि का सन्धान करना आवश्यक है। यदि क्षत पूर्णतया शुद्ध हो जावे तो उसको टाँकों द्वारा सिया जा सकता है।

विशेष सन्धि विश्लेष

अधोहन्विका का विश्लेष—यह विकृति असाधारण है। पेशियों के कर्षण तथा मुख के खुले होने पर चिबुक पर आघात लगने से विश्लेष हो जाता है। कुछ व्यक्तियों में सन्धि के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, अथवा सन्ध्यर्बुद के छोटे होने से हन्विका सुगमता से हनुखात से आगे की ओर फिसल जाती है।

साधारणतया मुख को खोलने के समय हनुमुण्ड हनुखात में आगे की ओर फिसलकर सन्ध्यर्बुद के पीछे पहुँच जाता है। यदि इस स्थिति में चिबुक पर तनिक भी आघात लगे तो वह अर्बुद पर से फिसलता हुआ उसके आगे पहुँच जायगा। हनुकुन्त पर लगी हुई सङ्कोचक पेशियाँ भी अस्थि को आगे की ओर खींचती हैं।

लक्षण—रोगी का मुँह खुला रह जाता है। चिबुक नीचे को दब जाती है। यदि केवल एक ही ओर सन्धि-विश्लेष हुआ तो चिबुक उसी ओर को मुड़ जायगी। किन्तु दोनों ओर के विश्लेष में केवल नीचे को दबेगी। कपोल पर कर्णमूल के आगे एक गढ़ा और उसके आगे एक उभार दिखाई देगा। मुख के भीतर अँगुली डालकर परीक्षा करने से

1. False joint.

हनुकुन्त अपने स्वाभाविक स्थान से आगे की ओर हटा हुआ प्रतीत होगा।

चिकित्सा*—रोगी को कुर्सी पर बैठाकर चिकित्सक उसके सामने खड़ा होता है। एक सहायक पीछे की ओर खड़ा होकर रोगी के शिर को पकड़ लेता है। चिकित्सक अपने अँगूठे को शुद्ध वस्त्र से ढककर रोगी के मुख के भीतर डालता है और अँगुलियों को बाहर रखकर दोनों के बीच में दाढ़ों को पकड़कर पीछे और नीचे की ओर दाबता है। पर्याप्त भार डालने से हनुमुण्ड नीचे की ओर दबकर सन्ध्यर्बुद पर से फिसलता हुआ अपने पूर्व-स्थान में पहुँच जाता है।

इसके पश्चात् दस दिन तक हन्वस्थि पर बन्धेज बाँधना आवश्यक है। रोगी को नित्य-कर्म करने की आज्ञा दी जा सकती है।

अक्षकास्थि का विश्लेष

वक्षकीय भाग—इस भाग का विश्लेष बहुत असाधारण है। अक्षकास्थि के दूसरे सिरे पर सामने की ओर से अभिघात लगने से इस भाग की, सामने की ओर, च्युति हो सकती है। वक्षकास्थि के पार्श्व में यह भाग चर्म के नीचे, सामने की ओर, उभरा हुआ दिखाई देता है। स्कन्ध भीतर की ओर दब जाता है।

चिकित्सा—रोगी के पीछे खड़ा होकर चिकित्सक अपनी जानु को दोनों स्कन्धों के बीच में पृष्ठवंश पर रखता है और हाथों से दोनों स्कन्धों को पकड़कर बाहर और पीछे की ओर खींचता है। इससे अक्षकास्थि का च्युत भाग अपने स्थान पर आ जाता है। यह क्रिया करते समय कुहनी को आगे की ओर मोड़कर बाहु को वक्ष पर रखना चाहिए, जिससे कूर्पर कक्ष से आगे रहे। तत्पश्चात् कुछ समय के लिए सन्धि को स्थिर कर दिया जाता है।

अंसीय भाग की च्युति—यह प्रायः पीछे की ओर से अभिघात लगने तथा स्कन्ध के बाहरी भाग पर गिरने से उत्पन्न होता है, जिससे अक्षक का बाहरी भाग ऊपर की ओर अंस-प्रचीरक के ऊपर चला जाता है और अंस-फलक नीचे को भ्रष्ट हो जाता है।

चिकित्सा—स्कन्ध को पीछे की ओर खींचने से, जैसा पूर्व-विकृति में किया गया था, सहज ही में सन्धान किया जा सकता है। किन्तु इस च्युति में पुनः उत्पन्न होने की प्रवृत्ति होती है। इस कारण चिपकने वाले प्लस्तर की एक कवलिका को स्कन्ध पर रखकर उसकी एक पट्टी कुहनी और स्कन्ध के ऊपर होती हुई बाँध दी जाती है। बाहु को वक्ष पर उसी प्रकार स्थिर कर देना चाहिए जैसे अक्षक के भग्न में किया जाता है।

स्कन्ध का सन्धि-विश्लेष—यह दुर्घटना साधारण है। अंस-फलक में अंस-पीठ की गहराई कम होती है। किन्तु प्रगण्डास्थि का शिर, जो स्थालक में रहता है, बड़ा होता है। सन्धि-कोष ढीला और, उसके नीचे का भाग दुर्बल होता है। इस कारण विश्लेष के समय इसी भाग में छिद्र हो जाता है, जिसके द्वारा प्रगण्डास्थि का शिर बाहर निकलकर आगे या पीछे की ओर घूम सकता है।

---

* व्यात्ताननेे हनुं स्विन्नामंगुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च।
प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नामनं हितम्॥
स्रस्तां सङ्गमयेत् स्थानं स्तब्धां स्विन्नां विनामयेत्॥

चरक—चिकित्सा-स्थान, अ० २८

लक्षण—अभिघात लगने से प्रगण्डास्थि का शिर कोष के निचले भाग के द्वारा निकलकर अंस-पीठ के नीचे पहुँच जाता है। यहाँ से वह किसी दूसरी स्थिति में पहुँच सकता है। यह स्थिति अभिघात की दिशा, पेशियों के कर्षण और अभिघात के समय अङ्ग की स्थिति पर निर्भर करती है। प्रायः प्रगण्डास्थि का शिर अंस-पीठ के नीचे से शीघ्र ही हट जाता है, क्योंकि कक्षानुगा धारा की अपेक्षा प्रगण्डास्थि का शिर बहुत चौड़ा है। दोनों आपस में मेल नहीं खाते। इस कारण शिर वहाँ से हटकर अंस-फलक की ग्रीवा पर द्विशिरस्का और काकोष्ठिक पेशियों की कण्डरा और अंस-तुण्ड के नीचे पहुँच जाता है। यह तुण्डाधर विश्लेष[१] कहलाता है। जब शिर उरच्छदा लब्वी के नीचे होकर अक्षकास्थि के नीचे पहुँचता है तो वह अक्षकाधर-विश्लेष[२] कहा जाता है। कभी-कभी शिर पीछे की ओर हटकर अंस-प्रचीरक के नीचे पहुँच जाता है। यह अधोप्रचीरक-विश्लेष[३]

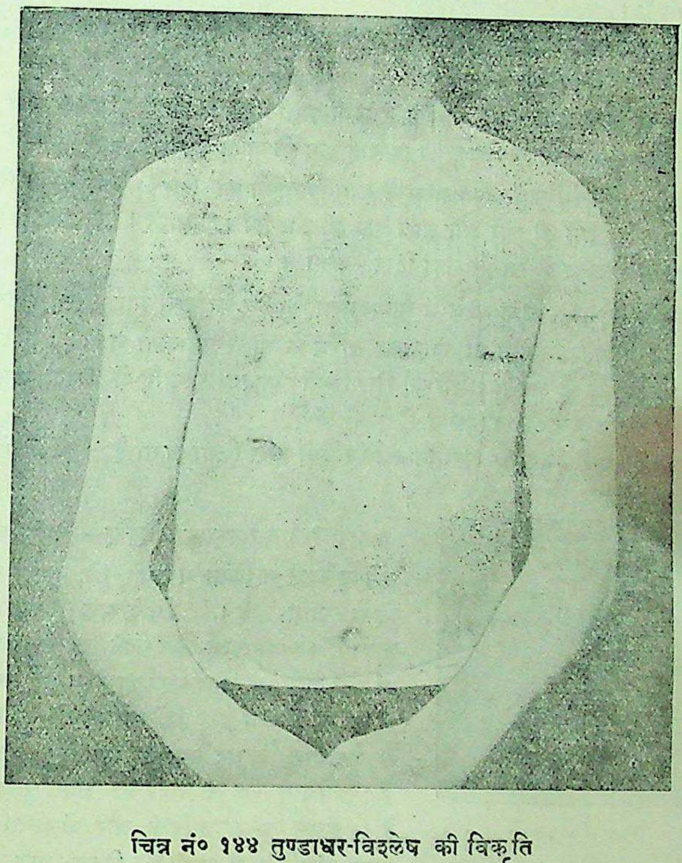

चित्र नं० १४४ तुण्डाधर-विश्लेष की विकृति

---

१. Subcoracoid dislocation. २. Subclavicular dislocation.
३. Subspinous dislocation.

के नाम से पुकारा जाता है। प्रथम विकृति, जहाँ शिर अंस-पीठ के नीचे पहुँच जाता है, पीठाधर-विश्लेष[१] कहलाता है।

इन विकृतियों में लक्षण समान होते हैं। अस्थि के शिर की स्थिति भिन्न-भिन्न विकृतियों में भिन्न होती है। अंस-प्रचीरक चर्म के नीचे उभर आता है किन्तु उसके नीचे का स्थान खोखला दिखाई देता है। स्कन्ध की लम्बाई बढ़ जाती है। अंस-प्रचीरक का अग्र भाग और प्रगण्डास्थि का बाह्यार्बुद दोनों एक रेखा में आ जाते हैं। यदि रोगी से विकृति की ओर की बाहु को पार्श्व पर और कुहनी को वक्ष पर रखकर हाथ से दूसरी ओर के स्कन्ध को छूने को कहा जाय तो वह ऐसा न कर सकेगा।

स्कन्ध में तीव्र पीड़ा होता है। कुहनी वक्ष से बाहर की ओर खिंची रहती है। अन्य की अपेक्षा तुण्डाधर-विश्लेष अधिक होता है। प्रगण्डास्थि का शिर अंस-तुण्ड के नीचे पहुँच जाता है और अस्थि की ग्रीवा अंस-पीठ के ऊपर अटक जाती है, जिससे भग्न तक हो सकता है।

पीठाधर-विश्लेष में अस्थि के शिर को कक्ष में प्रतीत किया जा सकता है। इसमें बाहु अधिक लम्बी दिखाई देती है।

अक्षकाधर-विश्लेष कम होता है। कभी-कभी अस्थि का शिर दूसरी और तीसरी पर्शुका तक पहुँच जाता है। बाहु की लम्बाई कम हो जाती है।

अधोप्रचीरक-विश्लेष असाधारण है। प्रगण्डास्थि का शिर प्रचीरक के नीचे पहुँच जाता है। कूर्पर आगे की ओर और हाथ वक्ष की ओर खिंच जाता है। बाहु भीतर की ओर घूम जाती है। स्कन्ध के सामने गढ़ा दिखाई देता है।

चिकित्सा—सन्धान करने में प्रगण्डास्थि के शिर को उसी मार्ग द्वारा, जिससे वह सन्धि कोष से बाहर निकला था, लौटाकर सन्धि के भीतर पहुँचाना चाहिए। यदि पेशियों का संकोच अधिक हो अथवा अस्थि का शिर किसी बन्धन इत्यादि में अटक गया हो तो रोगी को मूर्च्छित करना आवश्यक है।

इस सन्धि-विश्लेष का सन्धान कई विधियों द्वारा किया जाता है, जिनमें से निम्न-लिखित मुख्य हैं—

चित्र नं० १४५
कोकर की विधि—प्रथम क्रिया

(१) कोकर की विधि—रोगी को, यदि उसे मूर्च्छित न किया गया हो तो, कुर्सी पर बिठा दिया जाता है। चिकित्सक उसके सामने खड़ा होकर एक हाथ से उसकी कलाई और दूसरे हाथ से कूर्पर को पकड़कर वक्ष के पार्श्व पर दबाता है। साथ में अग्र बाहु को आगे की ओर मोड़ता भी है, यहाँ तक कि वह बाहु के समकोण पर आ जाती है। तत्पश्चात् अङ्ग को बाहर की ओर घुमाया जाता है। इससे अंसाच्छादिनी और अंसान्तरिका पेशी प्रथम संकुचित हो जाती हैं। किन्तु बाहु को कुछ

१. Subglenoid dislocation.

समय तक निरन्तर खींचने से वह अन्त में ढीली हो जाती है, जिससे प्रगण्डास्थि का शिर नीचे की ओर सरक जाता है और कभी-कभी स्वयं ही कोष के भीतर चला जाता है।

यदि इस क्रिया से सन्धान न हो तो प्रगण्डास्थि को पहले की भाँति बाहर की ओर घुमाते रहना चाहिये। इससे सन्धि-कोष का छिद्र चौड़ा हो जाता है और अस्थि का शिर उसके सामने पहुँच जाता है। तत्पश्चात् कूर्पर को आगे, ऊपर और भीतर की ओर घुमाना चाहिए।

चित्र नं० १४६
कोकर की विधि—दूसरी क्रिया

चित्र नं० १४७
कोकर की विधि—तीसरी क्रिया

अन्त में बाहु को भीतर की ओर घुमाया जाता है। इसलिए हाथ को दूसरी ओर के कन्धे की ओर खींचा जाता है। इससे प्रगण्डास्थि की ग्रीवा, जो अंस-पीठ पर अटक गई थी, स्वतन्त्र होकर छिद्र द्वारा सन्धि-कोष में चली जाती है।

(२) मिलर की विधि—रोगी की कुर्सी पर पाँव रखकर चिकित्सक अपनी जानु को उसके वक्ष के पार्श्व पर लगा देता है। एक हाथ से वह रोगी की कलाई और दूसरे हाथ से कूर्पर के ऊपर से बाहु को पकड़ कर उसको बिल्कुल सीधा कर देता है। किन्तु अग्रबाहु बाहु के समकोण पर रहती है। सर्जन बाहु को अपनी ओर और सहायक रोगी के शरीर को एक चादर से दूसरी ओर को खींचता है।

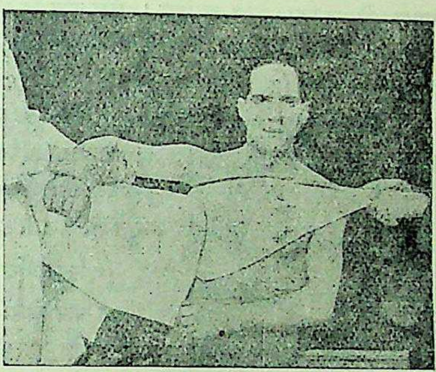

चित्र नं० १४८
मिलर की विधि—पहली क्रिया

तत्पश्चात् अग्रबाहु को नीचे की ओर लाया जाता है, जिससे बाहु भीतर की ओर घूम जाती है। इस क्रिया से अस्थि सन्धि के भीतर चली जाती है।

(३) स्मिथ की विधि—यह बहुत कुछ मिलर की विधि के समान है। किन्तु इस विधि में सामने और पीछे के सन्धि-विश्लेष के लिये रोगी के सामने अथवा पीछे खड़ा होना पड़ता है। जब विश्लेष सामने की ओर होता है तब चिकित्सक रोगी के सामने खड़े होकर अपने एक हाथ को रोगी के कन्धे पर रखता है। उसका अँगूठा प्रगण्डास्थि के शिर पर और अँगुलियाँ पीछे की ओर अंस-फलक पर रहती है। इससे अस्थि अपने स्थान से

नहीं हटने पाती। चिकित्सक दूसरे हाथ से रोगी की कुहनी को पकड़ कर, जिसको पहले ही मोड़ दिया गया है ऊपर की ओर उठाता और बाहर की ओर घुमाता है। यहाँ तक कि बाहु वक्ष के समकोण पर आ जाती है। यहाँ से बाहु को पीछे की ओर से घुमाते हुए नीचे वक्ष की ओर लाया जाता है। इससे शिर कोष के छिद्र पर पहुँचकर उसके भीतर प्रवेश करता है। जब प्रगण्डास्थि का शिर प्रचीरक के नीचे पहुँच जाता है तो चिकित्सक रोगी के पीछे खड़े होकर एक बाहु से स्कन्ध और दूसरी से कुहनी को पकड़ कर बाहर की ओर खींचता है और फिर बाहर की ओर से घुमाकर नीचे की ओर से लाता है।

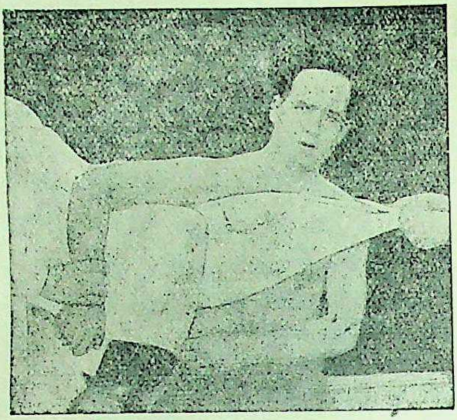

चित्र नं० १४९
मिलर की विधि—दूसरी क्रिया

सन्धान के पश्चात् दस या पन्द्रह मिनट तक सन्धि का उद्वर्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् कक्ष में रूई की कवलिका रखकर, बाहु को बाँधकर, हाथ और अग्रबाहु को गोफण में लटका देना चाहिए। ऐसे कर्म जिनमें बाहु को बाहर की ओर खींचकर काम करना पड़े, कुछ समय तक न करने चाहिएँ। एक मास के पश्चात् रोगी अपनी बाहु से पूरा काम ले सकता है।

कूर्पर-सन्धि का विश्लेष—इस सन्धि का विश्लेष अधिक नहीं होता। आघात लगने से दोनों प्रकोष्ठास्थियाँ—जो सन्धि को बनाने में भाग लेती हैं—आगे, पीछे तथा पार्श्व की ओर स्थानच्युत हो सकती हैं।

पश्चिम-विश्लेष—इस सन्धि का यह विश्लेष अधिक बार होता है। दूरवर्ती तथा सन्धि पर अभिघात लगने से अस्थियाँ अपने स्थानों से हट जाती हैं। जब कोई व्यक्ति खुले हुए हाथ के बल गिरता है तो उससे सन्धि का अति-प्रसार हो जाता है और अस्थियाँ भी बाहर को घूम जाती हैं। इससे सन्धि विश्लिष्ट हो जाती है। पीछे की ओर के आघात से प्रगण्डास्थि आगे की ओर को सरक जाती है। ऐसी दशा में कूर्पर का पीछे की ओर को अत्यधिक उभार दिखाई देता है।

चित्र न० १५०
कूर्पर-सन्धि के पश्चिम विश्लेष में उत्पन्न हुई विकृति

परीक्षा करते समय अस्थियों के अर्बुद और प्रवर्धनों की स्थिति अवश्य देखनी चाहिए। इनसे विश्लेष के स्वरूप को जानने में सहायता मिलती है। इस विश्लेष में उत्पन्न हुई विकृति प्रगण्डास्थि के निम्न भाग

कूर्पर-सन्धि के पश्चिम विश्लेष के भग्न के समान होती है। इस कारण सन्धि-च्युति और भग्न में बहुधा सन्देह हो जाता है। जब चञ्चु-प्रवर्धन टूटकर कूर्पर-खात में अटक जाता है तो विकृति इतनी कम होती है कि सन्धि-च्युति की ओर ध्यान भी नहीं जाता। रोगी को मूर्च्छित करके उसकी परीक्षा करनी चाहिए।

पूर्व विश्लेष—यह विकृति उस समय उत्पन्न होती है जब अग्रबाहु के आगे की ओर मुड़े होने पर कुहनी के पीछे तीव्र आघात लगता है अथवा व्यक्ति कुहनी के बल गिरता है। ऐसी अवस्था में कूर्पर-कूट का भग्न भी अवश्य होता है। यदि कूर्पर-कूट नहीं टूटता तो वह अर्बुदों के नीचे पहुँचकर रुक जाता है। किन्तु त्रिशिरस्का पेशी की कण्डरा के क्षत होने पर वह आगे की ओर चला जाता है। अग्रबाहु की लम्बाई बढ़ जाती है। पीछे की ओर से सन्धि चपटी दिखाई देती है।

पार्श्व-विश्लेष—यह विकृति असाधारण है। यह प्रायः अपूर्ण होती है। प्रकोष्ठास्थियों के ऊपरी भाग के भग्न के साथ यह विश्लेष उत्पन्न हो सकता है। अस्थियाँ बाहर अथवा भीतर को सरक जाती हैं।

चिकित्सा—रोगी को कुर्सी पर बिठाकर सर्जन उसके सामने खड़ा होता है और अपने दोनों हाथों से रोगी की प्रगण्डास्थि और कलाई को पकड़ लेता है। तत्पश्चात् वह अग्रबाहु को आगे की ओर खींचकर सन्धि का जितना भी प्रसार हो सकता है, करता है। इससे पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं। तब वह अपनी जानु को कुहनी के सामने रखकर अग्रबाहु को बाहु की ओर झुकाता है और उसे जानु से बराबर पीछे की ओर को दाबता रहता है। इससे अस्थियाँ अपने स्थान पर ठीक-ठीक बैठ जाती हैं। रोगी को मूर्च्छित करने पर लिटाना पड़ता है। ऐसी दशा में ऊपर कही गई विधियों में कुछ परिवर्तन करके उनको काम में लाया जाता है।

दूसरी विधि में रोगी को कुर्सी पर बिठाकर चिकित्सक अपनी जानु को कूर्पर के सामने रखकर प्रगण्डास्थि के निचले भाग को पीछे की ओर दबाता है और अग्रबाहु को आगे की ओर खींचता और मोड़ता है। इससे सन्धान हो जाता है। सन्धि-च्युति के जीर्ण अथवा संयुक्त होने पर शस्त्रकर्म करना पड़ता है।

अन्तःप्रकोष्ठिका का सन्धि-विश्लेष—यह बहुत असाधारण है और प्रायः प्रगण्डास्थि के अन्तरार्बुद के भग्न के साथ होता है।

चिकित्सा उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार की जाती है।

बहिःप्रकोष्ठास्थि का विश्लेष—इसमें प्रायः अस्थि आगे की ओर हटकर प्रगण्डास्थि के निचले भाग के सामने आ जाती है, जहाँ उसको प्रतीत किया जा सकता है। कूर्पर के पीछे की ओर आघात लगने अथवा हथेली के बल गिरने से यह विकृति उत्पन्न होती है।

चिकित्सा—कूर्पर-सन्धि के सामने की ओर चिकित्सक अपनी जानु को रखकर, रोगी की कलाई को पकड़कर, आगे की ओर खींचता है और अग्रबाहु को सामने की ओर घुमाता है, जब तक कि बाहु समकोण पर नहीं आ जाती। वास्तव में खींचने के पूर्व ही अग्रबाहु को सामने की ओर मोड़ देना चाहिए। इससे विकृति मिट जाती है। किन्तु उसमें पुनः उत्पन्न होने की प्रवृत्ति होती है। इस कारण पर्याप्त समय तक अग्रबाहु को सामने की ओर मोड़कर रखना चाहिए। रोगी को तीन या चार सप्ताह तक सन्धि का प्रयोग करना उचित नहीं।

मणिबन्ध का विश्लेष—यह दुर्घटना असाधारण है और केवल तीव्र अभिघात से उत्पन्न होती है। सन्धि-विश्लेष आगे और पीछे दोनों ओर हो सकता है, यद्यपि पीछे की ओर अधिक होता है।

पीछे की ओर अस्थियाँ उस समय च्युत होती हैं जब मणिबन्ध पर कोई तीव्र अभिघात लगता है। हाथ मणिबन्ध के साथ पीछे की ओर हट जाता है और प्रकोष्ठास्थियों के निचले सिरे आगे की ओर उभर आते हैं। दोनों मणिकों की आपेक्षिक स्थिति पूर्ववत् रहती है। किन्तु इस प्रान्त के भग्न में ऐसा नहीं होता। विश्लेष में अग्रबाहु की लम्बाई कम नहीं होती। किन्तु हथेली छोटी हो जाती है।

आगे की ओर स्थान-च्युति हाथ के वेग से पीछे की ओर मुड़ने पर किसी तीव्र अभिघात के लगने से उत्पन्न होती है। मणिबन्ध-सहित हाथ सामने की ओर भ्रष्ट हो जाता है। छोटी अस्थियाँ सामने की ओर उभरी हुई दिखाई देती हैं।

चिकित्सा—रोगी को कुर्सी पर बिठाकर हाथ को पकड़कर आगे की ओर खींचना चाहिए। इस समय एक सहायक कूर्पर को पीछे की ओर खींचता रहे। इससे हाथ आगे की ओर खिंच जाता है। तब हस्त-व्यापार से अस्थियों को अपने स्थान में बिठा देना चाहिए। तत्पश्चात् कुछ समय तक हाथ को आगे और ऊपर की ओर मोड़कर रखा जाता है। उद्वर्तन और चालन नित्य-प्रति होने चाहिए।

मणिबन्ध-प्रान्त में आठ छोटी-छोटी अस्थियाँ उपस्थित हैं जो आपस में एक दूसरी के साथ और प्रकोष्ठास्थियों तथा करभास्थियों के साथ बन्धनों द्वारा जुड़ी हुई हैं। इस प्रकार इस प्रान्त में बहुत सी सन्धियाँ हैं और उन्हीं के अनुसार बन्धनों की संख्या भी अधिक है। ये सन्धियाँ आगे और पीछे की ओर से सङ्कोचक और प्रसारक पेशियों की कण्डराओं से ढकी हुई हैं।

इन अस्थियों का आघात इत्यादि से सन्धि-विश्लेष हो जाता है, और अस्थियाँ पीछे की ओर चर्म के नीचे प्रतीत होती हैं। हाथ को आगे की ओर झुकाने से उनका उभार बढ़ जाता है, किन्तु पीछे की ओर मोड़ने से उभार कम हो जाता है।

चिकित्सा—जो अस्थि अपने स्थान से हट जावे उसको दबाकर हस्त-व्यापार द्वारा सन्धान सहज में किया जा सकता है। इससे विकृति मिट जाती है। यदि सन्धान के पश्चात् विकृति बार-बार उत्पन्न हो तो शस्त्र-कर्म की आवश्यकता है।

करभास्ति और अंगुल्यस्थियों का भी बहुधा विश्लेष हो जाता है। रोग के सब लक्षण उपस्थित होते हैं। इनकी चिकित्सा सहज है। एक हाथ से अंगुली का प्रसारण और दूसरे हाथ से हस्त-कौशल द्वारा अस्थि को उचित स्थान में बिठाया जा सकता है। यदि आवश्यक हो तो उस पर किसी प्रकार का कुशा लगा देना चाहिए।

वंक्षण-सन्धि का विश्लेष

यह शरीर की सबसे बड़ी और दृढ़ सन्धि है। इसके बन्धन और चारों ओर स्थित पेशियाँ भी अत्यन्त दृढ़ हैं। इस कारण इस सन्धि का विश्लेष कम होता है।

इस दुर्घटना में रोगी की अवस्था चिन्ताजनक होती है। आघात के तीव्र होने से स्तब्धता गाढ़ी होती है। जब सन्धि के बन्धन और कोष खिंचे हुए होते हैं और पेशियाँ भी समुचित दशा में नहीं होतीं तब पाँव अथवा जानु पर चोट लगने से यह विकृति उत्पन्न

होती है। ऐसे समय आघात लगने से बन्धन टूट जाता है। अन्य बन्धन भी क्षत हो सकते हैं। सन्धि-कोष का पिछला और नीचे का भाग भी, जो दुर्बल होता है, टूट जाता है और ऊर्वस्थि का शिर उसमें होकर बाहर निकल आता है। इस स्थान पर वंक्षणोदूखल की गहराई भी कम होती है। इससे अस्थि के बाहर आने में कोई कठिनाई नहीं होती।

यह विकृति दो प्रकार की होती है। एक वह, जिसमें ऊर्वस्थि का शिर पीछे की ओर जघनास्थि के गात्र अथवा उसके पास गृध्रसी-द्वार पर पहुँच जाता है। दूसरी विकृति में ऊर्वस्थि का शिर आगे की ओर गवाक्ष अथवा भगास्थि के ऊपर पहुँचता है। इस प्रकार ऊर्वस्थि का शिर इन चारों स्थानों में पहुँच सकता है, जिनके अनुसार विकृति को जघनोपरि, गृध्रसी, गवाक्ष और भगास्थ्योपरि-विश्लेष कहते हैं।

पश्चिम-विश्लेष[1]

(१) जघनोपरि-विश्लेष—यह विकृति रोगी के किसी ऊँचे स्थान से नितम्ब के बल गिरने अथवा ऐसे समय जब व्यक्ति अपनी ऊरु को आगे की ओर झुकाकर और भीतर की ओर मोड़कर खड़ा हुआ हो, पीठ पर किसी भारी बोझ के गिरने या आघात लगने से, उत्पन्न होती है। ऐसी दशा में आघात से अस्थि सन्धि की ओर दबती है, जिससे उसका दबाव ग्रीवा द्वारा सन्धि के भीतर स्थित शिर पर पहुँचता है। शिर के दबाव से सन्धि-कोष का नीचे और पीछे का भाग, जो दुर्बल होता है, फट जाता है और उसके द्वारा शिर बाहर निकल आता है। कोष का ऊपरी भाग दृढ़ होता है। वहाँ सन्धि के दृढ़ बन्धन और श्रोणि-गवाक्षणी-अन्तःस्था पेशी की कण्डराएँ स्थित हैं। इस कारण कोष का नीचे ही का भाग क्षत होता है, जिसके द्वारा शिर बाहर निकलकर भार के कारण फिसलता हुआ पीछे जघनास्थि के गात्र पर पहुँच जाता है। श्रोणि-गवाक्षणी-अन्तःस्था की कण्डरा ग्रीवा के ऊपर रहती है। शिर का वह पृष्ट, जो सन्धि के भीतर था, नीचे को मुड़ जाता है। और शिखरक आगे आ जाता है। स्वस्तिक[2] बन्धन भी टूट जाता है।

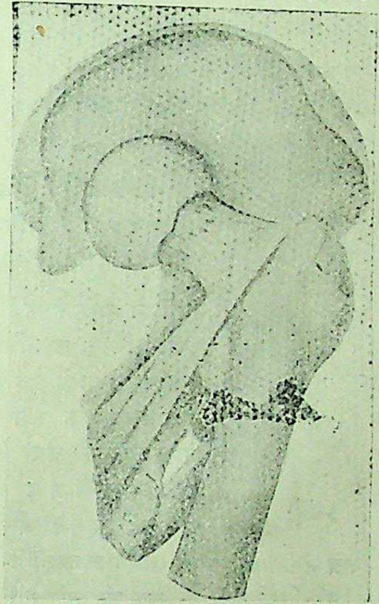

चित्र नं० १५१ जघनोपरि-विश्लेष—श्रोणि-गवाक्षणी-अन्तःस्था की कण्डरा ग्रीवा के ऊपर स्थित है।

रोगी के अङ्ग की स्थिति विशेष प्रकार की होती है। वह दूसरे अंग की ओर खिंच जाता है और कुछ भीतर की ओर भी घूम जाता है। ऊरु प्रान्त की लम्बाई $1\frac{1}{2}$ या २ इंच कम हो जाती है। सारे अंग की लम्बाई घट जाती है। जंघा भी दूसरी जंघा की ओर झुकी रहती है। पाँव का अंगूठा दूसरे पाँव के पृष्ठ पर रह जाता है, अंगूठे तक नहीं

१. Dorsal dislocation. २. Ligmentum Teres.

पहुँचता। नितम्ब के नीचे का गढ़ा जाता रहता है। शिखरक निलेटन रेखा के ऊपर पहुँच जाता है और शोथ के अधिक न होने पर प्रतीत किया जा सकता है।

विकृति को पहिचानने में अधिक कठिनाई नहीं होती। ऊर्वस्थि के शिर की स्थिति, अंग का भीतर की ओर को खिंचा और मुड़ा होना इत्यादि लक्षणों द्वारा बहिर्कोष-भग्न और विश्लेष में अन्तर किया जा सकता है।

(२) गृध्रसी विश्लेष[1]—इस विकृति की उत्पत्ति और अस्थि के सन्धि-कोष से निकलने का मार्ग उपयुक्त विश्लेष ही के समान होता है। अन्तर केवल यह है कि अस्थि का शिर जघनास्थि के गात्र से नीचे गृध्रसी-द्वार ही पर रह जाता है। श्रोणि-गवाक्षणी-अन्तःस्था की कण्डरा शिर के नीचे ग्रीवा पर आकर उसको ऊपर नहीं बढ़ने देती। इस करण अङ्ग की लम्बाई में केवल $\frac{1}{2}$ या १ इंच कम हो जाती है। अङ्ग की स्थिति पूर्व ही के समान होती है।

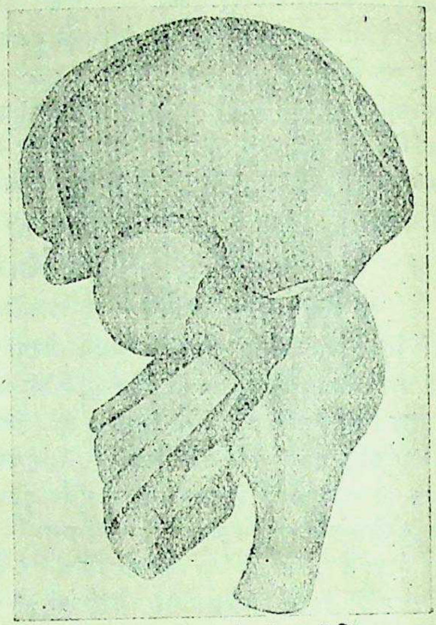

चित्र नं० १५२ गृध्रसी विश्लेष-श्रोणि-गवाक्षणी की कण्डरा ग्रीवा के नीचे स्थित है।

चित्र नं० १५२ जघनोपरि-विश्लेष में अंग की स्थिति

चिकित्सा—इन दोनों विश्लेषों की चिकित्सा समान होती है। रोगी को कमरे के फ़र्श पर, चटाई या गद्दे पर लिटाकर क्लोरोफ़ार्म द्वारा मूर्च्छित कर दिया जाता है। तत्पश्चात् चिकित्सक जंघा को पकड़कर, उसको ऊरु की ओर और ऊरु को उदर की ओर मोड़ता है। कुछ मिनट तक इस स्थिति में रखने पर चिकित्सक अपनी दोनों अग्रबाहुओं को जंघा के नीचे लगाकर उसको बाहर की ओर घुमाता है। साथ में जंघा को इस प्रकार मोड़ता है कि ऊरु-प्रान्त अपने अक्ष पर बाहर की ओर घूमता है। ऐसा करने से जंघा तनिक भीतर की ओर मुड़ जाती है। इस क्रिया से ऊर्वस्थि का शिर सन्धि-कोष के छिद्र पर आ जाता है। सन्धि की पेशियाँ भी ढीली पड़ जाती हैं। इस समय चिकित्सक शीघ्रता से अङ्ग को सामने की ओर लाकर दूसरे अंग के समानान्तर कर देता है। इससे अस्थि का शिर वंक्षणोदूखल में चला जाता है।

---

१. Sciatic dislocation.

पूर्व-विश्लेष

(१) गवाक्ष-विश्लेष—आगे की ओर झुककर टाँगें चौड़ी करके खड़े होने पर पीठ के ऊपर किसी भारी बोझ के गिरने या तीव्र आघात लगने से यह विकृति उत्पन्न होती है। सन्धि-कोष के नीचे और भीतर के भाग में छिद्र हो जाता है जिसके द्वारा अस्थि का शिर बाहर निकलकर नीचे गवाक्ष पर पहुंच जाता है। तत्पश्चात् उसकी स्थिति में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं होता। कदाचित् कुछ आगे और ऊपर की ओर सरक जाता है। नितम्ब में गढ़ा दीखता है। शिखरक पीछे की ओर मुड़ जाता है।

अंग की लम्बाई बढ़ जाती है। वह बाहर की ओर खिंचता है और मुड़ भी जाता है। अंग आगे की ओर झुका हुआ भी रहता है। पाँव की एँड़ी ऊपर और पीछे की ओर उठ जाती है।

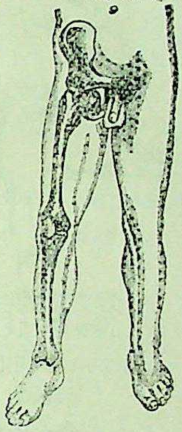

चित्र नं० १५४ गवाक्ष-विश्लेष में अंग की स्थिति

(२) भगास्थ्योपरि-विश्लेष[1]—उपर्युक्त विकृति की अपेक्षा इस च्युति में शिर तनिक और आगे भगास्थि के अनुप्रस्थ भाग पर पहुँच जाता है। अंग को हिलाने पर शिर चर्म के नीचे घूमता हुआ प्रतीत होता है। अंग की लम्बाई में प्रायः कुछ परिवर्त्तन नहीं होता। कभी-कभी उसमें थोड़ी कमी हो जाती है। ऊरु सामने की ओर झुकी हुई दीखती है और बाहर की ओर खिंच और घूम जाती है, जिससे भीतर की ओर का भाग सामने आ जाता है।

चिकित्सा—रोगी को फ़र्श पर लिटा उसे मूर्च्छित कर ऊरु को उदर की ओर और जंघा को उरु की ओर जितना भी हो सके, मोड़ना चाहिए। किन्तु अङ्ग को कुछ बाहर की ओर खींचे रखना उचित है। कुछ मिनट तक ऐसा करने के पश्चात् जंघा को जानु के नीचे से पकड़कर ऊपर की ओर को उठाना चाहिए। इस समय एक सहायक ऊर्वस्थि के शिर को बराबर नीचे की ओर दाबता रहे। तत्पश्चात् अङ्ग को भीतर की ओर घुमाकर दूसरे अङ्ग के समानान्तर कर देना चाहिए। इससे ऊर्वस्थि का शिर वंक्षणोदूखल में चला जायगा।

गवाक्ष-विश्लेष का सन्धान करने के लिए रोगी को मूर्च्छित कर फ़र्श पर लिटा उसके उदर के ऊपर तीन या चार तह की हुई एक चादर डाल दी जाती है। चादर के जो भाग उदर के दोनों ओर बाहर निकले रहते हैं उन पर कोई भारी वस्तु रख दी जाती है अथवा उनके द्वारा खूँटियाँ फर्श में गाड़ दी जाती हैं, जिससे रोगी का शरीर ऊपर न उठने पावे। तत्पश्चात् चिकित्सक जानु के नीचे से जंघा को पकड़कर ऊपर की ओर उठाता है। इससे ऊरु भी उदर की ओर मुड़ जाती है। जब ऊरु उदर के समकोण पर आ जाती है तो चिकित्सक रोगी की जंघा को अपने दोनों ऊरुओं के बीच में दाबकर दोनों बाहुओं को जानु के नीचे डालकर

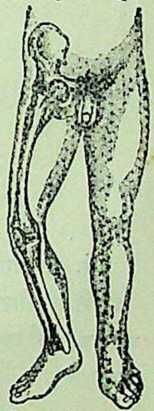

चित्र नं० १५५ भगास्थ्योपरि-विश्लेष में अङ्ग की स्थिति

1. public dislocation.

जंघा को अपनी शक्ति भर ऊपर और बाहर की ओर खींचता है। साथ में ऊरु को बाहर की ओर मोड़े भी रखता है । इस क्रिया में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रोगी का शरीर भूमि से उठने न पावे । यदि इसमें कुछ कठिनाई हो जो जूते को उतारकर चिकित्सक अपने पाँव को रोगी के विटप देश के नीचे लगाकर विश्लेष को मिटाने का प्रयत्न करे ।

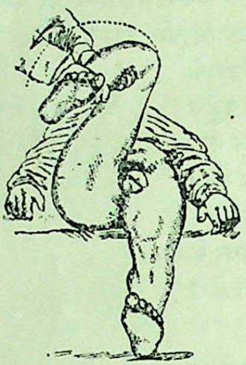

चित्र नं० १५६ पश्चिम-विश्लेष का सन्धान

सन्धान करने के पश्चात् अंग को एक सप्ताह तक स्थिर रखना चाहिए। दूसरी ओर के अंग के साथ सन्धान किये हुए अंग को बाँध देना पर्याप्त है । पाँच दिन के पश्चात् अंग को खोलकर उद्वर्तन और मन्दचालन क्रियाएँ प्रारम्भ कर देनी उचित हैं, जिनको नित्य-प्रति करना चाहिए । तीन सप्ताह के पश्चात् रोगी खड़ा हो सकता है ।

जब यह सब प्रयत्न निष्फल हों तो शस्त्र-कर्म करना आवश्यक है ।

जान्वस्थि का विश्लेष—यह अस्थि अपने स्थान से बहुत कम हटती है । किनारों पर चोट लगने से अस्थि बाहर, भीतर, और कभी-कभी नीचे की ओर भी भ्रष्ट हो जाती है । वह बाहर की ओर प्रायः अधिक हटती है। कभी-कभी ऊरु का कुछ भाग ऊर्वस्थि से मिला रहता है, जिससे विश्लेष पूर्ण नहीं होता । पूर्ण च्युति होने पर अस्थि को सन्धि के बाहर की ओर चर्म के नीचे प्रतीत किया जा सकता है । सामने की ओर से जानु चौड़ी दिखाई देती है ।

चित्र नं० १५७ पूर्व-विश्लेष के सन्धान की विधि

चिकित्सा—ऊरु को उदर की ओर मोड़कर जंघा को बिल्कुल सीधा कर देना चाहिए, जिससे जंघा और ऊरु एक रेखा में आ जावें । इससे चतुरस्रा पेशी ढीली हो जाती है। तत्पश्चात् जान्वस्थि के बाहरी किनारे को भीतर की ओर दबाना चाहिए । इससे वह अपने स्थान पर आ जायगी ।

अस्थि का भीतर की ओर विश्लेष बहुत कम होता है । उसके लक्षण उपर्युक्त विकृति से विपरीत होते हैं । विकृति को मिटाने के लिये भी उससे विपरीत साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। अर्थात् अंग का पूर्ण प्रसार करने के पश्चात् जान्वस्थि के भीतरी किनारे को बाहर की ओर दाबा जाता है ।

जानु-सन्धि का विश्लेष—इस सन्धि का विश्लेष बहुत असाधारण है । इसका कारण प्रायः तीव्र अभिघात होता है ।

पीछे की ओर से अभिघात लगने से जंघास्थि जान्वस्थि सहित आगे की ओर हट जाती है, जिससे उसके ऊपर की ओर एक गढ़ा बन जाता है। इस स्थान पर पीछे की ओर ऊर्वस्थि के अर्बुदों के उभार दिखाई देते हैं, जिनसे कभी-कभी चर्म क्षत हो जाता है अथवा

नाड़ी तथा धमनियों के दबने से निर्जीवांगतत्व उत्पन्न हो जाता है। अंग की लम्बाई कम हो सकती है।

विकृति के सन्धान में अधिक कठिनाई नहीं होती। रोगी को मूर्च्छित करके ऊरु को उदर की ओर झुकाकर जंघा का प्रसार किया जाता है। किन्तु जंघा को सामने की ओर खींचने से अस्थियाँ अपने स्थानों पर आ जाती हैं।

जानु पर सामने की ओर चोट लगने से प्रायः अपूर्ण विश्लेष होते हैं। जब अस्थि बाहर की ओर सरक जाती है तो अन्तरार्बुद भीतर की ओर उठा हुआ दिखाई देता है। अस्थि के भीतर की ओर सरकने से अन्तर्जंघिका के शिर का भीतरी भाग चर्म के नीचे उभर आता है।

चिकित्सा—पूर्व विश्लेष ही के समान होती है। सन्धान के पश्चात् कुछ समय तक अंग को उचित कुशाओं में स्थिर करना आवश्यक है। उद्वर्तन और चालन, जितना शीघ्र हो सके, प्रारम्भ कर देना चाहिए।

गुल्फ-सन्धि का विश्लेष—बहिः और अन्तर्जंघिका के सबसे नीचे के भागों के, जिनको गुल्फ कहते हैं, मिलने से यह सन्धि बनती है। इन दोनों गुल्फों के बीच में कूर्च-शिर का ऊपरी भाग रहता है। आगे और पीछे केवल बन्धन होते हैं। इस प्रकार सन्धि में आगे और पीछे की ओर दुर्बलता आ जाती है। इस कारण विश्लेष प्रायः इन्हीं दिशाओं में होता है, यद्यपि वह भीतर, बाहर और ऊपर की ओर को भी हो सकता है।

सन्धि अधिकतर पीछे की ओर विश्लिष्ट होती है। यह विकृति पाँव के अत्यधिक सामने की ओर मुड़ जाने से, जिससे दोनों ओर के बन्धन टूट जाते हैं, उत्पन्न होती है। इसमें कभी-कभी दोनों गुल्फों की नोंक भी टूट जाती है। पाँव की लम्बाई घट जाती है। दोनों गुल्फ सन्धि के सामने की ओर चर्म के नीचे उभर आते हैं। पीछे की ओर पार्ष्णि बढ़ी हुई दिखाई देती है।

पाँव के नीचे की ओर अधिक मुड़ जाने से सन्धि-विश्लेष सामने की ओर होता है। एँड़ी का उत्सेध अति न्यून रह जाता है। सामने की ओर पाँव की लम्बाई अधिक दिखाई देती है। जंघास्थियों के निचले भाग पीछे पार्ष्णि की ओर हट जाते हैं और कूर्च-शिर आगे चला जाता है।

गुल्फास्थियों के टूटने से पाँव बाहर या भीतर हटा हुआ दिखाई देता है।

जंघास्थियों के निचले सिरों के बीच के बन्धन टूट जाने से विश्लेष ऊपर की ओर होता है। गुल्फ-प्रान्त चौड़ा दिखाई देता है। दोनों गुल्फ नीचे को सरककर पाद-तल के समीप पहुँच जाते हैं। ऐसी अवस्था में कभी-कभी शस्त्र-कर्म करना पड़ता है।

चिकित्सा—बाहर और भीतर की ओर की विकृतियों की, जिनमें गुल्फ भाग टूट जाते हैं, भग्न के समान चिकित्सा होनी चाहिए। अङ्ग पर कुशा का कुछ समय तक प्रयोग करना आवश्यक है।

आगे और पीछे की ओर की विकृतियों को दूर करने के लिए ऊरु और जंघा को, जितना भी उदर की ओर मोड़ा जा सके, मोड़ कर पाँव को नीचे की ओर खींचा जाता है। एक सहायक जंघा को ऊपर की ओर खींचता है। तत्पश्चात् हस्त-कौशल से अस्थियों का सन्धान कर देना चाहिए। उद्वर्तन और चालन का जितना भी जल्दी प्रयोग किया जा सके करना उचित है।

कूर्च-शिर का विश्लेष—यह अस्थि ऊपर की ओर जंघास्थियों और नीचे की ओर पार्ष्णि और नौनिभ से मिली रहती है।

इसका विश्लेष पाँव के अत्यधिक मुड़ जाने अथवा तीव्र अभिघात से होता है। यदि आघात के समय पाँव नीचे की ओर मुड़ा हो तो अस्थि आगे की ओर मुड़ जाती हैं। किन्तु यदि ऊपर की ओर मुड़ा हुआ हो तो वह पीछे की ओर को हटेगी।

सामने की ओर हटने की दशा में कूर्च-शिर आगे बढ़कर तृतीय कोणक और घनास्थि पर पहुँच जाता है। प्रायः इस प्रकार का विश्लेष संयुक्त होता है। अस्थि चर्म का भेदन करके बाहर निकल आती है।

इसका सन्धान गुल्फ-सन्धि के विश्लेष ही की भाँति किया जाता है।

पूर्ण विश्लेषों में, जहां अस्थि दूसरी अस्थियों से पृथक् हो जाती है, शस्त्र-कर्म की आवश्यकता होती है।

कूर्च-शिर के नीचे का विश्लेष—इस विश्लेष में कूर्च-शिर अपने स्थान पर रहता है। किन्तु पार्ष्णि और नौनिभ सारे पाँव सहित नीचे से हट जाते हैं। वह आगे तथा पीछे दोनों ओर हट सकते हैं। जब अस्थियाँ पीछे और भीतर की ओर को हटती हैं तो पार्ष्णि कूर्च-शिर से पूर्णतया पृथक् नहीं होती। किन्तु उसका शिर आगे की अस्थियों से पृथक् होकर घनास्थि के ऊपर पहुँच जाता है। उसको चर्म के नीचे प्रतीत किया जा सकता है। पाँव के अगले भाग की लम्बाई कम हो जाती है और वह भीतर की ओर घूम जाता है। प्रायः भीतर की ओर का चर्म फट जाता है, और नाड़ी तथा रक्त-नलिकाएँ दब जाती हैं। ऐसी अवस्था में अस्थि को काटकर निकालना पड़ता है।

चिकित्सा कूर्च-शिर के विश्लेष के समान होती है।

प्रपादास्थियों का विश्लेष—इनका निर्णय और सन्धान दोनों सहज हैं। किन्तु जब पेशी इत्यादि के कारण सन्धान करने में कठिनता होती है तो शस्त्रकर्म करना पड़ता है।

अंगुल्यस्थियों के विश्लेष में भी निर्णय और चिकित्सा में कठिनाई नहीं होती। प्रपादास्थियों की भाँति इनका सन्धान भी आगे की ओर खींचकर किया जाता है।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

श्वास-नलिका वेधन तथा अंगछेदन

श्वास-नलिका-वेधन[1]—यह कर्म उन दशाओं में करना पड़ता है जब श्वास-मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न हो जाता है । श्वासप्रणाली के ऊपरी भाग में किसी आगन्तुक शल्य के पहुँचने से अवरोधक उत्पन्न हो जाता है । दुर्घटनाओं में गले के दाबने से भी अवरोध हो जाता है। डिफ्थीरिया रोग में, जहाँ गले के भीतर झिल्ली बनकर वायु के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है, श्वास-नलिका-वेधन करना आवश्यक होता है । कभी-कभी मुख के शस्त्र-कर्म में भी, जहाँ पूय के भीतर चले जाने का भय होता है, ग्रसनिका को शुद्ध रूई इत्यादि से भर दिया जाता है। ऐसी दशाओं में वायु के प्रवेश के लिए यह कर्म पहले ही कर देना पड़ता है । जब रोगी को कई दिन तक कृत्रिम मार्ग से श्वास लेना पड़ता है तो श्वास-नलिका-छेदन का कर्म उपयुक्त होता है । किन्तु जब आवश्यकता के कारण वायु-मार्ग का तत्काल आयोजन करना पड़ता है तो स्वर-यन्त्र-छेदन कर्म करना उचित है।

श्वास-नलिका में कार्टिलेज के १६ से २० तक कुण्डल होते हैं, जिनमें से ६ या ७ वक्षास्थि के ऊपर और शेष नीचे रहते हैं । तीसरे और चौथे कुण्डल को अवटुका-ग्रन्थि का संयोजक भाग ढक लेता है। श्वास-नलिका-छेदन इस संयोजक भाग के ऊपर अथवा नीचे किया जाता है । ऊपरवाला कर्म 'उच्चनलिका-छेदन'[2] और नीचे का 'अधःनलिका-छेदन'[3] कहलाता है । जो व्यक्ति अभ्यस्त नहीं हैं उनको उच्चकर्म ही करना उचित है। श्वास-नलिका तथा प्रणालिकाओं में उपस्थित आगन्तुक शल्य को निकालने के लिए अधःकर्म किया जाता है ।

कर्म—कर्म करने से पूर्व ग्रीवा के सामने के भाग को शुद्ध कर देना चाहिए। शुद्धि की विधि रोगी की अवस्था की विषमता के अनुसार भिन्न समयों पर भिन्न होती है। डिफ्थीरिया के समान रोगों में रोगी को पल-पल भारी होता है। इस कारण सर्जन को शस्त्र-कर्म में अत्यन्त शीघ्रता करनी पड़ती है। ऐसी अवस्था में चर्म की शुद्धि के लिए केवल टिंक्चर आयोडीन ही पर भरोसा करना पड़ता है । रोगी को पीठ के बल मेज पर लिटाकर उसकी ग्रीवा के नीचे एक ऊँचा तकिया लगा दिया जाता है। सर्जन का सहायक शिर की ओर खड़ा होकर दोनों हाथों से रोगी के शिर को पीछे की ओर और दोनों अँगूठों से ग्रीवा के पार्श्व के चर्म को नीचे की ओर दबाये रहता है । इससे ग्रीवा की मध्यरेखा, जहाँ सर्जन को छेदन करना है, तन जाती है। तत्पश्चात् रोगी को मूर्च्छित किया जाता है । यदि किसी अर्बुद इत्यादि को निकालने के लिए यह कर्म किया गया है तो रोगी को क्लोरोफ़ार्म सुँघाया जा सकता है । किन्तु

---

१. Tracheotomy. २. High Tracheotomy. ३. Low Tracheotomy.

डिप्थीरिया इत्यादि रोगों में, जहाँ श्वास-कष्ट अधिक होता है, स्थानिक संज्ञाहारी वस्तुओं का प्रयोग करना उत्तम है । नोवोकेन के २% विलयन से उस स्थान के चर्म को संज्ञाहीन कर दिया जाता है ।

यदि ग्रीवा की मध्यरेखा में वक्षास्थि के ऊपर की ओर की अंगुली से प्रतीत किया जाय तो वक्षिका की ऊर्ध्वधारा के पश्चात् जो प्रथम उत्सेध मिलता है वह क्रिकाइड कार्टिलेज है । उसके तनिक ऊपर अवटुका कार्टिलेज की अधःधारा है । इन दोनों रचनाओं के बीच में क्रीकोथाईराईड[1] कला फैली हुई है । शस्त्र-कर्म में क्रीकाइड कार्टिलेज की अधःधारा से नीचे की ओर १½ इंच तक छेदन किया जाता है । शस्त्र-कर्म में इन शस्त्रों की आवश्यकता होती है—वेधसपत्र, चिमटी, धमनी-ग्राहक-संदंश, दो मोटी नोक-वाले हुक और एक तीव्र हुक, श्वास-नलिका[2]-प्रसारक, श्वास-छेदन-नलिका[3], सीने की सूचिकाएँ और कैटगट सिल्कवर्मगट, रेशम इत्यादि ।

शस्त्र-कर्म के समय सर्जन रोगी की ग्रीवा की दाहिनी ओर खड़ा होता है । एक सहायक शिर की ओर खड़ा होकर शिर को मध्यरेखा में पीछे की ओर लटकाये रहता है । दूसरा सहायक सर्जन के दाहिने हाथ की तरफ खड़ा होता है । तत्पश्चात् सर्जन दाहिने हाथ में वेधसपत्र को लेकर क्रीकाइड कार्टिलेज की अधःधारा से १½ इंच नीचे तक ग्रीवा की ठीक मध्यरेखा में चर्म का छेदन करता है । चर्म के पश्चात् प्रावरणी भी भिन्न की जाती है । इससे अवटु-कण्ठिका पेशी स्पष्ट हो जाती है । छेदन के दोनों ओर के चर्म और पेशियों को दूसरा सहायक मोटे हुकों द्वारा इधर-उधर को खींच लेता है, जिससे पेशियों के बीच का स्थान स्पष्ट हो जाता है । इस समय अवटुका का संयोजक भाग दिखाई देगा । यदि यह बहुत ऊंचा हो तो तीव्र हुक से उसको नीचे की ओर खींच लेना चाहिए । तत्पश्चात् वेधसपत्र की नोक से क्रीकाइड कार्टिलेज के नीचे के दो कुण्डल नीचे से ऊपर की ओर को विभाजित किये जाते हैं । कुण्डल में वेधसपत्र को प्रविष्ट करते समय अत्यन्त सावधान रहना चाहिए । वेधसपत्र को लगातार, किन्तु दृढ़ हाथ से, नीचे की ओर दाबा जावे, जिससे कुण्डलों के छिन्न होने के पश्चात् वह श्वास-नलिका के पश्चात् भित्ति में जाकर न लगे । कुण्डलों का विभाजन करते ही रोगी को वेग से खाँसी आती है और कुछ श्लैष्मिक कला तथा श्लेष्मा इस छिद्र में होकर बाहर निकल आते हैं । इस समय सर्जन को अपने मुख और नासिका को किसी वस्त्र से ढके रहना चाहिए, जिससे रोगी के श्लेष्मा की छींटे उसके मुख या नासिका में न पहुँच सकें । तत्पश्चात् श्वास-नलिका-प्रसारक के फलों को इस छिद्र में डालकर उसको चौड़ा कर दिया जाता है । यदि यह प्रसारक न हो तो वेधसपत्र के दस्ते को छेदन में डालकर उसको चौड़ाई की ओर घुमा देना चाहिए । तत्पश्चात् धातु की बनी हुई नलिका को श्वास-प्रणालिका में डालकर उसको ग्रीवा के चारों ओर एक फीते से बाँध दिया जाता है । इस पर शुद्ध गौज़ की २ या ३ तह रख देना पर्याप्त है ।

अधःकर्म भी इसी प्रकार किया जाता है । किन्तु छेदन नीचे की ओर लगभग वक्षकास्थि की ऊर्ध्वधारा तक पहुँच जाता है । इस धारा और छेदन में कम से कम एक अंगुल का अन्तर रहना चाहिए । चर्म के छेदन के पश्चात् उरोऽवटुका और उरोकण्ठिका पेशियों

---

१. Cricothyroid membrane. २. Tracheal dilator

३. Tracheotomy tube.

को पार्श्व में हटा देने से अधोऽवटुका-शिराएँ दिखाई देती हैं । इनको भी हटा देना चाहिए । यदि उनको काटना आवश्यक हो तो प्रथम उनका बन्धन कर देना उचित है । बिना बन्धन के शिराओं को काट देने से बहुत रक्त निकलता है । तत्पश्चात् श्वास-प्रणालिका को स्पष्ट करके उसका, पहिले ही की भाँति, छेदन करना उचित है ।

चित्र में श्वास-छेदन नलिकाएँ, जो छेदन के पश्चात् श्वास-नलिका में डाली जाती हैं, दिखाई गई हैं। यह कई प्रकार की होती हैं। वास्तव में वह दो केन्यूलों की बनी होती हैं जिनमें से एक दूसरे के भीतर रहता है । यह भीतरवाला केन्यूला बाहरी केन्यूला की अपेक्षा अधिक लम्बा होता है। बाहरी केन्युला के आगे की ओर मुड़ी हुई प्लेट लगी रहती है । इसमें प्रायः फ़ीते बाँधने के लिए दोनों ओर हुक होते हैं। समय-समय पर भीतर के केन्यूला को निकालकर उसको स्वच्छ करके

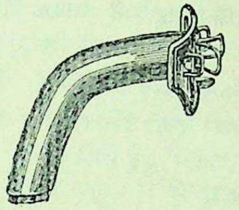

चित्र नं० १५८
पार्कर की नलिका

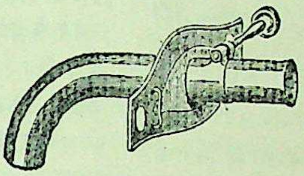

चित्र नं० १५९
डरहम को नलिका

फिर रखा जा सकता है। यह पार्कर की नलिका कहलाती है। दूसरे प्रकार की नलिकाएँ भी चित्र में दिखाई गई हैं । डरहम की नलिका में ग्रीवा के बाहर रहने वाली प्लेट के सामने नलिका आ कुछ भाग निकला रहता है। इस पर एक और छोटी प्लेट लगी होती है जो एक पेंच को घुमाने से आगे अथवा पीछे को हटती है। इससे आवश्यकतानुसार

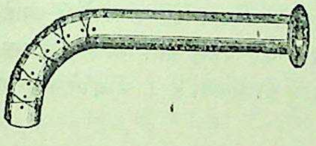

चित्र नं० १६० डरहम-नलिका
के भीतर रहने वाली नली

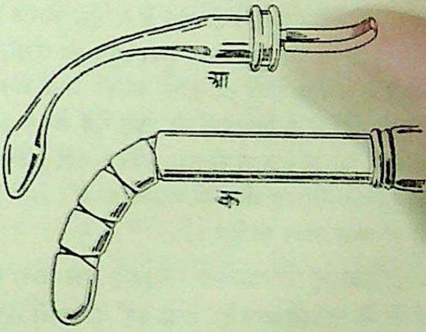

चित्र नं० १६१ क—नलिका आ—नलिका
को प्रविष्ट करने की शलाका

श्वास-नलिका के भीतर रहनेवाले भाग को घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इसके भीतर जो नलिका रहती है उसके पिछले भाग में कई जोड़ होते हैं, जिससे वह सहज में मुड़ जाती है । श्वास-नलिका के भीतर पहुँचकर वह स्वयं ही मुड़ती हुई नीचे और पीछे को चली जाती है। तीसरे प्रकार की नलिका भी चित्र में दिखाई गई है । इसका बाहरी के-

न्युला दो भागों में विभक्त है। श्वास-नलिका में प्रविष्ट करते समय इन दोनों भागों को दाबकर आपस में मिला देते हैं, जिससे आगे का भाग संकुचित हो जाता है। इस कारण उसके प्रवेश में कोई कठिनाई नहीं होती। नलिकाओं को प्रविष्ट करने के लिए भी विशेष प्रकार के शस्त्र बनाये गये हैं। यद्यपि यह शस्त्र-कर्म बहुत कठिन नहीं है तो भी कभी-कभी दुर्घटनाएँ हो जाया करती हैं। प्रायः यह कर्म जल्दी में करना पड़ता है, जिस समय के प्राण संकट में होते हैं। ऐसी दशा में प्रायः चिकित्सक को उचित सहायता नहीं मिलती और कभी-कभी प्रकाश का पूर्ण प्रबन्ध भी नहीं होता। श्वास-प्रणाली को स्पष्ट करने में भी बहुत बार कठिनाई होती है, विशेषकर स्थूलकाय बच्चों में। ऐसी दशा में गले के बिलकुल बीच में भेदन करने का नियम पूर्णतया पालना चाहिए। कर्म के समय प्रायः रक्त-प्रवाह भी अधिक होता है। कुछ समय से श्वास-कष्ट के कारण गले की शिराएँ रक्त से फूली रहती हैं। शस्त्र-कर्म करते समय इनको एक ओर हटा देना अथवा उनका बन्धन कर देना उचित है। यदि अवटुका को कोई सूक्ष्म धमनी जाती हुई मिले तो उसका बन्धन करना भी आवश्यक है।

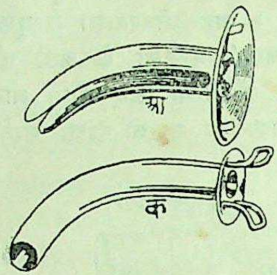

चित्र नं० १६२
अ—दो भागों में विभक्त बाहरी नलिका
क—भीतर रहने वाली नलिका

वेधस पत्र से बहुत सावधानी के साथ छेदन करना चाहिए। छेदन करने से पूर्व तीव्र हुक अथवा दूसरे हाथ की अँगुली और अँगूठे से श्वास-नलिका को स्थिर कर लेना आवश्यक है। बच्चा प्रायः बहुत बेचैन होता है और अपने शिर को हिलाने का उद्योग करता रहता है। इस कारण वेधस-पत्र उचित स्थान से फिसलकर शिरा, धमनी तथा अन्न-प्रणाली को क्षति पहुँचा सकता है। बहुत बार ऐसी दुर्घटनाएँ हो गई हैं, जिनमें ग्रीवा की शिराएँ, धमनियाँ, अन्न-प्रणाली तथा कशेरुक तक क्षत हो गये हैं। इस कारण छेदन के पश्चात् धातु की नलिका को प्रविष्ट कर चुकने के पूर्व हुक तथा दूसरे हाथ की अँगुलियों को हटाना उचित नहीं। यदि छेदन करने के पश्चात् रोगी को खाँसी अधिक आवे और उस कारण नलिका के प्रवेश में कठिनाई हो तो कोकेन के विलयन की कुछ बूँदें छेदन द्वारा श्वास-नलिका में डाल देनी चाहिएँ। रोगियों को क्लोरोफ़ार्म सुँघाना उचित नहीं। उनको श्वास-कष्ट पहले ही होता है। क्लोरोफ़ार्म को सुँघाने से वह और भी बढ़ जाता है। रोगी की मृत्यु हो सकती है। नोवोकेन इत्यादि ही से काम लेना चाहिए।

पश्चात्-चिकित्सा[1]—बृहद् शस्त्र-कर्मों की पश्चात्-चिकित्सा में अत्यन्त सावधान होने की आवश्यकता है। शस्त्र-कर्म की सारी सफलता इसी पर निर्भर है।

श्वास-नलिका-छेदन के पश्चात् जब तक गले से नलिका को न निकाल दिया जावे तब तक रोगी की पूर्ण देख-रेख करना अत्यन्त आवश्यक है। एक परिचारिका सदा रोगी के पास बैठी हुई गले से जो श्लेष्मा धातु की नलिका में आवे उसको निकालती रहे। ऐसा न करने से यह संक्रमित पदार्थ, जिसमें डिफ्थीरिया के जीवाणु उपस्थित हैं, फुस्फुस में पहुँचकर निमोनिया उत्पन्न कर देगा और रोगी की प्राणरक्षा अत्यन्त कठिन होगी। परिचा-

1. After-treatment.

रिका को उचित है कि वह दिन में तीन या चार बार भीतर की नलिका को निकालकर सोडा-बाई-कार्बोनेट के विलयन में धोकर फिर से लगा दे । दिन में एक बार बाहर की नलिका को भी निकालना आवश्यक है । किन्तु यह कर्म स्वयं चिकित्सक को करना चाहिए । नलिका को निकालने के समय गले का छिद्र खुला रहे । कभी-कभी नलिका के भीतरी सिरे पर अथवा श्वास-प्रणालिका में श्लेष्मा एकत्र होकर श्वास-मार्ग का अवरोध कर देता है । अतएव धातु की नलिका के द्वारा एक शुद्ध छोटे पङ्ख अथवा संदंश में गृहीत रुई के प्लोत को भीतर डालकर उससे एकत्रित श्लेष्मा को हटा देना चाहिए ।

जिस स्थान में रोगी रखा जावे वहाँ का वायुमण्डल आर्द्र और तापक्रम अधिक होना चाहिए । ७५° फ़ैरनहीट का तापक्रम उपयुक्त है । रोगी के मुख के पास पानी भरी हुई एक केतली को अँगीठी पर रखकर उसमें यूकलिप्टस, टिंक्चर, बेंज़ोइन इत्यादि वस्तु मिला देनी चाहिए । केतली से जो भाप निकलेगी वह कमरे के वायु-मण्डल को उष्ण और आर्द्र कर देगी और श्वास द्वारा भीतर पहुँचकर लाभ पहुँचायगी ।

धातु की नलिका को, जो शस्त्र-कर्म में प्रविष्ट की गई थी, जितना शीघ्र हो सके निकाल लेना चाहिए । इसके लिए कोई विशेष नियम नहीं बताया जा सकता । वह प्रत्येक रोगी की दशा पर निर्भर करता है । यदि धातु की नलिका के बाहरी छिद्र पर अँगुली रख लेने के पश्चात् रोगी को नाक या मुख से श्वास लेने में कोई कष्ट नहीं होता तो नलिका निकाली जा सकती है ।

धातु की नलिका, जो श्वासनली में प्रविष्ट की जाय, उचित आकार की होनी चाहिए । यदि वह कम मुड़ी हुई है तो उससे श्वास-नली की पश्चात् भित्ति में व्रण उत्पन्न हो जायँगे । किन्तु आगे की ओर अधिक मुड़े होने से वह पूर्व भित्ति में क्षोभ उत्पन्न कर देगी । कुछ रोगियों में वामकाण्डमूला शिरा को क्षत होते देखा गया है । यह क्षोभ श्वास-प्रणालिकाओं और फुफ्फुस में पहुँचकर वहाँ शोथ उत्पन्न कर सकता है । इस कारण जब बहुत समय तक नलिका को गले के भीतर रखना हो तो रबर की नलिकाओं का उपयोग करना चाहिए ।

स्वरयन्त्र-भेदन—यह कर्म केवल अत्यन्त आवश्यकता के समय किया जाता है, जैसे दाँत की प्लेट या अन्य किसी आगन्तुक शल्य के श्वास-प्रणाली में पहुँचने से श्वासावरोध उत्पन्न होने पर । क्रीकाइड और अवटुका कार्टिलेज के बीच की कला में एक अनुप्रस्थ भेदन किया जाता है, जो क्रीकाइड कार्टिलेज की ऊर्ध्व धारा के समानान्तर होता है । इसके द्वारा धातु की नलिका को भीतर प्रविष्ट कर दिया जाता है ।

जब कर्म करने के लिए कुछ भी समय मिल जावे तो श्वास-नलिका-छेदन ही उत्तम है ।

अंगछेदन[1]

कुछ दशाओं में, जिनका नीचे उल्लेख किया गया है, सम्पूर्ण अंग को काट देना पड़ता है । यह अंगछेदन कहा जाता है । कुछ विद्वान् जिह्वा, शिश्न, स्तन, बहिर्कर्ण इत्यादि के काटकर निकाल देने को भी अंगछेदन के नाम से पुकारते हैं ।

अंगछेदन केवल उस दशा में करना चाहिए जब किसी भी प्रकार की चिकित्सा से अंगरक्षा की आशा न रहे । घातक रोगों के अतिरिक्त बहुतसी दशाओं में निर्विष और

1. Amputation.

विषहारी चिकित्सा द्वारा अंग की रक्षा करना सम्भव होता है। यदि व्यक्ति अपने जीवनोपार्जन के लिए शरीरिक परिश्रम पर निर्भर करता है तो अंग को बचाना अत्यन्त आवश्यक है। यदि अंगछेदन न करने से रोगी का जीवन तत्काल संकटमय नहीं होता तो कुछ समय तक अंगछेदन न करके उपयुक्त चिकित्सा के परिणाम को देखना चाहिए। आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली से अंगों की रक्षा करना सम्भव हो गया है। चिकित्सा में निर्विष और विषहारी आयोजनों का पूर्ण उपयोग करना चाहिए। किन्तु जब अंग में कोई घातक रोग होता है, जैसे 'कैंसर' या 'सारकोमा' इत्यादि अर्बुद अथवा व्रण, तो अंग छेदन करना आवश्यक है। अंगछेदन करते समय अंग का केवल उतना ही भाग काटना उचित है, जितना आवश्यक हो। यदि अँगुली की एक पर्विका को काटने से काम चल सकता है तो दूसरी पर्विका को काटना उचित नहीं।

निम्न-लिखित अवस्थाओं में अंगछेदन किया जा सकता है।

(१) घातक अर्बुद—सारकोमा[1] और कैंसर[2]। इन अर्बुदों में अंगछेदन करना आवश्यक है। अर्बुद के ऊपर की ओर, जहाँ की धातुएँ रोगग्रस्त न हुई हों, अंगछेदन करना चाहिए। यह अर्बुद कई भांति के होते हैं। इनके कोषाणु अन्य स्थानों में पहुँचकर गौण अर्बुद उत्पन्न कर देते हैं। इस कारण अर्बुद से ऊपर की सन्धि से तनिक ऊँचाई पर अँगछेदन करना उचित है। इन घातक अर्बुदों की उपस्थिति में अंगछेदन में विलम्ब करना उचित नहीं।

(२) जीर्ण-व्रण—जब जीर्ण व्रणों से अङ्ग की मोटाई का $\frac{1}{3}$ भाग नष्ट हो जाता है तो अंगछेदन करना आवश्यक है। किन्तु ऐसा करने से पूर्व प्रत्येक प्रकार की चिकित्सा द्वारा व्रणारोहण का उद्योग कर लेना चाहिए।

(३) निर्जीवांगत्व या कोथ—इस दशा में प्रायः अंगछेदन करना आवश्यक होता है। निर्जीवांगत्व कई प्रकार के होते हैं। कुछ दशाओं में चिकित्सा का परिणाम देखने का अवसर मिल जाता है। ऐसे रोगियों का अंगछेदन कुछ समय के पश्चात् किया जा सकता है। जब अंग के मांस पर निर्जीवांगत्व की सीमा विवर्ण रेखाओं द्वारा भली भाँति स्पष्ट हो जावे और नीचे का अंग शीतल और स्पन्दन-रहित प्रतीत हो तो अंगछेदन करना आवश्यक है। निर्जीवांगत्व द्वारा उत्पन्न हुए विष, चर्म की अपेक्षा, भीतर के भागों में अधिक दूर तक फैले रहते हैं। इस कारण अंगछेदन के लिए विवर्ण-रेखा से पर्याप्त दूरी पर ऐसे स्थान को चुनना चाहिए, जो पूर्णतया स्वस्थ हो। उस स्थान के तापक्रम, धमनियों में रक्त-प्रवाह और वहाँ की संज्ञा-शक्ति की परीक्षा करके धातुओं की दशा मालूम की जा सकती है।

(४) यदि आघात से अंग का चर्म और मांसपेशी दूर तक अस्थि से पृथक् हो जाती हैं और मुख्य धमनी और नाड़ियाँ भी विक्षत हो जाती हैं तो अङ्गछेदन करना आवश्यक है। ऐसी दशा में क्षत को शुद्ध करना असम्भव है।

(५) संयुक्त भग्नों में भी, जहाँ अङ्ग की पेशियों का बहुत सा भाग, धमनी, शिरा तथा नाड़ियों सहित विदीर्ण हो जाता है, अंगछेदन करना आवश्यक होता है। ऐसी दशा में थोड़े ही समय पश्चात् निर्जीवाङ्गत्व उत्पन्न हो जाता है। अतएव इस दशा के उत्पन्न

१. Sarcoma. २. Cancer.

होने से पूर्व ही, जिसके पश्चात् अन्य बहुत से उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं, अङ्गछेदन कर देना चाहिए।

(६) जीर्णपाक—जीर्ण अस्थि-मज्जाशोथ[1] तथा अस्थि के अन्य ऐसे ही जीर्ण रोगों में जब पास की सन्धियां भी रोगग्रस्त हो जाती हैं, अथवा उनके ग्रस्त होने का भय होता है तो अङ्गछेदन करना उचित है। अस्थि के क्षय रोग में भी प्रायः अङ्गछेदन आवश्यक होता है।

(७) जब किन्हीं रोगों के कारण अंग अकर्मण्य हो जाता है, अथवा उसमें जन्म ही से कोई विकृति होती है, जिससे रोगी को कष्ट पहुँचता है तब अङ्गछेदन करना पड़ता है।

अंगछेदन की विधि

(१) अंगछेदन के पूर्व उचित स्थान को चुन लेना चाहिए। यह स्थान ऐसा हो कि वहाँ की धातु स्वस्थ हो और अंग का बचा हुआ भाग, जिसको 'ठूँठ' कहते हैं, उपयोगी हो। अङ्ग को काटते समय ठूँठ का आकार इस प्रकार का बना देना चाहिए कि उससे रोगी को पीड़ा न होने पावे। और उस पर कृत्रिम अङ्ग भी सहज में लगाया जा सके। इस के लिए शंक्वाकार ठूँठ, जिसका आगे का भाग पतला होता है, उपयुक्त माना जाता है।

(२) अंग को काटते समय ठूँठ के भतरी भागों की अपेक्षा चर्म की लम्बाई अधिक रखनी चाहिए। इस चर्म से कटे हुए भाग को सामने की ओर से ढकना पड़ता है। साथ में यह भी स्मरण रहे कि ठूँठ के दोनों ओर के चर्म की सीवन अंग के सामने की ओर न आने पावे। उसकी ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि वह रगड़ इत्यादि से बची रहे। इस कारण चर्म के दोनों ओर के भागों को प्रायः पीछे अथवा पार्श्व की ओर सीया जाता है। इस प्रकार चर्म क दो प्रालम्ब[2] (चर्म का वह भाग जिससे ठूँठ को ढँक दिया जाता है) बनाये जाते हैं' इनको बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि (१) दोनों प्रालम्बों की लम्बाई समान न हो, (२) उनमें रक्त-सञ्चार उत्तम हो। (३) प्रत्येक प्रालम्ब की चौड़ाई अङ्ग की परिधि के अर्धभाग से कम न हो। दोनों प्रालम्बों की संयुक्त लम्बाई ठूँठ के सिरे के व्यास से ड्योढ़ी हो। प्रालम्बों के साथ प्रावरणी और पेशियों का भी पर्याप्त भाग रहना चाहिए, जिससे अस्थि के कटे हुए सिरे को ढ़का जा सके। इस कारण चर्म के प्रालम्ब बनाते समय पेशियों के भी प्रालम्ब बना देने चाहिएँ। चर्म की अपेक्षा पेशियों की सिकुड़ने की अधिक प्रवृत्ति होती है। इस कारण उनको काटते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे इतने न सिकुड़ जावें कि अस्थि का सिरा खुला रह जावे। पेशी इत्यादि काटने के पश्चात् अस्थ्यावरण पर एक वृत्ताकार भेदन लगाकर उसको भी दो प्रलम्बों में विभाजित कर दिया जावे। भेदन से डेढ़ या दो इंच ऊपर तक अस्थ्यावरण के इन प्रालम्बों को अस्थि से स्वतन्त्र कर देना चाहिए, जिससे अस्थि को काटने के पश्चात् इन प्रालम्बों को अस्थि के सिरे पर सीया जा सके। उससे पेशी ऊपर को खिंचने नहीं पाती और अस्थि सामने की ओर पर्याप्त कोमल धातुओं से ढकी रहती है। इससे पश्चात् पेशी के प्रालम्ब भी कैटगट से सी दिये जाते हैं। उसके ऊपर चर्म के प्रालम्ब सीये जाते हैं। पेशियों को इस प्रकार सी देने से रोगी को पीड़ा और स्तब्धता दोनों कम होती हैं।

---

१. Osteomyelitis. २. Flap.

शस्त्र-कर्म प्रारम्भ करने से पूर्व रक्त-प्रवाह को रोकने का उपाय कर लेना चाहिए। अंग को कुछ समय तक ऊपर की ओर उठाकर दोनों हाथों से नीचे की ओर को बल सहित उद्वर्तन करने से अंग का रक्त शरीर के मध्य भाग में चला जाता है। तत्पश्चात् जिस स्थान पर अंगछेदन करना हो वहाँ से कुछ ऊपर टूर्निके को भली भाँति खींचकर बाँध देना चाहिए। इससे अंग का रक्त-सञ्चालन रुक जाता है। छेदन करने के पश्चात् जो बड़ी धमनियाँ दिखाई दें उनको संदंश से पकड़कर कैटगट से बाँध देना उचित है। तत्पश्चात् टूर्निके को धीरे-धीरे ढीला करना चाहिए। इससे कटी हुई छोटी-छोटी धमनियों से रक्त निकलने लगेगा। उनका भी बन्धन करना आवश्यक है।

प्रालम्ब काटने की विधि

प्रायः तीन प्रकार से प्रालम्ब काटे जाते हैं। किन्तु अधिक विद्वान् प्रथम विधि ही को काम में लाते हैं।

(१) बाहर से भीतर की ओर को काटना—प्रालम्बों को सदा बाहर से भीतर की ओर को काटना चाहिए। भीतर से बाहर की ओर को काटना उचित नहीं। जिस आकार के प्रालम्ब बनाने होते हैं उनको चर्म पर एक भेदन द्वारा अङ्कित कर दिया जाता है। तत्पश्चात् चर्म और प्रावरणी का छेदन करके उनको ऊपर की ओर हटाया जाता है। जितने बड़े प्रालम्ब की आवश्यकता समझी जाती है उतना ही ऊपर को अधिक छेदन किया जाता है। इसके पश्चात् पेशियों का छेदन करके अस्थ्यावरण को भी काटकर उसके प्रालम्ब बना दिये जाते हैं। आवरण की अपेक्षा अस्थि को अधिक ऊँचाई पर काटना चाहिए जिससे अस्थ्यवरण के प्रालम्ब अस्थि के कटे हुए सिरों को ढक लें।

(२) आरपार काटना—इसमें लम्बे वेधसपत्रों की आवश्यकता होती है। जिस स्थान पर अंगछेदन करना होता है, वहाँ अंग के एक ओर वेधसपत्र की नोक को चर्म के भीतर प्रविष्ट कर दिया जाता है। यह स्थान अंग की चौड़ाई के लगभग बीच में होता है। पत्र चर्म के पश्चात् पेशियों में तत्पश्चात् अस्थि के ऊपर होता हुआ दूसरी ओर की पेशी इत्यादि को काटता हुआ अंग के दूसरे पार्श्व के चर्म में होकर बाहर निकल आता है। तत्पश्चात् पत्र को आरे की भाँति चलाकर सामने की सब धातुओं को काट दिया जाता है। दूसरी बार अंग के पीछे की ओर भी ऐसा ही किया जाता है। पत्र से आगे या पीछे के भाग काटते समय उसको तनिक नीचे की ओर मोड़ दिया जाता है। इससे चर्म के प्रालम्ब पेशियों की अपेक्षा लम्बे बनते हैं। इस विधि का अब पुनः त्याग कर दिया गया है।

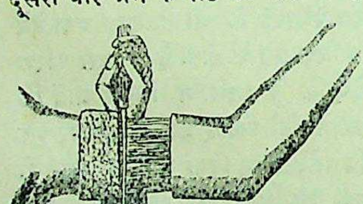

चित्र नं० १६२ वृत्ताकार अङ्गछेदन-चर्म के प्रालम्ब को ऊपर की ओर उलटकर पेशियों का छेदन किया जा रहा है।

(३) व्यवच्छेदन[1]—चर्म और प्रावरणी का छेदन करके चर्म के प्रालम्ब अङ्कित कर दिये जाते हैं। किन्तु इस समय चर्म को नीचे की धातुओं से पृथक् नहीं करते। दूसरे हाथ से अंग के चर्म को ऊपर की ओर खींचते हैं। यह काम एक सहायक से कराया जा सकता है। तत्पश्चात् चर्म के छेदन ही के अनुसार पेशियों का छेदन किया जाता है।

1. Dessection.

इससे पेशियों के प्रालम्ब का आकार चर्म के प्रालम्ब के समान बनता है। किन्तु चर्म के प्रालम्बों की लम्बाई अधिक होती है।

ऊपर प्रालम्ब-विधि का वर्णन किया गया है। अंगछेदन में दो विधियां और भी काम में लाई जाती हैं जिनका नीचे उल्लेख किया जाता है।

(४) वृत्तविधि—एक लम्बे आकार के वेधसपत्र से अंग का चारों ओर से वृत्ताकार रेखा में छेदन किया जाता है। तत्पश्चात् चर्म और प्रावरणी को कुछ दूर तक पेशियों से स्वतन्त्र करके ऊपर की ओर खींच दिया जाता है। पेशियों को भी ऊपर की ओर खींचकर उनका उसी भाँति छेदन करने के पश्चात् अस्थि को स्पष्ट करके जितना ऊँचा हो सकता है, काटा जाता है। पेशियों और चर्म को छोड़ देने पर वे अस्थि से नीचे आ जाते हैं और व्रण का कोण के समान आकार हो जाता है। यह विधि बहुत कम प्रयुक्त होती है। कभी कभी बाहु का अंगछेदन इस प्रकार किया जाता है। प्रत्येक स्तर का छेदन करके उसको ऊपर की ओर खींचकर तब दूसरे स्तर का छेदन करते हैं। पेशियों का स्तर-प्रति-स्तर छेदन होता है।

इस विधि में थोड़ा सा परिवर्तन भी किया गया है। चर्म और प्रावरणी का वृत्ताकार छेदन करके उनको दोनों ओर पार्श्व में काट दिया जाता है, जिससे दो समान लम्बाई के प्रालम्ब बन जाते हैं। इनको ऊपर की ओर हटाकर पूर्व ही की भाँति शेष भागों का छेदन किया जाता है।

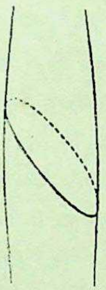

चित्र नं० १६४ तिर्यग् दिशा में वृत्ताकार छेदन।

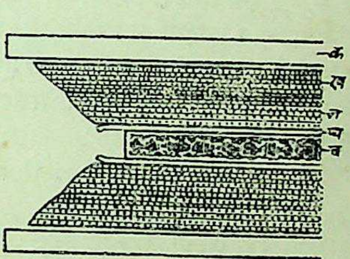

चित्र नं० १६५ वृत्ताकार छेदित अंग का परिच्छेद, क—चर्म, ख—प्रावरणी और पेशी, ग—गम्भीर पेशी, घ—अस्थ्यावरण, च—अस्थि।

(५) तिर्यग् विधि—इस छेदन का आकार टेनिस के रैकेट के समान होता है, जिसका दस्ता अंग में ऊपर और सामने की ओर रहता है। चित्र से इसका आकार स्पष्ट है। चर्म के पश्चात् शेष भागों का पूर्व ही की भाँति छेदन किया जाता है।

अङ्गछेदन बृहत् कर्म है। इस कारण इस कर्म में पूर्ण शुद्धि का आयोजन करना चाहिए। तनिक भी असावधानी से अस्थि तथा सन्धि में संक्रमण पहुँचने के कारण पूयोत्पादन होकर विषम दशा उत्पन्न हो सकती है। इस कर्म में, विशेषतया अंगों

के ऊर्ध्व भागों के छेदन में, गाढ़ स्तब्धता उत्पन्न होती है। अङ्गछेदन जितना शरीर के मध्य भाग के पास होता है उतनी ही स्तब्धता अधिक होती है। अँगुलियों की पर्विका इत्यादि के छेदन में स्तब्धता अधिक नहीं होती। रक्तस्राव से स्तब्धता और भी गाढ़ी हो जाती है। उसको रोकने के लिए ऊपर बताये अनुसार शस्त्रकर्म के पूर्व ही आयोजन कर लेना चाहिए। अङ्गछेदन हो चुकने पर धमनियों को संदंश से पकड़ नीचे की ओर खींचकर कैटगट से बाँध देना चाहिए। धमनी और शिरा दोनों का पृथक्-पृथक् बन्धन करना आवश्यक है।

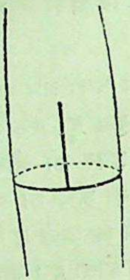

चित्र नं० १६६ परिवर्त्तित वृत्तविधि, जिसमें प्रालम्बों को दोनों ओर से काटकर ऊपर को उलट दिया जाता है।

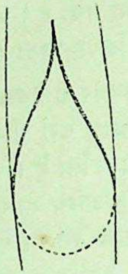

चित्र नं० १६७ तिर्यग् विधि

अङ्गछेदन की सफलता उत्तम प्रालम्बों पर निर्भर करती है। उनको बनाते समय प्रावरणी को सदा चर्म के साथ रखना चाहिए। जिस समय सर्जन पेशी इत्यादि को काटता हो उस समय एक सहायक प्रालम्बों को पकड़े रहे। अस्थि को काटते समय पेशियों को शुद्ध गौज़ से ढक देना चाहिए, जिससे यह अस्थि को काटनेवाली आरी से क्षत न होने पावें। व्रण में उपस्थित नाड़ियों को जितना भी ऊँचा हो सके, काटना उचित है। पेशियों को ठूँठ पर गहरे टाँकों द्वारा सीया जावे। इससे ठूँठ उत्तम बनता है। तत्पश्चात् चर्म को अविच्छिन्न अथवा विच्छिन्न टाँकों से सीया जा सकता है। इस कर्म में निम्न शस्त्रों की आवश्यकता होती है—

(१) वेधसपत्र उचित आकार के।
(२) चिमटी २।
(३) धमनी-संदंश ६ या ८।
(४) अस्थि-संदंश[1]।
(५) अस्थि काटने की आरी[2]।
(६) अस्थ्यावरणोन्नमनी शलाकाएँ[3]।
(७) कैटगट तथा सिल्कवर्मगट।

---

१. Bone forceps. २. Bone saw. ३. Periosteal elevator.

सोलहवाँ परिच्छेद

कोथ या निर्जीवाङ्गत्व[1]

यह रोग प्रायः ऊर्ध्व अथवा अधःशाखा के अंगों में पाया जाता है। शरीर के अन्य भागों में भी यह रोग हो सकता है। आन्तरिक अंग भी इस रोग से ग्रस्त होते देखे गये हैं।

इस रोग में अंग या स्थान की सम्पूर्ण धातुओं की एक साथ मृत्यु होती है। साथ में समीप के बहुत से भाग की शक्ति का भी नाश हो जाता है। यदि केवल कोमल धातु ही आक्रान्त होती है तो मृतक भाग पूतिवस्तु[2] कहलाता है। किन्तु यदि अस्थि का कोई भाग नष्ट हो जाता है तो वह घुणावशेष[3] के नाम से अभिहित किया जाता है।

इस रोग के पाँच विशेष लक्षण हैं, जिनसे स्थान की मृत्यु का ठीक-ठीक पता लगता है। वे निम्न-लिखित हैं—

(१) अङ्ग में धमनी-स्पन्दन की अनुपस्थिति।

(२) अङ्ग का रक्त-सञ्चार की न्यूनता या अनुपस्थिति से शीतल होना।

(३) स्थान की संज्ञा-शक्ति का नाश, यद्यपि रोग के कारण दूरवर्ती स्थानों में पीड़ा मालूम होती रहती है।

(४) अङ्ग की कर्महीनता।

(५) अङ्ग के वर्ण में परिवर्तन, जो रक्त की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति पर निर्भर करता है। रक्त के उपस्थित होने पर अङ्ग का वर्ण नीला अथवा कालिमा-युक्त हो जाता है। किन्तु रक्त-रहित अंग कुछ पीला अथवा मोम के समान श्वेत दिखाई देता है।

कोथ के कई प्रकार हैं। किन्तु विशेषतया दो भाँति के कोथ पाये जाते हैं, जिनको शुष्क और आर्द्र कहते हैं। रोग के दोनों प्रकारों में भी बहुत से भेद हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन आगे किया जायगा।

(१) शुष्क कोथ—यह रोग उस समय होता है जब मृत्यु से पूर्व अङ्ग रक्त-रहित अथवा लगभग रक्त-रहित हो जाता है। इसका कारण प्रायः अङ्ग की धमनियों में किसी प्रकार का रक्तावरोध होता है। धमनी की भित्ती के रोग से भी यही परिणाम होता है अङ्ग शुष्क हो जाता है और चर्म में सिकुड़नें दिखाई देती हैं। चर्म के अक्षत होने के कारण जीवाणु वहाँ की धातुओं में प्रवेश नहीं कर पाते। यदि वह प्रविष्ट हो भी जाते हैं तो भी आर्द्रता की कमी से जीवाणुओं की वृद्धि नहीं होने पाती। कुछ समय के पश्चात् मृतक और स्वस्थ भागों के बीच में रोहण-वस्तु बनने लगती है। दोनों भागों के बीच का प्रान्त स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ पर दोनों भाग एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हो जाते हैं। सम्भव है, पेशी इत्यादि कुछ अधिक दूरी तक स्वस्थ हों। मृतक भाग में ताप तनिक भी नहीं प्रतीत होता। पीड़ा भी प्रायः नहीं होती। यदि होती भी है तो थोड़े ही समय में जाती रहती है। अंग सड़ता नहीं और न रोगग्रस्त अङ्ग से कोई दुर्गन्धि ही निकलती है। प्रायः रोगी के शरीर में और कोई विकार नहीं पाये जाते। इस कारण रोगी का जीवन तत्काल सङ्कट में नहीं होता। यह रोग धीरे-धीरे बढ़ता है।

---

१. Gangrene २. Slough. ३. Sequestrum.

आर्द्र-कोथ—इसका कारण प्रायः जीवाणु-प्रवेश होता है, जिससे अंग में पूयोत्पादन हो जाता है और दुर्गन्धि भी आने लगती है। अंग सूज जाता है। चर्म शोथ-युक्त और आर्द्र दिखाई देता है। उस पर काले रंग के द्रव्य-युक्त विस्फोट बन जाते हैं। उनसे तीव्र दुर्गन्ध निकलती है। अंग का वर्ण गहरा हरा अथवा कुछ काला हो जाता है। यह रोग स्वयं नष्ट नहीं होता। स्वस्थ और रोगग्रस्त भागों के बीच में कोई अवरोधक प्रान्त नहीं बनता। धातुओं में उत्पन्न हुए विषों का निरन्तर शोषण होता रहता है, जिससे रोगी की शारीरिक दशा भी विषम हो जाती है। कभी-कभी रोगी की मृत्यु तक हो जाती है। ऐसी दशा में अङ्ग का तुरन्त छेदन करना आवश्यक है।

शुष्क कोथ के प्रकार

(१) जरा-जन्य कोथ[1]—धमनियों के रोग के कारण अंग में पूर्ण रक्त नहीं पहुँचने पाता, जिससे अंग की शक्ति का बराबर ह्रास होता रहता है। यह रोग वृद्ध व्यक्तियों में अधिक होता है। किन्तु युवावस्था में भी, जिन व्यक्तियों की धमनियाँ फिरङ्ग रोग इत्यादि के कारण कड़ी पड़ जाती हैं उनमें, यह रोग पाया जा सकता है। मदात्यय से भी यही होता है। जिन वृद्ध व्यक्तियों की धमनियाँ स्वस्थ हैं उनमें यह रोग नहीं पाया जाता। यह प्रायः एक ओर के पाँव के अंगूठे या अंगुली में पाया जाता है, यद्यपि दोनों ओर के पाँवों में भी एक ही समय में उपस्थित हो सकता है।

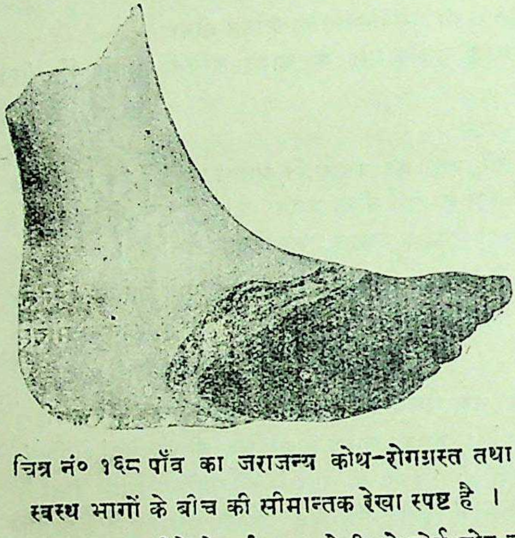

चित्र नं० १६८ पाँव का जराजन्य कोथ-रोगग्रस्त तथा स्वस्थ भागों के बीच की सीमान्तक रेखा स्पष्ट है।

रोग प्रारम्भ होने से पूर्व प्रायः रोगी को कोई चोट लगती है। शरीर की शक्ति पहले ही से क्षीण होती है। ऐसी दशा में तनिक सी भी चोट, फुँसी तथा विस्फोट से यह रोग उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी रोग प्रारम्भ होने के कुछ दिन पूर्व से रोगी को पाँव में ठण्ड, झनझनाहट इत्यादि प्रतीत होने लगती है।

लक्षण—भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में लक्षण भिन्न प्रकार से प्रारम्भ होते हैं। कुछ में अंगूठे के भीतर की ओर काले रंग का एक चिह्न बन जाता है जो धीरे-धीरे बराबर फैलता रहता है। कुछ व्यक्तियों में पाँव के पास एक छोटा व्रण उत्पन्न हो जाता है जिसके चारों ओर का प्रान्त शोथयुक्त होता है। यह चिकित्सा करने से आरोहित नहीं होता। इस स्थान की संज्ञाशक्ति नष्ट हो जाती है और वह ठण्डा और सिकुड़ा हुआ दिखाई देता है। रोग के

१. Senili gangrene.

अन्य सब लक्षण उपस्थित होते हैं। कुछ समय में मृतक भाग पृथक् होना आरम्भ होता है और विवर्ण प्रान्त के द्वारा स्वस्थ भाग से भिन्न हो जाता है। यदि यह क्रिया बहुत धीमी हो तो समझना चाहिए कि स्वस्थ भाग में भी सन्तोषजनक रक्त-सञ्चालन नहीं हो रहा है। जिस समय मृतक भाग पृथक् होने लगता है उस समय व्रण के संक्रमित होने की बहुत सम्भावना रहती है।

चिकित्सा—वृद्ध व्यक्तियों में रोगोत्पत्ति के पूर्व ही उसको रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। वे कभी अपने पाँवों को ठण्ढ न लगने दें और अंग को आघात इत्यादि से बचाये रखें। रोग के प्रारम्भ होने पर स्थान को पूर्णतया शुद्ध करके शोषक रूई और पट्टी से ढक दें। अंग को पूर्णतया शुष्क रखना आवश्यक है। रोगी की साधारण शारीरिक दशा को उन्नत करने का प्रयत्न करना उचित है। उसको लघु भोजन देना चाहिए। जब रोग अंगुलियों और अँगूठे में अथवा उससे ऊपर फैल गया हो तो अङ्गछेदन का प्रश्न उपस्थित होता है। अंगछेदन ऐसे स्थान पर करना चाहिए जहाँ रक्त-सञ्चालन उत्तम हो। मुख्य धमनी की परीक्षा करने के पश्चात् अंगछेदन के लिए उस स्थान को चुनना चाहिए जहाँ रक्त-सञ्चालन में कोई अवरोध प्रतीत न हो। यदि पाँव रोगग्रस्त है तो जानुसन्धि पर अंग को काटना उचित है। किन्तु इस स्थान के धमनी-जालक[1] को नष्ट करना उचित नहीं। जान्विका को पूर्व ओर के प्रालम्ब में सम्मिलित करने से यह जालक नष्ट नहीं होगा। अनुभव से यह पाया गया है कि पाँव के रोग के लिए जानुसन्धि से नीचे किये हुए अङ्गछेदन से कभी सफलता नहीं होती। इस कारण ऊर्वस्थि के अर्बुदों के ऊपर अङ्गछेदन करना उचित है। सम्भव है कि जानु-पृष्ठ पर स्थित धमनी में भी रक्तावरोध हो। इसलिए धमनी को ऊपर से दाबकर अवरोध को नीचे की ओर निकाल देना चाहिए। जिन व्यक्तियों को यह रोग होता है उनकी शारीरिक दशा साधारणतया अत्यन्त क्षीण होती है। इस कारण शस्त्रकर्म में सावधानी की बहुत आवश्यकता है।

(२) रक्तावरोध-जन्य कोथ—रक्तावरोध के अकस्मात् उत्पन्न होने से भी यह रोग हो जाता है। धमनी में कोई रक्त का धक्का या किसी अन्य अङ्ग से कोई इस प्रकार का भाग, जो रक्त-मार्ग को अवरुद्ध कर देता है, रक्त-नलिका में पहुँच जाता है। जहाँ यह भाग स्थित होता है वहाँ तीव्र पीड़ा होती है। उससे आगे की ओर अङ्ग स्पन्दन-रहित, शीतल, संज्ञाहीन और अकर्मण्य हो जाता है। उसका वर्ण साधारणतया पीला दिखाई देता है। प्रायः अङ्ग में शुष्क निर्जीवाङ्गत्व की भाँति पाक प्रारम्भ होता है। किन्तु शिरा भी अवरुद्ध होती है तो उसका रूप आर्द्र निर्जीवाङ्गत्व के समान हो जाता है। निर्जीवांगत्व का विस्तार रक्तावरोध की स्थिति पर निर्भर करता है।

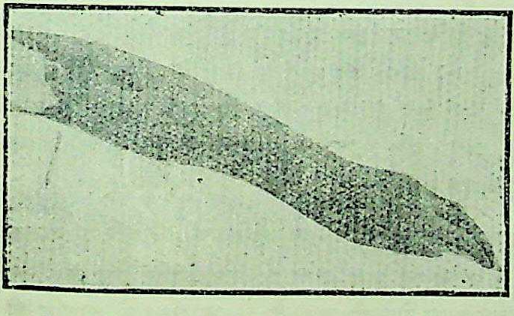

चित्र नं० १६१ हाथ और बाहु का रक्तावरोध-जन्य कोथ

1. Cwastomojis.

चिकित्सा—पूर्वलिखित अनुसार की जाती है। धमनी का छेदन करके रक्तावरोध को हटाना उत्तम है। धमनी को स्पष्ट करके अवरोध के ऊपर और नीचे दोनों ओर बन्धन लगाकर धमनी में एक लम्बा छेदन करके चिमटी से जमे हुए थक्के को निकाल लिया जाता है। कभी-कभी उसकी लम्बाई बहुत होती है। तत्पश्चात् धमनी के क्षत को सी दिया जाता है। यदि अङ्गछेदन की आवश्यकता है, तो उसको पर्याप्त ऊँचाई पर करना चाहिए।

(३) इक्षुमेह-जन्य कोथ—इक्षुमेह के रोगियों में प्रायः धमनियाँ विकृत होती हैं। बहुधा रोग किसी आघात के पश्चात् प्रारम्भ होता है। इस प्रकार के रोग में, प्रायः अङ्ग में शोथ, पीड़ा और रक्तिमा पाई जाती है। जराजन्य की अपेक्षा ताप अधिक समय तक बना रहता है। किन्तु रोगोत्पत्ति के स्थान से कुछ दूरी पर चर्म के भाग निर्जीव होते हैं। बीच का भाग स्वस्थ रहता है, यद्यपि नीचे के पेशी इत्यादि रोगग्रस्त हो सकते हैं। जीवाणुओं के प्रवेश से पाक उत्पन्न होने के कारण रोग का स्वरूप आर्द्र हो जाता है।

चिकित्सा—इक्षुमेह की साधारण चिकित्सा करते रहना चाहिए। प्रायः अङ्गछेदन करना आवश्यक होता है। किन्तु इसके पश्चात् भी रोगी के बचने की आशा कम होती है। प्रायः रोगी इक्षुमेह-जन्य मूर्च्छा[१] से मरता है। कभी-कभी विष-सञ्चार से उसकी मृत्यु हो जाती है। दूसरे अंग का निर्जीवांगत्व भी देखा गया है।

(४) रक्त-नलिकाओं के आक्षेपयुक्त कोथ[२]—इस रोग का कारण रक्त-नलिकाओं का आक्षेप माना जाता है, जो प्रान्तिक नाड़ी-शोथ से उत्पन्न होता है। यह रोग उन युवतियों में अधिक होता है जो पाण्डुरोग अथवा गर्भाशय के किसी रोग से ग्रस्त हो चुकती हैं। वह प्रायः दोनों हाथों या पाँवों की अँगुलियों में एक साथ प्रारम्भ होता है। प्रथम अंगुलियाँ ठण्डी और संज्ञाहीन हो जाती हैं। वह स्पर्शपीड़ा को नहीं प्रतीत करतीं। कुछ समय के पश्चात् वह फिर पुर्ववत् हो जाती हैं। इस प्रकार के समय-समय पर आक्रमण हुआ करते हैं। कुछ समय के पश्चात् रोग के बढ़ने पर दूसरी अवस्था उत्पन्न होती है। अँगुलियों का रक्त-सञ्चालन कम होने से वह विवर्ण हो जाती हैं। उन पर विस्फोट उत्पन्न हो जाते हैं अथवा शुष्क निर्जीवाङ्गत्व प्रारम्भ हो जाता है। जाड़े की ऋतु में इस प्रकार के आक्रमण बहुत होते हैं। यह रोग वर्षों तक चलता रहता है।

चिकित्सा—रोगी की शारीरिक चिकित्सा करना आवश्यक है। गर्भाशय, रक्त तथा नाड़ी-सम्बन्धी जो भी विकार हों उनको दूर करना उचित है। रोगी के पाँव या हाथ को शुष्क वायु अथवा विद्युत्-धारा द्वारा गरम किये हुए उष्ण जल में रखना चाहिए। रोग उत्पन्न होने पर उपर्युक्त चिकित्सा की जाय। यदि अङ्गछेदन का प्रश्न उपस्थित हो तो केवल गलित भाग को काटकर निकाल देना पर्याप्त है।

(५) अर्गट[३] से उत्पन्न हुआ कोथ—यह वस्तु 'क्लैविसेप्स परप्यूरिया' नामक फ़ंगस से निकलती है, जो कुछ अन्न के दानों पर लग जाता है। जो व्यक्ति इस संक्रमित अन्न का प्रयोग करते हैं उनको इस प्रकार का रोग हो जाता है। इस वस्तु को ओषधि की

---

१. Diabetic-coma. २. Gangrene with spasm of blood-vessels.
३. Ergot gangrene.

भाँति बहुत समय तक प्रयोग करने वाले व्यक्तियों में भी यह रोग उत्पन्न हो सकता है। रोग हाथों और पाँवों की अंगुलियों तथा कर्ण के बाहरी भाग और नासिका में प्रारम्भ होता है। आक्रान्त भागों में प्रथम झनझनाहट, संज्ञाहीनता और पीड़ा मालूम होती है। मदात्यय के अभ्यस्त व्यक्तियों में यह रोग अधिक पाया जाता है।

चिकित्सा—साधारण चिकित्सा करने के पश्चात् यदि रोग रुकता हुआ न दीखे तो अवरोधक प्रान्त के बनने पर शस्त्र-कर्म कर देना चाहिए।

अभिघात से भी धातुओं की शक्ति का नाश हो जाता है। धमनियों के बन्धन तथा उनके दब जाने, रासायनिक वस्तुओं, अति ताप तथा शीत और मांसपेशियों इत्यादि के कुचल जाने से यह दशा उत्पन्न हो जाती है।

(६) धमनियों के बन्धन से कोथ—शस्त्र-कर्म में तथा रक्तार्बुद की चिकित्सा के लिए धमनियों का बन्धन करने से कभी-कभी यह दशा उत्पन्न हो जाती है। अधोशाखा में ऐसा अधिक होता है। शुष्क प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है। दूसरे स्थानों में कभी-कभी रक्तार्बुद के शस्त्र-कर्म के पश्चात् अङ्ग कई दिन तक ठण्डा रहता है और उसमें रोग के सब प्रारम्भिक लक्षण दीखने लगते हैं। किन्तु कुछ दिन के पश्चात् जब अन्य नलिकाओं द्वारा रक्तसञ्चालन उत्तम प्रकार से होने लगता है तब यह दशा जाती रहती है।

(७) भार से रक्त-नलिकाओं के दबने के कारण अङ्ग में कोथ उत्पन्न हो सकता है। जिस स्थान पर भार पड़ रहा है उससे नीचे के अङ्ग का भाग निर्जीव हो जाता है। इस भाँति उत्पन्न हुआ रोग आर्द्र प्रकार का होता है। दुर्बल दशाओं में पट्टी को कुछ समय तक कसकर बाँधे रहने, तथा टूर्निके को लगाये रहने से निर्जीवाङ्गत्व होते देखा गया है। कुशाओं के अनुचित उपयोग से भी वह स्थान, जहाँ कुशा का भार पड़ता है, निर्जीव हो सकता है। जहाँ अस्थियों के ऊपर का चर्म, जैसे जंघिकाओं के गुल्फ के ऊपर का चर्म, अथवा कूर्पर प्रान्त का पार्श्व, जो कुशा से रगड़ खाता रहता है वहाँ यह दशा अधिक उत्पन्न होती है। यदि उस स्थान को आनेवाली नाड़ी तथा मस्तिष्क में किसी प्रकार का रोग है तो यह दशा शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती है। दुर्घटनाओं में मांसपेशी इत्यादि के कुचल जाने से रोग तुरन्त उत्पन्न होता है।

चिकित्सा—जिस स्थान पर रोग के लक्षण उत्पन्न हों उसको तथा दुर्घटनाओं इत्यादि से विदीर्ण भागों को पूर्णतया शुद्ध रखना चाहिए, जिससे वहाँ जीवाणु प्रविष्ट न होने पावें। इससे शुष्क प्रकार का निर्जीवाङ्गत्व उत्पन्न होगा। यदि केवल चर्म ही आक्रान्त हो और इसके नीचे की धातु स्वस्थ हो तो व्रण को शुद्ध रखने से वह कुछ समय में भर जायगा। यदि चर्म पर विवर्ण रेखाएँ बन जायँ तो अङ्गछेदन करना आवश्यक है।

(८) ताप, शीत और रासायनिक वस्तुओं से उत्पन्न हुआ कोथ—दाह के पश्चात् बहुधा निर्जीवाङ्गत्व उत्पन्न हो जाता है। ऐसी दशा के व्रण को, जहाँ तक हो सके, पूर्णशुष्क रखना चाहिए। इस से शुष्क निर्जीवांगत्व उत्पन्न होगा। जीवाणुओं के प्रवेश करने पर आर्द्र रोग उत्पन्न होता है। रासायनिक वस्तुओं से भी दाह उत्पन्न होकर निर्जीवांगत्व हो सकता है। जब गलित भाग पृथक होते हैं तब गहरे व्रण बन जाते हैं। कार्बोलिक अम्ल के प्रयोग से निर्जीवांगत्व उत्पन्न होता है। रोगी को किसी भाँति की पीड़ा नहीं होती। अङ्ग प्रथम रक्त-रहित और नरम होता है। किन्तु कुछ समय

के पश्चात् वह काला और शुष्क हो जाता है। गलित भाग अत्यन्त धीरे-धीरे पृथक् होते हैं।

चिकित्सा—ऊपर लिखे सिद्धान्तों के अनुसार करनी चाहिए। दाह की चिकित्सा का वर्णन किया जा चुका है।

जीवाणु-जन्य कोथ—जीवाणुओं के कारण उत्पन्न हुआ निर्जीवांगत्व आर्द्र होता है। इस प्रकार का रोग शीघ्रता से फैलता है। अङ्ग की धातुओं का नाश भी अधिक होता है। रोगी की प्रायः मृत्यु हो जाती है।

इस रोग में कई प्रकार के जीवाणु मिले रहते हैं, जिनमें अवायवीय जीवाणुओं की संख्या अधिक होती है। रोग की लक्षण इन जीवाणुओं ही पर निर्भर करते हैं। कुछ जीवाणु सारे अङ्ग में अत्यन्त शोथ उत्पन्न कर देते हैं। कुछ गैस या वायु अधिक उत्पन्न करते हैं। अन्य जीवाणुओं से अत्यन्त तरुण अधस्त्वक् शोथ और चर्मगत धातुओं का नाश तथा शिराओं इत्यादि में रक्तावरोध उत्पन्न हो जाता है।

इस भाँति के रोग में निम्न-लिखित प्रकार पाये जाते हैं,—

(१) तरुण संक्रामक कोथ[1]—इस प्रकार का रोग प्रायः किसी भयानक दुर्घटना तथा प्रबल अभिघात से उत्पन्न होता है। प्रथम तरुण अधस्त्वक शोथ उत्पन्न होता है। थोड़े ही समय के पश्चात् यह निर्जीवांगत्व में परिवर्तित हो जाता है। रोगी की दशा दुर्बल होने पर इस रोग को कभी-कभी अत्यन्त साधारण आघात से उत्पन्न होते देखा गया है। अभिघात के पश्चात् कुछ ही घंटों में सारा अङ्ग अत्यन्त शोथयुक्त और पीड़ामय हो जाता है। चर्म भी, जो पृथक् चिकना और कुछ पीला दीखता था, कालिमायुक्त अथवा लाल रंग का दिखाई देता है। चर्म के नीचे गैस उत्पन्न होकर भर जाती है और विस्फोट बन जाते हैं। रसवाहनियां चर्म पर लाल-लाल चमकती हुई रज्जु की भाँति दिखाई देती हैं। यह परिवर्तन अंग की धातुओं में इतनी शीघ्रता से होते हैं कि उनको घण्टे-घण्टे के पश्चात् देखा जा सकता है। रोगी को शीत लगता है और ज्वर हो आता है; किन्तु तापक्रम का बढ़ना आवश्यक नहीं है। कभी-कभी उसको सामान्य से भी कम देखा गया है। रोगी की शारीरिक दशा प्रायः क्षीण होती है। नाड़ी दुर्बल और तीव्र चलती है।

चिकित्सा—रोगोत्पत्ति के पूर्व अभिघात के पश्चात् क्षत में से धूल इत्यादि गन्दी वस्तुओं को निकाल कर उसको पूर्णतया शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। अङ्ग का जितना भाग अस्वस्थ दिखाई दे उसको काट कर निकाल देना उचित है। यदि इस प्रकार के रोग के प्रारम्भ होने के लक्षण दिखाई दें तो अंगछेदन तुरन्त करना आवश्यक है। जितना जल्दी कर्म किया जायगा उतना ही रोगी के बचने की अधिक आशा की जा सकती है। अंगछेदन रोगग्रस्त स्थान से पर्याप्त दूरी पर करना चाहिए। शस्त्र-कर्म के समय में भी पूर्ण स्वच्छता का ध्यान रखा जावे। इस बात का विशेष ध्यान रहे कि रुग्ण अंग की कोई भी वस्तु शस्त्र-कर्म के स्थान पर न लगने पावे। एक सहायक शस्त्र-कर्म से नीचे के भाग को तौलिया से भलीभाँति ढककर पकड़े रहे और उसको कटते ही तुरन्त दूर हटा दे। यह रोग इतना प्रबल और वेग से फैलनेवाला होता है और जीवाणुओं से उत्पन्न हुए

१. Acute infective gangrene

विष भी इतने भयानक होते हैं कि एक बलवान व्यक्ति के भी बचने की अधिक आशा नहीं की जा सकती।

(२) घातक शोथ—इस रोग के लक्षण तरुण संक्रामक-कोथ के समान होते हैं। इस कारण दोनों रोगों को पृथक् करना कठिन होता है। यद्यपि दोनों का क्रम अत्यन्त तीव्र है, किन्तु यह रोग प्रायः अंग के चर्म इत्यादि ही में परिमित रहता है। चर्म फूल जाता है और उसका वर्ण कुछ पीला हो जाता है। चर्म पर विस्फोट बन जाते हैं। वहाँ की धातुओं से एक प्रकार की गन्ध निकलने लगती है। इस रोग में गैस बहुत उत्पन्न होती है। जिस कारण चर्म फूला हुआ दिखाई देता है। थोड़े ही समय में सारा अंग फूल जाता है। रोगी को ज्वर अधिक होता है और उन्माद उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी तापक्रम बहुत कम हो जाता है। यह रोग अत्यन्त भयानक होता है। दो या तीन ही दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—उपर्युक्त अनुसार करनी चाहिए।

(३) विषवात-जन्य कोथ—इस रोग का कारण बैसिलस-एरोजिनीज़[1]-कैप्स्यूलेटस जीवाणु होता है जिसके साथ दूसरे अवायवीय जीवाणु भी मिले रहते हैं। पेशियों में गैस भर जाती है, जिससे उनके सूत्र गलने लगते हैं। सारा अङ्ग अत्यन्त शोथयुक्त हो जाता है। उसमें पीड़ा होती है। चर्म पर विस्फोट बन जाते हैं जिनमें गहरे लाल या कुछ काले रङ्ग का द्रव्य भरा रहता है। रोग भयानक शीघ्रता के साथ चारों ओर फैलता है। अंग में जीवाणुओं से विष की इतनी अधिक मात्रा बनती है कि रोगी विष-व्याप्ति से मूर्च्छित सा दिखाई देता है। इस रोग में मृत्यु बहुत होती है।

चिकित्सा—सम्भव है कि प्रारम्भ होने पर रोग को साधारण विषहारी चिकित्सा से रोका जा सके। उसके तनिक भी बढ़ने पर अंगछेदन करना रोगी के प्राणों की रक्षा का एकमात्र उपाय है।

(४) ओष्ठ का कोथ[2]—यह रोग दो से पाँच वर्ष की आयु के बच्चों में अधिक होता है, विशेषकर उस समय, जब वह आन्त्रिक ज्वर अथवा रोमान्तिका[3] या अरुणज्वर[4] से नीरोग होने लगते हैं। यह प्रायः कपोल के भीतर की ओर अथवा मसूढ़े के पास एक व्रण के रूप में आरम्भ होता है। मुँह से दुर्गन्ध आती है और रक्तमिश्रित श्लेष्मा गिरता रहता है। ओष्ठ शोथ-युक्त होते हैं। कपोल के भीतर के व्रण पर गलित भाग लगा रहता है। इसका रंग काला या गहरा मटमैला होता है। चारों ओर की श्लैष्मिक कला में शोथ होता है। कुछ ही घण्टे पश्चात् कपोल पर और इस गलित स्थान के बाहर की ओर एक काला चिह्न दिखाई देता है, जो शीघ्रता के साथ चारों ओर को फैलता है। कुछ ही समय में यह भाग गलकर पृथक् हो जाता है और कपोल में छिद्र बन जाता है। रोग मुख के भीतर फैलता है। अधोहन्वस्थि भी आक्रान्त हो जाती है। दाँत गिरने लगते हैं। रोगी की दशा विषम होती है। उसको ज्वर होता है और नाड़ी दुर्बल और तीव्र चलती है। रोगी के मुख से इतनी तीव्र दुर्गन्धि आती है कि उसके पास बैठना कठिन होता है।

---

१. Bacillus Aerogenes capsulatus. २. Cancrum oris.
३. Maseles. ४. Scarlet fever.

चिकित्सा—रोग का निश्चय कर चुकने पर रोगी को मूर्च्छित करके एक तीव्र वेधस-पत्र या कैंची से सारे गलित तन्तुओं को निकाल देना चाहिए। आक्रान्त स्थान के चारों ओर का उतना भाग काटना उचित है जिससे भलीभाँति रक्त बहने लगे। तत्पश्चात् व्रण पर शुद्ध कार्बोलिक अम्ल लगाना चाहिए। मुख के भीतर जितना भी गलित भाग हो सबको निकाल देना परमावश्यक है। सम्भव है कि हन्विका के भी कुछ भागों का छेदन करना पड़े। तत्पश्चात् पुटेशियम परमैंगनेट या हाइड्रोजन पर-आक्साइड से नित्यप्रति भली-भाँति मुख को स्वच्छ करना उचित है। व्रण को सदा स्वच्छ रखना आवश्यक है।

इस रोग में रोगी की दशा दारुण होती है और उसकी प्राण-रक्षा का अवसर भी कम होता है। मुख से पूतिवस्तु के फुस्फुस में चले जाने से निमोनिया का भय रहता है। इस कारण पूर्ण चिकित्सा में तनिक भी विलम्ब करना उचित नहीं।

(५) शय्या व्रण—इनका पहले वर्णन किया जा चुका है। यह भी एक प्रकार का स्थानिक निर्जीवाङ्गत्व होता है।

क्षतज विसर्प[1]

यह चर्म की रसवाहनियों का रोग है जो स्ट्रिप्टोकोकस-पायोजिनीज़ जीवाणु के कारण उत्पन्न होता है। कभी-कभी यह रोग श्लैष्मिक कला में भी पाया जाता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि इस जीवाणु के अतिरिक्त एक विशिष्ट जीवाणु भी रोगोत्पादन में भाग लेता है।

रोग प्रायः किसी क्षत के पश्चात् उत्पन्न होता है। रोगी की स्वास्थ्यक्षीणता, अस्वच्छ स्थानों में रहना तथा क्षत-संक्रमित होना रोगोत्पत्ति के मुख्य कारण हैं। विषहारी चिकित्सा की प्रथा के पूर्व शस्त्र-कर्म द्वारा उत्पन्न हुए क्षतों में यह रोग बहुत फैलता था, क्योंकि व्रण प्रायः संक्रमित हो जाते थे।

लक्षण—प्रारम्भ में रोगी के शिर में पीड़ा तथा जी मिचलाना इत्यादि मालूम होते हैं। प्रायः चौबीस घण्टे के पश्चात् हलके से शीत के साथ ज्वर हो जाता है। साथ ही चर्म में शोथ के लक्षण दिखाई देते हैं। स्थान लाल और सूजा हुआ दीखता है। शोथ प्रायः व्रण के किनारे से फैलना प्रारम्भ करता है, यद्यपि अक्षत चर्म पर भी रोग उत्पन्न होते देखा गया है। दाबने से स्थान की लाली जाती रहती है। वहाँ पर कड़ापन तथा जलन प्रतीत होती है। जब शिर में चर्म के समान घने भागों में रोग उत्पन्न होता है तो पीड़ा अत्यधिक होती है। यह शोथ तथा चर्म की लालिमा एक स्थान से दूसरे स्थान में फैलते रहते हैं। कुछ समय के पश्चात् चर्म पर स्फोट बन जाते हैं जिनमें सीरम भरा होता है। कभी-कभी उस स्थान के धातुओं की दुर्बलता के कारण वहाँ निर्जीवाङ्गत्व उत्पन्न हो जाता है। ज्वर सदा बना रहता है और कभी-कभी १०४° फै० तक हो जाता है। यदि इससे अधिक बढ़े तो वह अत्यन्त दारुण दशा का सूचक है। अन्त में कुछ समय के पश्चात् रोगी मन्द प्रलाप करने लगता है। इसका कारण जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न हुए विषों का शोषण है।

चिकित्सा—विशेषतया दो बातों के लिए की जाती है—एक रोग को फैलने से रोकने के लिए, और दूसरे आक्रान्त भाग को रोगरहित करने के लिए। आक्रान्त स्थान से एक या डेढ़ इंच बाहर चर्म पर चारों ओर लिनीमेंट आयोडीन की $\frac{1}{2}$ इंच चौड़ी एक रेखा

1· Erysipelas.

खींच दी जाती है। उसका प्रलेप नहीं किया जाता। कुछ विद्वान् चर्म का वेधसपत्र से केवल लेखन कर देते हैं। इन क्रियाओं से वहाँ पर श्वेताणुओं की संख्या बढ़ जाती है और रोग का विस्तार रुक जाता है।

रोगी की पीड़ा कम करने के लिए उपनाह सबसे उत्तम है, जल में अफ़ीम या बेलाडोना मिलाकर उससे उपनाह करना चाहिए। अङ्ग को ऊपर की ओर उठा देने से वहाँ का तनाव कम हो जाता है। चर्म के आक्रान्त भाग पर इक्थ्योल का लेप करने से भी उत्तम परिणाम देखे गये हैं। इस वस्तु का २० से ४० प्रतिशत शक्ति का विलयन प्रयोग किया जाता है। दिन में कई बार लेप करना चाहिए। जब तक ज्वर कम न होने लगे रोगी को बलदायक औषधियों का प्रयोग कराया जाय। यदि कोष्ठबद्धता हो तो उसे दूर करना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो उस स्थान में छेदन किये जा सकते हैं। रोगियों के परिवार में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। यह रोग अत्यन्त सहज में फैल जाता है। इस कारण उपचार करने वाले व्यक्ति सदा रबर के दस्ताने पहिने रहें। जिस कमरे में रोगी रहे उसके दर्वाज़ों पर भी कार्बोलिक विलयन में भीगे हुए वस्त्र टँगे रहें।

सत्रहवां परिच्छेद

मूत्रकृच्छ्र, मूत्रावरोध इत्यादि

कभी-कभी मूत्राशय-सम्बन्धी कुछ ऐसी दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनकी चिकित्सा के लिए रोगी को तुरन्त डाक्टर के पास आना पड़ता है। मूत्रावरोध इनमें विशेष है, जो कई कारणों से उत्पन्न हो सकता है। मूत्राशय के अन्य भी बहुत रोग पाये जाते हैं। यद्यपि चिकित्सक प्रत्येक रोग की पूर्ण चिकित्सा नहीं कर सकता, जैसे अश्मरी इत्यादि, तो भी उसको रोग का निर्णय करके रोगी को उचित सलाह देनी होती है। और जहाँ सम्भव होता है, उसकी तत्काल पीड़ा को दूर करने के लिए आयोजन भी करना पड़ता है।

जब रोगी मूत्राशय-सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा के लिए आवे तो प्रथम उसके रोग का इतिहास पूछना चाहिए। जो अन्य आवश्यक बातें हों उनके सम्बन्ध में भी पूछ-ताछ कर लेना उचित है। तत्पश्चात् रोगी की परीक्षा की जावे। मूत्राशय के मूत्र से भरे होने पर भगसन्धानिका के ऊपर, उदर के नीचे के भाग में, एक गोल या अण्डाकार उत्सेध दिखाई देता है। यह मूत्राशय है जो मूत्र के भरने से फूल गया है। परीक्षा करने से पूर्व, बस्ति में रबर का कैथिटर डालकर मूत्र को निकाल देना चाहिए। इससे रोगी की पीड़ा बहुत कुछ कम हो जावेगी और मूत्र-मार्ग-संकिरण अथवा अश्मरी इत्यादि का बहुत कुछ अनुमान हो सकेगा। सम्भव है कि रबर का कैथिटर भीतर न जा सके। ऐसी दशा में धातु के कैथिटर को प्रविष्ट करना उचित है। पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि से उत्पन्न हुए मूत्रावरोध में साधारण कैथिटर उपयोगी नहीं होते। उसके लिए एक विशेष आकार का कैथिटर प्रयोग करना पड़ता है। यदि मूत्र के साथ पूय निकलती है तो पूय की परीक्षा करना आवश्यक है। यदि मूत्रमार्ग के अग्रिम भाग से पूय आ रही है तो कैथिटर को मूत्राशय में प्रविष्ट करना उचित नहीं। इससे मूत्राशय में संक्रमण पहुँच सकता है।

इस प्रकार पूर्णतया परीक्षा करके रोग की चिकित्सा का उचित आयोजन करना चाहिए। मूत्राशय-सम्बन्धी सामान्य रोगों का नीचे वर्णन किया जाता है।

मूत्रकृच्छ्र[1]—यह उस दशा का नाम है जब मूत्रमार्ग से मूत्र बूँद बूँद करके टपकता रहता है, अथवा थोड़े-थोड़े समय पर मूत्रत्याग होता है। यह रोग दो प्रकार का होता है। बच्चों में जो रोग होता है, उसका कारण मूत्राशय की संकोचक पेशी की शक्ति का अपूर्ण विकास है। साथ में मूत्राशय-सम्बन्धी नाड़ियों में कुछ क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, जिससे मूत्राशय सूत्र को धारण नहीं कर सकता। बच्चों में स्वाभाविकतया ही मूत्र रोकने की शक्ति कम होती है। इस पर जब गुदा में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं अथवा निरुद्ध-प्रकष या इस स्थान में अन्य रोग हो जाते हैं तो इस शक्ति का पूर्ण ह्रास हो जाता है जिससे मूत्र बूँद-बूँद करके प्रत्येक समय टपका करता है।

दूसरे प्रकार का मूत्रकृच्छ्र मूत्राशय के मूत्रमार्ग के छिद्र के प्रसरित हो जाने से उत्पन्न होता है। इस छिद्र के चारों ओर जो सङ्कोचक पेशी रहती है उसके दुर्बल हो जाने से रोगोत्पत्ति होती है। जब मूत्र मार्ग के छिद्र में कोई अर्बुद उत्पन्न हो जाता है या वहीं पर अश्मरी अटक जाती है तो मूत्र धीरे-धीरे बराबर निकलता रहता है।

चिकित्सा—यदि बच्चों में रोग उत्पन्न हो जाय तो रोग के कारण को ढूँढ़ना चाहिए। यदि मणिच्छदा संकुचित[2] है तो उसका प्रसार करना आवश्यक है। गुदा के भीतर उपस्थित अर्बुद तथा कृमियों का नाश करना चाहिए। साथ में रोगी को बलकारक ओषधियों का प्रयोग करवाना उचित है। यदि मूत्रमार्ग में कोई अर्बुद उत्पन्न हो गया है तो उसका छेदन कर देना चाहिए। बच्चे को सोने से पहले तथा रात्रि में उठाकर मूत्रत्याग करने का अभ्यास डलवाना चाहिए। टिंक्चर बेलाडोना का अवस्थानुसार मात्रा में दिन में तीन बार देने से लाभ होता है।

मूत्रावरोध[3]—यह उस दशा का नाम है जब रोगी मूत्रत्याग करने में असमर्थ होता है। मूत्राशय में मूत्र भरता रहता है, जिससे वह विस्तृत होकर अपने स्वाभाविक आकार से कहीं अधिक बढ़ जाता है। जब वह अधिक विस्तृत होता है, तब भगसन्धानिका के ऊपर उसकी सीमा देखी जा सकती है। किन्तु विस्तार के इतने अधिक न होने पर समाघात और स्पर्श से उसकी ऊपरी सीमा मालूम करनी चाहिए। इसके लिए समाघात बहुत विश्वसनीय विधि है।

इस रोग के निम्नलिखित मुख्य कारण होते हैं।

(१) मूत्रमार्ग में किसी स्थान पर अवरोध की उत्पत्ति। यह अवरोध कई स्थानों पर उत्पन्न हो सकता है।

(अ) मूत्राशय की ग्रीवा पर। जहाँ मूत्रमार्ग प्रारम्भ होता है यदि वहाँ अथवा मूत्राशय में किसी दूसरे स्थान पर कोई अर्बुद उत्पन्न हो जाता है तो मूत्रमार्ग रुक जाता है। यदि बस्ति में उत्पन्न हुआ कोई अर्बुद मूत्रमार्ग को बाहर से दबाता है, अथवा मूत्राशय में चोट लगने से रक्त प्रवाह होकर रक्त जम जाता है तो मूत्रमार्ग के अवरोध से मूत्र-प्रवाह बन्द हो जाता है।

---

१. Incontinence of urine. २. Prepuce. ३. Retention of urine.

(क) मूत्रमार्ग के दूसरे भाग में जो, पौरुष-ग्रन्थि के द्वारा निकल कर जाता है, अवरोध उत्पन्न हो सकता है। ग्रन्थि की वृद्धि, अर्बुद, विद्रधि तथा अश्मरी मूत्रमार्ग के इस भाग को दबाकर मूत्र-प्रवाह को रोक देते हैं।

(चँ) इसी प्रकार मूत्रमार्ग के तीसरे कलाकृत भाग में विद्रधि तथा सङ्किरण के उत्पन्न होने से मूत्र-प्रवाह रुक जाता है।

(प) मूत्रमार्ग में किसी स्थान पर अश्मरी के अटकने से भी मूत्र का निकलना रुक जाता है।

(ब) मूत्रमार्ग के बहिःछिद्र के भीतर की ओर स्थित कठिन व्रण से भी मूत्रावरोध उत्पन्न हो सकता है।

(२) नाड़ी-सम्बन्धी विकारों से भी मूत्रावरोध उत्पन्न हो जाता है। जब किसी कारण से मूत्रमार्ग की सङ्कोचक पेशी उत्तेजित और प्रसारक पेशी दुर्बल हो जाती है तो मूत्राशय का द्वार इतना संकुचित होता है कि उससे मूत्र बाहर नहीं निकल सकता। यह दशा केवल मानसिक रोगों अथवा अवस्थाओं में उत्पन्न होती है। जिनको अभ्यास नहीं है वह दूसरे व्यक्ति के सामने मूत्रत्याग नहीं कर सकते। जननेन्द्रियों पर के शास्त्रकर्मों के पश्चात् प्रायः मूत्रावरोध उत्पन्न हो जाता है। नाड़ीमण्डल के कुछ रोगों में भी ऐसा ही होता है।

(३) मूत्रमार्ग के शोथ के कारण, जैसा पूयमेह में होता है, मूत्रत्याग नहीं हो पाता।

(४) कभी-कभी मूत्रत्याग की इच्छा को मारने और उसी दशा में कुछ समय तक बैठे रहने से भी मूत्र-प्रवाह रुक जाता है। दफ्तरों या स्कूलों में जब मूत्र-त्याग का अवसर नहीं मिलता और बहुत समय तक बैठे रहना पड़ता है तो ऐसी दशा उत्पन्न हो जाती है।

मूत्रावरोध दो प्रकार से उत्पन्न होता है। (१) तरुण-अवरोध—जो थोड़े ही समय में अथवा तत्काल उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण प्रायः शोथ होता है। (२) जीर्ण-अवरोध—जो धीरे-धीरे उत्पन्न होता है। यह प्रायः सङ्किरण का फल होता है। पूयमेह[२] में उत्पन्न हुए मूत्रमार्ग में स्थित व्रणों के आरोहण से वहाँ पर जो सौत्रिक धातु बनती है, वह कुछ समय में संकुचित हो जाती है, इससे मूत्रमार्ग में संकीर्णता उत्पन्न होकर मूत्र के प्रवाह में बाधा डालती है। इसको संकिरण कहते हैं।

इस कारण रोगी से पूछ लेना चाहिए कि मूत्र का निकलना अकस्मात् बन्द हुआ अथवा धीरे-धीरे। मूत्र की धार क्रमशः पतली हुई अथवा मत्र रुक-रुककर आने लगा। पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि में रोगी को बार-बार मूत्र आता है। विशेषकर, रात्रि के समय अधिक आता है। मूत्र के साथ पूय का आना मूत्रमार्ग के शोथ का सूचक है। यदि पूय पतली है और बहुत दिनों से आ रही है तो जीर्णशोथ समझना चाहिए। ऐसी दशाओं में पूयमेह, उपदंश, फिरङ्गरोग इत्यादि का इतिहास जानना बहुत आवश्यक है।

उदर की परीक्षा करने से मूत्राशय का आकार मालूम हो जायगा। यदि वह बहुत विस्तृत हो (कभी-कभी वह नाभि तक विस्तृत हो जाता है) तो दीर्घकालिक अवरोध समझना चाहिए। इसमें पीड़ा कम अथवा नहीं होती। तरुण अवरोध में तीव्र पीड़ा

---

१. Stricture. २. Gonorrhea.

होती है। ऐसी दशा में मूत्राशय भी अधिक विस्तृत नहीं होता, क्योंकि रोगी चिकित्सा के लिए बाध्य हो जाता है।

कभी-कभी मूत्रमार्ग के द्वार पर रक्त की कुछ बूँदें दिखाई देती हैं। यह प्रायः मूत्र-मार्ग के किसी प्रकार क्षत हो जाने से आती हैं। पौरुष-ग्रन्थि से भी रक्त आ सकता है। यदि अवरोध सङ्किरण के कारण है तो उसकी स्थिति जानना भी बहुत आवश्यक है। शिश्न को एक भाग से पकड़कर आगे की ओर खींचकर दूसरे हाथ के अँगूठे और अँगुली के बीच में शिश्न को दाबकर प्रतीत करना चाहिए। जिस स्थान पर सङ्किरण स्थित है वह अँगुलियों को कड़ा प्रतीत होगा। यदि इस प्रकार सङ्किरण की स्थिति का पता न लगे तो रबर के कैथिटर का प्रयोग करना चाहिए। धातु का कैथिटर अन्त के लिए छोड़ दिया जाय।

पौरुष-ग्रन्थि को प्रतीत करना भी आवश्यक है। गुदामार्ग में दो अँगुलियाँ डालकर उनको ऊपर की ओर दबाने से जीर्णशोथ में ग्रन्थि बढ़ी हुई प्रतीत होती है। यदि वहाँ कई ग्रन्थियाँ प्रतीत हों अथवा ग्रन्थि क्रमहीन प्रतीत हो तो पौरुष-ग्रन्थि का कैंसर समझना चाहिए। किन्तु यदि पूय सञ्चार के लक्षण मालूम हों तो विद्रधि का सन्देह किया जा सकता है।

चिकित्सा—कारण के अनुसार चिकित्सा का आयोजन करना चाहिए। यदि मूत्रमार्ग में तरुणशोथ है तो, जहाँ तक हो सके, शस्त्रों को बस्ति में प्रविष्ट न किया जावे। शस्त्रों द्वारा संक्रमण के मूत्रमार्ग से मूत्राशय में पहुँचने का भय रहता है। रोगी को उष्ण जल से स्नान तथा उष्ण जल से भरे हुए टब से जिसमें जल रोगी की कटि तक रहे, आधे घंटे तक बैठाना चाहिए। इस प्रयोग से सम्भव है रोगी को मूत्रत्याग हो जावे। कभी-कभी केवल बस्ति-कर्म[1] से मूत्रत्याग हो जाता है। आधा या एक औंस उष्ण ग्लिसरिन को मूत्रमार्ग द्वारा भीतर प्रविष्ट करने से भी मूत्रत्याग होते देखा गया है। इस कारण मूत्राशय में कैथिटर[2] प्रविष्ट करने के पूर्व इन प्रयोगों को कर लेना चाहिए।

पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि से उत्पन्न हुए अवरोध में साधारण कैथिटर से काम नहीं चलता। ग्रन्थि-वृद्धि के कारण मूत्रमार्ग विकृत होकर टेढ़ा हो जाता है। उसमें एक या दो स्थानों पर मोड़ उत्पन्न हो जाते हैं। उसकी लम्बाई भी अधिक हो जाती है। इस कारण ऐसी दशाओं में प्रयोग करने के लिए विशेष आकार के कैथिटर बनाये जाते हैं। एक मोड़वाला कैथिटर 'कूडे[3]' और दो मोड़वाला 'बाई-कुडे[4]' कहलाता है। शिश्न के अग्रभाग और इस कैथिटर को शुद्ध करके और उस पर शुद्ध ग्लिसरिन लगाकर उसका मूत्रमार्ग में प्रविष्ट किया जाता है। प्रविष्ट करते समय उसको इधर-उधर घुमाते और आगे की ओर को चलाते जाते हैं, यहाँ तक कि उससे मूत्र निकलने लगता है। एक बार में मूत्राशय से लगभग २० औंस के मूत्र निकाल देना चाहिए।

सङ्किरण से उत्पन्न हुए अवरोध में साधारण कैथिटर का प्रयोग किया जाता है। किन्तु प्रथम बार सबसे बड़े आकार के कैथिटर नं० १२ को, शुद्ध करके और ग्लिसरिन लगाकर शिश्न के अग्रभाग को स्वच्छकर मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करना चाहिए। इतने बड़े

---

१. Enema. २. Catheter. ३. Coude. ४. Bicoude.

आकार के कैथिटर का सङ्किरण में होकर मूत्राशय में पहुँचना असम्भव है। किन्तु तो भी उसी को प्रथम बार मूत्रमार्ग में डाला जाता है। छोटे आकार के कैथिटर को प्रविष्ट करने से मूत्रमार्ग-सङ्कोचक पेशी संकुचित हो जाती है। बड़े कैथिटर से ऐसा नहीं होता। इस कैथिटर को सङ्किरण तक पहुँचाकर उसको कुछ समय तक घुमाते रहना चाहिए। तत्पश्चात् उसको निकाल कर उससे छोटा कैथिटर डालना उचित है। यदि यह भी सङ्किरण ही पर रुक जावे तो इससे भी छोटे कैथिटर को डालना चाहिए। इस प्रकार कोई न कोई कैथिटर सङ्किरण में होकर मूत्राशय में पहुँच जायगा। यदि कैथिटर बहुत छोटे आकार का हो तो उसको मूत्राशय में प्रविष्ट करके बारह घंटे तक छोड़ देना चाहिए। इससे मूत्र धीरे धीरे निकलता रहेगा और संकिरण भी कुछ प्रसरित होगा। इसको निकालने के पश्चात् प्रायः इससे बड़े आकार का कैथिटर प्रविष्ट किया जा सकता है। कैथिटर को प्रविष्ट करते समय बल का प्रयोग करना उचित नहीं। इससे सङ्किरण में छिद्र होकर कैथिटर मूत्रमार्ग को छोड़कर उस स्थान की धातुओं में घुस जाता है और इस प्रकार 'असत्य'[1] मार्ग बन जाते हैं जिनसे चिकित्सा में बड़ी कठिनता होती है।

बच्चों में प्रायः अश्मरी के अटक जाने से मूत्रावरोध उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी उनको केवल पेट के बल लिटा देने अथवा हाथों और घुटनों के बल आगे की ओर झुकाकर बिठा देने से अश्मरी अपने स्थान से हट जाती है जिससे तुरन्त मूत्रत्याग हो जाता है। कभी-कभी अश्मरी मूत्रमार्ग के अग्रिम भाग पर आकर रुक जाती है। यदि ऐसा हो तो उसको अश्मरी-संदंश से पकड़कर खींच लेना चाहिए। यदि वह मूत्रमार्ग में पीछे की ओर स्थित हो तो धातु के कैथिटर या सङ्किरण शलाका[2] से उसको पीछे की ओर मूत्राशय में ठेल देना उचित है, जिससे मूत्रमार्ग के तुरन्त खुल जाने से मूत्रत्याग हो जावेगा।

कैथिटर और उनका प्रयोग—इनका आकार लम्बी नली के समान होता है जिसका आगे का भाग मुड़ा होता है। उनके अगले सिरे पर पार्श्व की ओर एक लम्बा छिद्र होता है जो कैथिटर का नेत्र[3] कहलाता है। इसमें होकर मूत्र कैथिटर में प्रवेश करता है। इससे आगे का भाग ठोस होता है जिससे उसमें मूत्र नहीं रहने पाता।

ये कैथिटर तीन प्रकार के होते हैं। रबर के कैथिटर सब से कोमल होते हैं दूसरे प्रकार के कैथिटर रबर के कैथिटरों से कड़े किन्तु धातु के कैथिटरों से नरम होते हैं। इनको जैसा चाहें मोड़ सकते हैं और जबतक उनको दूसरी ओर को न मोड़ा जावे अथवा सीधा किया जावे तब तक वह उसी दशा में रहते हैं। मूत्रमार्ग के भीतर यह स्वयं ही

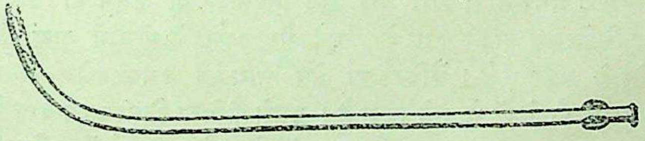

चित्र नं० १७० मूत्र-शलाका—कैथिटर।

मुड़ते हुए चले जाते हैं। इनके प्रयोग के समय भी बल लगाना उचित नहीं। इनसे भी असत्यमार्ग बन सकते हैं। इनको 'गम-ईलास्टिक-कैथिटर' कहते हैं। यह और रबर के कैथिटर प्रायः नं० १२ तक के आते हैं। बारह नम्बर सबसे मोटा होता है।

१. False-Passage. २. Sounds or dougies. ३. Eye.

धातु के कैथिटर प्रायः निकल अथवा चाँदी के बनाये जाते हैं। चाँदी की अपेक्षा निकल के कैथिटरों की आभा शीघ्र नष्ट हो जाती है। यह कैथिटर आगे की ओर से मुड़े होते हैं। यह भाग अत्यन्त स्वच्छ और चिकना होना चाहिए। उसके खुरदरे होने से मूत्रमार्ग की श्लैष्मिक कला, जो अत्यन्त कोमल होती है, छिल जाती है जिससे तरुण शोथ उत्पन्न हो सकता है।

कैथिटर द्वारा मूत्र निकालने के लिए सब से प्रथम रबर के कैथिटर का प्रयोग करना चाहिए। इनसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता। उनसे श्लैष्मिक कला के छिलने या असत्य मार्गों के बनने का कोई अवसर नहीं होता। जब इनसे सफलता न हो तो गम-ईलास्टिक-कैथिटर को काम में लाना चाहिए। धातु के कैथिटरों का अन्त में प्रयाग करना उचित है। नवशिक्षितों को इनका उपयोग करना उचित नहीं। इनके अनुचित उपयोग से बहुत बार असत्य मार्ग उत्पन्न हो जाते हैं।

कैथिटरों की शुद्धि—प्रयोग करने से पूर्व कैथिटरों को पूर्णतया शुद्ध करना चाहिए। यदि उनके द्वारा मूत्राशय में, जहाँ पूर्व ही शोथ उपस्थित है, तनिक भी संक्रमण पहुँच गया तो भयङ्कर दशा उत्पन्न हो सकती है।

रबर और धातु के कैथिटर अन्य शस्त्रों की भाँति जल में उबालकर शुद्ध किये जा सकते हैं। उनको १० मिनट तक उबालना पर्याप्त है।

गम-ईलास्टिक-कैथिटरों को फ़ारमेलिन के द्वारा शुद्ध किया जाता है। इसके लिए एक विशेष आकार का पात्र आता है जिसमें दो खण्ड होते हैं। ऊपर के खण्ड में कैथिटर रखे जाते हैं। निचले खण्ड में फ़ारमेलिन की टिकियाँ या तरल फ़ारमेलिन रहती है। पात्र के नीचे स्पिरिट-लम्प रहता है। फ़ारमेलिन से जो वाष्प उत्पन्न होते हैं वह कैथिटरों का पूर्ण विसंक्रामण कर देते हैं।

संकिरण शलाका तथा कैथिटर को मूत्राशय में प्रविष्ट करना—रबर के कैथिटर को प्रविष्ट करने में किसी विशेष कौशल की आवश्यकता नहीं होती। रोगी को पीठ के बल लिटाकर उसके ऊरु और उदर के प्रान्त को शुद्ध तौलियों से ढक दिया जाता है। चिकित्सक हाथों को शुद्धकर रोगी के दाहिने ओर खड़े हो शिश्न के अग्रभाग को खोलकर अपने दाहिने हाथ से विसंक्रामक विलयन में भीगे हुए प्लोत द्वारा उसको स्वच्छ करता है। समस्त मणि और विशेषकर मूत्रमार्ग के छिद्र को भलीभाँति स्वच्छ किया जाता है। कुछ लोग मूत्रमार्ग में सिरिञ्ज द्वारा थोड़ी शुद्ध ग्लिसरिन या जैतून का तेल छोड़ देते हैं। तत्पश्चात् चिकित्सक दाहने हाथ के अँगूठे और तर्जनी के बीच में शुद्ध कैथिटर को ऊपर की ओर से पकड़ता है। कैथिटर का शेष भाग भी उसकी हथेली में रहता है। जिसको वह दूसरी अँगुलियों से दाबे रहता है। इससे कैथिटर किसी अन्य वस्तु के सम्पर्क में नहीं आने पाता। इस प्रकार वह कैथिटर की नोक को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करता है और उसको धीरे-धीरे नीचे की ओर को दबाता और साथ में इधर-उधर को घुमाता जाता है। इस प्रकार कैथिटर आगे की ओर बढ़ता हुआ मूत्राशय की ओर बढ़ता हुआ मूत्राशय में पहुँच जाता है। ज्यों ही वह मूत्राशय में प्रवेश करता है त्यों ही उसके बाहरी छिद्र से मूत्र निकलने लगता है, जिसके एकत्र होने के लिए पूर्व ही एक शुद्ध पात्र रख लेना

चाहिए। मूत्र निकल चुकने पर कैथिटर को निकालकर शुद्ध करके रख दिया जाता है। गम-ईलास्टिक-कैथिटर भी इसी प्रकार प्रयुक्त होते हैं।

धातु के कैथिटर तथा सङ्किरण शलाका के प्रयोग की विधि भिन्न है। ये शलाकाएँ आकार में कैथिटर ही के समान होती हैं और उन्हीं की भाँति प्रयुक्त होती हैं। किन्तु ये

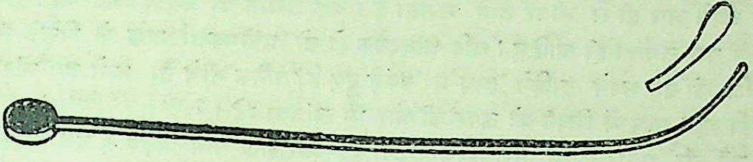

चित्र नं० १७१ सङ्किरण-शलाका

ठोस होती हैं। कुछ शलाकाओं के आगे की नोक चौड़ी होती हैं, कुछ की सामान्य होती हैं। इसका पिछला भाग चवन्नी के सिक्के के समान चपटा और गोल होता है जिसको दाहिने हाथ के अँगूठे और तर्जनी के बीच में पकड़ा जाता है। कैथिटर के पिछले सिर पर दोनों ओर दो कुण्डे होते हैं।

शस्त्र और हाथों को शुद्ध करने के पश्चात् उदर और ऊरु प्रान्त को तौलियों से ढँककर चिकित्सक रोगी के दाहिनी ओर खड़ा होकर मणिच्छदा को ऊपर हटाकर मणि तथा सूत्रमार्ग के मुख को किसी विसंक्रामक विलयन से शुद्ध करता है और शिश्न को, जिसकी मणि खुली हुई है ऊपर और दाहिनी ओर को खींचता है, जैसे चित्र में दिखाया गया है। इस समय कैथिटर या शलाका का बाहरी सिरा चिकित्सक के दाहिने हाथ, अँगूठे और

चित्र नं० १७२ शलाका प्रविष्ट करने की रीति—प्रथम अवस्था

तर्जनी के बीच में और उसकी नोक मूत्र-मार्ग के छिद्र पर रहती है। चिकित्सक का हाथ रोगी के नितम्बास्थि के पुरोर्ध्व कूट की ओर रहता है। और वह शलाका को इस प्रकार

पकड़े रहता है कि वह रोगी के चर्म के प्रायः समानान्तर रहती है। इस प्रकार कैथिटर या शलाका की नोक मूत्रमार्ग के छिद्र पर, किन्तु शस्त्र का गात्र मूत्रमार्ग के बाहर पार्श्व की ओर और तनिक नीचे को झुका रहता है।

तत्पश्चात् चिकित्सक तनिक दबाकर शस्त्र को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट कर देता है। शस्त्र स्वयं अपने भार ही से भीतर जाने लगता है; बल लगाने की आवश्यकता नहीं होती। और न बल लगाना ही चाहिए। यदि आवश्यक हो तो प्रयोगकर्त्ता शस्त्र के पिछले भाग को, जिसको वह अपने दाहिने हाथ में पकड़े हुए है, तनिक नीचे या आगे की ओर को दबाता रहे। साथ में शिश्न को ऊपर की ओर भी खींचता रहे।

जब इस प्रकार शिश्न पूरा खिंच चुकता है, और शस्त्र आगे बढ़ने से रुक जाता है तब शिश्न सहित शस्त्र को पूर्व स्थिति से बाईं ओर को घुमाया जाता है, यहाँ तक कि वह उदर के मध्य में उदर-सीवनी[1] की रेखा में आ जाता है। तत्पश्चात् शस्त्र के पिछले चपटे भाग को, जो चर्म के प्रायः समानान्तर था, ऊपर की ओर उठाया जाता है जिससे सारा शस्त्र सीधा खड़ा हो जाता है और चर्म के साथ समकोण बनाता है। इस दूसरी क्रिया के समय शस्त्र मूत्रमार्ग की पूर्व भित्ति के सहारे अपने ही भार से निरन्तर आगे

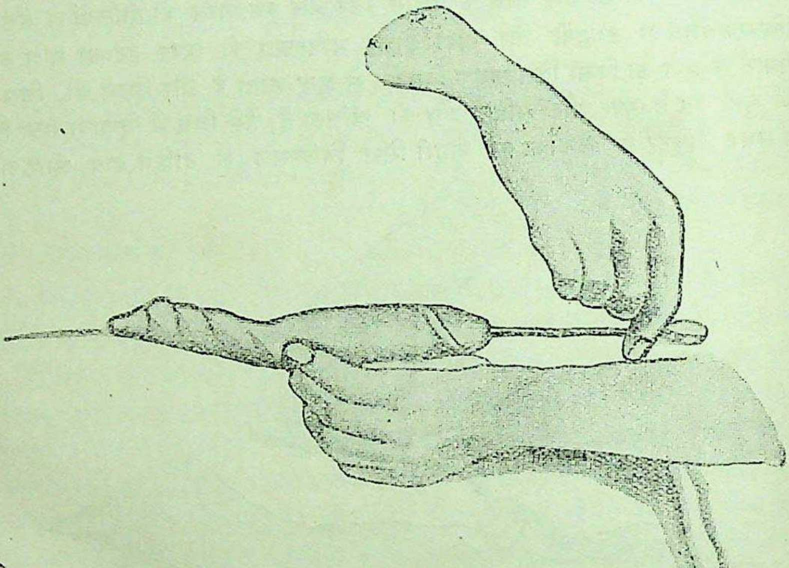

चित्र नं० १७३ शलाका प्रविष्ट करने की रीति—द्वितीय अवस्था

बढ़ता रहता है और त्रिकोणिक बन्धन[2] पर पहुँच जाता है। इस समय शस्त्र के पिछले सिरे को पकड़कर धीरे से तनिक नीचे अथवा गुदास्थान की ओर झुका दिया जाता है, जिससे वह मूत्रमार्ग के पौरुषग्रन्थिक[3] और कलाकृत[4] भागों में होता हुआ मूत्राशय में पहुँच

१. Linca-alba. २. Triangular ligament. ३. Prostatic-Urethra. ४. Membranous-Urethra.

जाता है। यह नीचे की ओर को झुकाने की क्रिया उस समय करनी चाहिए जब शस्त्र मूत्रमार्ग में पर्याप्त दूरी तक पहुँच जावे।

शस्त्र के प्रयोग के समय बल लगाना भूल है। यदि वह स्वयं अपने ही भार से आगे की ओर नहीं बढ़ता तो क्रिया में कहीं भूल हुई है। ऐसी दशा में उसको निकालकर फिर से प्रविष्ट करना चाहिए।

इन धातु को शस्त्रों के उपयोग से कभी-कभी निम्न-लिखित उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं—

स्तब्धता—यह दशा उन व्यक्तियों में उत्पन्न होती है जिनमें केथिटर या शलाका का प्रथम बार प्रयोग किया जाता है। वृद्धावस्था में यह दशा अधिक बार उत्पन्न होते देखी गई है। शस्त्र को डालने के समय अथवा उसको निकालने के पश्चात् स्तब्धता उत्पन्न होती है। रोगी की दशा अकस्मात् विकृत हो जाती है। नेत्रों के तारे प्रसरित और नाड़ी रुद्ध हो जाती है। चेतना जाती रहती है। गले में गड़गड़ाहट आरंभ हो जाती है। रोगी वेग से एक श्वास बाहर निकालता है और उसकी मृत्यु हो जाती है।

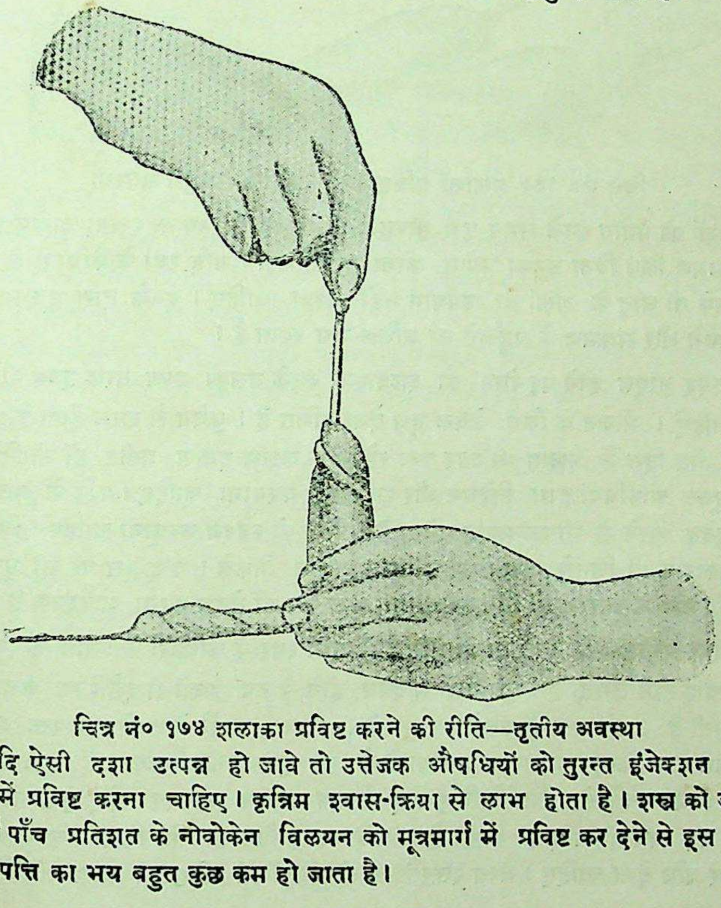

चित्र नं० १७४ शलाका प्रविष्ट करने की रीति—तृतीय अवस्था

यदि ऐसी दशा उत्पन्न हो जावे तो उत्तेजक औषधियों को तुरन्त इंजेक्शन द्वारा शरीर में प्रविष्ट करना चाहिए। कृत्रिम श्वास-क्रिया से लाभ होता है। शस्त्र को डालने से पूर्व पाँच प्रतिशत के नोवोकेन विलयन को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट कर देने से इस दशा की उत्पत्ति का भय बहुत कुछ कम हो जाता है।

ज्वर—शस्त्र-प्रयोग करने के दो या तीन घंटे में अथवा तीन या चार दिवस के पश्चात् ज्वर उत्पन्न हो सकता है। इसका कारण संक्रमण होता है, जो शस्त्र के साथ भीतर पहुँच जाता है। इसके लक्षण संक्रमण की प्रबलता के अनुसार होते हैं। प्राय: केवल दो या तीन दिन तक मन्द ज्वर रहकर जाता रहता है। संक्रमण के प्रबल होने पर वह अधिक समय तक रह सकता है। यदि वृक्क-शोथ के लक्षण दिखाई दें तो दशा चिन्ताजनक है। इस रोग में रोगी की सात या आठ दिन में मृत्यु हो सकती है।

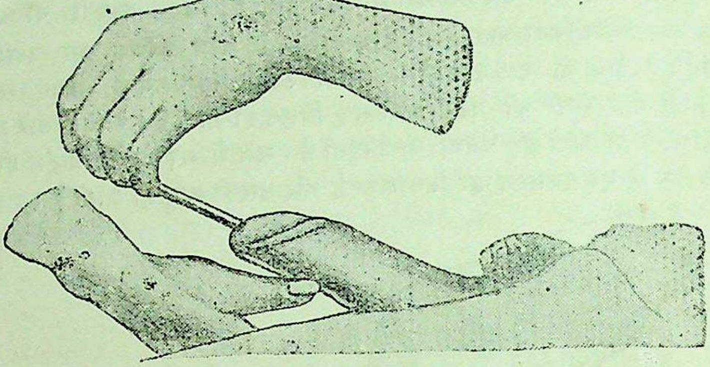

चित्र नं० १७९ शलाका प्रविष्ट करने की रीति—चतुर्थ अवस्था

शस्त्रों को प्रयोग करते समय पूर्ण स्वच्छता और शुद्धि का ध्यान रखना चाहिए। पूर्ण विसंक्रामण किये बिना उनका प्रयोग करना उचित नहीं। यदि रबर के कैथिटरों से काम चल सके तो धातु के शस्त्रों का उपयोग नहीं करना चाहिए। इनके द्वारा मूत्र-मार्ग में व्रण बनने और संक्रमण के पहुँचने का अधिक भय रहता है।

ज्वर उत्पन्न होने पर रोगी को शय्यारूढ़ करके उसको उष्ण तरल द्रव्य पीने को देने चाहिएँ। भोजन के लिये केवल दूध देना उचित है। कुनेन से लाभ होता है। यदि दो या तीन दिन के पश्चात् भी ज्वर बना रहे और लक्षण दारुण प्रतीत हों तो विरेचक और मूत्रल ओषधियों द्वारा विरेचन और मूत्रत्याग करवाना चाहिए। कटि के पार्श्व में उष्ण स्वेद करने से भी मूत्रप्रवाह होता है। रोगी को स्वेदन करवाना चाहिए। विरेचक इस प्रकार के हों जिनसे मल के साथ तरल अधिक निकले। यदि इस पर भी मूत्र का उचित प्रवाह न आरम्भ हो तो शस्त्रकर्म द्वारा मूत्रद्वार का छेदन करना आवश्यक है।

रक्त-प्रवाह—धातु के शस्त्रों और कभी-कभी रबर के कैथिटरों के प्रयोग के पश्चात् रक्त-प्रवाह होने लगता है। मूत्रमार्ग में शोथ होने से इन शस्त्रों से श्लैष्मिक कला क्षत हो जाती है उससे रक्त निकलने लगता है। असत्य मार्गों के बनने पर रक्त अधिक निकलता है। किन्तु साधारण अवस्थाओं में भी कुछ रक्त निकलता है। प्राय: यह इतना अधिक नहीं होता जिसके लिए कोई विशेष उपचार आवश्यक हो। कुछ समय के पश्चात् वह स्वयं ही बन्द हो जाता है। यदि वह अधिक हो तो किसी शस्त्र को भीतर डालकर बाँध देना चाहिए। अन्य रक्तस्तंभक ओषधियाँ भी प्रविष्ट की जा सकती हैं।

असत्य मार्ग—सङ्किरण की चिकित्सा में कभी-कभी असत्य मार्ग उत्पन्न हो जाते हैं। जब ऐसा होता है तो शस्त्र बीच की रेखा में न रहकर एक ओर को हट जाता है। कैथिटर या शलाका का पिछला सिरा एक ओर को मुड़ा हुआ दीखता है। प्रविष्ट करने के समय कैथिटर पर जो अवरोध प्रतीत होता था वह अकस्मात् हट जाता है और शस्त्र वेग से आगे को बढ़ जाता है। रोगी को तीव्र पीड़ा होती है और रक्त-प्रवाह भी अधिक होता है। कभी-कभी शस्त्र सङ्किरण के पूर्व श्लैष्मिक कला को छेदकर उसके नीचे-नीचे सङ्किरण से आगे पहुँचकर कला का फिर छेदन कर मूत्रमार्ग में आ जाता है। मूत्राशय तक शस्त्र द्वारा छिन्न होते देखा गया है।

इन मार्गों द्वारा मूत्र चारों ओर के स्थान की धातुओं में फैल सकता है। यदि मूत्र संक्रमित है तो धातुओं में भी पाक आरम्भ हो जावेगा।

मूत्राशय वेधन—जब सङ्किरण के कारण मूत्राशय में इतना मूत्र भर जाता है कि उसके फट जाने का डर होता है और कैथिटर को प्रविष्ट करने में असफलता होती है तो उदर द्वारा, मूत्राशय का वेधन करके मूत्र निकाला जाता है। यह कर्म उदर या वक्ष के वेधन ही के समान किया जाता है।

भग-सन्धानिका के ऊपर चर्म को उस्तरे से मूँड़कर वहाँ टिंक्चर आयोडीन का लेप करने के पश्चात् दो प्रतिशत नोवोकेन के विलयन का चर्म और नीचे की धातुओं में इंजेक्शन दिया जाता है। तत्पश्चात् उदर की मध्य रेखा में ½ इंच के लगभग लम्बा वेधसपत्र से छेदन करके उसके द्वारा शुद्ध व्रीहिमुख और नलिका को सीधा नीचे की ओर प्रविष्ट किया जाता है। यहाँ तक कि शस्त्र मूत्राशय में पहुँच जाता है। व्रीहिमुख को निकाल लेने पर मूत्र बड़े वेग से निकलने लगता है। यदि नलिका के पीछे की ओर रबर की नली नहीं जोड़ दी गई है तो मूत्र वस्त्रों पर गिरेगा। कुछ यन्त्रों में नीचे की ओर रबर की नली जोड़ने का स्थान होता है।

मूत्र को अत्यन्त वेग से अथवा सम्पूर्ण न निकलने देना चाहिए। सम्पूर्ण मूत्र के निकल जाने से मूत्राशय की भीत्तियों से, भार के अकस्मात् कम हो जाने के कारण, रक्त-प्रवाह हो सकता है।

इस प्रकार मूत्र को निकालकर शस्त्र को मूत्राशय से बाहर खींचकर क्षत को सी देना उचित है। उस पर कौलोडियन से रूई चिपका देना चाहिए।

मूत्र का परिविसार[1]—यह उस दशा का नाम है जिसमें सङ्किरण के पीछे की ओर मूत्र-मार्ग के फट जाने से मूत्र चारों ओर की धातुओं, नितम्बों के बीच, गुदा के चारों ओर तथा अण्डकोषों में फैल जाता है। मूत्राशय में अत्यधिक मूत्र के एकत्र होने पर रोगी के मूत्रत्याग में बल करने से प्रायः ऐसा होता है। कुछ विद्वानों की सम्मति के अनुसार मूत्रमार्ग में कहीं पर पूर्व उत्पन्न हुई दुर्बलता स्थित होती है। चोट, विद्रधि, पाक इत्यादि से व्रण बनकर श्लैष्मिक कला को प्रथम ही दुर्बल कर देते हैं। तत्पश्चात् मूत्र के एकत्र होने से दुर्बल स्थान की श्लैष्मिक कला फट जाती है।

यह विदार प्रायः मूत्रमार्ग के कलाकृत भाग में होता है। वहाँ से मूत्र नीचे की ओर शिश्नमूल के चारों ओर फैल जाता है। वह प्रायः प्रथम अण्डकोषों के नीचे दोनों नितम्बों

१. Extravasation of Urnic.

के बीच में पहुँचता है। वहाँ से वह अण्डकोषों के चर्म के नीचे-नीचे उनके चारों ओर फैल जाता है वहाँ से मूत्र शिश्न के चारों ओर चर्म के नीचे फैलता है। यदि मूत्र और अधिक फैलता है तो वह अण्डरज्जु के साथ-साथ उदर की भित्तियों में पहुँच जाता है। मूत्र को कक्ष तक फैलते हुए देखा गया है।

मूत्रमार्ग के फटने के समय रोगी को अत्यन्त पीड़ा होती है, किन्तु कुछ समय के पश्चात् कम हो जाती है। मूत्र के एकत्र होने से उसको जो पीड़ा होती थी वह जाती रहती है। किन्तु शीघ्र ही मूत्र-परिविसार के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। जहाँ मूत्र फैला हुआ है वहाँ का चर्म शोथ-युक्त हो जाता है। यदि मूत्र संक्रमित है तो चर्म लाल और कुछ समय पश्चात् काला सा दीखने लगता है। कुछ समय में कोथ आरम्भ होने से वहाँ पूतिवस्तु[1] बनने लगती है। चर्म पर विस्फोट बन जाते हैं जिनके फटने से दुर्गन्धि-युक्त तरल निकलने लगता है। चर्म और उसके नीचे की धातु सड़कर शरीर से पृथक् होने लगती है। दोनों ओर के अण्डकोषों के चर्म के पूर्णतया गल जाने से अण्डग्रन्थियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। शिश्न और उदर की भी यही दशा हो सकती है। रोगी को तीव्र ज्वर हो आता है। नाड़ी तीव्र और दुर्बल हो जाती है। पूय के अन्य लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ समय में रोगी मूत्रविष-संचरित हो जाता है। ज्वर जाता रहता है अथवा अति न्यून हो जाता है। स्तब्धता गाढ़ी होती है। हृदयावसाद से मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—जहाँ भी मूत्र एकत्र हो रहा हो वहाँ ही छेदन करके मूत्र को निकाल देना परमावश्यक है। यदि अण्डकोषों के नीचे अथवा उन्हीं में मूत्र फैल रहा है तो चर्म और नीचे की धातुओं का छेदन करके मूत्र को निकाल देना चाहिए। छेदन इतना गहरा हो कि उससे मूत्र निकलने लगे। इससे कम गहरे छेदन से कोई लाभ नहीं। यदि छेदन में रक्त-नालिकाएँ कट जावें तो उनका बन्धन कर देना उचित है। छेदन के पश्चात् व्रणों में गौज़ भरकर व्रणोपचार करना और दिन में जितनी बार भी आवश्यक हो व्रणोपचार-वस्त्रों को बदलना चाहिए। ज्योंही वह मूत्र से परिपूर्ण हो जावे त्योंही उसको बदलना आवश्यक है। अण्डकोषों के नीचे, उनके चर्म में, तथा शिश्न पर लम्बे छेदन करने उचित हैं।

प्रायः अण्डकोषों के नीचे नितम्बों के बीच के स्थान से मूत्र को निकाल देने से मूत्राशय से स्वयं मूत्र निकलने लगता है। यदि ऐसा हो तो कैथिटर को मूत्रमार्ग में डालने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु यदि मूत्र न निकले और रोगी को मूत्रत्याग करने में पीड़ा तथा अवरोध प्रतीत हो तो अत्यन्त सावधानी के साथ कैथिटर को मूत्राशय में प्रविष्ट करना चाहिए। प्रायः मूत्र के निकल जाने से सङ्किरण चौड़ा हो जाता है और कैथिटर के भीतर जाने में कोई कठिनाई नहीं होती। कैथिटर को भीतर डालकर उसको एक रबर की नलिका के साथ जोड़ देना चाहिए। इस रबर की नलिका का दूसरा सिरा एक विसंक्रामक द्रव्य से भरे पात्र में पड़ा रहे।

यदि सङ्किरण द्वारा कैथिटर भीतर न जा सके तो अण्डकोष के नीचे मूत्रमार्ग का छेदन करना आवश्यक है। कुछ विद्वान मूत्र निकालने के लिए किये गये छेदन द्वारा ही मूत्रमार्ग को छेदते हैं। ऐसी दशा में स्वच्छता का पूर्ण आयोजन आवश्यक है, अन्यथा

---

१. Slough.

संक्रमण बाहर से अत्यन्त सहज में भीतर पहुँच सकता है। वहाँ पर आयडोफ़ार्म छिड़ककर ऊष्मस्वेद करते रहना चाहिए।

उपर्युक्त साधनों द्वारा जब व्रणों की दशा सुधर जाय तो उनकी साधारण व्रणों के समान चिकित्सा की जा सकती है। रोगी की शारीरिक दशा की ओर भी उचित ध्यान देना आवश्यक है। उसको बलदायक ओषधियों और भोजन का प्रयोग करवाना चाहिए।

यदि व्रणों में पूतिवस्तु अधिक बनती हो तो रोगी को गरम बोरिक विलयन से भरे हुए टब में आध घण्टे तक बिठाने के पश्चात् पूतिवस्तु को कैंची से काटकर निकाल देना चाहिए।

मूत्रमार्ग का परिशोधन—मूत्रमार्ग में शोथ उत्पन्न होने पर, जिससे वहाँ पूय बनकर मूत्र के साथ आने लगती है, मूत्रमार्ग का परिशोधन किया जाता है। पूयमेह रोग में इस कर्म से बड़ा लाभ होता है इस कारण रोग की तरुण और जीर्ण दोनों अवस्थाओं की यह विशेष चिकित्सा है। प्रायः परिशोधन के लिए पोटाश-परमैंगनेट के द्रव्य को प्रयोग करते हैं। किन्तु आवश्यकतानुसार अन्य वस्तुएँ भी प्रयुक्त हो सकती हैं।

इस कर्म के लिए जो पात्र प्रयुक्त होता है वह चित्र में दिखाया गया है। ऊपर एक काँच का गोल पात्र है जिसमें ऊपर की ओर टाँगने के लिए एक धातु का आँकड़ा लगा हुआ है। नीचे की ओर पात्र से एक रबर की नली जुड़ी हुई है जिसका आगे की ओर एक विशेष आकार के काँच के यन्त्र से सम्बन्ध है। रबर की नली पर एक क्लिप लगा रहता है जिसके खोलने या दाबने से जल-प्रवाह को बढ़ाया या रोका जा सकता है।

प्रयोग के समय ऊपर के पात्र में विलयन को भरकर काँच के यन्त्र के बीच की नलिका को मूत्रमार्ग के छिद्र पर लगा दिया जाता है। रबर की नलिका पर के क्लिप को खोलने से विलयन काँच की नलिका द्वारा मूत्रमार्ग के पूर्व भाग में जाता है और वहाँ से लौट आता है। यह लौटनेवाला विलयन यन्त्र के चौड़े भाग के कारण, जो शिश्नाग्र भाग को एक ढाल की भाँति ढक लेता है, एकत्र होकर नीचे रखे हुए तामचीनी के पात्र में गिर पड़ता है। यह कर्म करते समय शिश्न को मूल पर से दो अँगुलियों के बीच में दाबे रहना चाहिए। इससे मूत्रमार्ग भी बन्द हो जायगा और विलयन यहाँ से पीछे की ओर न जा सकेगा।

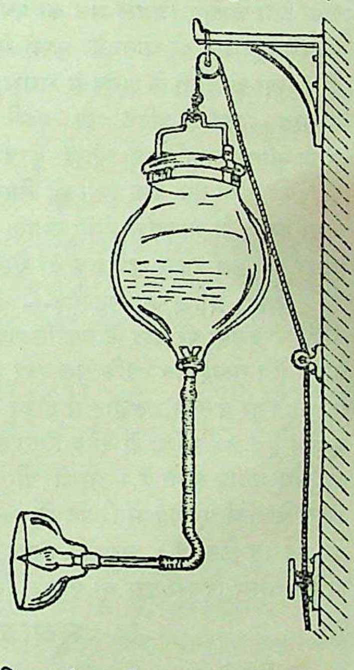

चित्र नं० १७६ मूत्राशय तथा मूत्रमार्ग के परिशोधन में प्रयुक्त होनेवाला यन्त्र

जब मूत्रमार्ग के पश्चिम भाग का परिशोधन करना होता है तो यन्त्र की बीच की नली को मूत्रमार्ग के भीतर प्रविष्ट करके उसके मुख को अँगुलियों से कुछ समय तक दबाये रहते हैं। जब छोड़ते हैं तो पश्चिम भाग से लौटा हुआ विलयन बाहर निकलने लगता है। यदि मूत्राशय का परिशोधन अभीष्ट हो तो विलयन को प्रविष्ट करने पर रोगी को उस प्रकार बल करना चाहिए जैसे वह मूत्रत्याग करने के समय करता है। इससे सङ्कोचक पेशी ढीली पड़ जाती है और विलयन मूत्राशय में प्रवेश करता है। जब आठ औंस के लगभग विलयन प्रविष्ट हो चुके और रोगी को स्वयं मूत्रत्याग की इच्छा होने लगे तो यन्त्र को पृथक् करने पर रोगी मूत्रत्याग द्वारा सारा विलयन निकाल दे।

मूत्राशय का प्रक्षालन—मूत्राशय के शोधन के लिए प्रायः बोरिक विलयन प्रयुक्त होता है। यह चिकित्सक की इच्छा और रोगी की आवश्यकता पर निर्भर करता है कि कौन सा विलयन प्रयोग किया जावे।

काँच की कुप्पी में रबर की नलिका को लगाकर उसके द्वारा मूत्राशय का शोधन किया जाता है। प्रथम मूत्रमार्ग द्वारा रबर के एक कैथिटर को मूत्राशय में प्रविष्ट कर उससे मूत्र निकाल दिया जाता है। भग-सन्धानिका के ऊपर उदर को दबाने से मूत्र को पूर्णतया निकाला जा सकता है। मूत्र निकाल चुकने पर कुप्पी की रबर-नलिका को कैथिटर के बाहरी सिरे के साथ जोड़ दिया जाता है। दोनों के बीच में काँच की नली का एक टुकड़ा लगा देना चाहिए जिससे जल का प्रवाह दीखता रहे। तत्पश्चात् विसंक्रामक विलयन को, जिससे मूत्राशय को धोना है, कुप्पी में डाला जाता है जो तुरन्त मूत्राशय में पहुँच जाता है। कुप्पी को रोगी के शरीर से लगभग दो फुट ऊँचा उठा दिया जाता है। विलयन की इच्छित मात्रा को प्रविष्ट कर चुकने पर ज्योंही कुप्पी में उपस्थित विलयन की अन्तिम मात्रा भीतर जाने लगे, त्योंही कुप्पी को रोगी की शय्या से नीचे ले जाकर उलट देना चाहिए। नीचे एक पात्र रखा रहे जिसमें भीतर से आनेवाला विलयन एकत्र होता रहे। ऐसा करने से आकर्षण होने लगता है और भीतर गया हुआ सारा विलयन बाहर आ जाता है। इस प्रकार मूत्राशय का शोधन किया जाता है।

पौरुष ग्रन्थि का उद्वर्त्तन— यह कर्म विशेषतया जीर्ण पूयमेह में किया जाता है। रोगी को शय्या पर पीठ के बल लिटाकर उससे टाँगों को उदर की ओर को सिकुड़वा दिया जाता है। तत्पश्चात् चिकित्सक रबर के दस्ताने अथवा दाहनी तर्जनी पर अंगुलित्राण को पहनकर उसको मलद्वार में होकर गुदा में प्रविष्ट कर देता है और ऊपर की ओर को दबाता है। जब ग्रन्थि में शोथ होता है तो वह अँगुली को गुदा में प्रविष्ट करते ही ऊपर की ओर प्रतीत होती है। इसको अँगुली से दस पन्द्रह मिनट तक मला जाता है। ऐसा करने से जीर्ण पूयमेह में शिश्न से एक पतला तरल निकलने लगता है, जो पौरुष ग्रन्थि का उद्रेचन होता है। साथ में भीतर छिपे हुए रोग के जीवाणु भी बाहर निकल आते हैं। प्रत्येक तीसरे दिवस दस या पन्द्रह मिनट तक इस प्रकार उद्वर्तन करना चाहिए।

मूत्राशय की अश्मरी[1]

बस्ति में बहुधा अश्मरी उत्पन्न हो जाती है। ये मूत्र के घन अवयवों के एकत्र होने से बनती हैं। प्रथम किसी वस्तु से, जैसे श्लैष्मिक कला का कुछ भाग, शुष्क हुआ

१. Stone in blodder.

श्लेष्मा, जमा हुआ रक्त इत्यादि, अश्मरी का केन्द्र बन जाता है, जिसके चारों ओर घन अवयव एकत्र होने लगते हैं और कुछ समय में अश्मरी बन जाती है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि अश्मरी जीवाणु के कारण उत्पन्न होती है।

अश्मरी प्रायः यूरिक अम्ल, अमोनिया के यूरेट लवण, आक्ज़ेलेट लवण, अथवा चूने के फ़ास्फ़ेट लवणों से बनती हैं। भिन्न भिन्न प्रकार की अश्मरी का रूप भी भिन्न होता है। उनमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं।

(१) फ़ास्फ़ेट— इन लवणों की अश्मरी खड़िया के समान श्वेत और चिकनी होती है। वह भुरेरी होने के कारण सहज ही में टूट जाती है। यह साधारणतया 'ट्रिपिल फ़ास्फ़ेट' और चूने के फ़ास्फ़ेट लवणों के मिलने से बनी होती है। प्रायः फ़ास्फ़ेट के लवणों के साथ अन्य लवण भी मिल जाते हैं। वास्तव में केवल फ़ास्फ़ेट से बनी हुई अश्मरी बहुत कम मिलती है। अन्य प्रकार की अश्मरियों पर भी फ़ास्फ़ेट लवणों का स्तर चढ़ जाता है और वह देखने से फ़ास्फ़ेट अश्मरी ही की भाँति दीखती हैं। किन्तु उनकी भीतरी रचना पृथक् होती है।

फ़ास्फ़ेट की अश्मरियों को काटने पर उनके भीतर मध्य भाग में एक वस्तु-समूह स्थित मिलता है। उसके चारों ओर एक-केन्द्री श्वेत रङ्ग के स्तर पाये जाते हैं। अन्य अश्मरियों में भी उसी भाँति के स्तर होते हैं। किन्तु उनका रङ्ग पृथक् होता है।

(२) यूरिक अम्ल की अश्मरी कठिन और सघन होती है। वह सहज में नहीं टूटती। प्रायः वह अण्डाकार और चपटी होती है। उसके बाहरी पृष्ठ साधारणतया चिकने होते हैं। कभी-कभी उस पर छोटे-छोटे अंकुर उठे रहते हैं। बहुधा उस पर फ़ास्फ़ेट का एक स्तर चढ़ा रहता है।

(३) अमोनिया के यूरेट लवण से उत्पन्न हुई अश्मरी की रचना साधारण यूरेट-अश्मरी ही के समान होती है। किन्तु उसका रङ्ग हलका होता है।

(४) चूने के आक्ज़ेलेट लवण की अश्मरी अत्यन्त असम होती है। उसका पृष्ठ किसी बड़े कङ्कड़ के समान कहीं से उभरा हुआ और कहीं से गहरा होता है। उसकी शहतूत से समानता दी गई है, क्योंकि उसके पृष्ठ पर सहतूत की भाँति चारों ओर अंकुर उठे रहते हैं।

यह अश्मरी अत्यन्त कठिन होती है। भीतर से यह भी अन्य अश्मरियों की भाँति स्तरित और सघन होती है। उत्पत्ति के समय इसमें प्रायः कुछ रक्त मिश्रित हो जाता है जिससे इसका रङ्ग लालिमायुक्त गहरा भूरा अथवा काला हो जाता है।

(५) सिस्टीन और ज़ैंथीन नामक वस्तुओं से निर्मित अश्मरी भी पायी जाती हैं।

मूत्राशय में अश्मरी की स्थिति—कभी-कभी अश्मरी मूत्राशय के पार्श्विक भाग में उत्पन्न होकर श्लैष्मिक कला से वेष्टित हो जाती है। इस कारण वह स्वतन्त्र नहीं रहती, किन्तु एक प्रकार के कोष्ठ में, जो मूत्राशय ही का भाग होता है, बन्द रहती है। इस प्रकार की अश्मरी को 'आवेष्टित अश्मरी' कहते हैं।

प्रायः अश्मरी मूत्राशय के भीतर स्वतन्त्र स्थित होती है और व्यक्ति की स्थिति के अनुसार वह भी अपनी स्थिति बदलती रहती है। रोगी के करवट लेने पर वह मूत्राशय में

पार्श्व की ओर चली जाती है। ऐसी अवस्था में मूत्रत्याग में कठिनाई नहीं होती। सूत्र के निकल चुकने पर मूत्राशय के संकुचित हो जाने के कारण उसकी भित्तियाँ अश्मरी पर चारों ओर से चिपट जाती हैं, जिससे अश्मरी को इधर-उधर हिलने का स्थान नहीं मिलता। मूत्राशय के जीर्ण शोथ में भी भित्तियों में उत्पन्न हुए नये अंकुर अश्मरी को घेर लेते हैं।

अश्मरी की रचना—यदि अश्मरी को काटकर देखा जावे तो उसमें निम्नलिखित भाग दिखाई देंगे।

(१) केन्द्र—यह अश्मरी के बीच का भाग होता है, जिसके चारों ओर भिन्न-भिन्न वस्तुओं के सहस्रों कण एकत्र हो जाते हैं। यह प्रायः वृक्क से आई हुई अश्मरी का बना होता है जिस पर यूरिक, अक्ज़ेलेट अथवा फ़ास्फ़ेट लवणों के कण एकत्र होने लगते हैं। जमे हुए रक्त के थक्के, शुष्क श्लेष्मा, तथा कभी-कभी जीवाणुओं से यह भाग उत्पन्न हो जाता है।

(२) गात्र—यह अश्मरी का मुख्य भाग होता है। इसमें प्रायः कई स्तर होते हैं जो अश्मरी को काटने पर स्पष्ट दिखाई देते हैं। इनमें उसी वस्तु के कण, जिनकी अश्मरी बनी होती है, एकत्र रहते हैं।

(३) आवेष्टन—यह सबसे बाहरी स्तर होता है जो भीतर की वस्तु अथवा गात्र पर चारों ओर चढ़ा रहता है। यह प्रायः फ़ास्फ़ेट पदार्थ का बना होता है। इस कारण यह अत्यन्त भुरेरा होता है और सहज में टूट जाता है।

जब मूत्राशय में कई अश्मरियाँ उपस्थित होती हैं तो उनके जो पृष्ठ एक दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं वह चपटे और चिकने हो जाते हैं।

कारण—मूत्राशय की अश्मरियों की उत्पत्ति प्रायः गवीनी अथवा वृक्क से आई हुई अश्मरी का कारण होती है। यह अश्मरी, जिसका आकार छोटा होता है, केन्द्र की भाँति काम करती है। इसके चारों ओर लवणों के कण एकत्र होते रहते हैं जिनसे कुछ समय में पूर्ण अश्मरी बन जाती है। जो बाह्य-वस्तुएँ भीतर रह जाती हैं, जैसे कैथिटर का टूटा हुआ अग्र भाग, उनके चारों ओर इसी भाँति अश्मरी उत्पन्न हो जाती है। शारीरिक दशाएँ भी अश्मरी की उत्पत्ति में भाग लेती हैं। पीने के जल के साथ अश्मरी का बहुत कुछ संबन्ध प्रतीत होता है। पार्बतीय स्थानों के रहनेवालों को यह रोग अधिक होता है, जिसका मुख्य कारण वहाँ के जल में चूने के लवणों का आधिक्य है। उष्ण देशों में अश्मरी की अधिकता का कारण शरीर से जल का वाष्पीभवन है जिसके कारण मूत्र में अवयवों की मात्रा बढ़ जाती है।

लक्षण—यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। इसका कारण स्त्रियों के मूत्रमार्ग का छोटा और चौड़ा होना प्रतीत होता है। छोटे आकार की अश्मरी सहज ही में मूत्र द्वारा बाहर निकल जाती है। बच्चों में, विशेषतया लड़कों में, यह रोग अधिक पाया जाता है।

लक्षण—अश्मरी के आकार और स्थिति तथा मूत्रमार्ग और मूत्राशय की श्लैष्मिक कला के शोथ पर निर्भर करते हैं। छोटी अश्मरी से बड़ी अश्मरी की अपेक्षा अधिक पीड़ा होती है। वह छोटी होने के कारण चारों ओर को फिरती रहती है। किन्तु बड़ी अश्मरी को

मूत्राशय की भित्तियाँ अधिक नहीं फिरने देतीं। इसी भाँति फ़ास्फ़ेट की अपेक्षा आक्ज़ेलेट की अश्मरी से अधिक पीड़ा होती है। बालक और युवा व्यक्तियों की अपेक्षा वृद्ध मनुष्यों को पीड़ा कम होती है। उनकी श्लैष्मिक कड़ी होकर कुछ चेतना-रहित हो जाती है।

इस रोग के विशेष लक्षण पीड़ा, मूत्र का बारम्बार त्याग और रक्तप्रवाह हैं। दौड़ने, असम स्थानों में किसी सवारी में जाने तथा घोड़े इत्यादि पर चढ़ने से इन लक्षणों में वृद्धि हो जाती है। यह लक्षण रात्रि की अपेक्षा दिवस में तीव्र होते हैं। शिश्न, पेड़ू, मलद्वार के चारों ओर के भाग तथा दोनों ओर के ऊरु-प्रान्त में पीड़ा प्रतीत होती है। कभी-कभी रोगी के मूत्रत्याग करते समय मूत्र-प्रवाह अकस्मात् बन्द हो जाता है। कोई अश्मरी मूत्र-मार्ग में अटककर प्रवाह को रोक देती है। ऐसे समय तीव्र पीड़ा मालूम होती है। किन्तु रोगी के अपनी शारीरिक स्थिति के बदलने पर मूत्र का प्रवाह फिर से जारी हो जाता है, क्योंकि शरीर के साथ अश्मरी की स्थिति भी बदल जाती है। प्रायः रोगी स्वयं इस बात को कहते हैं कि मूत्र-प्रवाह के बन्द हो जाने पर यदि वह किसी ओर को झुक जायँ अथवा तिर्यक् दिशा में खड़े होकर मूत्र-त्याग करें तो मूत्र फिर से प्रवाहित होने लगता है। यह अश्मरी का निश्चित लक्षण है। किन्तु सदा नहीं पाया जाता। जब अश्मरी मूत्रमार्ग को पूर्णतया अवरुद्ध नहीं करती तो मूत्र की बहुत पतली धार निकलती है। रक्त-प्रवाह भी सदा नहीं उपस्थित होता। कभी-कभी मूत्रत्याग के पश्चात् एक या दो बूँद रक्त निकल आता है। किन्तु आक्ज़ेलेट के छोटे आकार की अश्मरियों से, जिनमें कुछ प्रवर्धन निकले होते हैं, अर्बुद के समान तीव्र रक्त-प्रवाह हो सकता है। किन्तु वह रोगी के शय्यारूढ़ होते ही बन्द हो जाता है।

अश्मरी से कुछ समय के पश्चात् मूत्राशय के शोथ के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रात्रि को अथवा शय्या पर लेटने से भी लक्षणों में कमी नहीं होती। प्रत्येक समय पीड़ा रहती है। अश्मरी के मूत्राशय की ग्रीवा के सम्पर्क में आ जाने से वहाँ की नाड़ियाँ [illegible] हो जाती हैं और मूत्राशय संकुचित हो जाता है। इस समय रोगी को दारुण [illegible] है। दिन-रात में रोगी को इस प्रकार के कई आक्रमण हो सकते हैं। कुछ समय [illegible] मूत्र-त्याग के समय निरन्तर बल करने के कारण अर्श और गुदभ्रंश तक उत्पन्न हो जा[illegible] मूत्राशय से शोथ का संक्रमण गवीनी में होता हुआ वृक्क में फैल जाता है और अंत [illegible] वृक्क के संक्रमित हो जाने से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

रोग-निश्चिति—वृक्क का निश्चय करना कठिन नहीं है। रोगी के कथन से रोग के अनुमान में बहुत कुछ सहायता मिलती है। तत्पश्चात् रोगी की परीक्षा से अश्मरी का निश्चय करना चाहिए। परीक्षा की दो मुख्य विधियाँ हैं—एक ऐक्स-रे द्वारा, और दूसरी संकिरण-शलाका द्वारा अश्मरी को प्रतीत करना।

ऐक्स-रे—रोगी को ऐक्स-रे की मेज़ पर लिटाकर बस्ति की ऐक्स-रे द्वारा परीक्षा की जाती है। इससे अश्मरी की छाया दिखाई देती है। यह मेज़ इस प्रकार की होती है कि किरणोत्पादक नलिका मेज़ के नीचे लगी रहती है। उसको जहाँ चाहे वहाँ हटा सकते हैं। इसके द्वारा अश्मरी को देखने पर उसका पूर्ण निश्चय हो जाता है। आक्ज़ेलेट की अश्मरी की गहरी छाया बनती है। फ़ास्फ़ेट-अश्मरी आक्ज़ेलेट से हल्की छाया उत्पन्न करती है। केवल यूरेट अथवा यूरिक अम्ल की अश्मरी की छाया बहुत हल्की अथवा नहीं बनती। इस छाया को देखते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रोणि की अस्थियों से उत्पन्न होने-

वाले अर्बुद, मूत्राशय के अर्बुद जिन पर फ़ास्फ़ेट के लवण एकत्र हो गये हों, गर्भाशय के अर्बुद, पौरुष-ग्रन्थि तथा श्रोण्यन्तर्गत अन्त्र में स्थित मल भी छाया उत्पन्न कर सकते हैं।

सङ्किरण-शलाका—इसके द्वारा मूत्राशय में स्थित अश्मरी को प्रतीत किया जाता है। रोगी को मेज़ पर लिटाकर मूत्राशय से मूत्र निकालकर उसमें आठ या दस औंस गरम बोरिक विलयन भर दिया जाता है। रोगी की टाँगें ऊपर को उठा दी जाती हैं। चिकित्सक दाहिने हाथ में शलाका को पकड़कर उसके अग्रभाग पर शुद्ध तेल लगाकर उसको मूत्राशय में प्रविष्ट करता है और उसको मूत्राशय के भीतर चारों ओर घुमाता है। ऐसा करने से शलाका कहीं न कहीं अश्मरी पर लगती है। यूरिक और आक्ज़ेलेट अश्मरी पर जब शलाका लगती है तो उससे शब्द उत्पन्न होता है। किन्तु फ़ास्फ़ेट की अश्मरी से केवल रगड़ की प्रतीति होती है।

यदि इस प्रकार से अश्मरी प्रतीत न हो तो गुदा के भीतर दो अंगुलियाँ डालकर उनको ऊपर की ओर दबाना चाहिए। सम्भव है पौरुष-ग्रन्थि के बढ़ने से उसके आगे की ओर, जहाँ एक गढ़ा सा बन जाता है, अश्मरी स्थित हो।

आजकल मूत्राशय-दर्शक यन्त्र की सहायता से अश्मरी तथा मूत्राशय के अन्य रोगों के निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा शस्त्र-कर्म द्वारा की जाती है जिसकी कई विधियाँ हैं।

अश्मरी-भञ्जन[१]—यह क्रिया 'लिथोट्राइट[२]' नामक यन्त्र से की जाती है। इस यन्त्र में दो फले होते हैं। बाहरी फला बड़ा और चौड़ा होता है। छोटे फले में, जो बड़े के भीतर रहता है, दनदाने होते हैं। मूत्राशय के भीतर प्रविष्ट करने पर यन्त्र के ऊपर की ओर लगे हुए पेंच से फलकों को खोल दिया जाता है जिससे छोटा फलक ऊपर की ओर हट जाता है और दोनों फलों के बीच में अन्तर हो जाता है। अश्मरी इन फलकों के बीच में आ जाती है। तब पेंच द्वारा फलकों को फिर दाबा जाता है जिससे अश्मरी कई भागों में टूट जाती है। पुनः प्रत्येक भाग को इसी प्रकार यन्त्र के दोनों फलकों के बीच में पकड़कर तोड़ा जाता है। जब इस प्रकार अश्मरी सूक्ष्म कणों में टूट जाती है तो 'लिथोट्राइट' को निकालकर दूसरे यन्त्र को, जिसको 'निष्कर्षक[३]' कहते हैं, भीतर प्रविष्ट किया जाता है। इस यन्त्र के दो अथवा तीन भाग होते हैं। सबसे आगे की ओर कैथिटर के समान एक नली होती है जिसको मूत्राशय के भीतर प्रविष्ट किया जाता है। किन्तु इसकी चौड़ाई अधिक होती है और अग्रभाग का मोड़ कम होता है। इस कारण नलिका को प्रविष्ट करने में कुछ कठिनता होती है और कभी-कभी मूत्रमार्ग के मुख को विभाजित करना पड़ता है।

नलिका का पीछे की ओर एक चौड़ी खड़ी हुई धातु की नली से सम्बन्ध रहता है। इसके नीचे की ओर एक काँच का बड़ा गेंद के समान भाग लगा होता है जिसमें जल भरा रहता है। पीतल की नली के पीछे की ओर एक रबर का गोल थैला होता है जिसको दाबने से जल मूत्राशय के भीतर जाता है और छोड़ देने से भीतर गया हुआ जल बाहर निकल आता है। इसके साथ अश्मरी के कण भी निकल आते हैं और नीचे के काँच के भाग में एकत्र होते रहते हैं। इस प्रकार मूत्राशय को बार-बार धोने से सारी अश्मरी बाहर निकल आती है।

---

१. Lithotrity २. Lythotrite ३. Evacuator.

लिथोट्राइट को प्रविष्ट करने और फलकों के बीच में अश्मरी को ग्रहण करने में कौशल की आवश्यकता होती है। फलकों को मूत्राशय में खोलने के पश्चात बाहरी फलक को मूत्राशय के मध्यभाग में लाकर जितना भी नीचे की ओर को झुकाया जा सके झुका देना चाहिए। इससे अश्मरी दोनों भागों के बीच में आ जायगी। यदि फलकों को बन्द करते समय वह फिर हट जावे तो पुनः फलकों को खोलकर नीचे को दबाना चाहिए।

इस कर्म के पश्चात् एक सप्ताह तक रोगी को शय्यारूढ़ रखकर पौष्टिक लघु भोजन देना चाहिए।

आजकल अश्मरी को निकालने की यह विधि, अत्युत्तम होने कारण, अत्यन्त प्रयुक्त होती है। जहाँ यह विधि उपयुक्त नहीं समझी जाती वहाँ निम्न-लिखित विधियों के अनुसार शस्त्र-कर्म किया जाता है।

(१) भगसन्धानोपरि[1] भेदन— रोगी को मेज़ पर लिटाकर मूत्राशय में छः या आठ औंस शुद्ध बोरिक विलयन भरने के पश्चात् पूर्णतया शुद्ध किये उदर के चर्म पर उदर की मध्य रेखा में, भग-सन्धानिका से ऊपर की ओर को २ या ३ इंच लम्बा भेदन किया जाता है। चर्म, प्रावरणी तथा पेशियों को विभक्त करने के पश्चात् औदर्य्यकला को, जो मूत्राशय के स्कन्ध तथा ऊपरी भाग को ढ़के रहती है, गौज़ के टुकड़े से ऊपर की ओर को हटा दिया जाता है। इस समय जल से प्रसरित मूत्राशय तने हुए गोले की भाँति दिखाई देता है। उसके दोनों पार्श्वों में सूचिका द्वारा कैटगट में लगभग छः या आठ इंच लम्बे दो टुकड़े डाल दिये जाते हैं, और उनके बाहर निकले हुए सिरों को धमनी-संदेशों में पकड़ लिया जाता है जिससे मूत्राशय के दोनों पार्श्वों को बाहर की ओर खींचा जा सके। तत्पश्चात् मूत्राशय के बीच में ऊपर से नीचे की ओर को एक या डेढ़ इंच लम्बा भेदन किया जाता है जिसके द्वारा अँगुली को भीतर डालकर अश्मरी के आकार तथा स्थिति का अनुमान कर लिया जाता है। और अश्मरी-संदंश को, जिसका आगे का भाग चम्मच के समान होता है, भीतर प्रविष्ट करके अश्मरी को निकाल लिया जाता है। तत्पश्चात् अँगुली को भीतर डालकर देखना चाहिए कि कोई दूसरी अश्मरी तो वहाँ नहीं है। साथ ही श्लैष्मिक कला की दशा का भी अनुमान करना चाहिए।

अश्मरी के निकल चुकने पर यदि मूत्राशय शोथ रहित और स्वस्थ हो तो उसको सी देना चाहिए। किन्तु यदि वहाँ शोथ उपस्थित हो तो व्रण को सीना उचित नहीं। मूत्राशय के किनारों को उदर-भित्ति के व्रण के किनारों के साथ सीकर मूत्र के निरन्तर निर्हरण का प्रबन्ध कर देना चाहिए। इससे मूत्राशय धीरे-धीरे स्वस्थ हो जायगा और दोनों व्रण भर जायँगे। मूत्राशय के स्वस्थ होने पर प्रथम मूत्राशय के व्रण को और तत्पश्चात् उदर के व्रण को सीया जा सकता है। उदर की सीवन में एक निर्हरण-नलिका रख देना उचित है जो मूत्राशय की सीवन तक पहुंच जावे।

(२) मूलाधार द्वारा-भेदन[2]—यह कर्म अब प्रायः नहीं किया जाता। कभी-कभी बच्चों में इसकी आवश्यकता हो जाती है। मूलाधार[3] के बीच में मलद्वार के एक इंच आगे से ऊपर की ओर अर्थात् मलद्वार से मत्रमार्ग के मूल की ओर एक, १½ इंच लम्बा, भेदन

---

१. Suprapubic cystotomy. २. Perineal cystomy. ३. मलद्वार के चारों ओर का स्थान।

किया जाता है। भेदन करने के पूर्व सूत्राशय में पर्याप्त बोरिक विलयन भरकर एक मुड़ी हुई शलाका[1] को, जिसके सामने की ओर एक परिखा होती है, मूत्राशय में प्रविष्ट कर दिया जाता है। चर्म, प्रावरणी, पेशी इत्यादि का भेदन के पश्चात् मूत्रमार्ग, जिसमें शलाका स्थित है, स्पष्ट हो जाता है और दूसरे हाथ की तर्जनी से शलाका तथा उसकी परिखा को प्रतीत किया जा सकता है। तत्पश्चात् अँगुली के सहारे वेधस-पत्र को ले जाकर सूत्रमार्ग का, शलाका की परिखा पर, भेदन किया जाता है और उसी के सहारे वेधसपत्र द्वारा मूत्रमार्ग का, नीचे की ओर को, भेदन करते चले जाते हैं, यहाँ तक कि पौरुष-ग्रन्थि को पार करते हुए मूत्राशय में पहुंच जाते हैं। तत्पश्चात् वेधसपत्र को धीरे से बाहर खींचकर अँगुली से अश्मरी को प्रतीत करके संदंश से खींच लिया जाता है। सूत्राशय में व्रण द्वारा एक रबर या गम-ईलास्टिक कैथिटर को डाल दिया जाता है। प्रत्येक ४८ घण्टे पर उसको बदल देना उचित है। प्रायः एक सप्ताह के पश्चात् उसका त्याग किया जा सकता है। किन्तु कभी-कभी इस छिद्र को स्थायी कर देना पड़ता है।

निम्न-लिखित दशाओं में अश्मरी-भंजन नहीं करना चाहिए—

(१) यदि अश्मरी १½ इंच व्यास से अधिक बड़ी हो। ऐसी अवस्था में मूत्राशय की भित्ति को अधिक क्षति पहुंचने की संभावना है।

(२) आक्ज़ेलेट की अश्मरी अत्यन्त कठिन होने से नहीं टूटती।

(३) केवल फ़ास्फ़ेट की अश्मरी अत्यन्त नरम होने के कारण यन्त्र में भर जाती है।

(४) मूत्रमार्ग में सङ्किरण की उपस्थिति में यन्त्र को प्रविष्ट करना असम्भव है उससे असत्य मार्ग बन जाने का भय रहता है।

(५) वर्धित पौरुष-ग्रन्थि भी यन्त्र को रोकती है

(६) यदि सूत्रमार्ग में शोथ हो तो भी यन्त्र प्रविष्ट करना उचित नहीं।

(७) यदि सूत्राशय संकुचित हो और उसमें तीन या चार औंस से अधिक विलयन न समावे तो भित्तियों को अत्यन्त क्षति पहुंचने की सम्भावना है।

भगसन्धानोपरि भेदन निम्न-लिखित दशाओं में उचित है—

(१) जब अश्मरी का आकार बड़ा हो।

(२) मूत्रमार्ग में सङ्किरण उपस्थित हो।

(३) पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि हो गई हो।

(४) अश्मरी आवेष्टित हो।

मूलाधार भेदन निम्न-लिखित दशाओं में करना चाहिए—

(१) अश्मरी सूत्राशय की ग्रीवा में अटक गई हो।

(२) सूत्राशय संकुचित हो तथा उसकी भित्तियाँ शोथ-युक्त हों।

(३) सूत्राशय में तीव्र शोथ हो और सूत्रमार्ग भी संक्रमित हो।

(४) मूत्राशय के संक्रमण में भी यही कर्म उपयुक्त है।

---

1 .Sime's staff.

अठारहवाँ परिच्छेद

*हर्निया इत्यादि

हर्निया (आन्त्रवृद्धि)—साधारणतया इस रोग को आँतों का उतरना कहा जाता है, क्योंकि रोगी के खाँसने या किसी प्रकार का बल करने से आँतों अथवा अन्त्रियों का कुछ भाग अण्डकोष अथवा ऊरु में उतर आता है। नाभि के स्थान में हर्निया अधिकतर बच्चों में पाई जाती है। अन्त्रियों का कुछ भाग नाभि के छिद्र के द्वारा चर्म के नीचे पहुँच जाता है और उदर के ऊपर एक फूला हुआ उभार सा दीखने लगता है, जो हाथ से नीचे की ओर दाबने से एक गड़गड़ाहट के साथ उदर में समा जाता है। अन्त्रियों के किसी भाग के एक छिद्र के द्वारा निकलकर किसी दूसरे स्थान में पहुँच जाने को हर्निया के नाम से पुकारा जाता है। वास्तव में हर्निया दूसरे अङ्गों, जैसे फुस्फुस या मस्तिष्क, की भी हो सकती है। किन्तु साधारणतया इस शब्द को अन्त्रियों ही के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता है और ऊपर बताये हुए तीन स्थानों ही में यह दशा अधिकतर पाई जाती है।

कारण—रोग के उत्पन्न होने के दो प्रकार के कारण कहे जा सकते हैं। एक वह जो जन्म ही से उपस्थित होते हैं, जिनके कारण परिविस्तृत कला[1] और पेशियों में किसी विशेष स्थान पर इस प्रकार की दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है कि उसके द्वारा अन्त्रियाँ बाहर निकल आती हैं। इनको सहज कारण कहा जा सकता है। दूसरे वह होते हैं जो जन्म के पश्चात् किसी प्रकार उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे शस्त्रकर्म के पश्चात् उदर की पेशियों में एक बड़े क्षताङ्क चिह्न का बन जाना। इनके अतिरिक्त रोग को उत्पन्न करनेवाले तत्कालिक कारण भी होते हैं, जैसे अत्यन्त बल लगाकर किसी भारी वस्तु को उठाना अथवा ज़ोर से खाँसना।

सहज कारण—(१) पुरुष में, उत्पत्ति के समय, अण्डग्रन्थियाँ उदर के भीतर रहती हैं। तत्पश्चात् वह वहाँ से उतरकर अण्डकोष में पहुंचती हैं। उदर परिविस्तृत कला से वेष्टित रहता है। इस कारण जब यह ग्रन्थियाँ उदर में उतरती हैं तो वह कला में एक भाग को अपने साथ कोषों में खींच लाती हैं। यह कला का भाग अण्डग्रन्थियों पर चारों ओर चढ़ा रहता है। इससे ग्रन्थि पर एक प्रकार का आवेष्टन बन जाता है, जो ऊपर की ओर अण्ड-रज्जु पर भी, जो उदर से अण्डग्रन्थियों तक आती है, चढ़ जाता है। अतएव अण्डग्रन्थियों से उदर तक रज्जु पर भी कला का एक वेष्टन रहता है। उदर में पहुँच कर वह उदर कला के साथ मिल जाता है। वास्तव में यह सारा वेष्टन उदरकला ही का एक भाग है

नोट—यद्यपि यह रोग आन्त्रवृद्धि के नाम से सम्बोधित किया गया है, किन्तु यह उचित नहीं है। इस रोग में अन्त्रियों में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती; केवल उनका एक भाग अपने स्थान से दूसरे स्थान को चला जाता है।

* देखो सुश्रुत निदानस्थान अ० १२, श्लो० ६।

1. Peritoneum.

जो अण्डरज्जु पर लिपटा हुआ अण्डकोषों में पहुंचकर ग्रन्थियों पर एक प्रकार का आवरण बना देता है। अण्डरज्जु पर वह इस प्रकार चिपटा रहता है कि रज्जु और वेष्टन के बीच में तनिक भी स्थान नहीं रहता। इस कारण अन्त्रियाँ उसके भीतर नहीं जा सकतीं। किन्तु जब किसी कारण से यह आवेष्टन ढीला रह जाता है तो वह छिद्र अथवा उदर में का वह स्थान, जहाँ से रज्जु और वेष्टन का अण्डकोषों की ओर उतरना आरम्भ हुआ था, चौड़ा हो जाता है। इससे कला के वेष्टन और अण्डरज्जु के बीच में कुछ अन्तर रह जाता है। स्त्रियों में गर्भाशय के गोल[1] बन्धन पर भी ऐसा ही होता है। ऐसी दशा होने पर हर्निया अत्यन्त सहज में उत्पन्न हो जाती है।

(२) जब अण्डग्रन्थि स्वाभाविक समय से देर से उदर से कोषों में जाती है तो उससे भी वंक्षणी अथवा अन्य किसी प्रकार की अन्त्रियों की हर्निया उत्पन्न हो जाती है।

(३) उदर-पेशियों की पैतृक दुर्बलता, उनमें छिद्रों का बन जाना अथवा स्वाभाविक छिद्रों का चौड़ा हो जाना, नाभि के छिद्र का पूर्णतया न बन्द होना, इत्यादि दशा में रोगोत्पत्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

जातोत्तर कारण— जन्म के पश्चात् जिन कारणों से उदर पेशियों में दुर्बलता उत्पन्न होती है वह सब हर्निया उत्पन्न कर सकते हैं। उदर के शस्त्रकर्म के पश्चात् वहाँ की क्षताङ्क धातु के दृढ़ न होने से उस स्थान पर हर्निया उत्पन्न हो सकती है। उदर में किसी भी स्थान पर आघात के लगने से वहाँ हर्निया होती देखी गयी है।

कुछ मनुष्यों का व्यवसाय ऐसा होता है कि उनको भारी बोझ उठाने पड़ते हैं, जिससे उदर-पेशियों पर सदा भार पड़ा करता है। इससे कुछ समय के पश्चात् उनमें दुर्बलता आ जाती है। जो व्यक्ति कास रोग से ग्रस्त होते हैं उनकी भी यही दशा होती है।

उदर की पेशियों के ढीली हो जाने से भी रोग की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। स्त्रियों की उदर की पेशियाँ गर्भकाल में खिंचती है और कई बार गर्भ होने के पश्चात् वह ढीली पड़ जाती है। इसी प्रकार वृद्धावस्था में स्थूल शरीरवाले मनुष्यों की उदर की पेशियाँ ढीली हो जाती हैं और नीचे की ओर को लटकने लगती हैं। अधिक स्थूलता स्वयं रोग की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है।

रोग उत्पन्न होने का तात्कालिक कारण अन्त्रियों पर किसी प्रकार का अत्यधिक भार होता है, जैसे किसी भारी वस्तु का उठाना, वेग से खाँसना अथवा मूत्र या मल-त्याग में बहुत बल का प्रयोग करना इत्यादि। हर्निया के उत्पन्न होने के लिए स्थान पहले ही से रहता है। इस भार के पड़ने से अन्त्रियाँ तुरन्त उस पूर्वजात छिद्र के द्वारा निकलकर हर्निया उत्पन्न कर देती है।

हर्निया की रचना—जिस समय अन्त्रियाँ अण्डकोष या ऊरु में उतरती हैं उस समय वह परिविस्तृत कला के एक भाग को, जो उदर में उनको तथा दूसरे अङ्गों को ढके रहता है, अपने साथ नीचे को खींच लाती हैं। यह कला का भाग अन्त्रियों के उतरे हुए भाग को ढके रहता है और 'कोष' कहलाता है। इसके भीतर जो कोई अङ्ग उपस्थित होता है वह उसका 'अवयव' कहा जाता है। इस कोष का ऊपरी भाग, जो वंक्षणी अथवा और्वी

१. Round ligament.

नलिका के ऊपरी या भीतरी छिद्र में होकर निकलता है, 'ग्रीवा' और शेष चौड़ा भाग 'गात्र' कहलाता है। इस कोष का आकार एक काँच के फ्लास्क या बोतल की भाँति होता है, जिसका ऊपरी भाग (अथवा ग्रीवा) लम्बा और नीचे का भाग चौड़ा तथा गोल और फूला हुआ होता है। कभी-कभी ग्रीवा की दोनों ओर की दीवारें अन्त्रियों के साथ जुड़ जाती हैं और कोष के भीतर तरल द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। इस कोष के ऊपर उदर की पेशियाँ चढ़ी रहती हैं।

कोष के अवयव—कोष में निम्न-लिखित अङ्ग पाये जा सकते हैं—(१) अन्त्रियों का कुछ भाग, (२) अन्त्रिकला,[1] (३) बृहत् अन्त्र का प्रथम भाग[2], (४) आन्त्र परिशिष्ट[3], (५) मूत्राशय, (६) कभी-कभी डिम्बग्रन्थि[4] और डिम्ब-प्रणाली[5] भी पाये गये हैं।

हर्निया के लक्षण और चिह्न—जिस स्थान पर हर्निया होती है वहाँ एक गोल या अण्डे के आकार का उत्सेध बन जाता है। दशा जितनी पुरानी होती है उतना ही यह उत्सेध बड़ा होता है। कभी-कभी इसका आकार बहुत बढ़ जाता है। जब रोगी खड़ा होकर खाँसता है या बल करता है तो उत्सेध अधिक बड़ा हो जाता है। रोगी के खाँसने से उत्सेध पर रखे हुए हाथ को एक सरसराहट प्रतीत होती है। यदि रोगी को लिटाकर उत्सेध को भीतर की ओर दबाया जावे तो वह गड़गड़ाहट के साथ उदर के भीतर समा जाता है। यह गड़गड़ाहट की ध्वनि और सरसराहट तभी प्रतीत होते हैं जब उत्सेध के भीतर अन्त्रियाँ होती हैं। किन्तु जब वहाँ अन्त्रिकला होती है तब बहुत कम सरसराहट प्रतीत होती है अथवा नहीं होती। और उसके उदर में समाने पर भी कोई गड़गड़ाहट नहीं मालूम होती। जब रोग के जीर्ण हो जाने पर अन्त्रियों की भित्तियाँ कोष के साथ जुड़ जाती हैं तब यह दोनों चिह्न उपस्थित नहीं होते। रोगी जब फिर उठ कर खड़ा होता है तो हर्निया धीरे-धीरे बाहर आती हुई दीखती है। किन्तु अन्त्रियों से बनी हुई हर्निया एक साथ उतर आती है।

हर्निया के प्रकार—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हर्निया विशेषकर तीन स्थानों में पाई जाती है। जब अन्त्रियाँ अण्डकोष में उतर आती हैं तब वह वंक्षणी हर्निया कहलाती है, क्योंकि वह वंक्षणी नलिका में होकर अण्डकोषों में पहुँचती है। जब अन्त्रियाँ और्वी[6] नलिका में होकर, जिसके द्वारा और्वी धमनी और शिरा ऊरु प्रान्त में आती हैं, ऊरु प्रान्त के ऊपरी भाग में पहुँचती हैं तो 'और्वी हर्निया' उत्पन्न होती है। यह वंक्षणी बन्धन[7] के कुछ नीचे ऊरु प्रान्त के ऊपरी भाग में भीतर की ओर एक उत्सेध के रूप में प्रकट होती है जिसमें रोग के सब लक्षण पाए जाते हैं। इसी प्रकार नाभि के द्वारा भी अन्त्रियों का कुछ भाग बाहर निकल आता है। नाभि पर चर्म के नीचे उपर्युक्त समस्त लक्षण और चिह्न-युक्त उत्सेध दिखाई देता है।

इस भाँति हर्निया मुख्यतया तीन प्रकार की पाई जाती है-वंक्षणी, और्वी और नाभि।

वंक्षणी हर्निया

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वंक्षणी नलिका में अन्त्रियों के उतर आने को वंक्षणी हर्निया कहते हैं। यदि यह बढ़कर बहिर्वंक्षणी छिद्र में होती हुई अण्डग्रन्थि के ऊपर तक

---

१. Mesentry. २. Coecum. ३. Vermiform appendix. ४. Ovary. ५. Fallopian Tube. ६. Femoral canal. ७. Inguinal Ligament.

पहुंच जाती है तो वह पूर्ण वंक्षणी हर्निया कही जाती है। किन्तु यदि वह अण्डग्रन्थि के ऊपर ही अथवा बहिर्वंक्षणी छिद्र ही में रह जाती है तो अपूर्ण कहलाती है।

वंक्षणी हर्निया के दो मुख्य भेद हैं—वक्र और ऋजु।

(अ) वक्र वंक्षणी हर्निया[1]—इस प्रकार के रोगों में अन्त्रियाँ अथवा कला अन्तः-वंक्षणी छिद्र से वंक्षणी नलिका में प्रविष्ट होकर समस्त नलिका में होती हुई बहिर्वंक्षणी छिद्र के द्वारा निकलकर अण्डकोष में पहुंचती हैं। प्रथम रोगी के शरीर में बहिर्वंक्षणी छिद्र के नीचे केवल एक उत्सेध दीखता है जो खाँसने के समय बढ़ जाता है। कुछ समय में वह धीरे-धीरे बढ़ता हुआ अण्डकोषों में पहुंच जाता है और उसका आकार उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। हर्निया का जो भाग नलिका के भीतर रहता है वह संकुचित और लम्बा होता है। अण्डरज्जु हर्निया के पीछे की ओर स्थित होती है और अण्डकोषों में ग्रन्थियाँ नीचे अथवा पीछे होती हैं। दशा के जीर्ण हो जाने पर नलिका की लम्बाई छोटी हो जाती है। दोनों छिद्र एक दूसरे के समीप पहुंच जाते हैं। इस प्रकार की हर्निया में औदरिका गम्भीरा[2] धमनी कोष की ग्रीवा के भीतर की ओर रहती है।

वक्र वंक्षणी हर्निया के भी कई भेद पाये जाते हैं। उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) जातोत्तर वक्र वंक्षणी[3] हर्निया—यहाँ पर कोष केवल परि-विस्तृत अथवा औदर्याकला का बना होता है और प्रायः अण्डग्रन्थि तक फैला रहता है। किन्तु कभी-कभी बड़ा होने पर वह सारी ग्रन्थि को ढक लेता है। अण्डरज्जु के अवयव कोष पर फैल जाते हैं। रोग के जीर्ण होने पर नलिका का अन्तःछिद्र बाहरी छिद्र के बिलकुल पीछे आ जाता है।

(२) सहज वक्र वंक्षणी[4] हर्निया—इसका कारण उदर से अण्डग्रन्थि के साथ औदर्याकला के नीचे उतरनेवाले भाग का ऊपर की ओर बन्द न होना होता है। हर्निया के लिए मार्ग बन जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि हर्निया जन्म ही से उत्पन्न हो जाय। प्रायः वह युवावस्था में उस समय उत्पन्न होती है जब व्यक्ति किसी प्रकार का बल करता है।

प्रायः उदर से औदर्याकला का उतरनेवाला भाग उपाण्ड पर जाकर बन्द हो जाता है। ऐसी दशा में हर्निया भी ऊपर से केवल उपाण्ड तक पहुंचती है। यह 'रज्जवीय' हर्निया कही जाती है। किन्तु जब कला का भाग नीचे की ओर अण्डग्रन्थियों तक पहुंच जाता है और उसके वेष्टन के सम्पर्क में रहता है तो हर्निया 'वेष्टनीय[6]' कहलाती है।

(३) आवेष्टित हर्निया[7]—यहाँ पर औदर्याकला का उतरनेवाला भाग उदर में अतःवंक्षणी छिद्र पर बन्द हो जाता है। किन्तु वहाँ से नीचे की ओर चौड़ा रहता है जिससे उसका अण्डग्रन्थि के आवेष्टन के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इस कारण यह आवेष्टन ऊपर की ओर वंक्षणी नलिका तक फैला रहता है। हर्निया का कोष इसके पीछे की ओर रहता है अथवा इसके पीछे की भित्ति को दाबता हुआ सामने तथा नीचे की ओर

---

१. Oblique Inguinal Hernia. २. Deep epigastric Artery. ३. Acquired oblique Inguinal Hernia. ४. Congenital oblique Inguinal Hernia. ५. Congenital Vaginal Hernia. ६. Congenital Funicular Hernia. ७. Infantile or encysted Hernia.

चला आता है। शस्त्र-कर्म में अण्डवेष्टन को खोलने के समय यह उसके पीछे की ओर स्थित मिलता है।

(क) ऋजु वंक्षणी हर्निया[1]—इस दशा में हर्निया का कोष समस्त वंक्षणी-नलिका को पार नहीं करता। केवल उसके एक भाग में होकर बाहर आ जाता है। अंतः-वंक्षणी छिद्र बन्द रहता है। कोष इस छिद्र से नीचे की ओर, नलिका की पश्चिम भित्ति के द्वारा, नलिका के भीतर आता है। शेष मार्ग सामान्य होता है। अर्थात् वह बहिर्वंक्षणी छिद्र के द्वारा अण्डग्रन्थियों तक पहुंचता है। औदरिकी गम्भीरा धमनी कोष को ग्रीवा के बाहर की ओर रहती है। अण्डरज्जु कोष के बाहर स्थित होती है और उसके अवयव वक्र हर्निया की भाँति कोष पर नहीं फैले रहते।

यह हर्निया सदा युवावस्था या उसके पश्चात् उत्पन्न होती है। इसकी वृद्धि धीमी होती है और वह प्रायः अण्डग्रन्थियो तक नहीं पहुंचती। हर्निया के उत्सेध की भगसन्धा-निका की ओर फैलने की प्रवृत्ति होती है। यह अवरुद्ध भी बहुत कम होती है। यह दशा प्रायः दोनों ओर उपस्थित पाई जाती है।

रोग-निश्चिति—सामान्य दशाओं में हर्निया का निश्चय करना कठिन नहीं है। खाँसने पर उत्सेध में सरसराहट प्रतीत होना, रोगी के लेटने पर गड़गड़ाहट के साथ उत्सेध का उदर में समा जाना और रोगी के खड़े होने पर उत्सेध का पुनः ऊपर से नीचे की ओर को प्रकट होना रोग के विशेष लक्षण हैं जिनमें सन्देह होना कठिन है। किन्तु यदि कोष और नलिका की भित्तियाँ तथा कोष के भीतर स्थित अन्त्रियों की भित्ति जुड़ गई हों तो उत्सेध उदर में न समायेगा। ऐसी दशा में रोग के इतिहास से सहायता लेनी चाहिए। सरसराहट इस दशा में भी प्रतीत होगी। कोष के भीतर केवल आन्त्रकला के स्थित होने से उत्सेध में सरसराहटभी न प्रतीत होगी। यदि वह उदर में समा जावे और फिर रोगी के खड़े होने पर प्रकट हो तो रोग निश्चय है।

हर्निया के अण्डकोष में उतरने से पूर्व उसको निम्नलिखित रोगों से पहिचानना पड़ता है।

(१) वंक्षणी नलिका की जीर्ण विद्रधि—श्रोणिचक्र, उदरगुहा तथा उदर-भित्तियों में उत्पन्न हुई विद्रधि की पूय कभी-कभी वंक्षणी नलिका द्वारा बाहर उत्सेध के रूप में प्रकट होती है जिसमें कुछ सरसराहट भी प्रतीत होती है और जो दाबने से उदर में समा भी जाती है। किन्तु उत्सेध की सीमा स्पष्ट नहीं होती। वह चारों ओर फैला रहता है। साथ में पूयोत्पादन के अन्य लक्षण भी उपस्थित होते हैं।

(२) वर्धित ग्रन्थियाँ—वंक्षण प्रान्त में स्थित लसीका ग्रन्थियाँ शोथ-युक्त होकर कभी-कभी उत्सेध के समान दीखने लगती हैं और उनमें सरसराहट भी प्रतीत होती है। किन्तु यह एक ही स्थान में परिमित रहती हैं, हर्निया की भाँति चारों ओर को नहीं फैलतीं। इनकी हर्निया के समान प्रतीति भी नहीं होती।

(३) अण्डग्रन्थि—जो वंक्षणी नलिका से नीचे नहीं उतरी है। अण्डकोष खाली होता है। इसके निश्चय में कोई कठिनाई नहीं होती।

(४) अण्डरज्जु में तरलातिवृद्धि—अण्डकोषों के समान जब अण्डरज्जु में भी जल भर जाता है तो वह वंक्षण प्रान्त में हर्निया के उत्सेध के समान दीखता है।

१. Direct Inguinal Hernia.

किन्तु वह पूर्णतया उदर में नहीं समाता और न समाने के समय गड़गड़ाहट ही होती है। यदि अण्डग्रन्थियों को पकड़कर नीचे को खींच लिया जाय तो यह उत्सेध स्थिर हो जायगा और पहले के समान वंक्षणी नलिका में ऊपर-नीचे चलायमान न होगा।

(५) वसार्बुद, रक्तार्बुद तथा अन्य प्रकार के अर्बुद—रक्तार्बुद की उपस्थिति में चोट लगने का इतिहास मिलता है। अर्बुदों की सीमा अत्यन्त स्पष्ट होती है। उनमें खाँसने पर सरसराहट नहीं प्रतीत होती।

चिकित्सा—जब हर्निया में कोई उपद्रव नहीं होता तो प्रायः रोगी पेटी या लँगोट बाँधकर काम चला लेते हैं। वह केवल उसी समय शस्त्र-कर्म द्वारा चिकित्सा करवाने के लिए आते हैं जब हर्निया के अवरुद्ध हो जाने से उनके प्राणों पर आ बनती है।

साधारण दशा में रोग के प्रारम्भ में पेटी के प्रयोग से, जिसको ट्रस भी कहते हैं, बहुत लाभ होता है। किन्तु रोग के पुराने हो जाने पर ऐसा नहीं होता। जब तक पेटी लगी रहती है तब तक आँत नहीं उतरने पाती, किन्तु उसको हटा देने पर फिर उतर आती है। प्रारम्भ में कुछ समय तक लगातार प्रयोग करने से हर्निया के छिद्र के बन्द होने की बहुत कुछ सम्भावना रहती है।

ट्रस[1] या आँत की पेटी—यह ट्रस या पेटी एक कमानी की बनी होती है जिसका अगला भाग हर्निया के छिद्र के ऊपर रहता है और पिछला भाग शरीर के चारों ओर होता हुआ पीछे की ओर दूसरी नितम्बास्थि पर पहुँचता है। यह सारा भाग नमदे और साधारण वस्त्रों से ढका रहता है। जो भाग आँतों की ओर हर्निया के ऊपर रहता है वह चौड़ा होता है और उस पर पर्याप्त रूई और वस्त्र चढ़े रहते हैं जिससे लोह की कमानी किसी प्रकार चर्म में गड़ने नहीं पाती। उस चौड़े भाग के नीचे की ओर एक मोटी रूई की कवलिका लगाकर नमदे या अन्य किसी प्रकार के वस्त्र से ढक दी जाती है। पीछे की ओर, जहाँ पर कमानी समाप्त होती है वहाँ से आगे के चौड़े भाग तक, वस्त्र का एक फीता रहता है। उस फीते में छिद्र होते हैं जिनके द्वारा उसको चौड़े भाग पर के आँकड़ों में लगा दिया जाता है। कमानी में एक तीसरा फीता होता है। यह फीता हर्निया की ओर के नितम्ब के पीछे से आरम्भ होकर नितम्ब के नीचे से निकलकर ऊरु के भीतर की ओर पहुँचता है। वहाँ उसको चौड़े भाग पर लगे हुए दूसरे आँकड़े पर स्थित कर दिया जाता है। यह फीता कसा हुआ रहना चाहिए। ढीला रहने से उसका प्रयोजन पूरा न होगा।

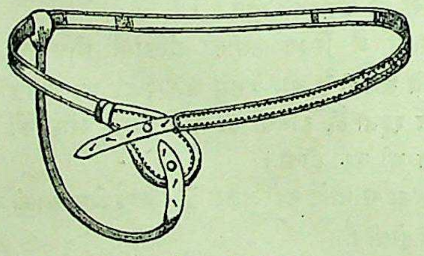

चित्र नं० १७७

दाहिनी ओर की वंक्षणी हर्निया की ट्रस

कुछ कमानियों में आगे के चौड़े भाग पर काग चढ़ा रहता है और वह वस्त्र द्वारा ढका रहता है। कभी-कभी काग के स्थान पर लकड़ी का उपयोग करते हैं। रबर की गद्दी को भी, जिसमें वायु और जल भरा जा सकता है, प्रयोग करते है। किन्तु उसके ऊपर चमड़ा चढ़ा दिया जाता है। ट्रस ऐसी होनी चाहिए कि वह हर्निया के छिद्र को पूर्णतया बन्द किये रहे, किन्तु उस स्थान

1. Truss.

को इतना न दबावे कि उससे चर्म क्षत होकर वहाँ पर व्रण बन जायँ।

पेटी का सामने का चौड़ा भाग कमानी से सदा कुछ नीचे और आगे की ओर झुका रहता है। यह झुकाव भिन्न-भिन्न प्रकार की हर्निया में भिन्न होता है। वंक्षणी हर्निया में यह झुकाव कम होता है, किन्तु ऊरु की हर्निया में झुकाव का कोण बढ़ जाता है, क्योंकि दोनों दशाओं में हर्निया की स्थिति में अन्तर होता है। इस आगे के झुके हुए भाग का काम न केवल हर्निया के बाह्य छिद्र ही को बन्द करना होता है किन्तु हर्निया की सारी नलिका और उसके भीतर का छिद्र भी इस भाग के द्वारा बन्द रहता है। इसलिए यह भाग ऐसा होना चाहिए कि वह सारे स्थान पर समान भार डाले।

जब दोनों ओर हर्निया होती है तब उसके लिए दुहरी ट्रस बनाई जाती है जिसमें आगे के चौड़े भाग दोनों ओर रहते हैं। ऐसी ट्रसों में कमानी पीछे की ओर बीच ही में समाप्त नहीं होती, वरन् एक ही कमानी एक ओर की हर्निया से दूसरी ओर की हर्निया तक रहती है। नीचे या पीछे की ओर दो फीते रहते हैं, जिनको आगे लाकर हुकों पर लगा दिया जाता है। आगे के भाग भी एक छोटे फीते से जुड़े रहते हैं।

नाभि की ट्रस— इसमें दो चौड़ी कवलिकाएँ होती हैं जिनमें से बड़ी नाभि के ऊपर सामने की ओर और छोटी पीछे की ओर रहती है। यह दोनों कवलिकाएँ एक कमानी से जुड़ी रहती हैं जो नाभि से आरम्भ होकर पार्श्व पर होती हुई पीछे को चली जाती है और पीछे की कवलिका से मिल जाती है। दूसरी ओर यह कवलिकाएँ एक दृढ़ फीते के द्वारा जुड़ी रहती हैं जो शरीर के दूसरे पार्श्व पर से होकर पीछे को जाता है। इससे अगली कवलिका ठीक नाभि पर रहती है और हर्निया के छिद्र को दाबे रहती है।

हर्निया के लिए ट्रस की नाप— जब किसी ट्रस बनानेवाले से ट्रस मँगानी हो तो उसको ट्रस की नाप भेजनी आवश्यक है। यदि रोगी स्वयं उसके पास जा सके तो बहुत उत्तम है। किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो उसके लिए जिन भिन्न-भिन्न नापों की आवश्यकता है उनको भेजकर ट्रस बनाने के लिए आज्ञा दी जा सकती है। यह याद रखना चाहिए कि यदि ट्रस में कुछ भी त्रुटि रह गई तो वह लाभ के स्थान में हानि पहुँचा सकती है।

ट्रस के लिए आज्ञा देते समय प्रथम यह बताना चाहिए कि हर्निया किस प्रकार की है और वह कितनी बड़ी है। उसके पश्चात् रोगी के उदर के उस स्थान की, जहाँ पर ट्रस रहेगी, नाप लेनी चाहिए। वंक्षणी और और्वी हर्निया के लिए रोगी के शरीर की चारों ओर उस स्थान पर का नाप लेनी चाहिए जहाँ पर ट्रस रहती है। अतएव नितम्बास्थि की पुरोर्ध्व-धारा और ऊर्वस्थि के महाशिखरक के बीच के स्थान पर होते हुए शरीर के व्यास को नाप लेना चाहिए। नापते समय आगे की ओर फीते को शिश्नमूल की ओर झुका देना चाहिए। साथ में, यदि सम्भव हो तो, नीचे के फीते की भी नाप देनी उचित है। साथ में जितने दबाव की ट्रस चाहिए वह भी बतानी चाहिए।

चिकित्सक को चाहिए कि वह स्वयं पेटी के आने पर उसको रोगी के शरीर पर लगाकर उसकी परीक्षा कर ले। उसको लगाकर रोगी को खड़ा करके खूब ज़ोर से खाँसने को कहना चाहिए और तत्पश्चात् देखना चाहिए कि उससे हर्निया उत्पन्न तो नहीं हुई।

रोगियों के ध्यान रखने योग्य बातें—रोगियों को इन पेटियों का दिन भर प्रत्येक समय प्रयोग करने के पश्चात् रात्रि को सोते समय निकाल देना चाहिए। किन्तु यदि उन्हें खाँसी का रोग हो तो रात्रि के समय भी पेटी का प्रयोग करना आवश्यक है। रात्रि को निकाल देने के पश्चात् प्रातःकाल उठने पर बिस्तर से बाहर निकलने के पूर्व उसको फिर लगा लेना चाहिए। बच्चों में सहज हर्निया के लिए पेटी को प्रत्येक समय रात्रि-दिवस लगाना उचित है। जब पेटी को उतारा जाय तो एक अँगुली से हर्निया के छिद्र को दबाकर शीघ्र ही दूसरी पेटी को लगा देना चाहिए। इसके पश्चात् प्रथम उतारी हुई पेटी को स्वच्छ किया जा सकता है।

शस्त्र-कर्म—शस्त्र-कर्म द्वारा वंक्षणी छिद्र, जिसके द्वारा हर्निया उत्पन्न होती है, बन्द कर दिया जाता है। इससे हर्निया की उत्पत्ति सदा के लिए बन्द हो जाती है। जिन व्यक्तियों को जीवनोपार्जन के लिए कोई विशेष परिश्रम का कार्य नहीं करना पड़ता और जो उत्तम पेटी का प्रयोग करने में समर्थ हैं उनके लिए शस्त्र-कर्म करवाना इतना आवश्यक नहीं है जितना उन व्यक्तियों के लिए, जिनको उदरपूर्ति के लिए निरन्तर परिश्रम करना होता है। किन्तु तो भी सामान्यतया डेढ़ वर्ष से ६५ वर्ष की आयुवाले व्यक्तियों में यह शस्त्र-कर्म करना उचित है। इससे हर्निया के अवरुद्ध होने का भय जाता रहता है। विवाहित अथवा विवाह करनेवाले स्त्री तथा पुरुषों को शस्त्र-कर्म अवश्य करवा लेना चाहिए। सामान्यतया निम्नलिखित दशाओं में शस्त्र-कर्म करना उचित है—

(१) यदि हर्निया के उत्सेध का आकार धीरे-धीरे निरन्तर बढ़ता जाय।

(२) यदि पेटी से हर्निया का उतरना न रुके।

(३) यदि अवरोध के लक्षण कभी उत्पन्न हो चुके हों।

(४) यदि शारीरिक परिश्रम द्वारा जीविकोपार्जन करना पड़ता हो।

(५) यदि विवाह हो गया हो अथवा होनेवाला हो।

(६) यदि हर्निया के साथ अण्डग्रन्थि भी वंक्षणी नलिका में स्थित हो।

(७) यदि व्यक्ति को किसी ऐसे स्थान को जाना हो जहाँ आवश्यकता होने पर शस्त्र-कर्म का आयोजन न हो सके।

निम्न-लिखित दशाओं में शस्त्र-कर्म के पूर्व भली भाँति विचार कर लेना चाहिए और जब तक अत्यन्त आवश्यकता न हो शस्त्र-कर्म न करना चाहिए—

(१) यदि उदर-भित्तियों की पेशियाँ दुर्बल हो गई हों।

(२) यदि आयु ६५ वर्ष से अधिक हो।

(३) यदि व्यक्ति इक्षुमेह वृक्कशोथ, पैतृक रक्तस्राव इत्यादि से ग्रस्त हो।

(४) यदि रोगी बहुत समय से हर्निया द्वारा पीड़ित हो जिसका आकार बहुत बढ़ गया हो। प्रायः इस प्रकार की हर्निया कर्षण से उदर में नहीं समाती। शस्त्र-कर्म द्वारा आन्त्र के सारे भाग को, जो हर्निया के कोष में स्थित है, उदर में लौटाने से उदर के भीतर का भार बढ़ जायगा और हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

इस प्रकार सब बातों को विचारकर शस्त्र-कर्म करना अथवा शस्त्र-कर्म की सलाह देना उचित है।

शस्त्र-कर्म करने के पूर्व रोगी को भली भाँति तैयार कर लिया जाता है। समस्त वंक्षण तथा पेडू और ऊरु के ऊपरी प्रान्त की पूर्ण शुद्धि करने के पश्चात् शस्त्र-कर्म से पूर्व एक बार फिर शुद्धि की जाती है। अन्त में रोगी को मेज़ पर लिटाकर एक बार टिंक्चर आयोडीन का लेप किया जाता है।

प्रथम चर्म पर लगभग चार इंच लम्बा भेदन किया जाता है, जिसे वंक्षणी बन्धन के मध्य भाग के आधा इंच उपर से प्रारम्भ करके वंक्षण के समानान्तर भग-सन्धानिका से तनिक बाहर की ओर तक ले जाते हैं। कभी-कभी भेदन को अण्डकोष पर भी ले जाना पड़ता है। किन्तु जहाँ तक हो सके, ऐसा न करना चाहिए। इससे क्षत के संक्रमित हो जाने का भय रहता है तथा पट्टी बाँधने में भी कठिनता होती है। साथ ही इस प्रान्त में रक्तस्राव का अधिक भय होता है।

भेदन द्वारा चर्म, प्रावरणी आदि को काट चुकने पर उदरच्छदा आदिमा के कला-वितान के श्वेत चमकते हुए सूत्र दीखते हैं जिसके नीचे और भीतरी भाग में स्थित बहिर्वंक्षणी छिद्र द्वारा हर्निया निकलती है। वितान को भी बाहर और ऊपर की ओर वंक्षणी नलिका की दिशा में विभाजित किया जाता है ओर दोनों सिरों को निवर्त्तकों[1] द्वारा, जिनका व्रण के सिरों को हटाने के लिए प्रयोग किया जाता है, इधर-उधर को खींच लिया जाता है। इस समय व्रण में स्थित हर्निया का कोष दिखाई देता है जिसके साथ अण्डरज्जु मिली रहती है। इस रज्जु को कोष से पृथक् करके एक ओर को खींचने के पश्चात् कोष को वंक्षणी नलिका के बहिःछिद्र से आगे की ओर जितना भी खींचा जा सकता है खींचा जाता है। यदि कोष के भीतर अन्त्रियाँ स्थित होती हैं तो उनको उदर के भीतर लौटा दिया जाता है। इसके लिए कोष को एक स्थान पर काटकर उसके भीतर अँगुली डालकर चारों ओर को देखा जाता है कि अन्त्रियाँ कोष से कहीं जुड़ी तो नहीं हैं। यदि जोड़ होता है तो वह तोड़ दिया जाता है।

इस प्रकार अन्त्रियों को लौटाने के पश्चात् वंक्षणी छिद्र के अत्यन्त समीप कोष को पूर्णतया बाहर की ओर खींचकर उसकी ग्रीवा में सूचिका द्वारा कैटगट का टाँका लगा दिया जाता है। यह टाँका या टाँके उदर के जितने समीप लगाये जा सके लगाने चाहिएँ। तत्पश्चात् कोष का शेष भाग काट दिया जाता है। ऊपर का ग्रन्थि लगा हुआ भाग स्वयं ही उदर के भीतर की ओर चला जाता है।

अब वंक्षणी छिद्र और क्षत को बन्द करना रह जाता है। प्रथम वंक्षणी बन्धन को स्पष्ट करके उसके नीचे के भाग को उदरच्छदा मध्यमा और अन्तिमा की संयुक्त कण्डरा के साथ उसके ऊपर की ओर से कुछ दूर तक उदरच्छदा आदिमा के कला-वितान को हटाकर, सी दिया जाता है। अण्डरज्जु इससे ऊपर रहती है। तत्पश्चात् उदरच्छदा आदिमा के कला-वितान के कटे हुए किनारों को सीने के पश्चात् क्षत के ओष्ठों को दुहरे टाँकों से सी दिया जाता है।

साधारणतया दस दिवस के पश्चात् टाँके काट दिये जाते हैं। बालकों को दस दिवस के पश्चात् चलने-फिरने की आज्ञा दी जा सकती है। युवावस्था में रोगी को दो सप्ताह तक शय्यारूढ़ रखना आवश्यक है। तत्पश्चात् दो या तीन सप्ताह तक वह धीरे-धीरे थोड़ा टहल सकते हैं। इसके पश्चात् वह अपना साधारण काम करने योग्य हो जाते

1. Retractors.

हैं। वृद्धावस्था में रोगियों को इससे भी अधिक शय्यारूढ़ करके रखना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो रोगी को कुछ समय तक पेटी का प्रयोग कराना चाहिए। वृद्धावस्था, उदर-पेशियों की दुर्बलता और पूयोत्पादन के कारण क्षताङ्क धातु का दृढ़ न होना इत्यादि दशाओं में पेटी लगानी उचित है।

जिस शस्त्र-कर्म का ऊपर वर्णन किया गया है उसमें कई विद्वानों ने कुछ परिवर्त्तन किये हैं। किन्तु सिद्धान्त वही है—कोष को बन्द करना और वंक्षणी नलिका को पेशी इत्यादि द्वारा दृढ़ करना।

और्वी हर्निया

रोग के इस रूप में अन्त्रियाँ 'और्वी नलिका'[1] में होती हुई ऊरु प्रान्त में पहुँचती हैं। इस नलिका के वास्तव में तीन भाग होते हैं। सबसे बाहरी भाग में और्वी धमनी और बीच के भाग में और्वी शिरा रहती है। तीसरा भाग, जो भीतर की ओर स्थित होता है, ख़ाली रहता है। उसमें केवल कुछ वसा अथवा एक या दो लसीका-ग्रन्थियाँ रहती हैं। नलिका का यह भाग ऊपर उदर की ओर भी कुछ वसामय धातु से बन्द रहता है। नीचे ऊरु की ओर इसमें एक अण्डाकार छिद्र होता है जिस पर 'चालनी प्रावरणी'[2] ढकी रहती है। इस नलिका की लम्बाई सामने की ओर $\frac{3}{4}$ इंच और पीछे की ओर $१\frac{१}{२}$ इंच के लगभग होती है। जब हर्निया ऊरु में उतरती है तो वह नलिका के इसी भाग में होती हुई आती है। शेष दोनों भागों में धमनी और शिरा होने के कारण उनमें ख़ाली स्थान नहीं होता और इस कारण इन भागों द्वारा हर्निया नीचे नहीं उतर सकती।

लक्षण— इस प्रकार की हर्निया स्त्रियों में अधिक पाई जाती है। इसका कारण श्रोणि का अधिक चौड़ा होना मालूम होता है जिससे और्वीय नलिका की भी चौड़ाई अधिक होती है। जिन स्त्रियों के कई बार बच्चे हो चुकते हैं उनमें विशेषतया इस रोग की अधिकता देखी जाती है।

यह हर्निया धीरे-धीरे उत्पन्न होती है। इसमें प्रायः कोई कष्ट नहीं होता। इस कारण विशेषकर स्थूलकाय स्त्रियों में यह दशा, बिना किसी प्रकार का कष्ट उत्पन्न किये, कई वर्षों तक रह सकती है, जिससे रोग की ओर ध्यान भी नहीं जाता। जब हर्निया नलिका के बहिःछिद्र से निकलती है तो वह वंक्षणी बन्धन के पास-पास ऊपर और बाहर जघनास्थि के पुरोर्ध्वकूट की ओर जाती है। आकार के बड़े होने पर हर्निया बन्धन से बहुत ऊपर तक फैल सकती है। इस प्रकार की हर्निया में प्रायः अन्त्रियाँ अधिक पाई जाती हैं।

इस रोग के लक्षण प्रायः अत्यन्त स्पष्ट होते हैं। भगास्थि के कण्टक के तनिक बाहर ऊरु के ऊपरी भाग में और्वीय रक्त नलिकाओं के भीतर की ओर एक गोल उत्सेध दिखाई देता है जिसमें खाँसने पर सरसराहट प्रतीत होती है। दाबने से सम्पूर्ण अथवा उत्सेध का बहुत सा भाग उदर में समा जाता है।

रोग के निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं होती। वंक्षणी हर्निया से उसको पृथक् करना सहज है। दोनों के उत्सेध तथा उनकी ग्रीवा की स्थिति में भिन्नता होती है।

---

१. Femoral canal. २. Fascia Cribrosa.

शोथ-युक्त लसीका-ग्रन्थि, वसार्बुद, विद्रधि तथा इस स्थान की प्रकुपित शिराओं से हर्निया को पहचान लेना आवश्यक है।

चिकित्सा का सिद्धान्त वंक्षणी हर्निया ही के समान है। प्रारम्भिक दशाओं में ट्रस या पेटी से लाभ होता है। किन्तु पेटी उत्तम होनी चाहिए जो हर्निया के छिद्र को भली भाँति दाबे रहे।

इस रोग की उन सब दशाओं में, जिनका वंक्षणी हर्निया के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है, शस्त्र-कर्म द्वारा चिकित्सा की जाती है और और्वी नलिका के उस भाग की, जिसके द्वारा हर्निया उत्पन्न होती है, पूर्व और पश्चिम भित्तियों को मिला दिया जाता है, जिससे यह नलिका बन्द हो जाती है। एक सीधे खड़े हुए भेदन द्वारा और्वी नलिका का हर्निया वाला भाग खोल लिया जाता है। कोष को बाहर खींचकर और अन्त्रियों को उदर में लौटाकर कोष की ग्रीवा का सुई और कैटगट से बन्धन करने के पश्चात् उसके शेष भाग को काट डाला जाता है। ग्रन्थित भाग छिद्र द्वारा उदर में चला जाता है। तत्पश्चात् और्वी नलिका के उदर की ओर वाले छिद्र को बन्द करने के लिए वंक्षणी बन्धन और छिद्र के नीचे भगास्थि पर स्थित धातु को, जो प्रायः एक बन्धन का भाग होता है, गहरे टाँकों द्वारा जोड़ दिया जाता है। इससे छिद्र बन्द हो जाता है। तत्पश्चात् व्रण के ओष्ठों को सी दिया जाता है।

नाभि की हर्निया

तीन प्रकार की नाभि की हर्निया पाई जाती हैं—(१) नाभिरज्जु अथवा नाल की हर्निया, (२) शिशुओं में नाभि-हर्निया और (३) युवा व्यक्तियों में नाभि-हर्निया।

(१) नाभिरज्जु अथवा नाल की हर्निया—जन्म के समय उदरभित्तियों के पूर्णतया बन्द न होने से नाल के भीतर अन्त्रियों का कुछ भाग उपस्थित मिलता है। नाल को काटते समय यदि इस दशा की ओर ध्यान नहीं जाता तो उससे अन्त्रियों के कट जाने का भय है जिससे दारुण दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि आन्त्र कटने से बच जावे किन्तु नाल के साथ बन्धन में आ जावे तो उससे भी यही दशा होगी। यदि नाभि का छिद्र, जिसके द्वारा अन्त्रियाँ निकलती हैं, छोटा हो तो उस पर एक मोटी और दृढ़ कवलिका बाँधने से काम चल सकता है। कुछ समय पश्चात् उदर-भित्तियों के बन्द हो जाने से हर्निया जाती रहेगी। किन्तु यदि छिद्र बड़ा हो और कवलिका से हर्निया न रोकी जा सके तो शस्त्र-कर्म करना उचित है। शिशु की अवस्था का ध्यान रखना आवश्यक है।

(२) शिशुओं तथा बालकों की नाभि-हर्निया—यह प्रायः जन्म के कुछ सप्ताह अथवा मास के पश्चात् उत्पन्न होती है। नाभि के छिद्र के दुर्बल होने से उसको क्षत करके हर्निया का कोष बाहर निकल आता है और एक उत्सेध की भाँति दीखता है जो दाबने से उदर में समा जाता है। इसकी उत्पत्ति में कोष्ठबद्धता, निरुद्ध प्रकष, अश्मरी अथवा अन्य दशाएँ—जिनके कारण बालक को बल करना पड़ता है—सहायता देती हैं। यह दशा प्रायः युवावस्था तक स्वयं ही ठीक हो जाती है।

चिकित्सा—कारण को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। कोष्ठबद्धता, प्रकष इत्यादि की उचित चिकित्सा आवश्यक है। हर्निया के ऊपर एक ट्रस लगाना पर्याप्त है। किन्तु

यदि इससे रोग न जाय, जैसा बहुत कम होता है, तो शस्त्र-कर्म का आश्रय लेना चाहिए।

(३) युवावस्था में नाभि-हर्निया—इस प्रकार की हर्निया ३० या ३५ वर्ष के पश्चात् स्त्रियों में पाई जाती है, विशेषकर उन स्त्रियों में जिनका शरीर स्थूल होता है। यह दुबली-पतली स्त्रियों में नहीं पाई जाती। इसका कारण यह मालूम होता है कि आन्त्रकला में वसा के एकत्र होने से उदर के भीतर की दाब बढ़ जाती है। साथ में उदर-भित्ति की पेशियों में भी वसा के एकत्र होने से उनके सूत्र खिंचकर दुर्बल हो जाते हैं। तिस पर जब कभी व्यक्ति को कहीं बल का प्रयोग करना होता है तो उदर-भित्ति की पेशियों के विच्छिन्न होने से छिद्र उत्पन्न हो जाता है और उसके द्वारा परिविस्तृत कला का बना हुआ कोष बाहर निकल आता है जिसमें अन्त्रियाँ होती हैं।

प्रायः कोष में आन्त्रकला का कुछ भाग होता हैं। किन्तु अनुप्रस्थ बृहत् अन्त्र और कभी-कभी क्षुद्रान्त्र का बहुत सा भाग भी पाया जाता है। वह छिद्र, जिसके द्वारा हर्निया निकलता है उदर-सीवनी में प्रायः नाभि के ऊपर अथवा नीचे स्थित होता है। कभी-कभी ऊपर और नीचे दोनों ओर दो छिद्र होते हैं। कोष की भित्ति और कोष के अवयव जीर्ण दशाओं में इस प्रकार जुड़ जाते हैं कि उनको पृथक् करना कठिन होता है। इस कारण उत्सेध उदर में भी नहीं समाता। उत्सेध के ऊपर का चर्म पतला पड़ जाता है। उसमें व्रण उत्पन्न हो सकते हैं, जिनसे परिविस्तृत कला का शोथ तक हो सकता है। इस प्रकार की हर्निया में बहुधा बद्धोदर उत्पन्न होते देखा गया है जिसके विशेष लक्षण कोष्ठबद्धता, आध्मान और वमन होते हैं।

चिकित्सा—रोग के अन्य स्वरूपों के समान चिकित्सा के दो उपाय ट्रस या पेटी और शस्त्र-कर्म हैं।

जब हर्निया बड़ी होती है तब पेटी से कोई लाभ नहीं होता। उससे हर्निया की वृद्धि न तो रुकती है और न कम ही होती है। प्रारम्भिक अवस्था में भी उसके उपयोग से बहुत लाभ की आशा न करनी चाहिए। साथ में कोष्ठबद्धता इत्यादि साधारण दशाओं की ओर भी ध्यान देना उचित है। उदर की पेशियों को व्यायाम द्वारा दृढ़ करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए विशेष प्रकार के व्यायाम होते हैं।

प्रायः इस दशा को शस्त्र-कर्म द्वारा ठीक करना पड़ता है। उत्सेध के दोनों ओर मुड़े हुए भेदन किये जाते हैं जिनका ऊपरी और निचला सिरा नाभि के ऊपर तथा नीचे उदर-सीवन पर स्थित होता है। भेदनों के बीच चर्म का भाग, जो बहुत पतला है, कोष के साथ काटकर निकाल दिया जाता है। भेदन द्वारा चर्म को काटकर कोष को स्पष्ट करके अन्त्रियों को उदर में लौटा दिया जाता है। आन्त्रकला को जो भाग कोष से जुड़ा होता है वह काटकर निकाल दिया जाता है। तत्पश्चात् छिद्र को बन्द किया जाता है। इसमें विशेष सावधानी की आवश्यकता है। भित्तियों के निर्बल होने के कारण छिद्र के ऊपर इस प्रकार टाँके लगाये जाते हैं कि एक ओर की पेशी दूसरे ओर की पेशी को कुछ ढक लेती है अथवा उसके ऊपर चढ़ जाती है। इस प्रकार पूर्व छिद्र पेशियों के दूसरे स्तर से ढक जाता है। तत्पश्चात् चर्म और प्रावरणी को सीकर व्रण को बन्द कर दिया जाता है।

पूर्व हर्निया[1]

ऊपर बताये हुए स्थानों के अतिरिक्त उदर की पूर्व भित्ति में तथा अन्य स्थानों में भी, स्थानिक दुर्बलता के कारण, हर्निया उत्पन्न हो सकती है। इसको पूर्व हर्निया कहते हैं। बच्चों तथा बालकों में उदर-दण्डिका पेशियों के किसी स्थान पर पूर्णतया न जुड़ने से उनके द्वारा हर्निया का उत्सेध उत्पन्न हो जाता है। छिद्र को अँगुलियों द्वारा प्रतीत किया जा सकता है। इसके लिए उदर पर पेटी का उपयोग करना चाहिए। हर्निया के स्थान पर पेटी में एक मोटी कवलिका रहे। यदि पेटी से लाभ न हो तो शस्त्र-कर्म आवश्यक है।

स्त्रियों में कई सन्तान उत्पन्न होने के पश्चात् उदर-भित्तियों में इसी प्रकार की दुर्बलता आ जाती है। कभी-कभी उदर-दण्डिकाएँ समस्त उदर-सीवनी में पृथक् हो जाती हैं जिससे तनिक भी बल करने पर सीवनी की समस्त लम्बाई में उत्सेध दीखने लगता है। इससे उदर के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। पाचन बिगड़ जाता है। पेटी से लाभ नहीं होता। शस्त्र-कर्म आवश्यक हो जाता है। दोनों ओर की पेशियों को इस प्रकार जोड़ा जाता है कि एक ओर की पेशी का पर्याप्त भाग दूसरे ओर की पेशी के ऊपर आ जाता है। जो वसा तथा अन्य धातुएँ अधिक होती हैं उनको काटकर निकाल दिया जाता है।

उदर के शस्त्र-कर्मों के पश्चात्, जिनमें भित्तियों की पेशियों का छेदन करना पड़ता है, क्षताङ्क के दुर्बल हो जाने से इसी प्रकार की दशा उत्पन्न हो जाती है। जिस छिद्र के द्वारा उत्सेध उत्पन्न होता है उसको अँगुलियों से प्रतीत किया जा सकता है। इस दशा की चिकित्सा के लिए भी शस्त्र-कर्म आवश्यक है।

कटि-पार्श्व हर्निया[2]—यह हर्निया कटि-पार्श्व में जघनास्थि के ऊर्ध्व अथवा जघन-धारा के ऊपर, उदरच्छदा आदिमा[3] और कटिपार्श्वच्छदा[4] पेशियों के बीच में उत्पन्न होती है। यह त्रिकोणाकार स्थान 'पेटिट का त्रिकोण[5]' कहलाता है। यह सामने की ओर उदरच्छदा आदिमा की पश्चिम या पार्श्वधारा, पीछे की ओर कटिपार्श्वच्छदा की पूर्वधारा और नीचे की ओर जघनास्थि की ऊर्ध्वधारा से सीमित होता है। यह स्थान दुर्बल होता है, इस कारण हर्निया सहज में उत्पन्न हो जाती है।

महाप्राचीरा की हर्निया[6]—यह दशा जन्म ही से उपस्थित होती है। इसका कारण भित्तियों की पेशियों का अपूर्ण विकास होता है। यह दशा जीवित अवस्था में नहीं पहिचानी जा सकती। यदि आघात इत्यादि से वह उत्पन्न होता है तो शस्त्र-कर्म द्वारा उसकी चिकित्सा की जाती है।

इसी प्रकार गवाक्ष छिद्र[7] के द्वारा हर्निया उत्पन्न हो जाती है।

---

१. Ventral Hernia. २. Lumbar Hernia. ३. External oblique. ४. Latissimus Dorsii. ५. Petit's triangle. ६. Diaphragmatic Hernia. ७. Obturator Foramen.

हर्निया की विकृत दशाएँ

साधारणतया रोगी चिकित्सक के पास तभी आते हैं जब हर्निया में कोई विकार आ जाता है, उसमें शोथ उत्पन्न हो जाता है या वह अवरुद्ध हो जाती है। जब तक हर्निया स्वयं ही उदर के भीतर लौट जाती है तब तक रोगी केवल एक पेटी को लगाकर काम चलाते हैं अथवा कसकर लँगोट बाँध लेते हैं। दीर्घकालिक हर्निया प्रायः इसी प्रकार की होती है। रोगी स्वयं ही उसको दबाकर उदर के भीतर कर देता है। जब किसी कारण से हर्निया नहीं दबाई जा सकती तब रोगी को चिकित्सक का आश्रय लेना पड़ता है। निम्न-लिखित हर्निया की मुख्य विकृत दशाएँ हैं—

(१) अवरुद्ध हर्निया[१]—यह प्रथम ही बताया जा चुका है कि हर्निया के कोष की ग्रीवा पतली होती है। कभी-कभी यह भाग नलिका की, जिसके द्वारा ग्रीवा नीचे को उतरती है, चारों ओर की धातुओं से इस प्रकार दब जाता है कि वहाँ की रक्त-नलिकाओं में रक्त का सञ्चालन बन्द हो जाता है और इस कारण कोष में और इनके भीतर अवयवों में नवीन रक्त नहीं आता और न वहाँ की शिराओं का रक्त लौट ही सकता है। स्वयं कोष के भीतर की अन्त्रियाँ तथा आन्त्रकला की भी यही दशा हो जाती है। इस दशा को अवरुद्ध हर्निया कहा जाता है।

जिन लोगों में हर्निया बहुत समय से होती है उनके किसी भारी बोझ उठाने या किसी अन्य प्रकार के काम करने में बहुत बल लगाने से, जिससे उदर के भीतर का भार बढ़ जाता है, एक साथ अन्त्रियों का बहुत सा भाग कोष के भीतर चला जाता है और उससे अवरुद्ध हर्निया की दशा उत्पन्न हो जाती है। ऐसे लोगों में यदि छेदन करके देखा जाय तो ग्रीवा संकुचित और उसके चारों ओर की धातुएँ कठिन मिलेंगी।

लक्षण और चिह्न—जब रोगी के बल लगाने या वेग से खाँसने पर यह दशा उत्पन्न होती है तब उसको ऐसा प्रतीत होता है मानो उस स्थान की ओर जहाँ हर्निया है, उसके शरीर के भीतर से कोई वस्तु चली गई हो। उसको उस स्थान पर पीड़ा मालूम होने लगती है। स्तब्धता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी को मूर्च्छा आने लगती है। नाड़ी दुर्बल हो जाती है। चर्म पर ठण्डा स्वेद आ जाता है और शरीर का ताप कम हो जाता है। हर्निया की पीड़ा धीरे-धीरे सारे उदर में फैल जाती है। उदर को स्पर्श करने से रोगी को पीड़ा मालूम होती है। आध्मान उत्पन्न हो जाता है। रोगी को वमन होने लगता है। वमन में प्रथम केवल आमाशय में उपस्थित पदार्थ निकलते हैं, किन्तु कुछ समय के पश्चात् मल से मिला हुआ दुर्गन्धित वमन होने लगता है। रोगी का बल-क्षय हो जाता है। अन्त्रियों से सारे शरीर में विष फैल जाता है और रोगी की दशा अत्यन्त चिन्ताजनक हो जाती है।

यदि कुछ समय तक यही दशा रहती है तो अन्त्र के अवरुद्ध भाग में कोथ आरम्भ हो जाता है। रोगी के शरीर का ताप और भी कम हो जाता है। ठण्डा स्वेद आने लगता है, मुख विकृत और विवर्ण हो जाता है और मृत्यु के लक्षण दिखाई देने लगते हैं।

स्थानिक लक्षण—हर्निया का उत्सेध बढ़ जाता है जिसको रोगी स्वयं प्रतीत करता है। उसमें तनाव उत्पन्न हो जाता है और पीड़ा अधिक होने लगती है, यहाँ तक कि

१. Strangulated Hernia.

स्पर्श असह्य हो जाता है। अन्त्रियों को उदर के भीतर नहीं लौटाया जा सकता। खाँसने पर उसमें कोई सरसराहट नहीं प्रतीत होती। कुछ समय के पश्चात् उत्सेध पर का चर्म गहरा लाल हो जाता है। उस पर शोथ उत्पन्न हो जाता है। और कभी-कभी व्रण भी उत्पन्न हो जाते हैं। कोथ के प्रारम्भ होने पर उत्सेध की पीड़ा कम हो जाती है।

चिकित्सा—इस दशा की दो प्रकार से चिकित्सा की जाती है। एक कर्षण द्वारा और दूसरे शस्त्र-चिकित्सा से।

कर्षण—हस्तव्यापार द्वारा हाथ से हर्निया के उत्सेध को इस प्रकार मला और दबाया जाता है कि हर्निया के भीतर की अन्त्रियाँ इत्यादि उदर के भीतर लौट जाती हैं। रोगी को शय्या पर पीठ के बल लिटाकर उसकी दोनों जंघाओं को ऊपर की ओर मोड़ दिया जाता है जिससे उदर की पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं। साथ में दोनों ओर के ऊरु को तनिक बाहर की ओर हटाकर चिकित्सक रोगी के सामने खड़ा होता ह और अपने दाहिने हाथ से उत्सेध को ग्रहण करके धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता से निरन्तर नीचे की ओर दाबकर हर्निया में की अन्त्रियों को उदर के भीतर लौटाने का प्रयत्न करता है। दूसरे हाथ की अँगुलियों से वह उत्सेध की ग्रीवा को पकड़कर उसको तनिक ऊपर की ओर खींचकर एक कुप्पी की भाँति बना लेता है जिसके द्वारा अन्त्रियाँ उदर में धीरे-धीरे लौट जावें। अन्त्रियों को एक साथ लौटाने का कभी प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जब अन्त्रियाँ भीतर लौटने लगती हैं तो एक गड़गड़ाहट का शब्द होता है। यदि यह शब्द हो तो समझना चाहिए कि प्रयत्न में सफलता हो रही है और जब तक सारा उत्सेध भीतर न चला जाय बराबर प्रयत्न करते रहना चाहिए। यदि कुछ मिनट तक इस प्रकार प्रयत्न करने पर भी सफलता के कोई चिन्ह न दिखाई दें और रोगी को उससे पीड़ा होती हो, जिसके कारण क्रिया में अवश्य ही कुछ रुकावट होगी, तो क्लोरोफ़ार्म देकर रोगी को मूर्च्छित कर देना चाहिए। किन्तु यदि हर्निया को अवरुद्ध हुए चार पाँच घण्टे से अधिक हो गये हों और उत्सेध कड़ा प्रतीत हो तथा उसमें तनाव हो तो कर्षण का प्रयत्न छोड़ देना चाहिए।

वंक्षण और औवींय हर्निया में कर्षण की दिशा भिन्न-भिन्न होती हैं। नाभि की हर्निया में तो उत्सेध केवल नीचे की ओर को दाबा जाता है। वंक्षणी हर्निया में कर्षण द्वारा उत्सेध को ऊपर, बाहर और फिर पीछे की ओर को दाबना चाहिए। औवींय हर्निया में उत्सेध को प्रथम नीचे और भीतर की ओर तत्पश्चात् पीछे और ऊपर को दाबा जाता है। इसका तात्पर्य अन्त्रियों को उसी मार्ग के द्वारा उदर के भीतर पहुँचाना होता है, जिसके द्वारा वह बाहर निकलती थी।

कर्षण से कभी-कभी हानि भी पहुँच जाती है। इसलिए कर्षण से पूर्व यह भली भाँति देख लेना चाहिए कि रोगी की दशा कर्षण के लिए उपयुक्त भी है या नहीं। जब हर्निया पुरानी हो, वंक्षणी हो, बड़े आकार की हो, लक्षण धीरे-धीरे आरम्भ हुए हों और तीव्र न हों तथा विशेषकर कर्षण से पहले लाभ हो चुका हो, तो कर्षण के द्वारा हर्निया को मिटाने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु यदि हर्निया छोटे आकार की है, उसमें तनाव है, लक्षण तीव्र हैं और अचानक प्रकट हुए हैं तथा रोग के प्रारंभ होते ही विषम हो गये हैं, अथवा हर्निया आरम्भ होते ही अवरुद्ध हो गई है तो कर्षण का प्रयत्न बहुत सोच-

विचारकर करना चाहिए। यदि मल से मिला हुआ वमन हो रहा है तो कर्षण का प्रयत्न करना उचित नहीं।

यदि साधारणतया कर्षण से सफलता न हो तो बर्फ़ के एक टुकड़े को हर्निया के उत्सेध के ऊपर कुछ समय तक मलना चाहिए। कुछ चिकित्सक प्रथम आधे घण्टे तक ऊष्म स्वेद करते हैं और उसके पश्चात् बर्फ़ को मलते हैं। इससे हर्निया के लौटाने में प्रायः सफलता होती है।

शस्त्र-कर्म—जब कर्षण से किसी प्रकार सफलता नहीं होती तो शस्त्र-कर्म करना होता है। यह कर्म इस दशा में केवल निपुण शस्त्र-पण्डितों ही के द्वारा होना चाहिए। नवशिक्षित को, जब तक उसने बहुत बार शस्त्र-पण्डितों के साथ रहकर यह कर्म पूर्णतया न सीख लिया हो, शस्त्र-कर्म न करना चाहिए। उसके लिए केवल इतना पर्याप्त है कि वह दशा को भली भाँति समझकर निपुण शस्त्र-चिकित्सक के द्वारा शस्त्र-कर्म करवाने की आवश्यकता को रोगी को भली भाँति समझा दे और यदि हो सके तो स्वयं शस्त्र-कर्म के पूर्ण होने में रोगी को प्रत्येक भाँति से सहायता दे।

एक बार शस्त्र-कर्म का निश्चय कर चुकने पर समय को व्यर्थ खोना बड़ी भारी भूल है। कभी-कभी केवल एक घण्टे की देर हो जाने से रोगी के जीवन और मरण का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। इसलिए जितना भी शीघ्र हो सके शस्त्र-कर्म कर देना चाहिए।

रोगी की हीन दशा को देखते हुए कभी-कभी क्लोरोफ़ार्म का प्रयोग न करके नोवोकेन या कोकेन का उपयोग किया जाता है। शस्त्र-कर्म के समय में भी उसको बराबर छेदन में डालते रहते हैं। सुषुम्ना-नली के द्वारा भी मूर्छाकारी औषधि प्रविष्ट की जाती है। मूर्छा उत्पन्न करने की इन विधियों का आगे चलकर वर्णन किया जायगा।

हर्निया के स्थान को स्वच्छ करके और रोगी को मूर्च्छित करके एक तेज़ चाकू से चर्म भेदन किया जाता है। चर्म और पेशियों के भेदन के पश्चात् हर्निया का कोष निकल आता है, जो तना हुआ और गोल दिखाई देता है। उसको चारों ओर से साफ कर दिया जाता है। यदि चारों ओर कोई जोड़ उत्पन्न हो गए हैं तो उनको तोड़ दिया जाता है। इस प्रकार कोष को ग्रीवा तक बिलकुल स्पष्ट और जोड़ों से स्वतन्त्र कर दिया जाता है। कोष के भीतर कुछ तरल रहता है जिसको अत्यन्त सावधानी से कोष का छेदन करके निकाला जाता है। तत्पश्चात् अवरोध के कारण को देखा जाता है और जो धातुएँ इस दशा का कारण मालूम होती हैं उनको एक मुड़े हुए वृद्धिपत्र से, जो इसी कर्म के लिए आता है, काट दिया जाता है। यह अवरोधक कारण प्रातः ग्रीवा के समीप ही मिलता है। प्रथम इसके नीचे तर्जनी और बीच की अँगुली को डाल दिया जाता है और उनसे अन्त्रियाँ नीचे की ओर को दाब दी जाती हैं। इन अँगुलियों और उस अवरोधक धातु के बीच में चाकू को प्रविष्ट करके उसको ऊपर की ओर घुमाकर धातु को काटा जाता है।

इससे अवरोध मिट जाता है और, यदि अन्त्रियों की दशा बहुत नहीं बिगड़ी है तो, रक्त का फिर से सञ्चालन आरम्भ हो जाता है। किन्तु कभी-कभी अन्त्रियों की दशा में कुछ भी अन्तर नहीं उत्पन्न होता है। इसलिए छेदन के द्वारा कोष्ठ में से अन्त्रियों को निकालकर भली-भाँति देखना चाहिए। उस पर उष्ण नमक के विलयन को डालकर

देखना चाहिए कि उसका रङ्ग लौटता है या नहीं, अर्थात् गाढ़े, कालिमा लिए हुए, लाल रङ्ग से हलका लाल रङ्ग होता है या नहीं। यदि रङ्ग हलका हो जाता है तो अन्त्रियों का वह भाग जीवित है और उदर के भीतर लौटाया जा सकता है, किन्तु यदि रङ्ग पूर्व ही की भाँति रहता है और कोथ के लक्षण दिखाई देते हैं तो अन्त्रियों के उस भाग को काटकर निकाल देने का प्रश्न उपस्थित होता है।

कर्म हो चुकने के पश्चात् छेदन को बन्द कर दिया जाता है। रोगी को बहुत सावधानी से रखना पड़ता है और कुछ काल तक उसकी चिकित्सा का विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है।

(२) शोथ युक्त हर्निया[1]—यह दशा अभिघात के लगने से या कर्षण करते समय अन्त्रियों को क्षति पहुँच जाने से उत्पन्न होती है। रोगी को कोष्ठबद्धता हो जाती है। यह प्रायः सम्पूर्ण नहीं होती, अर्थात् कुछ-कुछ मल निकलता रहता है। रोगी का जी मिचलाता है। ज्वर हो आता है। वमन भी होते हैं। हर्निया का स्थान तना हुआ, उस पर का चर्म लाल, उष्ण और स्पर्शासह्य हो जाता है। वहाँ पर शोथ उत्पन्न हो जाता है और चर्म की लाली बढ़ जाती है। इस प्रकार बहुत कुछ लक्षण अवरुद्ध हर्निया के समान उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण रोगी की परीक्षा करते समय दोनों दशाओं के लक्षण पूर्णतया ध्यान में रखने चाहिएँ। अवरुद्ध दशा में ज्वर नहीं होता, किन्तु स्तब्धता के कारण शरीर का ताप और भी कम हो जाता है और रोगी के वमन में मल मिला हुआ होता है। किन्तु इस दशा में इस प्रकार का वमन नहीं होता। अवरुद्ध दशा में खाँसने पर उत्सेध में सरसराहट प्रतीत नहीं होती, किन्तु इसमें प्रतीत होती है। रोगी को उत्सेध में पीड़ा बहुत होती है

चिकित्सा—रोगी को बिस्तर से बिलकुल न हटने देना चाहिए और उसको भोजन के लिए केवल तरल पदार्थ देने चाहिएँ। पीड़ा कम करने के लिए अफ़ीम के किसी योग को दिया जा सकता है। उत्सेध पर ऊष्म स्वेद करना चाहिए। वस्तिकर्म द्वारा अन्त्रियों के नीचे के भाग को स्वच्छ करना चाहिए। कुछ समय तक यही चिकित्सा करते रहना उचित है। यदि इससे कुछ लाभ न मालूम हो तो अवरुद्ध हर्निया की भाँति शस्त्र-कर्म करना आवश्यक है।

(३) अकर्षणीय हर्निया[2]—उस दशा को कहते हैं जब कर्षण द्वारा हर्निया के अवयवों को उदर में नहीं लौटाया जा सकता। इसका कारण प्रायः कोष और अवयवों का जुड़ जाना होता है। कभी-कभी अवयव ही स्वयं आपस में जुड़ जाते हैं, जिससे उनका एक बड़ा समूह बन जाता है जो नलिका के छिद्र में होकर नहीं निकल सकता। हर्निया के जीर्ण हो जाने पर प्रायः यह दशा उत्पन्न होती है। अनुचित पेटी के उपयोग से भी यह परिणाम हो सकता है।

चिकित्सा—ऐसे रोगियों पर, जिनमें बहुत समय से अकर्षणीय हर्निया उपस्थित हो, शस्त्र-कर्म करना उचित नहीं। शस्त्र-कर्म से पूर्व कुछ समय तक हर्निया को उदर में

१. Inflamed Hernia. २. Irreducible Hernia.

लौटाने का प्रयत्न करना चाहिए। रोगी को शय्या पर लिटाकर आध घण्टे के लगभग उत्सेध को मलना और दबाना चाहिए। बर्फ़ का प्रयोग करना भी उचित है। जब तक यह चिकित्सा होती रहे तब तक रोगी को चलने-फिरने तथा किसी प्रकार के बल करने का निषेध होना चाहिए।

जब कुछ समय तक इस प्रकार चिकित्सा हो चुके और अन्त्रियों का उदर में जाना प्रारम्भ हो जाय तब शस्त्र-कर्म करना उचित है। किन्तु यदि रोगी स्वस्थ और युवावस्था-वाला है तो अन्त्रियों के उदर में न जाने पर शस्त्र-कर्म किया जा सकता है।

(४) बन्धित[1] हर्निया—यह उस दशा का नाम है जिसमें हर्निया के कोष के भीतर स्थित अन्त्रियों द्वारा मल आगे नहीं जा सकता, वहीं रुक जाता है। यह दशा केवल बृहद् अन्त्र ही में होती है और प्रायः नाभि की हर्निया में पाई जाती है। इसका कारण पाचन का विकार होता है। कोष में स्थित आन्त्रभाग में अपक्व भोजन का अवशेष तथा शुष्क मल के समूह एकत्र होकर यह दशा उत्पन्न कर देते हैं। हर्निया का उत्सेध अकर्षणीय हो जाता है। वह उदर में नहीं समाता। यद्यपि उसमें अवरुद्ध हर्निया की भाँति तनाव अधिक नहीं होता, किन्तु वह विस्तृत अवश्य हो जाता है। यदि इस दशा की उचित चिकित्सा न की जावे तो वहाँ शोथ उत्पन्न हो जाता है।

रोगी को वमन तथा उदर में शूल होता है, यद्यपि उत्सेध में कोई पीड़ा नहीं होती। धीरे-धीरे रोगी को अवरोध के से लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

चिकित्सा—रोगी को शय्यारूढ़ करके वस्तिकर्म द्वारा आन्त्र को शुद्ध करना चाहिए। दिन में कई बार वस्तिकर्म करना आवश्यक है। साथ में कर्षण तथा ऊष्म स्वेद द्वारा उत्सेध को उदर में लौटाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। यदि इससे लाभ न हो तो शस्त्र-कर्म आवश्यक है।

बद्धान्त्र *

यह उस दशा का नाम है जिसमें अन्त्रियों में किसी स्थान पर इस प्रकार का अवरोध उत्पन्न हो जाता है कि मल उस स्थान से आगे की ओर नहीं जा सकता। इससे वही मल एकत्र होकर सड़ने लगता है और उससे गैसों के उत्पन्न होने से अन्त्रियों का अवरोध उत्पन्न करते हैं वह उस स्थान के रक्त-सञ्चालन में भी विकार उत्पन्न कर देते हैं, जिससे अन्त्रियों की दशा अवरुद्ध हर्निया के समान हो जाती है।

अ—इस दशा के प्रायः दो प्रकार के कारण होते हैं। जिन कारणों से आन्त्रगति कम या बन्द हो जाती है वह इस दशा को उत्पन्न करते हैं। अन्त्रियों में गति के द्वारा मल को आगे बढ़ाने की शक्ति नहीं रहती। अन्त्रियों की भित्तियों का स्तम्भ हो जाता है। यह दशा प्रायः निम्न-लिखित कारणों से उत्पन्न होती है—(१) स्थानिक तरुण संक्रामक

---

१. Obstructed Hernia.

* Intestinal obstruction.

शोथ—जैसे, तरुण आन्त्र परिशिष्ट[1]-शोथ अथवा परिविस्तृत कला का संक्रामक-शोथ[2] (२) नाड़ी-संबन्धी रोग तथा विकार जिनसे सुषुम्ना तथा आन्त्र को आनेवाली नाडियाँ विकृत हो जाती हैं और (३) आन्त्रकला को जानेवाली धमनियों में अवरोध की उत्पत्ति, जिससे रक्त का संवहन उत्तम नहीं होता। इस प्रकार के कारण गत्यात्मक[3] कहलाते हैं।

क—यान्त्रिक[4] कारण वह होते हैं जिनसे अन्त्रियाँ इस प्रकार दब कि जाती हैं कि अन्त्रियों के भीतर का मार्ग सङ्कुचित अथवा बन्द हो जाता है, जैसे आन्त्र के एक भाग का अपने ही अक्ष पर घूम जाना जिससे उसमें मरोड़ पड़ जाती है और मल का मार्ग रुक जाता है। कभी-कभी आन्त्र के बाहर की धातुओं का इस प्रकार से दबाव पड़ता है कि अन्त्रियों का न केवल मार्ग ही रुक जाता है, किन्तु वहाँ रक्त-सञ्चालन भी बन्द हो जाता है। धातुओं का बन्ध बनकर उसके नीचे से निकलनेवाली अन्त्रियों को किसी स्थान पर इस प्रकार दाब देता है कि मल वहाँ से आगे नहीं बढ़ सकता। वहाँ की धमनी शिराएँ इत्यादि भी दब जाती हैं जिससे रक्त-सञ्चार न होने के कारण अवरुद्ध हर्निया की सी दशा उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी अर्बुद अथवा व्रण के क्षताङ्क से अन्त्रियों में संकिरण उत्पन्न होने के कारण मल का मार्ग रुक जाता है। स्वयं मल शुष्क होकर अन्त्रियों में अवरोध उत्पन्न कर सकता है।

आन्त्र में परिवर्त्तन—बद्धान्त्र हो जाने के पश्चात् मल की आगे की ओर गति रुक जाती है। किन्तु लक्षणों की उत्पत्ति का कारण केवल कोष्ठबद्धता नहीं होती। उनका विशेष कारण नाड़ियों पर दबाव पड़ना होता है। रक्त-सञ्चालन का अवरोध भी लक्षणों की उग्रता बढ़ा देता है। बन्ध या किसी छिद्र द्वारा अवरुद्ध होने के पश्चात् अवरोध के नीचे के भाग में अत्यन्त तीव्र आन्त्रगति आरम्भ हो जाती है जिससे इस भाग में एकत्र सारा मल तुरन्त बाहर निकल जाता है। इस भाग में आक्षेपक से होने लगते हैं। उदर-भित्तियों द्वारा यह भाग कड़ा प्रतीत होता है।

मल के रुक जाने पर उसका सड़ना आरम्भ होता है। मल तरल हो जाता है और उससे दुर्गन्धि-युक्त गैस उत्पन्न होती है इसका कारण वही जीवाणु होते हैं जो मल में उपस्थित पाये जाते हैं। अन्त्रियों की भित्ति, जो रक्तहीन और पतली दीखती थी, कुछ समय में शोथ-युक्त हो जाती है और उनसे बहुत सा श्लेष्मा तथा उद्रेचन निकलता है जिससे आन्त्र में उपस्थित मल की मात्रा और भी बढ़ जाती है। यदि अवरोध पूर्ण न हुआ तो उसका कुछ भाग, तरल होने के कारण, आगे को बढ़ जाता है। किन्तु यदि अवरोध पूर्ण होता है तो वहाँ पर उपस्थित मल की मात्रा निरन्तर बढ़ती जाती है और गैस भी अधिक उत्पन्न होती है। इससे उदर में अत्यन्त आध्मान हो जाता है। उदर फूले हुए थैले की भांति दीखता है और अन्त्रियों के भाग उदर-भित्तियों द्वारा दिखाई देते हैं। यह आध्मान विशेषकर उन रोगियों में अधिक पाया जाता है जिनमें आन्त्र-कला का भी अवरोध हो जाता है और नाड़ियाँ भी दब जाती हैं। प्रयोगों से यह पाया गया है कि इसका विशेष कारण नाड़ियों का विकार होता है।

सड़ हुए मल से विष निरन्तर रोगी के शरीर में व्याप्त होते रहते हैं जिनसे वह विष-सञ्चरित हो जाता है। रोगी की मृत्यु का यही मुख्य कारण होता है। इस कारण इस

१. Appendicitis. २. Infective peritonitis. ३. Dynamic. ४. Mechanical.

दशा में शीघ्र ही शस्त्र-कर्म द्वारा अन्त्रियों में उपस्थित मल को निकाल देना आवश्यक है।

अवरोध के आरम्भ के पश्चात् आन्त्र की भित्तियों से, जो कुछ समय पश्चात् शोथ-युक्त हो जाती हैं, श्लैष्मिक कला के पृथक् होने से यतस्ततः व्रण बन जाते हैं। इन व्रणों द्वारा जीवाणु वर्ग परिविस्तृत कला में पहुँचकर वहाँ भी शोथ उत्पन्न कर देते हैं। कभी-कभी यह व्रण इतने गहरे होते हैं कि उनके द्वारा भित्तियों में छिद्र बन जाते हैं। अन्त में अन्त्रियों में कोथ उत्पन्न हो जाता है। रोग के आरम्भ होने के कुछ ही घण्टे पश्चात् कोथ उत्पन्न होते देखा गया है।

लक्षणों के अनुसार रोग दो प्रकार का पाया जाता है—तरुण और जीर्ण।

तरुण बद्धान्त्र के लक्षण— रोगियों में तीन प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं—

(१) आन्त्रमार्ग के रुक जाने से उत्पन्न हुए लक्षण—कोष्ठबद्धता, आध्मान, उदर का विस्तार, वमन, उदरशूल (जिसका कारण उत्तेजित आन्त्रगति होती है) इत्यादि।

(२) स्तब्धता के लक्षण-शक्ति का ह्रास, चर्म का रक्त-रहित दीखना और रक्तभार का कम हो जाना। इनका कारण औदरिक आन्त्रमण्डल का प्रभावित होना है।

(३) विष-सञ्चार के लक्षण—आन्त्र में मल के द्रवीभूत होने तथा सड़ने से रोगी के शरीर में विष व्याप्त हो जाते हैं। व्रण तथा कोथ के उत्पन्न होने पर यह लक्षण और भी बढ़ जाते हैं।

प्रत्येक रोगी में इनमें से कोई न कोई लक्षण कारण के अनुसार अधिक तीव्र होते हैं। शेष मन्द होते हैं। अवरुद्ध हर्निया की सी दशा उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् जहाँ रक्त-नलिकाएँ तथा नाड़ियाँ दब जाती हैं वहाँ स्तब्धता के लक्षण अधिक गाढ़े होते हैं। आन्त्रिक कारणों में प्रथम प्रकार के लक्षण, वमन और शूल इत्यादि अधिक स्पष्ट पाये जाते हैं। विषसञ्चार के लक्षण सब रोगियों में कुछ समय के पश्चात् उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रायः कारण और अवरोध की स्थिति के अनुसार लक्षणों में कुछ भेद उत्पन्न हो जाता है। तो भी सामान्यतया निम्न-लिखित लक्षण पाये जाते हैं—

बहुधा रोग अकस्मात् आरम्भ होता है। रोगी को रोग के कारण का तनिक भी अनुमान नहीं होता और न रोग के आरम्भ के पूर्व ही वह कुछ अस्वस्थता प्रतीत करता है। उसको अकस्मात् उदर में तीव्र पीड़ा होती है, जो उदर-शूल के बहुत कुछ समान होती है। पीड़ा की प्रबलता से रोगी शय्या पर तड़पता है। प्रथम यह पीड़ा ठहर-ठहर कर होती है। किन्तु अन्त को निरन्तर होने लगती है। वह रोगी को प्रायः नाभि के पास मालूम होती है। अवरोध से नीचे के आन्त्र के भाग की गति के बढ़ जाने से पीड़ा और भी बढ़ जाती है। किन्तु जब अन्त्रियों की पेशी श्रमित हो जाती हैं तो पीड़ा घट जाती है और अन्त को जब विष-सञ्चार से नाड़ियाँ भी प्रभावित हो चुकती हैं तो पीड़ा बिलकुल जाती रहती है। उस समय स्पर्श से भी पीड़ा नहीं होती। यह दशा प्रायः तीसरे या चौथे दिवस परिविस्तृत कला के शोथयुक्त हो जाने पर उत्पन्न होती है।

दूसरा लक्षण, जो इस दशा में विशेष महत्व का होता है, वमन है। रोग के प्रारम्भ होने के एक या दो घण्टे में वमन आरम्भ हो जाता है। प्रथम वमन में केवल आमाशय में

उपस्थित पदार्थ निकलते हैं। कुछ समय के पश्चात् वमन में पित्त निकलने लगता है और अन्त को वमन मल के समान दुर्गन्धि-युक्त होता है और भूरे रङ्ग के तरल पदार्थ के साथ, जो द्रवीभूत मल होता है, मिला रहता है। प्रथम जी मचलाने पर वमन होता है। किन्तु अन्त को जी का मिचलाना बन्द हो जाता है और वमन अकस्मात् मुख में भर आता है। रोगी को वमन में तनिक भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

वमन की उत्पत्ति में उदर का नाड़ी-मण्डल विशेष भाग लेता है। बच्चों और उग्र स्वभाववाली स्त्रियों को वमन अधिक और शीघ्र होता है। अवरोध जितना आमाशय के पास होता है उतना ही वमन शीघ्र प्रारम्भ होता है और तीव्र होता है। बृहदान्त्र के अवरोध में वमन कभी-कभी नहीं होता। आन्त्रगति के बढ़ जाने पर वमन और भी बढ़ जाता है।

रोग के प्रारम्भ होने के कुछ ही घण्टों में स्तब्धता के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। शरीर का तापक्रम कम हो जाता है। नाड़ी दुर्बल और तीव्र हो जाती है। चर्म पर शीतल स्वेद आने लगता है जिससे चर्म ठण्डा प्रतीत होता है। स्तब्धता गाढ़ी होती चली जाती है और हृदयावसाद के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों वमन और स्वेद द्वारा शरीर से तरल द्रव्यों की हानि होती है और विष का शरीर में सञ्चार होता है त्यों-त्यों यह दशा गाढ़ी होती चली जाती है। अन्त को मुख विवर्ण हो जाता है। नाड़ी इतनी तीव्र और मन्द हो जाती है कि उसको प्रतीत करना तथा गिनना असम्भव है। हाथ, पाँव, नाक और चर्म सब शीतल स्वेद से ढक जाते हैं। रोगी को प्यास बहुत मालूम होती है। श्वास मन्द और उथला हो जाता है और अन्त को रोगी की मृत्यु हो जाती है।

रोग के प्रारम्भ होने पर रोगी एक या दो बार मलत्याग करता है। किन्तु उसके पश्चात् पूर्ण कोष्ठबद्धता हो जाती है। वायु तक नहीं निकलती। उदर फूल जाता है। विस्तृत अन्त्रियों की सीमा उदर पर दिखाई देती है। उदर की भित्तियाँ कड़ी हो जाती हैं। उदर की पेशियाँ तनी हुई दीखती हैं। बृहद्-अन्त्र के अवरोध में आध्मान अधिक होता है और आन्त्र की सीमा भी स्पष्ट दिखाई देती है।

जीर्ण बद्धान्त्र—इस दशा में मल का मार्ग अकस्मात् नहीं रुकता। यह दशा धीरे-धीरे उत्पन्न होती है। कोष्ठबद्धता निरन्तर बढ़ती चली जाती है। समय-समय पर रोगी को प्रवाहिका के समान आक्रमण भी होता है जिसमें मल का बहुत त्याग होता है।

इस दशा का कारण प्रायः किसी अर्बुद, कैंसर इत्यादि की उत्पत्ति होती है जो अन्त्रियों के मार्ग को संकुचित कर देती है। अन्त्रियों के बाहर उदर में अर्बुद के उत्पन्न होने से भी ऐसा ही होता है। किसी पूर्वजात बन्ध के संकुचित हो जाने, आन्त्रकला की लसीका ग्रन्थियों के रोग तथा शुष्क मल के एकत्र हो जाने से भी ऐसा ही परिणाम होता है।

यह रोग प्रायः बृहद् आन्त्र में उत्पन्न होता है।

इस रोग में अन्त्रियों के रक्त-सञ्चालन तथा नाड़ी-मण्डल में विकार नहीं उत्पन्न होता। इस कारण स्तब्धता के लक्षण नहीं उत्पन्न होते। वास्तव में जब अन्त्रियों का मार्ग बहुत कुछ संकुचित हो चुकता है तब लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि क्षुद्रान्त्र में अवरोध

होता है तो अवरोध से ऊपर का आन्त्र न केवल फूलता ही है, किन्तु वहाँ की भित्तियों में पेशियों की वृद्धि भी हो जाती है। इससे भित्ति मोटी और कड़ी हो जाती है। बृहद् अन्त्र में यह वृद्धि नहीं होती। वह केवल फूलकर विस्तृत हो जाता है। आन्त्रकला में कुछ समय में व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु जब तक रक्त-सञ्चार ठीक रहता है तब तक गैसें नहीं एकत्र हो पातीं और आध्मान भी नहीं उत्पन्न होता।

लक्षण—यह दशा धीरे-धीरे उत्पन्न होती है। प्रथम रोगी को साधारण कोष्ठबद्धता हो जाती है। किन्तु वह जाती रहती है और मल-त्याग ठीक-ठीक होता है। कुछ समय के पश्चात् फिर कोष्ठबद्धता का आक्रमण होता है और केवल विरेचक औषधि की सहायता से मल-त्याग होता है। अन्त में कोष्ठबद्धता स्थायी हो जाती है। विरेचकों से भी अधिक लाभ नहीं होता और अन्त को उनके प्रयोग से केवल मरोड़ के समान पीड़ा होती है और जी मिचलाता है। कभी-कभी रोगी को श्लेष्मा-युक्त पतला मल निकल जाता है। रोगी प्रायः इसको अपचय तथा अतिसार का आक्रमण समझता है। किन्तु यह अवरोध से नीचे के आन्त्रभाग के शोथ का परिणाम होता है। कोष्ठबद्धता और तत्पश्चात् अतिसार के यथाक्रम बृहद् आन्त्र के अवरोध का विशेष लक्षण है। अन्त को कोष्ठबद्धता पूर्ण हो जाती है। तीव्र विरेचक तथा वस्तिकर्म से भी मलत्याग नहीं होता।

उदर में शूल केवल अन्त में होता है। प्रारम्भ में केवल भारीपन मालूम होता है। कभी-कभी कुछ पीड़ा हो जाती है। इसके साथ उदर कुछ फूला हुआ मालूम होता है। इसको साधारण अपचय माना जाता है। कभी-कभी वमन भी हो जाता है।

कुछ समय के पश्चात् अवरोध से ऊपर का आन्त्र विस्तृत हो जाता है जिससे उदर फूला हुआ दीखता है। गड़गड़ाहट का शब्द होता रहता है। आन्त्र के अधिक फूलने पर वह उदर पर दिखाई देता है और उसमें होनेवाली गति भी दिखाई देती है। किन्तु बृहद्-आन्त्र की गति स्पष्ट नहीं होती। यदि गुदा में अँगुली डालकर वहाँ की परीक्षा की जाय तो वह विस्तृत मिलेगा। इसका कारण वहाँ की भित्तियों का स्तम्भ होता है।

यह दशा निरन्तर बढ़ती रहती है और अवरोध पूर्ण होता रहता है। अन्त को अवरोध के पूर्ण हो जाने पर तरुण अवरोध के से लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी बराबर कृश होता जाता है। उसके शरीर में आन्त्र में एकत्र मल से उत्पन्न हुए विष व्याप्त होते रहते हैं। कभी-कभी आन्त्र में छिद्र हो जाते हैं जिनसे मल निकलकर उदर में फैल जाता है। अन्त को रोगी की मृत्यु हो जाती है।

बद्धान्त्र की रोग-निश्चिति—यह दशा अत्यन्त दारुण होती है। प्रायः रोगियों की मृत्यु हो जाती है। इसका विशेष कारण यह है कि वह चिकित्सा के लिए, जिसका साधन केवल शस्त्र-कर्म है, उस समय आते हैं जब उनकी दशा क्षीण हो चुकती है और रोग बहुत कुछ बढ़ चुकता है।

चिकित्सा के लिए भी ऐसे रोगी अत्यन्त चिन्ताजनक होते हैं। रोगी के जीवन का उस पर उत्तरदायित्व होता है। इस कारण उसको अत्यन्त सावधानी से, जितने कम समय में हो सके, रोग का निश्चय कर लेना चाहिए। असावधानी के कारण इस दशा को केवल कोष्ठबद्धता समझकर विरेचक औषधियाँ देकर सन्तुष्ट हो जाना उसके लिए अक्षम्य है।

ऐसे रोगियों की परीक्षा पूर्ण सावधानी से करनी आवश्यक है। रोगी के पूर्व इतिहास को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। तत्पश्चात् रोग के इतिहास की ओर ध्यान देना उचित है। रोग किस प्रकार प्रारम्भ हुआ, अकस्मात् अथवा धीरे धीरे। इसके ज्ञान से बहुत कुछ सहायता मिलती है। तत्पश्चात् रोगी का निरीक्षण, स्पर्शन और यदि आवश्यक हो तो समाघात भी करना चाहिए।

निरीक्षण द्वारा स्तब्धता के लक्षणों को—जो तरुण रोग में प्रारम्भ ही से उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे पीड़ा, आध्मान, उदर पर विस्तृत आन्त्र की रेखाएँ तथा उनमें होनेवाली गति इत्यादि—ध्यान से देखना चाहिये। पीड़ा पूर्ण अवरोध में निरन्तर होती है। किन्तु अपूर्ण अवरोध में ठहर-ठहरकर होती रहती है। स्तब्धता के लक्षण और कारण प्रथम ही बताये जा चुके हैं। वमन का निरीक्षण भी आवश्यक है। उससे इस बात का अनुमान हो सकता है कि अवरोध कहाँ पर है। क्षुद्रान्त्र के प्रथम भाग के अवरोध में वमन मल-मिश्रित नहीं होता। वह दुर्गन्धियुक्त हो सकता है। मलयुक्त वमन उस समय होता है जब अवरोध क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग अथवा बृहदान्त्र में होता है।

स्पर्शन से उदर का आध्मान, अन्त्रियों का विस्तार तथा आन्त्र गति और उदर के अर्बुद इत्यादि का पता लग जाता है। स्पर्श-पीड़ा की स्थिति भी ठीक-ठीक मालूम हो जाती है। प्रायः यह नाभि के चारों ओर होती है।

रोग के रूप को जानना भी आवश्यक है कि वह तरुण है अथवा जीर्ण। यदि तरुण है तो गत्यात्मक है अथवा यान्त्रिक। तत्पश्चात् अवरोध की स्थिति को जानने का उद्योग करना चाहिए। निरीक्षण तथा स्पर्शन, आन्त्र के विस्तार, उसकी स्थिरता, पीड़ा, वमन इत्यादि से रोग के रूप को पहचानने में बहुत सहायता मिलती है। इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ—

(१) जब क्षुद्रान्त्र के ऊपरी भाग में अवरोध होता है तब वमन शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता है तथा अधिक और निरन्तर होता है। उसमें पित्त मिला रहता है किन्तु मल नहीं होता। मलद्वार से वायु और तरल मल का त्याग होता है। मूत्रत्याग कम हो जाता है। उदर का ऊपरी भाग फूल जाता है। स्तब्धता गहरी और शीघ्र ही उत्पन्न होती है।

(२) क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग या बृहदान्त्र के प्रथम भाग में अवरोध होने से वमन अधिक दुर्गन्धियुक्त होता है। किन्तु उसमें मल नहीं मिला होता। उदर के बीच के भाग पर अधिक आध्मान होता है। मल और वायु का त्याग नहीं होता।

(३) बृहदान्त्र अथवा गुदा में अवरोध होने पर स्तब्धता गाढ़ी नहीं होती। वमन देर से प्रारम्भ होता है और थोड़े ही समय में मलयुक्त हो जाता है। आध्मान अत्यन्त अधिक होता है और उदर के मध्य भाग तथा दोनों ओर पार्श्व में पाया जाता है।

तरुण रोग में परीक्षा करते समय निम्न-लिखित रोगों का विचार कर लेना आवश्यक है—तरुण आन्त्र परिशिष्ट शोथ[१], पक्वाशय के व्रण का विदार[२], तरुण अग्न्याशय-शोथ[३], आन्त्रकला की रक्त-नलिकाओं का अवरोध[४], उदर-शूल[५] (वृक्क, पित्ताशय तथा आन्त्र का शूल) इत्यादि।

---

१. Acute appendicitis. २. Rupture of Duodenal ulcer.
३. Acute Pancreatitis. ४. Emledism of mesenteric vessels.
५. Abdominal colic pain.

जीर्णरोग—बच्चों में यह रोग प्राय: क्षयजन्य परिविस्तृत कला के शोथ से उत्पन्न हुए जोड़ों के कारण होता है। इस कला के अन्य प्रकार के शोथ से भी आन्त्र और कला के जुड़ जाने से रोग हो सकता है। युवावस्था में परिविस्तृत कला के जोड़, आन्त्र में क्षताङ्क से उत्पन्न हुई सङ्कीर्णता, अर्बुद, क्षय रोग तथा उदर-गुहा के अर्बुद रोग को उत्पन्न करते हैं। वृद्धावस्था में आन्त्र के कैन्सर इत्यादि घातक अर्बुद रोगोत्पत्ति का कारण होते हैं।

चिकित्सा—तरुण रोग की चिकित्सा में जितनी शीघ्रता हो सके करनी चाहिए; केवल ओषधियों के परिणाम को देखने के लिए समय को नष्ट करना उचित नहीं। जितना समय अधिक होता है उतनी ही रोगी के जीवन की आशा घटती जाती है। कभी-कभी केवल एक घण्टा देर हो जाने से रोगी को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा है।

तरुण बद्धान्त्र की केवल एक चिकित्सा है उदर-भेदन[1]। इस शस्त्रकर्म द्वारा उदर को खोलने पर दो बातें की जाती हैं—(१) बद्धान्त्र के कारण को दूर करना और (२) विस्तृत आन्त्र को, जिसमें मल एकत्र हो रहा है, ख़ाली कर देना। रोग प्रारम्भ होने के पश्चात् जितना शीघ्र यह कर्म किया जाता है उतना ही सफलता का अवसर अधिक रहता है। ज्यों-ज्यों देर होती जाती है त्यों-त्यों सफलता की आशा भी कम होती चली जाती है। इस कारण रोगी के आने पर रोग का पूर्ण निर्णय करने के पश्चात् शस्त्र-कर्म की तैयारियाँ प्रारम्भ कर देनी चाहिएँ। जिस समय तैयारियाँ हो रही हों उस समय रोगी को उच्च वस्ति-कर्म[2] और उदर पर तारपीन से ऊष्म स्वेद का उपयोग करना चाहिए। कभी-कभी जब दशा दारुण नहीं होती तब पीड़ा कम करने के लिए रोगी को अफ़ीम दी जाती है। किन्तु यह केवल इतनी मात्रा में दी जानी चाहिए कि उससे पीड़ा कम हो जाय। अधिक मात्रा से अन्य लक्षण भी मन्द हो जाते हैं और रोगी की अवस्था की विषमता कम जान पड़ती है। इस शस्त्र-कर्म में रोगियों की स्वभावत: ही मृत्यु अधिक होती है।

जब रोगी कई दिन से पीड़ित हो और उसकी दशा क्षीण हो चुकी हो तब केवल स्थानिक अथवा सौषुम्निक संज्ञाहारी वस्तुओं के प्रयोग से काम चलाना चाहिए। क्लोरोफ़ार्म प्रयोग करना उचित नहीं।

उदर का भेदन उदर-सीवनी पर ऊपर से नीचे की ओर किया जाता है। चर्म, प्रावरणी तथा पेशियों को काटने के पश्चात् परिविस्तृत अथवा औदर्यांकला निकल आती है। इसका भी पूर्व ही के अनुसार भेदन किया जाता है। तत्पश्चात् आन्त्र के फूले हुए भाग दिखाई पड़ते हैं और उदर के खुल जाने के कारण व्रण से बाहर निकल आते हैं। इस समय अन्त्रियों को शुद्ध किए हुए गौज़ के टुकड़ों अथवा तौलियों को नमक के उष्ण विलयन में भिगो कर उनसे ढकने के पश्चात् आन्त्र के फूले हुए केवल थोड़े से भाग को व्रण से बाहर निकालकर उसका भेदन करके भीतर उपस्थित मल को निकाल देना चाहिए। दारुण दशा में अवरोध के कारण को दूर किए अथवा उसको मालूम किये बिना ही सबसे प्रथम आन्त्र को खाली करने का उद्योग करना उचित है। इससे वहाँ का तनाव कम हो जाता है और बहुधा रक्त-सञ्चार और आन्त्र-गति ठीक प्रकार से होने लगती है।

---

१. Laparotomy. २. High Enemata.

ऐसे अवसर पर एक या दो दिन के पश्चात्, जब रोगी की दशा कुछ उन्नत हो जाय तब, अवरोध के कारण को मालूम करके उसको दूर करना उचित है।

आन्त्र का भेदन करने के लिए जिस स्थान पर भेदन करना होता है उसको दोनों ओर से दोनों हाथों की तर्जनी और मध्यमा अँगुलियों के बीच में, बाहर की ओर को, दबाया जाता है। इससे वहाँ पर उपस्थित मल इधर-उधर हट जाता है। इस प्रकार इस भाग के ख़ाली हो जाने पर लगभग २ इंच के अन्तर में दोनों ओर दो संदंश लगा दिये जाते हैं, जिससे मल वहाँ नहीं लौटने पाता। इन संदंशों के फले लम्बे, पतले और चिकने होते हैं। इनका पीछे का भाग धमनी-संदंश के ही समान होता है। इनको आन्त्र-संदंश[1] कहते हैं। इनसे आन्त्र को ग्रहण करने के पश्चात् बीच के भाग में वेधस-पत्र द्वारा इतना लम्बा भेदन किया जाता है कि 'पौल की नलिका[2]' को आन्त्र के भीतर प्रविष्ट किया जा सके। यह $\frac{3}{4}$ या १ इंच व्यास की मुड़ी हुई लगभग ६ इंच लम्बी काँच की नलिका होती है जिसको भेदन द्वारा अन्त्रियों में डालकर सी दिया जाता है। सीने में कैटगट को भेदन के चारों ओर आन्त्र की भित्ति में इस प्रकार डाला जाता है जैसे बटुए में डोरी डाली जाती है। कैटगट के दोनों सिरों को काँच की नलिका के ऊपर खींचकर बाँध दिया जाता है। तत्पश्चात् संदंशों को हटा देते हैं। ऐसा करने पर रुका हुआ मल वेग से नलिका में होकर बाहर निकलता है। नलिका के बाहरी सिरे पर एक रबर की नली लगा देनी चाहिए जिसका दूसरा सिरा किसी पात्र में पड़ा रहे। इस समय व्रण उष्ण विलयन से भीगे हुए तौलियों से भली भाँति ढ़का रहे। केवल वही स्थान, जहाँ काच की नली लगी हुई है, खुला रहे।

इस प्रकार अन्त्रियों को ख़ाली करके उदर को सी दिया जाता है। नलिका अन्त्रियों ही में लगी रहती है। रोगी की दशा सुधरने पर अवरोध के कारण को मिटाने के पश्चात् नलिका को निकालकर और अन्त्रियों को सीकर उदर को बन्द कर दिया जाता है।

जब रोगी की दशा इतनी दारुण नहीं होती तब सामान्य संज्ञाहारी वस्तुओं का उपयोग किया जा सकता है। शस्त्र-कर्म के पूर्व आमाशय का प्रक्षालन कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् उदर को नाभि से नीचे बीच की रेखा में खोलकर अवरोध के कारणों को ढूँढ़ना उचित है। इसके लिए दाहने हाथ की तीन अँगुलियाँ अथवा समस्त हाथ को उदर के भीतर प्रविष्ट करके उससे अवरोध की स्थिति को ढूंढ़ना चाहिए। यह खोज बृहदान्त्र के प्रथम भाग से आरम्भ करनी चाहिए। यदि यह भाग फूला हुआ है तो अवरोध इससे नीचे स्थित है। किन्तु उसके खाली होने पर अवरोध को ऊँचा समझना चाहिए। अन्त्रियों के किसी संकुचित भाग को ढूँढ़कर उसके सहारे हाथ को आगे की ओर ले जाना चाहिए, यहाँ तक कि अवरोध की स्थिति मिल जाय। यदि स्थिति का इस प्रकार पता न लगे तो रोगी की दशा सन्तोषजनक होने पर आन्त्र के प्रत्येक भाग को उदर से बाहर निकालकर देखना उचित है; किन्तु आन्त्र के अधिक भाग को एक साथ न निकाला जाय। केवल थोड़े भाग को निकालकर उसकी परीक्षा करने के पश्चात् उसको उदर में लौटा दिया जाय। उदर और आन्त्र भीगे हुए उष्ण तौलियों से ढके रहने चाहिएँ। किन्तु यदि रोगी की दशा अच्छी नहीं है, और शस्त्र-कर्म भी देर से किया गया है, तो आन्त्र के सबसे नीचे विस्तृत

१. Intestinal clamps. २. Paul's tube.

भाग को निकालकर उसमें पूर्वकथनानुसार काँच की नलिका को लगाकर मल को निकाल देना चाहिए और शेष चिकित्सा उपर्युक्त विधि से करनी चाहिए।

शस्त्र-कर्म के पश्चात् रोगी को फ़ाउलर[1] स्थिति में रखना उचित है। इसके लिए रोगी की शय्या इस प्रकार की बनी होती है कि वह दो स्थानों से मुड़ जाती है, जिससे रोगी की बैठे हुए के समान स्थिति होती है। किन्तु उसका शिर और धड़ पीछे की ओर झुके रहते हैं और ऊरु सामने और ऊपर को मुड़ जाते हैं। जङ्घाएँ फिर नीचे को मुड़ी रहती हैं।

जीर्ण रोग की चिकित्सा उसके कारण के अनुसार की जाती है।

आन्त्र परिशिष्ट शोथ[2]

आन्त्र परिशिष्ट[3] एक पतली नली के समान लगभग ३½ इंच लम्बा आन्त्र का भाग है, जो बृहदान्त्र के प्रारम्भिक भाग के नीचे की ओर को निकला रहता है। अतएव इसकी स्थिति नाभि से नीचे दाहिनी ओर अथवा जघनिका प्रान्त में है। सामान्यतया यह नलिका बन्द रहती है। किन्तु कभी-कभी बृहदान्त्र से मल इत्यादि इसके भीतर चला जाता है जिसके साथ जीवाणु भी वहाँ पहुंच जाते हैं, जो उचित अवसर पाने पर शोथ उत्पन्न कर सकते हैं। जब तक आन्त्र परिशिष्ट में गया हुआ मल वहाँ से आन्त्र-गति के कारण बृहदान्त्र में लौट आता है, तब तक कोई बुरा परिणाम नहीं होता। किन्तु यदि किसी कारण से मल वहाँ रुक जाता है तो वह सड़ने लगता है और उसमें उपस्थित जीवाणु शोथ उत्पन्न कर देते हैं, जो अन्त में कोथ में परिणत हो जाता है। कुछ समय के पश्चात् यह दशा परिविस्तृत कला में भी, जो परिशिष्ट को घेरे रहती है, उत्पन्न हो जाती है।

इस भाग की स्थिति ऐसी है कि वहाँ पर शोथ तथा कोथ सहज में उत्पन्न हो सकते हैं। इस भाग की आन्त्रकला के स्वतन्त्र होने के कारण यह अपनी स्थिति को सहज में बदल सकता है। इसी कारण यह सहज ही में मुड़ भी जाता है। इसमें रक्त-सञ्चार भी केवल एक ही धमनी द्वारा होता है।

इसकी स्थिति और लम्बाई में बहुत भिन्नता पाई जाती है। यह ९ इंच तक लम्बा पाया गया है और रोगग्रस्त दशा में बायें जघन प्रान्त में उपस्थित मिला है। साधारणतया यह तीन स्थितियों में अधिक मिलता है। (१) ऊपर और भीतर की ओर को मुड़ा हुआ, क्षुद्रान्त्र तथा उसकी कला के नीचे स्थित। (२) नीचे श्रोणिचक्र के प्रवेश द्वार की ओर लटकता हुआ। (३) ऊपर की ओर बृहदान्त्र के पीछे की ओर स्थित।

साधारणतया इस भाग में कुछ श्लेष्मा और उसमें मिले हुए कुछ जीवाणु पाये जाते हैं। यह पास की अन्त्रियों के मल में उपस्थित जीवाणुओं ही के समान होते हैं। सामान्यतया इनसे कोई हानि नहीं होती। किन्तु जब इस भाग की श्लैष्मिक कला क्षत हो जाती है तब जीवाणु भित्तियों में प्रवेश करने पर उग्र रूप धारण कर लेते हैं और शोथ की उत्पत्ति का कारण होते हैं। यदि आन्त्र में कोई विकार होता है तो वह रोगोत्पत्ति में सहायता देता है। यदि इस भाग में कोई बाह्य वस्तु पहुँच जाती है तो वह भी रोग का कारण होती

---

१. Flowers position. २. Appendicitis. ३. Appendix.

है। इस भाग को खोल देने पर उसमें बहुधा शुष्क हुए मल-समूह मिलते हैं। इनको रोगोत्पत्ति का विशेष कारण माना जाता है। कोष्ठबद्धता, आन्त्र का शोथ, प्रवाहिका से उत्पन्न हुए व्रण इत्यादि रोगोत्पत्ति के सहायक कारण होते हैं। आघात भी रोग उत्पन्न कर सकता है।

आन्त्र-परिशिष्ट में परिवर्त्तन—यद्यपि सहायक कारण बहुत से हो सकते हैं, किन्तु रोग के आक्रमण का वास्तविक कारण 'स्ट्रिप्टोकोकस पायोजिनीज़', आन्त्रिक जीवाणु तथा अन्य अवायवीय जीवाणुओं का, जो आन्त्र में उपस्थित रहते हैं, भित्तियों में प्रवेश होता है। इनके कारण वहाँ शोथ उत्पन्न हो जाता है, जिसकी तीव्रता जीवाणुओं की शक्ति पर निर्भर करती है। साधारण शोथ से यह भाग सूज जाता है और कड़ा मालूम होता है। यदि रोग इससे अधिक नहीं बढ़ता तो सौत्रिक धातु के उत्पन्न हो जाने से, आन्त्र परिशिष्ट कड़ा पड़ जाता है और उसका छिद्र छोटा हो जाता है, जिस कारण वहाँ के श्लेष्मा तथा मल आन्त्र में नहीं लौट पाते। कभी-कभी भीतर की नलिका बिलकुल बन्द हो जाती है। ऐसी अवस्था में प्रायः रोग के और भी आक्रमण होते हैं, जो प्रथम आक्रमण की अपेक्षा अधिक प्रबल होते हैं।

यदि शोथ इस प्रकार नहीं रुकता तो श्लैष्मिक कला में व्रण उत्पन्न होकर भित्तियों की धातु नष्ट होने लगती है और वहाँ पूयोत्पादन प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार विद्रधि उत्पन्न हो जाती है, जिसमें गाढ़ी और मल के समान दुर्गन्धयुक्त पूय उपस्थित होती है। रोग के उग्र स्वरूप में कुछ ही घण्टों में सारा आन्त्र परिशिष्ट विद्रधि के समान हो जाता है और उसके ऊपर स्थित परिविस्तृत कला भी शोथयुक्त हो जाती है। यह शोथ प्रायः केवल थोड़े ही स्थान में परिमित रहता है, किन्तु उग्र दशाओं में सारे उदर में फैल सकता है।

यह विद्रधि अधिकतर दाहिने जघन-खात में पाई जाती है और बृहदान्त्र के भीतर की ओर स्थित होती है। किन्तु बहुत बार वह उसके बाहर की ओर, पीछे अथवा श्रोणिचक्र में भी उपस्थित मिलती है। उदर की मध्य रेखा में नाभि के नीचे भी विद्रधि पाई गई है। बाईं ओर के जघन-खात में भी विद्रधि पाई जा सकती है। किसी-किसी दशा में यह विद्रधि यकृत् के नीचे पित्ताशय की स्थिति में पाई जाती है। इसका कारण शारीरिक उत्पत्ति की अवस्थाओं का पूर्ण न होना है। विद्रधि उदर में ऊपर की ओर महाप्राचीरा पेशी तथा नीचे की ओर श्रोणिचक्र तक फैल सकती है। विद्रधि के फटने से पूय को बृहदान्त्र, गुदा तथा मूत्राशय तक में फैलते देखा गया है। उदरभित्ति के फट जाने से पूय बाहर की ओर निकल सकती है।

इस रोग में परिविस्तृत कला में भी शोथ उत्पन्न हो जाता है। साधारण शोथ की दशा में आन्त्र परिशिष्ट और उसके ऊपर की कला जुड़ जाते हैं। इसी प्रकार यह भाग बृहदान्त्र, उसकी कला तथा अन्य किसी भी औदरिक अङ्ग से जुड़ सकता है, जिससे उस अङ्ग की क्रिया विकृत हो जाती है। किन्तु इस प्रकार के जोड़ प्रायः रोग को परिमित कर देते हैं और रोग का आक्रमण निवृत्त हो जाता है।

जब रोग अधिक तीव्र होता है तब परिविस्तृत कला के भीतर एक परिमित विद्रधि बन जाती है, जो प्रायः बृहदान्त्र के नीचे और पीछे की ओर स्थित होती है। किन्तु यह

नीचे श्रोणि तथा ऊपर अन्त्रियों अथवा यकृत् तक फैल सकती है। परिमित करनेवाले जोड़ों के टूटने से पूय उदर-गुहा में फैल जाती है। रोग के प्रबल रूप में समस्त परिविस्तृत कला शोथयुक्त हो जाती है और पूय सारे स्थान में फैल जाती है। पूय के फैल जाने के पश्चात् शस्त्रकर्म से भी रोगी के जीवन की आशा नहीं की जा सकती। किन्तु पूयोत्पत्ति के पूर्व शस्त्रकर्म से रोगी के बचने की बहुत कुछ सम्भावना रहती है।

रोगोत्पत्ति की दशाएँ—यह रोग १० और ३० वर्ष के बीच की आयु में अधिक होता है, यद्यपि अन्य अवस्थाओं में भी उत्पन्न हो जाता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को रोग अधिक होता है और उनमें रोग की प्रबलता भी अधिक देखी जाती है। रोग का जान्तव अथवा अधिक प्रोटीनयुक्त भोज्य पदार्थों से कुछ सम्बन्ध मालूम होता है। शाकाहारी जातियाँ इस रोग से बहुत कुछ मुक्त पाई जाती हैं।

लक्षण—इस रोग के कई रूप पाये जाते हैं। साधारण दशाओं में रोगोत्पत्ति के लक्षण ऐसे स्पष्ट होते हैं कि रोग को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु कभी-कभी लक्षणों में बहुत कुछ भिन्नता भी पाई जाती है, जिसका कारण आन्त्र परिशिष्ट तथा विद्रधि की स्थिति में भिन्नता मालूम होती है।

(१) जब रोग का हलका आक्रमण होता है तब रोगी को उदर में नाभि के पास अथवा अन्य किसी स्थान पर तीव्र पीड़ा मालूम होती है। किन्तु एक या दो दिन के पश्चात् यह पीड़ा दाहिने जघन-खात में परिमित हो जाती है। पीड़ा तीव्र और काटने के समान होती है। यदि रोग का कारण आन्त्र परिशिष्ट के मार्ग का रुक जाना अथवा उसका मुड़ जाना होता है तो पीड़ा उदर-शूल के समान होती है। ऐसी दशा में प्रथम पीड़ा के ठहर-ठहरकर आक्रमण होते हैं, किन्तु अन्त में वह निरन्तर होने लगते हैं। यदि रोगोत्पत्ति का कारण जीवाणु होते हैं तो पीड़ा धीमी किन्तु निरन्तर होती है, जो समय-समय पर बढ़ जाती है। रोगी का जी मिचलाता है। उसको कुछ वमन भी होता है। ज्वर १०० या १०२° हो जाता है। नाड़ी की गति भी बढ़ जाती है। आन्त्र-गति के रुक जाने के कारण कोष्ठबद्धता उत्पन्न हो जाती है। बच्चों में प्रवाहिका देखी गई है जिसमें मल के साथ रक्त निकलता है।

उदर की परीक्षा करने पर उदर-भित्तियाँ कड़ी मालूम होती हैं। उदर को स्पर्श करने से रोगी को पीड़ा मालूम होती है, जो दाहिने जघन-खात के ऊपर अत्यन्त तीव्र होती है। पुरोर्ध्वकूट से नाभि तक खींची गई रेखा पर कूट से लगभग १½ इंच आगे पीड़ा सबसे अधिक होती है। यह स्थान "मैकबर्नी का बिन्दु[१]" कहलाता है। इस प्रान्त की पेशी भी अधिक कड़ी हो जाती है। जघन-खात में वंक्षणी-बन्धन से ऊपर प्रायः बाहर की ओर एक उत्सेध प्रतीत होता है।

यह दशा प्रायः ३ या ४ दिन तक रहती है। उसके पश्चात् उपयुक्त चिकित्सा होने पर जाती रहती है और रोगी नीरोग हो जाता है।

इस दशा में लक्षण इस क्रम से प्रकट होते हैं—(१) पीड़ा, (२) जी मिचलाना तथा वमन, (३) स्पर्श-पीड़ा तथा पेशियाँ कड़ी पड़ जाना, और (४) ज्वर की उपस्थिति।

---

१. Mc Burney's point.

(२) जब दशा इससे अधिक तीव्र होती है तब रोग केवल शोथ की अवस्था पर ही नहीं रुकता। आन्त्र परिशिष्ट में विद्रधि बन जाती है। रोग का प्रारम्भ पहले ही की भाँति होता है, किन्तु लक्षण तीव्र होते हैं। ज्वर १०३° या १०४° तक हो जाता है। वमन भी होता है, जिससे कभी-कभी मल के समान दुर्गन्ध आती है। कोष्ठबद्धता पूर्ण होती है। मलत्याग बन्द हो जाता है। बच्चों में अतिसार देखा गया है। उदर की पेशियाँ कड़ी हो जाती हैं। प्रायः दाहिनी ओर उत्सेध प्रतीत होता है, यद्यपि यह उदर में दूसरी स्थितियों में भी पाया जा सकता है। इस समय भी रोग को रोका जा सकता है। किन्तु यदि चिकित्सा के पूर्व शोथ परिविस्तृत कला में फैल चुका है तो रोग के उपर्युक्त लक्षण और भी उग्र हो जाते हैं। ज्वर बढ़ जाता है। नाड़ी की गति अधिक तीव्र हो जाती है। उदर की पेशियाँ कड़ी हो जाती हैं। वह श्वास लेने में भी भाग नहीं लेतीं। पीड़ा का प्रान्त बढ़ जाता है। प्रायः इस समय तक उत्सेध में पूय-तरङ्ग नहीं मालूम देती और न तरङ्ग के स्पष्ट होने के लिए प्रतीक्षा करने में समय गँवाना ही उचित है। सम्भव है कि विद्रधि के चारों ओर जो जोड़ बने हैं वह टूट जायँ और पूय उदर में फैल जाय। यदि विद्रधि के फटने से पूय उदर-गुहा फैलती है तो परिविस्तृत कला के संक्रमित हो जाने से दारुण विष-सञ्चार के लक्षण—तीव्र पीड़ा, तापक्रम का अति न्यून हो जाना, गाढ़ी स्तब्धता, नाड़ी का दुर्बल तथा तीव्र होना, उदर का फूल जाना इत्यादि—उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी की मृत्यु हो जाती है। कभी कभी विद्रधि के फटने पर रोगी की दशा कुछ समय के लिए सुधर जाती है, किन्तु फिर बिगड़ने लगती है।

जब पूय के उपस्थित होने में सन्देह हो तो रक्त के लाल कणों की गणना करनी चाहिए। प्रायः वह २० हजार से अधिक मिलते हैं।

(३) जब परिविस्तृत कला का शोथ रोग के प्रारम्भ ही से उपस्थित होता है तब रोगी को असह्य वेदना होती है। पीड़ा की प्रबलता के कारण स्तब्धता के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी को वमन होता है। थोड़े ही समय में लक्षण उग्र हो जाते हैं। रोगी शय्या पर पीठ के बल जंघाओं को सिकोड़कर लेटता है। उदर विस्तृत हो जाता है और उसके स्पर्श से भी पीड़ा होने लगती है। उदर की पेशियाँ कड़ी हो जाती हैं। नाडी तीव्र और प्रबल होती है, यद्यपि अन्त में दुर्बल ही जाती है। श्वास तीव्र और अपूर्ण हो जाता है। तापक्रम अति न्यून होता है और रोगी को हिक्का प्रारम्भ हो जाता है। वमन में पहले आमाशय में उपस्थित वस्तुएँ निकलती हैं, किन्तु शीघ्र ही पित्त और तत्पश्चात् मलयुक्त वमन होने लगते हैं। कोष्ठबद्धता पूर्ण होती है। वायु भी नहीं निकलती। रोगी की शक्ति क्षीण होती चली जाती है और अन्त को उसकी मृत्यु हो जाती है। रोगी की दशा प्रायः प्रारम्भ ही से इतनी विषम नहीं होती। धीरे-धीरे लक्षणों की प्रबलता होती है और अन्त को रोगी इस दशा पर पहुंच जाता है।

(४) तरुण कोथ-युक्त आन्त्र परिशिष्ट शोथ—यह रोग का अत्यन्त प्रबल और घातक रूप है। इसका कारण आन्त्र परिशिष्ट के छिद्र का किसी प्रकार अकस्मात् बन्द हो जाना है, जिससे वहाँ पर उपस्थित मल वहीं रुक जाता है। इस मल में अत्यन्त प्रबल जीवाणु उपस्थित होते हैं। रोग अकस्मात् प्रारम्भ होता है और उसके समस्त स्थानिक

लक्षण बड़ी शीघ्रता के साथ उत्पन्न हो जाते हैं। नाड़ी प्रथम प्रबल होती है और तापक्रम भी सामान्य अथवा कुछ अधिक होता है। किन्तु शीघ्र ही वह अति न्यून हो जाता है और नाड़ी भी दुर्बल और तीव्र हो जाती है। रोग के प्रारम्भ होने के थोड़े ही समय पश्चात् पीड़ा कम हो जाती है, अथवा जाती रहती है। यह आन्त्र परिशिष्ट के कोथ तथा उसके विदार का लक्षण है, जिससे भित्तियों के फटने पर भीतर उपस्थित संक्रामक पदार्थ उदर-गुहा में पहुँचकर परिविस्तृत कला का शोथ उत्पन्न कर देते हैं। इस कला के शोथयुक्त हो जाने पर पूर्व-कथित लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी की ३६ घण्टे में मृत्यु हो सकती है। कभी-कभी रोगी १ या २ दिन अधिक ले लेता है।

इस रोग के दो प्रकार के जीर्ण रोग भी पाये जाते हैं। प्रथम रूप में रोग का एक बार आक्रमण होने के पश्चात् रोग के लक्षण मन्द हो जाते हैं; किन्तु व्यक्ति पूर्णतया रोगमुक्त नहीं होता। कुछ समय के पश्चात् रोग के लक्षण फिर उभर आते हैं। इन आक्रमणों के अन्तर-काल में भी रोगी को ज्वर बना रहता है। रोग के स्थानिक लक्षण भी बने रहते हैं। उचित चिकित्सा न होने पर किसी आक्रमण के पश्चात् परिविस्तृत कला का शोथ उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

दूसरे स्वरूप में समय समय पर रोग के आक्रमण होते रहते हैं। आक्रमणों के अन्तर-काल में रोग के समस्त लक्षण जाते रहते हैं। कई मास अथवा १ वा २ वर्ष के अन्तर पर रोग के आक्रमण हो सकते हैं। कुछ सप्ताह ही के अन्तर से भी आक्रमण का होना सम्भव है। रोगी की दशा अत्यन्त क्षीण हो जाती है। प्रायः आन्त्र परिशिष्ट के भीतर किसी प्रकार की अश्मरी बन जाती है और उसका मार्ग रुक जाता है तथा वह पास की धातुओं के साथ जुड़ जाता है। बहुधा भित्तियों में विद्रधि बनकर परिविस्तृत कला का शोथ उत्पन्न कर देती है।

रोग-निश्चिति—सामान्य दशाओं में रोग के लक्षण ऐसे विशिष्ट होते हैं कि रोग-निर्णय में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु अन्य रोगों की अपेक्षा, कारण और आन्त्र परिशिष्ट की स्थिति के अनुसार, इस रोग के लक्षणों में बहुत भिन्नता पाई जा सकती है। रोग का निर्णय करते समय निम्न-लिखित रोगों का विचार भी कर लेना चाहिए। वृक्कशूल, पित्ताशय-शूल, पित्ताशय-शोथ, निमोनिया की प्रारम्भिक अवस्था, पक्वाशय[1] का विदार तथा बृहदान्त्र का श्लैष्मिक शोथ।

चिकित्सा—रोग के लक्षणों के अनुसार चिकित्सा के साधनों में भिन्नता करनी होती है। जहाँ रोग तीव्र हो वहाँ रोगी को बचाने की आशा केवल शस्त्र-कर्म में रह जाती है।

रोग के साधारण रूप में, जब लक्षण अधिक उग्र न हों और तापक्रम १०१° से अधिक न हो, रोगी को शय्यारूढ़ करके उदर पर तारपीन के तैल के साथ ऊष्म स्वेद करना चाहिए। वस्तिकर्म द्वारा बृहदान्त्र के निचले भाग की शुद्धि करना भी आवश्यक है। वमन के लिए बर्फ़ चूसने को दो। पोषक पदार्थ गुदा द्वारा प्रविष्ट करने उचित हैं। विरेचक औषधियों को देने से पूर्व भली भाँति विचार कर लेना चाहिए। यदि ४८ घण्टे तक इस प्रकार चिकित्सा करने के पश्चात् रोगी की दशा में कुछ भी उन्नति न हो तो

---

१. Perforation of Duodenum.

शस्त्र-कर्म करना आवश्यक है। ऐसी दशा में प्रायः पूय उत्पन्न हो चुकती है। यदि उपर्युक्त चिकित्सा से रोगी के साधारण लक्षण कम हो जावें किन्तु स्थानिक लक्षण वैसे ही रहें तो भी आन्त्र परिशिष्ट को निकाल देना ही उचित है। रोग के आक्रमण के समाप्त हो जाने के कुछ समय पश्चात् परिशिष्ट का छेदन करना ही सर्वोत्तम है। इससे रोग के पुनः आक्रमण की सम्भावना नहीं रहती।

तीव्र दशाओं में बिना समय को नष्ट किये तुरन्त शस्त्र-कर्म करना चाहिए। इस कारण जब कभी रोग के प्रारम्भ में तीव्र पीड़ा, बारम्बार वमन, गाढ़ी स्तब्धता तथा उदर-भित्तियों का कड़ापन उपस्थित हो तब ऊष्म स्वेद तथा ओषधियों का उपयोग करने में व्यर्थ समय नष्ट करना उचित नहीं। जितना जल्दी शस्त्र-कर्म किया जावेगा उतना ही रोगी के बचने का अवसर अधिक होगा। इसी प्रकार जब विद्रधि की उपस्थिति के लक्षण स्पष्ट हों तब भी शोथयुक्त स्थान पर भेदन करके आन्त्र परिशिष्ट को निकालने में देर नहीं करना चाहिए। यदि आन्त्र परिशिष्ट न मिल सके तो केवल पूय को निकालकर निर्हरण का प्रबन्ध करने के पश्चात् व्रण को छोड़ देना चाहिए। सम्भव है, पूय के निकल चुकने के पश्चात् कुछ समय में व्रण स्वयं ही भर जावे। कुछ रोगियों में विद्रधि के लक्षण अत्यन्त स्पष्ट नहीं होते और न परिविस्तृतकला के शोथ के ही लक्षण होते हैं। किन्तु शारीरिक दशा भीतरी उग्र अवस्था की सूचक होती है। ऐसी दशा में भी शस्त्र-कर्म करना ही उचित है। रोग के जीर्ण स्वरूपों में भी आन्त्र परिशिष्ट का निकाल देना ही सर्वोत्तम है। एक बार शोथयुक्त हो चुकने के पश्चात् उसके फिर से रोगग्रस्त हो जाने का सदा भय बना रहता है।

शस्त्र-कर्म की विधि—वंक्षणी-बन्धन से तनिक ऊपर किन्तु उसके समानान्तर २ या ३ इंच लम्बा इस प्रकार का भेदन किया जाता है कि "मैकबर्नी का स्थान" उसके बीच में रहता है। चर्म और प्रावरणी के पश्चात् उदरच्छदा-चरमा को और तत्पश्चात् मध्यमा और अन्तिमा पेशियों को व्यत्यस्त दिशा में काटकर कटे हुए भागों को दृढ़ नि[illegible]तंकों द्वारा दोनों ओर को खींच दिया जाता है। इस प्रकार जो स्थान खुलता है उसमें परिविस्तृत कला दिखाई पड़ती है। यदि यह स्थान छोटा हो तो भेदन को उदर सीवनी की ओर बढ़ाया जा सकता है। तत्पश्चात् परिविस्तृत कला का व्यत्यस्त दिशा में छेदन करके उसके दोनों किनारों को, संदंशों द्वारा ग्रहण करके, खींच लिया जाता है। इस समय बृहदान्त्र का प्रथम भाग स्पष्ट दिखाई पड़ता है। आन्त्र परिशिष्ट उसके नीचे ही लगा होता है। अतएव आन्त्र के सहारे अँगुलियों को नीचे की ओर को ले जाकर उसको ढूँढ़ा जाता है और उसको बाहर की ओर खींच कर वृत्ताकार छेदन द्वारा काटा जाता है। यह छेदन इस प्रकार का होना चाहिए कि परिशिष्ट के केवल पेशी-स्तर कटें, भीतर का श्लैष्मिक स्तर न कटने पावे। इससे श्लैष्मिक स्तर की एक नली सी बन जायगी जिसके चारों ओर पेशियाँ इत्यादि स्थित होंगी। तत्पश्चात् पेशी के स्तर को ऊपर की ओर को कमीज़ के कफ़ की भाँति उलट दिया जाता है और श्लैष्मिक कला की नलिका पर आन्त्र परिशिष्ट के जितना भी पास सम्भव है, कैटगट का एक बन्धन लगाकर बाहर का भाग काट दिया जाता है। श्लैष्मिक कला का जितना भी भाग बन्धन से आगे को निकला रहे वह सब काट देना चाहिए। तत्पश्चात् आन्त्र परिशिष्ट के पेशी-स्तरों में सूई से कैटगट का तागा

बटुये की डोरी की भाँति चारों ओर डाला जाता है और सूई को अलग करके बन्धनयुक्त श्लैष्मिक कला के भाग को बृहदान्त्र के भीतर की ओर ढकेलकर कैटगट के दोनों सिरों को खींचकर दृढ़ गाँठ लगा दी जाती है। इस प्रकार आन्त्र परिशिष्ट का अवशिष्ट भाग भी आन्त्र में समा जाता है और ऊपर से परिविस्तृत कला से ढक दिया जाता है। तत्पश्चात् पेशी इत्यादि को सीकर व्रण को बन्द कर देना उचित है। यदि आवश्यक समझा जाय तो निर्हरण-नलिका का उपयोग किया जा सकता है।

परिशिष्ट का छेदन करने से पूर्व उसकी सम्बन्धि-कला का धमनी इत्यादि का बन्धन कर चुकने के पश्चात् छेदन कर देना आवश्यक है।

शस्त्र-कर्म के पश्चात् दारुण दशाओं में तीन सप्ताह तक रोगी को शय्यारूढ़ रखना चाहिए।

जब विद्रधि-युक्त आन्त्र परिशिष्ट को निकालना हो तब उदर की भित्तियों का पर्याप्त आकार का भेदन करना आवश्यक है। आन्त्र परिशिष्ट को बाहर निकालने से पूर्व चारों ओर के भागों को शुद्ध गौज़ के टुकड़ों से ढक देना चाहिए। तत्पश्चात् आन्त्र परिशिष्ट को बाहर निकालकर उसका छेदन करना उचित है। गौज़ का एक पतला लम्बा टुकड़ा व्रण द्वारा इस स्थान तक रखना चाहिए, जिससे निर्हरण भी होता रहे। यदि परिशिष्ट न मिल सके तो केवल पूय को निकालकर गौज़ को उचित प्रकार से रखकर निर्हरण का उपयुक्त प्रबन्ध कर देना चाहिए।

भगन्दर[1]

यह वास्तव में नाड़ीव्रण होता है जो गुदा तथा मलाशय के पास पाया जाता है। इस स्थान के नाड़ीव्रणों ही को भगन्दर कहा जाता है। इसका एक मुख मलद्वार के पास चर्म पर होता है और दूसरा द्वार मलाशय के भीतर अथवा उसके पास रहता है।

भगन्दर कई प्रकार के होते हैं, जिनमें निम्न-लिखित मुख्य हैं—

(१) पूर्ण भगन्दर—इसका एक मुख मलाशय के भीतर और दूसरा मलद्वार के पास चर्म पर होता है। इस प्रकार चर्म से बीच की धातुओं में होता हुआ मलाशय के

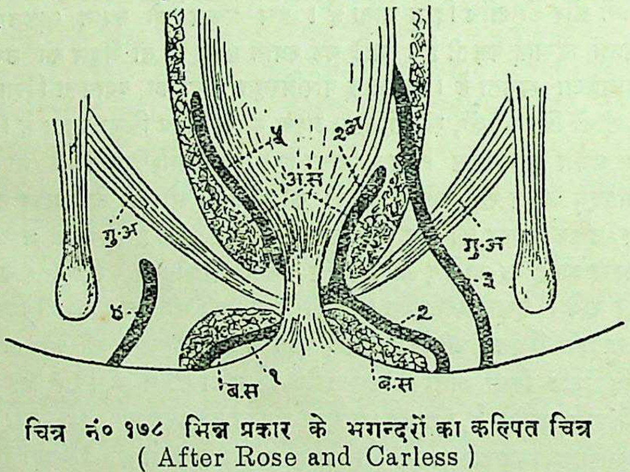

चित्र नं० १७८ भिन्न प्रकार के भगन्दरों का कल्पित चित्र
(After Rose and Carless)

---

१. Fistula-in-Ano.

(१) बाह्य भगन्दर, (२) पूर्ण भगन्दर, (२ अ) पूर्ण भगन्दर नम्बर २ से विस्तृत शाखा, (३) पूर्ण भगन्दर जो अन्तः-सङ्कोचनी से ऊपर गुदा में खुल रहा है, (४) बाह्य अन्ध भगन्दर, (५) आन्तरिक अन्ध भगन्दर, अ, स, अन्तः-सङ्कोचनी पेशी, ब, स, बहिः-सङ्कोचनी पेशी, गु, अ, पायु धारणी।

भीतर तक एक पूरा मार्ग बन जाता है। यह भगन्दर किसी विद्रधि से उत्पन्न होता है और उसी की स्थिति के अनुसार भगन्दर की भी स्थिति होती है। यदि विद्रधि मलद्वार के पास ही उत्पन्न होती है तो मलाशय और भगन्दर के बीच में केवल श्लैष्मिक कला रह जाती है। किन्तु यदि विद्रधि उससे तनिक दूर होती है, जैसे गुदपार्श्व विद्रधि[1], तो भगन्दर का बाह्य छिद्र विद्रधि के अनुसार मलद्वार से कुछ दूरी पर होता है और आन्तरिक छिद्र लगभग एक इंच ऊपर की ओर मलाशय की आन्तरिक सङ्कोचक पेशी के पास स्थित होता है। बहुधा इस मुख्य मार्ग से कई नाड़ीव्रण, शाखा की भाँति फूटकर, चारों ओर की धातुओं में जाते हैं। कभी-कभी इस प्रकार का भगन्दर पाया जाता है जो मल मार्ग के निचले भाग को चारों ओर से घेर लेता है। इससे फूटती हुई और शाखाएँ भी मिल सकती हैं।

(२) बाह्य अन्ध भगन्दर—इसका केवल एक ही छिद्र बाहर चर्म पर खुलता है। इस प्रकार के भगन्दर का मलाशय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह मलाशय के पास आकर समाप्त हो जाता है। यदि एक एषिण बाहर से इस भगन्दर में डाली जावे तो उसको मलाशय के द्वारा प्रतीत किया जा सकता है। मलाशय के भीतर अँगुली और एषिग के बीच में केवल मलाशय की कला रहती है।

(३) आन्तरिक अन्ध भगन्दर—इसका छिद्र चर्म पर नहीं होता। वह केवल भीतर की ओर मलाशय में खुलता है और उसमें उत्पन्न हुई पूय भी मलाशय ही में जाती है। इस प्रकार के भगन्दर में मल के साथ पूय आती है। अँगुली के द्वारा मलाशय में स्थित भगन्दर के छिद्र को प्रतीत किया जा सकता है। अथवा यदि एक मुड़ी हुई एषिण उसमें डालें तो उसके द्वारा भगन्दर के मार्ग तथा उसकी गहराई मालूम हो जाती है।

चिकित्सा—केवल शस्त्र-कर्म के द्वारा की जा सकती है। मलाशय से सदा कुछ दूषित पदार्थ भगन्दर के भीतर पहुँचा करते हैं जिससे भगन्दर भी दूषित हो जाता है। इस कारण उनका नीरोग होना कठिन होता है।

शस्त्र-कर्म करने के एक घण्टे पूर्व वस्ति-कर्म द्वारा मलाशय को पूर्णतया स्वच्छ कर देना आवश्यक है। पूर्व रात्रि को रोगी को अण्डी का तेल इत्यादि विरेचक देने चाहिएँ। इन दोनों कर्मों द्वारा अन्त्रियों को जितना हो सके उतना मल-रहित कर देना उचित है, क्योंकि शस्त्र-कर्म के पश्चात् चार या पाँच दिन तक रोगी को कोष्ठबद्ध रखना पड़ता है।

वस्ति-कर्म के पश्चात् रोगी को मेज़ पर लिटाकर उसकी टाँगों को ऊपर की ओर उठाकर मेज़ के दोनों ओर के आँकड़ों में बाँध देते हैं। दोनों ओर की ऊरु के भीतरी स्थान

---

१. Schio-rectal abscess.

तथा नितम्ब या मल द्वार के चारों ओर के स्थानों को पहले ही शुद्ध कर लिया जाता है। इन स्थानों को अब शुद्ध तौलियों से ढककर चिकित्सक एक स्टूल पर मलद्वार के सामने की ओर बैठता है।

भगन्दर के बाहरी छिद्र के द्वारा एक शुद्ध एषिण मलाशय तक डाली जाती है और उसके सहारे एक प्रदर्शक शलाका, जिसमें हलकी सी परिखा बनी होती है, भीतर प्रविष्ट की जाती है। इस शलाका की नली के द्वारा एक मुड़े हुए वेधस-पत्र को भीतर प्रविष्ट करके मलाशय और भगन्दर के बीच की धातु काट दी जाती है। भगन्दर की स्थिति के अनुसार कभी-कभी दोनों बाह्य और आन्तरिक सङ्कोचक पेशियाँ[1] काटनी पड़ती हैं, कभी-कभी दोनों बच जाती हैं। प्रायः बाह्य सङ्कोचनी का कुछ भाग अवश्य ही काटना पड़ता है। इसके पश्चात् इस भगन्दर के मुख्य मार्ग से जो शाखाएँ इधर-उधर को जाती हैं उनको भी भले प्रकार ढूँढ़कर और वेधस-पत्र से भली भाँति खोलकर उनके प्रत्येक दूषित भाग को खुरच या काटकर निकाल दिया जाता है। जिस स्थान पर चर्म स्वस्थ न हो उसको भी काट डालना चाहिए। इतना ध्यान रहे कि सङ्कोचक पेशी दो स्थानों पर न कटे।

इस प्रकार भगन्दर का छेदन करके सारी धातुओं को स्वच्छ करने के पश्चात् जिन धमनियों से रक्त निकल रहा हो उनका बन्धन कर देना चाहिए और व्रणों में आइडोफ़ार्म छिड़ककर, आइडोफ़ार्म और ग्लिसरिन में भीगा हुआ गौज़ उस स्थान में भर देना चाहिए। इसके ऊपर रुई रखकर T आकार का बन्धेज लगा दिया जाय। कर्म के पश्चात् बहुधा कर्मक्षेत्र में आइडोफ़ार्म की गुदवर्ति[2] को रख दिया जाता है।

शस्त्र-कर्म के पश्चात् की चिकित्सा—चार दिवस तक रोगी को मल त्याग करने से रोकना और शस्त्र-कर्म किये हुए सारे स्थान को अत्यन्त शुद्ध रखना आवश्यक है। चौबीस या अड़तालीस घण्टे तक भीतर भरे हुए गौज़ को निकालने की आवश्यकता नहीं है। केवल चारों ओर के स्थान को गरम कारबोलिक विलयन से धो देना चाहिए। जब भीतर के गौज़ के टुकड़े निकाले जावें तो प्रतिदिन दो चार व्रण को धोकर आइडोफ़ार्म और ग्लिसरिन में भीगे हुए गौज़ के नये टुकड़े रखे जायँ और ऊपर से पहले ही की भाँति व्रणोपचार किया जाय।

चौथे दिवस रोगी को अण्डी का तैल दिया जाता है। उसके पश्चात् प्रतिदिन रोगी को एक बार मलत्याग कराना चाहिए। इस समय व्रण में रोहण होने लगता है और वह धीरे-धीरे भर जाता है। रोगी को लोह इत्यादि बलप्रदायक वस्तुएँ देनी उचित हैं।

अर्श[3]

जब मलद्वार के भीतर चारों ओर की शिराएँ, जो श्लैष्मिक कला के नीचे रहती है, प्रकुपित हो जाती हैं तब वह छोटे-छोटे अर्बुदों की भाँति प्रतीत होने लगती हैं। यह प्रसरित शिराओं के गुच्छे अर्श कहलाते हैं। हिकमत में इस रोग को बवासीर कहते हैं और फूली हुई प्रकुपित शिराओं के अंकुरों को साधारणतया मस्से कहा जाता है। यह अर्श दो प्रकार का होता है—एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक।

---

१. External and Internal sphincters. २. Suppository ३. Piles.

कारण—मलाशय के चारों ओर उसके अन्तिम एक या दो इञ्चों में शिराओं की ऐसी स्थिति है कि प्रत्येक बार मलत्याग करते समय उन पर बहुत दबाव पड़ता है जिससे रक्त के लौटने में बाधा पड़ती है। इन शिराओं में कपाट भी नहीं हैं जो रक्त के लौटने में सहायता दें और न इन शिराओं को आश्रय देने के लिए चारों ओर कुछ दृढ़ धातु ही रहती है। साथ में यकृत् के रक्तसञ्चार से इनका ऐसा सम्बन्ध है कि यकृत् में विकार होने से या उसके रक्त-सञ्चार में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होने से इस स्थान के रक्त-सञ्चार में भी विकार उत्पन्न हो जाता है। इन सब स्वाभाविक कारणों से इन शिराओं में सहज ही प्रकोप उत्पन्न हो जाता है। साथ में मद्य का प्रयोग, एक ही स्थान पर बैठकर काम करने का स्वभाव और कोष्ठबद्धता इस दशा के उत्पन्न होने में बहुत सहायता देते हैं। मलाशय के अर्बुद या अन्य घातक रोग, स्त्रियों में गर्भाशय के अर्बुद इत्यादि से भी रोग की उत्पत्ति में सहायता मिलती है।

पुरुषों में तरुणावस्था में यह रोग अधिक होता है। वृद्धावस्था में पौरुषग्रन्थि की वृद्धि अथवा मूत्राशय की अश्मरी के कारण यह रोग उत्पन्न हो सकता है।

बाह्य अर्श[1]—यह मलद्वार के चारों ओर लम्बी और गहरी लाल रङ्ग की सिकुड़नों के रूप में प्रतीत होते हैं। साधारण अवस्था में, जब यह खाली होते हैं तब, वह प्रतीत नहीं होते; किन्तु प्रकुपित होने पर रक्त से भरकर फूल जाते हैं और प्रत्येक शिरा का अन्तिम भाग एक छोटा सा अङ्कुर या गाँठ जैसा मालूम होने लगता है। इनके बीच में शिरा होती है और इसके चारों ओर कुछ सौत्रिक धातु रहती है। यह धातु धीरे-धीरे बढ़ जाती है जिससे अर्श एक कठिन गाँठ की भाँति मालूम होने लगता है।

जब तक शिराएँ प्रकुपित नहीं होतीं तब तक रोगी को केवल कुछ खुजली और भारीपन मालूम होता है। उनके प्रकुपित होने पर अर्श छोटे-छोटे अर्बुदों की भाँति प्रतीत होने लगते हैं। इनका रङ्ग कुछ नीला हो जाता है। इनमें पीड़ा होती है और यदि यह कहीं दब जाते हैं तो रोगी को बहुत कष्ट होता है। इस कारण रोगी सुगमता से चल-फिर नहीं सकता। बैठने में भी उसको कष्ट होता है। शिरा के भीतर रक्त जम जाता है जिससे वह फूल जाती है। जब उचित चिकित्सा से शिराओं का प्रकोप जाता रहता है तब चारों ओर की सौत्रिक धातु और भी बढ़ जाती है और सारा स्थान स्पर्श से हाथ को कठिन प्रतीत होता है। इस प्रकार के अर्श से रक्त कम निकलता है।

चिकित्सा—रोगी को शय्यारूढ़ करके चलने-फिरने का निषेध कर देना चाहिए। वस्तिकर्म और विरेचक वस्तुओं द्वारा अन्त्रियों को स्वच्छ करना उचित है। मलस्थान को बिलकुल स्वच्छ और सब प्रकार की कठिन वस्तुओं से सुरक्षित रखना आवश्यक है। अर्श के ऊपर हैमेमिलिस[2] का मरहम लगाना चाहिए। अफ़ीम और माजूफल के प्रलेप* का भी उपयोग किया जाता है। यदि अर्श में प्रकोप उत्पन्न हो गया हो तो रोगी को शय्यारूढ़ करके उस पर ऊष्मस्वेद का प्रयोग करना चाहिए। साथ में ऊपर बताई हुई सब बातें करनी चाहिएँ। जब इस विधि से पीड़ा में कमी न हो और अर्श में तनाव अधिक हो तब एक-एक अर्श को पकड़कर उसका छेदन करके उसमें जमा हुआ रक्त निकाल देना चाहिए।

---

१. External-Piles. २. Hammemilis.

* यह प्रलेप अफ़ीम, माजूफल और वैसलीन को मिलाकर बनाया जाता है।

केवल बाह्य अर्श के लिए प्रायः शस्त्र-कर्म नहीं किया जाता। किन्तु यदि आन्तारक और बाह्य दोनों प्रकार के अर्श उपस्थित हों तो आन्तरिक के साथ बाह्य अर्श को भी काट-कर निकाल देना चाहिए। चिमटी और कैंची से उनको काटकर क्षत को टाँकों से सी देना पर्याप्त है।

आन्तरिक[1] अर्श—जैसा नाम से विदित है, यह अर्श मलद्वार के भीतर होते हैं और प्रत्येक अर्श श्लैष्मिक कला से ढका रहता है। बाह्य अर्श चर्म से ढके रहते हैं। उन्हीं की भाँति आन्तरिक अर्श में भी बीच में एक प्रकुपित शिरा और उसके चारों ओर संयोजक या सौत्रिक धातु होती है जो अर्श के पुराने होने पर कड़ी और अधिक हो जाती है।

कभी-कभी मलद्वार के चारों ओर की शिराएँ प्रकुपित दशा में मिलती हैं। मलाशय के अन्तिम एक या दो इंच के भाग पर चारों ओर अर्श उत्पन्न हो जाते हैं।

साधारणतया यह अर्श दो प्रकार के होते हैं—(१) एक लम्बे आकार के अर्श होते हैं जो श्लैष्मिक कला से ढ़के होते हैं और नीले या कुछ काले रङ्ग के होते हैं। इनके ऊपर कोई सिकुड़न नहीं होती। प्रत्येक अर्श एक छोटे नीले अंगूर के दाने की भाँति चमकीला होता है। इन अर्शों के बीच में जो गड्ढे होते हैं उनमें मल जमा हो जाता है। ऐसे अर्शों से रक्त का प्रवाह कम होता है।

(२) दूसरे गोल आकार के अर्श होते हैं जो श्लैष्मिक कलासे एक पतले डण्ठल के समान भाग से जुड़े रहते हैं। यह चिकने नहीं होते। इन पर प्रकुपित शिराओं के कारण सिकुड़नें उत्पन्न हो जाती हैं। इनसे अधिक रक्त निकलता है। यद्यपि यह श्लैष्मिक कला ही से ढ़के रहते हैं, किन्तु कुछ समय तक फूले रहने और रगड़ खाने से उन पर की श्लैष्मिक कला चर्म की भाँति कड़ी हो जाती है। कभी-कभी शिराओं के बीच में एक पतली धमनी की शाखा भी पाई जाती है।

लक्षण—जब तक शिरा प्रकुपित नहीं होती तब तक रोगी को किसी प्रकार असुविधा नहीं प्रतीत होती। केवल मलद्वार के भीतर कुछ भारीपन और खुजली मालूम होती रहती है। जब सारा अर्श फूलकर बाहर निकल आता है तो रोगी को चलने या बैठने में भी कष्ट होता है। थोड़े-बहुत समय के पश्चात् इनसे रक्त अवश्य ही निकलने लगता है। पहले केवल मलत्याग के समय मल के पूर्व कुछ रक्त आता है। किन्तु कुछ समय के पश्चात् रक्त अधिक मात्रा में आने लगता है जिससे रोगी को दुर्बलता और पाण्डुरोग भी हो जाता है। रोग जितना तीव्र होता है और जितना अधिक रक्त निकलता है उतना ही रोगी अधिक दुर्बल हो जाता है।

चिकित्सा—शस्त्र-कर्म के द्वारा अर्श को काटकर निकाल देना और साथ में रोगो-त्पादक कारणों की चिकित्सा करना आवश्यक है।

रोगी के कोष्ठ को विरेचक वस्तुओं द्वारा स्वच्छ रखना, उसको साधारण लघु भोजन देना, अर्श के स्थान को स्वच्छ रखना, मद्य का निषेध, आक्रमण के समय केवल तरल पदार्थ देना और रोगी की साधारण दशा को उपयुक्त ओषधियों द्वारा ठीक बनाये रखना चिकित्सक का कर्त्तव्य है। कोष्ठबद्धता को दूर करने के लिये अण्डी का तेल या गन्धक और सनाह का अवलेह दिया जा सकता है।

---

१. Internal-Piles.

शस्त्र-कर्म कई प्रकार से किया जाता है। सबसे सहज विधि, जिससे प्रायः उत्तम परिणाम होते हैं, अर्श का बन्धन करना है। रोगी को मेज़ पर लिटाकर एक चिमटी से एक-एक अर्श को पकड़कर उसके मूल पर की कला को एक कैंची के द्वारा भिन्न करके अर्श-मूल को कैटगट के द्वारा बाँध दिया जाता है। तत्पश्चात् शेष भाग कैंची से काटकर निकाल दिया जाता है। कुछ समय के पश्चात् यह कैटगट के बन्धन स्वयं अलग हो जाते हैं। यदि सम्भव होता है तो शस्त्र-कर्म के समय काटी हुई श्लैष्मिक कला को सी दिया जाता है जिससे सारा व्रण बहुत जल्दी भर जाता है।

दूसरी विधि यह है कि अर्श को पकड़कर उसको काट देते हैं। जिन नलिकाओं से रक्त निकलता हो उनको धमनी-संदंशों से पकड़कर, संदंश के ऊपर ही से श्लैष्मिक कला के कटे हुए स्थान पर टाँके लगाकर, व्रण को बन्द कर दिया जाता है। संदंश को निकाल-कर॰टाँके को, जो भिन्न-भिन्न नहीं होते किन्तु लगातार होते हैं, कस दिया जाता है। रक्त निकलना बन्द हो जाता है।

इसके अतिरिक्त ह्वाइटहेड की विधि के अनुसार अर्श के सारे प्रान्त को मलाशय से काटकर निकाल दिया जाता है। दोनों हाथों की तर्जनी अँगुलियों को भीतर डालकर चिकित्सक सारे स्थान को चौड़ा करके उसकी भली भाँति परीक्षा करता है और फिर स्थान को शुद्ध करके श्लैष्मिक कला और चर्म के संयोजन के स्थान पर क़ैंची से चारों ओर को काटकर श्लैष्मिक कला और चर्म को भिन्न कर देता है। इसके पश्चात् श्लैष्मिक कला के पीछे कैंची को डालकर आन्तरिक सङ्कोचक पेशी तक उसको पृथक कर दिया जाता है। इससे कला एक नली के रूप में बीच में लटकने लगती है। अर्श भी इसी में होते हैं। इनको काट दिया जाता है और शेष श्लैष्मिक कला का नीचे का किनारा नीचे की ओर खींचकर चर्म से मिलाकर सी दिया जाता है। जिन नलिकाओं से रक्त [illegible] रहा हो उनका बन्धन कर देना उचित है।

क्लैम्प और दाहक यन्त्र के द्वारा भी अर्श का नाश किया जाता है। श्लैष्मिक [illegible] को बाहर की ओर को खींचकर क्लैम्प से प्रत्येक अर्श को पकड़ क्लैम्प के पेंच को घुमा[illegible]

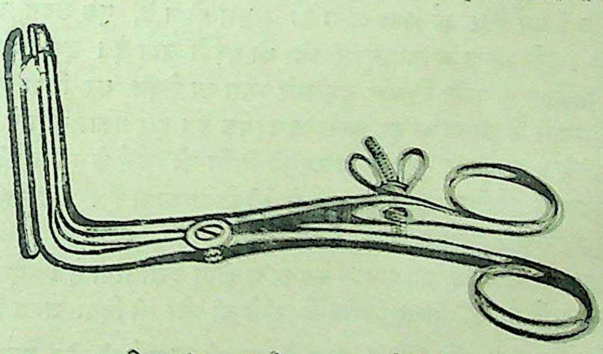

चित्र नं० १०६ स्मिथ का अर्शसंदंश

अर्श को दाब लिया जाता है। तत्पश्चात् चाकू से अर्श को काटकर कटे हुए स्थान पर कौटरी द्वारा दाहकर्म कर देते हैं और पेंच को घुमाकर क्लैम्प को ढीला करके यह देख

लेते हैं कि कटी हुई नलिकाओं से रक्त तो नहीं निकल रहा है। तत्पश्चात् उस सारे स्थान पर आयडोफ़ार्म को छिड़ककर और रूई को रखकर ऊपर से एक T आकार की पट्टी बाँध देते हैं। चौथे या पाँचवें दिन तक रोगी के मलत्याग को रोक दिया जाता है। उसके पश्चात् अण्डी के तेल के द्वारा उसके कोष्ठ को शुद्ध किया जा सकता है।

गुद-भ्रंश[1]

यह दशा अधिकतर बच्चों में और कभी-कभी युवकों में भी पाई जाती है। जब गुद-भ्रंश अपूर्ण होता है तब केवल श्लैष्मिक कला मलद्वार से बाहर निकल आती है। किन्तु पूर्ण भ्रंश में गुदा की सारी भित्ति बाहर आ जाती है। भ्रंश होने के थोड़े ही समय के पश्चात् रोगी के चिकित्सा के लिए आ जाने पर गुदा के बाहर निकले हुए भाग को सहज ही में दाबकर भीतर किया जा सकता है। शुद्ध गौज़ के टुकड़े को हाथ में ले रोगी को लिटाकर अँगुलियों से बाहर निकले हुए भाग को धीरे-धीर भीतर की ओर दाबा जाता है। इससे सारा भाग भीतर चला जाता है। किन्तु ऐसा करने से पूर्व भ्रष्ट भाग को भली भाँति धो देना चाहिये। जिन व्यक्तियों में यह रोग बार-बार उत्पन्न होता हो उनको नित्य-प्रति ६ से ८ औंस तरल पैराफ़ीन अथवा जैतून[2] के तैल से वस्ति करानी चाहिए। साथ में यदि रोगी को कोष्ठ-बद्धता रहती हो तो उसको भी दूर करना आवश्यक है। अर्श, अतिसार, जीर्ण कोष्ठ-बद्धता, गुदा का क्षोभ, जो बच्चों में कृमियों से उत्पन्न हो जाता है, तथा मूत्राशय की अश्मरी या वर्धित पौरुष-ग्रन्थि से भी यह रोग उत्पन्न हो सकता है। यदि इनमें से कोई रोग का कारण हो तो उसकी चिकित्सा करनी उचित है।

जिन रोगियों में इन क्रियाओं से सफलता न हो और गुद-भ्रंश बार-बार होता रहे, उनमें शस्त्रकर्म करना आवश्यक है। यदि भ्रंश अधिक न हो तो गुदा के बाहर निकले हुए भाग की किसी सिकुड़न को काटकर निकाल देना चाहिए। यह कटा हुआ भाग गहरी सीवन से जोड़ा जा सकता है। इससे गुदा की नलिका छोटी हो जायगी। जब भ्रंश के अधिक होने पर यह विधि पर्याप्त न समझी जावे तो भ्रंश का सम्पूर्ण छेदन उत्तम है। गुदद्वार पर, जहाँ चर्म और श्लैष्मिक कला का सङ्गम होता है, एक छेदन किया जाता है और धीरे-धीरे उसको भीतर अथवा दूसरी ओर को बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार वेधस-पत्र या कैंची से मलद्वार से बाहर निकले हुए सारे भाग का छेदन कर दिया जाता है। जो रक्त-नलिकाएँ कटती हैं उनका बन्धन करना आवश्यक है। इस प्रकार गुदा केवल मलद्वार तक रह जाती है। तत्पश्चात् गुदा के बाहर की भित्ति को चर्म के भीतर की ओर स्थित कला से और उसकी श्लैष्मिक कला को चर्म से सी दिया जाता है। एक सप्ताह तक रोगी को मलत्याग नहीं करने दिया जाता।

इस शस्त्रकर्म के पश्चात् भी प्रायः गुद-भ्रंश होता देखा गया है। ऐसी अवस्था में गुदा को ऊँचा करके उसकी पश्चात्-भित्ति को पीछे की ओर सी दिया जाता है।

गुद-विदार[3]—गुदा के नीचे के प्रान्त में उसकी लम्बाई की ओर व्रण बन जाते हैं जो नीचे की ओर गुदा के किनारे पर प्रायः चर्म के एक लटकते हुए भाग में अन्त होते हैं।

---

१. Prolapse of Anus. २. Olive oil. ३. Anal fissure.

इस भाग को 'गुदान्तक अर्श' कहा जाता है। व्रण के स्थान में श्लैष्मिक कला विदीर्ण हो जाती है। इसमें पीड़ा बहुत अधिक होती है, जो मलत्याग के पश्चात् और भी बढ़ जाती है और कई घण्टे तक होती रहती है। इश अर्श के अंकुर को कैंची से काटकर व्रण के तल को चौड़ा कर देना चाहिए। सम्भव है कि गुद-सङ्कोचनी पेशी के कुछ सूत्र कट जावें। तत्पश्चात् व्रण में शुद्ध गौज़ भर देना उचित है जिससे तल की ओर से नवीन रोहण-वस्तु बनकर व्रण को भर दे। जब यह वस्तु भली भाँति बनना आरम्भ हो जावे तब व्रण में गौज़ को बन्द कर रख देना चाहिए।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

अण्डकोष के रोग

अण्डकोष-जलातिवृद्धि[1]—अण्डकोष तथा वृषणरज्जु में तरल द्रव्य, जो पूय नहीं होता, एकत्र होने को जलातिवृद्धि कहते हैं।

अण्डकोषों में द्रव दो प्रकार से एकत्र हो सकता है—(१) अण्डावेष्टन में और (२) अण्डग्रन्थि के पास किसी विशेषतया उत्पन्न हुए कोष में। जिसको आवेष्टित जलातिवृद्धि कहा जाता है।

(१) अण्डवेष्टन की जलातिवृद्धि[2] में अण्डग्रन्थि और वेष्टन[3] के बीच में द्रव एकत्र हो जाता है। इस रोग के निम्न-लिखित प्रकार पाये जाते हैं—

(अ) तरुण जलातिवृद्धि[4]—अण्डग्रन्थि के तरुण शोथ के सम्बन्ध में यह रोग उत्पन्न होता है। वास्तव में यह द्रव लसीका होता है, जिसमें जमने की प्रवृत्ति होती है। कभी-कभी इसका पूर्ण शोषण हो जाता है। इसकी मात्रा कभी अधिक नहीं होती।

(क) सहज जलातिवृद्धि[5]—यह दशा उन व्यक्तियों में पाई जाती है, जिनमें शारीरिक उत्पत्ति के समय उदर से अण्डग्रन्थियों के साथ परिविस्तृत कला का नीचे उतरनेवाला भाग बन्द नहीं होता। इस कारण कोष में उपस्थित द्रव कोष को दाबने से हर्निया की भाँति उदर में समा जाता है। यह प्रायः शिशुओं में मिलता है। हर्निया के समान साधारण पेटी अथवा वंक्षण प्रान्त पर कवलिका के लगाने से रोग जाता रहता है। यदि इस प्रकार न जाये तो शस्त्रकर्म करना आवश्यक है।

---

१. Hydrocele २. Vaginal hydrocele. ३. Tunica vaginaiis. ४. Acute hydrocele. ५. Congenital hydrocele.

(च) शैशव जलातिवृद्धि[1]—इस रोग में परिविस्तृत कला का भाग केवल उदर की ओर बन्द होता है। इस कारण द्रव अण्डकोष और वंक्षण नलिका में भरा रहता है। लक्षण सामान्य होते हैं।

(ट) द्विकोषीय जलातिवृद्धि[2]—इस प्रकार के रोग में एक कोष उदर के भीतर स्थित होता है, जो एक लम्बी नलिका से वृषण में उपस्थित कोष के साथ सम्बद्ध होता है। इस कारण द्रव एक कोष से दूसरे कोष में आ-जा सकता है।

(प) जातोत्तर जलातिवृद्धि—यह अत्यन्त साधारण है। यही सामान्यतया पाया जाता है।

कारण—यह रोग उष्ण प्रदेशों में रहनेवालों को अधिक होता है। इसके कारण का अभी तक ठीक पता नहीं चल सका है। कुछ रोगियों में अण्डग्रन्थि के अन्य रोगों—जैसे सिफ़लिस अथवा क्षय—के साथ यह रोग उत्पन्न होता है। किन्तु प्रायः अण्डग्रन्थियाँ स्वस्थ होती हैं। कभी-कभी आघात के पश्चात् भी रोग उत्पन्न होते देखा गया है।

लक्षण—द्रव के एकत्र होने से अण्डकोष का आकार बड़ा हो जाता है। वह गोल अथवा अण्डे के समान दीखता है। चर्म की सिकुड़नें भी जाती रहती हैं। कोष का तनाव द्रव की मात्रा पर निर्भर करता है। कोष के ऊपर की ओर वृषणरज्जु को प्रतीत किया जा सकता है। अण्डग्रन्थि कोष में पीछे और नीचे की ओर रहती है। किन्तु उसको प्रतीत करना कठिन है। यदि अँधेरे में कोष के एक ओर लैम्प या मोमबत्ती जलाकर रखी जावे तो दूसरी ओर हलका प्रकाश दिखाई देगा। कोष के भीतर की वस्तु चमकती हुई लाल मालूम होगी। किन्तु यदि रोग के जीर्ण होने के कारण कोष की भित्ति मोटी हो गई है तो प्रकाश न दिखाई देगा।

रोग का निश्चय करते समय इसको हर्निया तथा अन्य अर्बुदों से पृथक् करना आवश्यक है। दाबने से यह उदर में नहीं समाता और न रोगी के खाँसने पर उसमें सर-सराहट ही प्रतीत होती है। हर्निया तथा अर्बुदों में कोष द्वारा प्रकाश नहीं दिखाई देता। साधारणतया इस वृद्धि से कोई पीड़ा नहीं होती। किन्तु जब कोष का आकार बहुत बढ़ जाता है तब वृषणरज्जु के खिंचने के कारण पीड़ा होती है। शिश्न कोष के भीतर दब जाता है और मूत्र चर्म पर होकर बहने लगता है जिससे कच्छु इत्यादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा दो प्रकार से की जाती है—एक वेधन और दूसरे शस्त्र-कर्म द्वारा।

वेधन—यह केवल असुविधा को मिटाने का एक उपाय है जिसका वर्णन दसवें परिच्छेद में किया जा चुका है। कोष से तरल निकाल देने के पश्चात् टिंक्चर आयोडीन, कुनेन-सेलीसिलेट इत्यादि का विलयन भर देते हैं। किन्तु इससे स्थायी लाभ होने में बहुत सन्देह है। प्रायः कुछ समय के पश्चात् कोष में फिर जल आ जाता है।

शस्त्र-कर्म—इससे सन्तोषजनक फल होता है। चर्म को पूर्णतया शुद्ध करके चर्म और प्रावरणी को काटने के पश्चात् कोष के स्तरों का भेदन किया जाता है। अन्त में

---

१. Infantile hydrocele. २. Bilocular hydrocele.

भेदन द्वारा कोष का जल निकल जाता है। यह भेदन इतना बड़ा होना चाहिए कि कोष को बाहर से दाबने पर अण्डग्रन्थि उसके द्वारा बाहर निकल आवे। इस कारण कोष के भेदन को क़ैंची से पर्याप्त बढ़ा देना चाहिए। इस प्रकार अण्डग्रन्थियों के बाहर निकलने पर कोष उलट जायगा। अर्थात् कोष का पृष्ठ बाहर था वह भीतर हो जायगा और भीतर-वाला बाहर आ जायगा। तत्पश्चात् कोष के कटे हुए दोनों भागों को कैटगट से सी देना उचित है। यह कोष का उलटना कहलाता है। अन्त में अण्डग्रन्थियों को चर्म के भेदन द्वारा कोष के भीतर करके चर्म के भेदन को सी देना उचित है।

शस्त्रकर्म के पश्चात् ३ महीने तक रोगी को लँगोट लगाना आवश्यक है।

(२) आवेष्टित जलातिवृद्धि[1]—यह अण्डग्रन्थि के ऊपर की ओर उपाण्ड के साथ उत्पन्न हो सकती है।

(अ) उपाण्डीय जलातिवृद्धि[2]—अण्डग्रन्थि के ऊपर की ओर उपाण्ड के शिर के पास स्थित पाई जाती है।

लक्षण प्रायः उपर्युक्त के अनुसार होते हैं, किन्तु इसका आकार बहुत बड़ा नहीं होता। अण्डग्रन्थि पृथक् प्रतीत होती है। इसके भीतर उपस्थित द्रव में प्रायः कुछ वीर्य मिल जाता है और सूक्ष्मदर्शक द्वारा कुछ शुक्राणु दीख पड़ते हैं।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा भी उपर्युक्त समान होती है।

(क) अण्डग्रन्थि के श्वेत वेष्टन के सम्बन्ध में कभी-कभी यह दशा पाई जाती है। यह अत्यन्त साधारण है।

वृषणरज्जु की जलातिवृद्धि—यह भी दो प्रकार की होती है। एक विस्तृत जो सारी रज्जु में फैली रहती है और दूसरी आवेष्टित जो एक स्थान में परिमित होती है।

प्रथम प्रकार की वृद्धि कम देखी जाती है; जब उपस्थित होती है तब रज्जु में एक उत्सेध दिखाई देता है, जिसकी सीमा स्पष्ट नहीं होती।

दूसरी प्रकार की वृद्धि में एक प्रकार का कोष बन जाता है, जिसके भीतर जल भरा रहता है। यह कोष वंक्षणी नलिका में इधर-उधर को फिरता हुआ प्रतीत किया जा सकता है। नीचे की ओर से अण्डग्रन्थि को पकड़ लेने के पश्चात् यह कोष स्थिर हो जाता है।

चिकित्सा—साधारण जलातिवृद्धि की भाँति इसकी भी चिकित्सा की जाती है।

अण्ड-शोथ[3]

यह रोग प्रायः आघात के कारण उत्पन्न होता है। कभी-कभी बिना आघात के भी उत्पन्न होते देखा गया है। आन्त्रिक ज्वर, कर्णपश्चिम शोथ, तथा विस्फोटक ज्वर[4] के साथ भी यह रोग पाया जाता है। केवल ठण्ड लगने से रोग उत्पन्न हो सकता है।

लक्षण—ग्रन्थि सूजकर आकार में बढ़ जाती है। ऊपर का चर्म भी शोथयुक्त हो जाता है। पीड़ा अत्यन्त होती है। स्पर्श बिल्कुल असह्य होता है। पीड़ा वृषण-प्रान्त

---

१. Encysted hydrocele. २. Hydrocele of epididymis. ३. Orchitis
४. Eruptive fever.

में होती हुई पीठ की ओर जाती हुई प्रतीत होती है। प्रायः अण्डग्रन्थि के आवेष्टन के भीतर कुछ तरल उत्पन्न हो जाता है। इसमें पूयोत्पादन नहीं होता, किन्तु कभी-कभी विद्रधि उत्पन्न होते देखा गया है।

रोगी को ज्वर हो आता है। कोष्ठ-बद्धता भी होती है। प्रायः वमन भी होते हैं। क्षुधा जाती रहती है। रोग के समाप्त होने पर यह लक्षण भी लुप्त हो जाते हैं।

चिकित्सा—रोगी को शय्यारूढ़ करके अण्डकोष को किसी तकिये इत्यादि पर आश्रित रखना चाहिए। ऊष्मस्वेद निरन्तर होता रहे। ग्लिसरिन-बेलाडोना अथवा दश प्रतिशत इक्थ्योल और ग्लिसरिन के मिश्रण में गौज़ को भिगोकर अण्डकोष पर लगाने से लाभ होता है।

प्रारम्भ में शीतोपचार भी किया जा सकता है। यदि चर्म में अत्यन्त रक्त-परिपूर्णता प्रतीत हो तो सिरिंज की सूई से वहाँ की कुछ शिराओं को विद्ध करके रक्त निकाला जा सकता है। यदि पीड़ा बहुत अधिक हो तो मार्फ़िया का प्रयोग करना उचित है। कैलोमिल इत्यादि तीव्र विरेचक ओषधि देकर रोगी के कोष्ठ की शुद्धि करनी चाहिए। भोजन के लिए तरल पदार्थ देने चाहिएँ। रोग के आक्रमण के पश्चात् अण्डकोष पर पारद के मरहमों का प्रयोग करना लाभदायक है। कुछ विद्वान् चर्म और प्रावरणी का भेदन करके अण्ड-वेष्टन को काटने और अण्डग्रन्थि तथा उपाण्ड में सूक्ष्म क्षत करने की सलाह देते हैं।

उपाण्ड-शोथ[1]—इसका कारण प्रायः पूयमेय होता है। पौरुष-ग्रन्थि के रोग के कारण भी यह उत्पन्न हो सकता है। प्रारम्भ में रोगी को उदर के नीचे के भाग में तीव्र पीड़ा होती है, जो शीघ्र ही अण्डकोष में फैल जाती है। समस्त अण्ड का आकार बढ़ जाता है। किन्तु वह गोल नहीं होता, प्रायः अण्डे के समान और चपटा हो जाता है। उपाण्ड वर्धित और अण्डग्रन्थि पर ऊपर, पीछे और नीचे की ओर लगा मालूम होता है। अण्डकोष का चर्म लाल और शोथ-युक्त हो जाता है। वृषणरज्जु भी वर्धित और शोथ-युक्त दिखाई देती है। अण्डशोथ की अपेक्षा इस रोग में पूयोत्पादन अधिक होता है। रोगी को ज्वर इत्यादि शारीरिक लक्षण अण्डशोथ ही के समान होते हैं।

चिकित्सा—अण्डशोथ ही के समान की जाती है। यदि रोगी को पूयमेह हो तो मूत्र-मार्ग परिशोधन को कुछ समय के लिए बन्द कर देना चाहिए।

शिरा-वृद्धि[2]

इस रोग में अण्डकोष में अण्डरज्जु के साथ जो शिराएँ रहती हैं उनके आकार में वृद्धि हो जाती है। वह फूलकर मोटी हो जाती हैं और अँगुली को पतली रज्जु के समान प्रतीत होती हैं। यह दशा शिराओं के उस जाल में पाई जाती है जो वृषण-गामिनी धमनी के चारों ओर स्थित होता है। वृद्धावस्था की अपेक्षा यह रोग युवा व्यक्तियों को अधिक होता है।

वृक्क के अर्बुद इत्यादि के साथ यह रोग बहुधा पाया जाता है। परीक्षा करने से अण्डकोष एक ऐसे थैले की भाँति मालूम होता है जिसमें केंचुए भरे हों। खाँसने पर

१. Epididymitis. २. Varicocele.

सरसराहट प्रतीत होती है। रोगी के लेट जाने पर शिराओं से रक्त लौट जाता है, और इस कारण वह प्रतीत नहीं होती। किन्तु यदि रोगी खड़ा होता है तो उनमें फिर से रक्त भर जाता है। रोगी को सदा एक भार लटकता हुआ मालूम होता रहता है। इससे प्रायः रात्रि की सोते समय वीर्यपात हो जाता है। चोट लगने से शिराओं में शोथ उत्पन्न हो सकता है।

चिकित्सा—रोगी को सदा कसा हुआ लँगोट बाँधना चाहिए। नित्यप्रति प्रातः और सायं अण्डकोषों को ठण्डे जल अथवा शीतोत्पादक विलयनों से धोया जाय। विरेचन वस्तुओं द्वारा कोष्ठ को शुद्ध रखना भी आवश्यक है।

यदि रोग अधिक बढ़ गया है अथवा अण्डकोष में पीड़ा होती है या इस रोग के कारण अण्डग्रन्थि के क्षय की आशङ्का है तो शस्त्रकर्म द्वारा प्रकुपित शिराओं का छेदन कर देना उचित है। भग-सन्धानिका के चारों ओर का स्थान तथा अण्डकोष को पूर्णतया शुद्ध करने के पश्चात् बहिर्वंक्षणी छिद्र पर होता हुआ ऊपर से नीचे की ओर एक $1\frac{1}{2}$ इंच लम्बा वृषणरज्जु पर छेदन किया जाता है। चर्म-प्रावरणी इत्यादि को काटने के पश्चात् वृषणरज्जु के अवयवों को अँगुली के ऊपर उठाकर उन पर चढ़ी हुई सौत्रिक धातु को काटकर वृषणानुगामिनी शिरा को स्पष्ट किया जाता है। प्रायः इस शिरा की दो शाखाएँ मिलती हैं। इनको रज्जु के अन्य अवयवों से पृथक् करके, बहिर्वंक्षणीय छिद्र के पास, उन पर कैटगट का दृढ़ बन्धन लगाया जाता है और नीचे की ओर से धमनी-संदंशों से ग्रहण करने के पश्चात् संदंश और बन्धन के बीच में काट दिया जाता है। तत्पश्चात् संदंशों से पकड़े हुए शिराओं के सिरों को अन्य भागों से नीचे की ओर को उपाण्ड तक पृथक् किया जाता है। यदि आवश्यकता होती है तो एक या दो स्थानों में संदंशों द्वारा ग्रहण करके शिराओं को काट दिया जाता है। तत्पश्चात् व्रणों को सी दिया जाता है। रोगी को दो सप्ताह तक शय्यारूढ़ रखना आवश्यक है।

अण्डकोष के अर्बुद

अण्डकोष में प्रायः घातक अर्बुद होते हैं। केवल एक सामान्य अर्बुद पाया जाता है जिसको एडीनोमा कहते हैं।

वृषण का एडीनोमा (फ़ाइब्रोसिस्टिक रोग)

इस दशा में अण्डकोष में एक अर्बुद उत्पन्न हो जाता है, जिसके भीतर बहुत सी छोटी-छोटी कोटरें या गुहाएँ पाई जाती हैं। प्रायः यह गोल होती हैं और इनमें एक प्रकार का तरल भरा रहता है। इन कोटरों के चारों ओर संयोजक धातु होती है। कभी-कभी उसमें कार्टिलेज के टुकड़े पाये जाते हैं। बहुत से रोगियों में अण्डग्रन्थि की धातु इन अर्बुदों पर एक पतले स्तर के रूप में फैली रहती है।

लक्षण—यह रोग प्रायः युवा व्यक्तियों में मिलता है और आघात के कारण उत्पन्न होता है। ग्रन्थि धीरे-धीरे बहुत बढ़ जाती है। यह आकार में गोल होती है और दबाने से लचक जाती है। वृषणरज्जु पृथक् प्रतीत होती है। रोगी को प्रायः कोई असुविधा नहीं

होती। जब उसका आकार बहुत बढ़ जाता है तब रोगी को भार के कारण कष्ट होता है। ऐसी दशा में चर्म पर व्रण बन सकते हैं।

चिकित्सा--रोग निश्चित करने के पश्चात् अण्डग्रन्थि का सम्पूर्ण छेदन कर देना ही उत्तम है।

सारकोमा

बहुधा उपर्युक्त अर्बुद सारकोमा में परिणत हो जाता है। यह प्रायः तीस और चालीस वर्ष की अवस्था में मिलता है। यह ग्रन्थि के सौत्रिक भाग में प्रारम्भ होता है। कुछ समय में यह इतना बढ़ जाता है कि ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं। आकार में यह प्रायः गोल होता है। प्रथम इसकी सीमा स्पष्ट नहीं होती किन्तु ज्यों-ज्यों रोग बढ़ता जाता है त्यों-त्यों यह कठिन होता जाता है। इसमें कभी-कभी वसा अथवा सौत्रिक धातु की अधिकता पाई जाती है। वंक्षणीय प्रान्त की लसीका ग्रन्थियाँ सदा आक्रान्त हो जाती हैं।

लक्षण--प्रारम्भ में भार के अतिरिक्त और कोई कष्ट नहीं प्रतीत होता। किन्तु अण्डग्रन्थि की प्रतीति नष्ट हो जाती है। जब रोग अधिक फैल जाता है और वृषणरज्जु आक्रान्त हो जाती है तब पीड़ा बहुत होती है और रोगी भी कृश हो जाता है। कुछ समय तक अर्बुद बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है। किन्तु तत्पश्चात् इतनी शीघ्रता से बढ़ सकता है कि कुछ ही सप्ताह में उदर के भीतर पहुँच जाता है जिससे उसका छेदन असम्भव हो जाता है।

चिकित्सा--अण्डग्रन्थि-युक्त अर्बुद का शीघ्र ही सम्पूर्ण छेदन कर देना एक-मात्र चिकित्सा है। वृषणरज्जु को जितना भी ऊपर काटा जाय उतना ही उत्तम है।

कैंसर

यह प्रायः अण्डग्रन्थि के गात्र में उत्पन्न होता है। यह नरम होता है और शीघ्रता से चारों ओर की धातुओं और वृषणरज्जु में फैल जाता है। इससे अण्डकोश के चर्म में भी थोड़े ही समय में व्रण उत्पन्न हो जाते हैं और अर्बुद उनके द्वारा बाहर को निकला हुआ दिखाई देता है। इस अर्बुद का विस्तार बहुत शीघ्रता से होता है और इस कारण कोष के भीतर स्थित अङ्ग इससे शीघ्र ही आक्रान्त हो जाते हैं। इसकी विस्तृति सारकोमा की अपेक्षा बहुत तीव्र होती है।

चिकित्सा—जितना भी शीघ्र हो सके, अण्डग्रन्थि का रज्जु-सहित सम्पूर्ण छेदन अत्यन्त आवश्यक है।

बीसवाँ परिच्छेद

अर्बुद[1]

शरीर की किसी भी धातु में उसकी अत्यन्त वृद्धि से अर्बुद उत्पन्न हो सकते हैं। यह एक प्रकार की स्थानिक अतिवृद्धि होती है जिसका शरीर में कोई विशेष कार्य नहीं होता और न कोई अन्त ही होता है। उनकी वृद्धि भी शरीर की वृद्धि पर निर्भर नहीं करती। वह व्रणशोथ से भिन्न होते हैं, क्योंकि व्रणशोथ का अन्त पाक में होता है। अर्बुद की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'नवीन रचना या रचनाओं का समूह'—जो वृद्धि करता है और जिसका शरीर में न तो कोई विशेष कर्म होता है और न अन्त ही होता है।

कारण—अर्बुदोत्पत्ति के कारण पूर्णतया निश्चित नहीं हैं। सम्भव है, कई प्रकार की दशाएँ मिलकर अर्बुद की उत्पत्ति का कारण हों। कुछ अर्बुद किसी विशेष धातु की जन्मतः विकृत दशा से उत्पन्न होते हैं। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि कभी-कभी भ्रूणावस्था की धातुओं के कुछ भाग उसी दशा में रह जाते हैं, उनका विकास नहीं होता; अतएव उनमें वृद्धि करने की अत्यन्त क्षमता होती है। जब किसी कारण यह उत्तेजित हो जाते हैं तब इनकी अतिवृद्धि के कारण अर्बुद उत्पन्न हो जाता है।

पैतृक प्रभाव अर्बुद को कहाँ तक उत्पन्न कर सकता है, इसमें सन्देह है; किन्तु ऐसे परिवार देखने में आते हैं जिनमें कैंसर अथवा अन्य अर्बुद अधिक व्यक्तियों को आक्रान्त करते हैं। इसी प्रकार कुछ सामान्य अर्बुद भी एक ही परिवार की कई सन्ततियों में निरन्तर उत्पन्न होते देखे गये हैं। व्यवसाय से व्रणोत्पत्ति का अधिक [illegible] प्रतीत होता।

बहुत से रोगियों में ७ से १४ प्रतिशत अर्बुद किसी आघात के पश्चात् उत्पन्न [illegible] किसी विशेष स्थान की निरन्तर उत्तेजना से भी अर्बुद उत्पन्न हो सकते हैं। [illegible] ओष्ठ तथा जिह्वा के कैन्सर इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं।

कुछ विद्वान् विशेष प्रकार के पराश्रयियों को व्रणोत्पत्ति का कारण मानते हैं। इस [illegible] कारण उनका अर्बुदों को संक्रामक रोगों के समान मानना है। उन्होंने कैन्सर के पराश्रयियों का वर्णन किया है, किन्तु अन्वेषण और प्रयोगों से उनकी धारणा का समर्थन नहीं होता।

अर्बुदों के प्रकार—अर्बुद विशेषतया दो प्रकार के होते हैं—(१) सामान्य, (२) घातक। सामान्य अर्बुद घातक नहीं होते। किन्तु दूसरी प्रकार के अर्बुदों से जीवन का नाश होता है।

सामान्य अर्बुद—इनमें निम्नलिखित गुण होते हैं—(१) प्रायः एक अर्बुद होता है, अधिक कम होते हैं। (२) वृद्धि धीमी होती है। (३) एक कोष के द्वारा परिवेष्टित होते हैं। (४) छेदन के पश्चात् पुनरुत्पत्ति की प्रवृत्ति नहीं होती। (५) इनमें प्रायः

---

1. Tumour.

व्रणोत्पत्ति और रक्तस्राव नहीं होता। जब दबाव के कारण ऊपर का चर्म क्षत हो जाता है तब व्रण उत्पन्न होता है। (६) यह शरीर पर कोई बुरा प्रभाव नहीं डालते। केवल उस समय जब किसी मार्मिक अङ्ग पर उनका दबाव पड़ता है तब उससे बुरे परिणाम हो सकते हैं। स्वरयन्त्र में उत्पन्न हुए सामान्य अर्बुद की वृद्धि से भी श्वासावरोध के कारण मृत्यु हो सकती है। (७) इनकी सूक्ष्म रचना चारों ओर की धातुओं की रचना के बहुत कुछ समान होती है।

घातक अर्बुद—इनमें निम्न-लिखित गुण पाये जाते हैं—(१) इनकी वृद्धि सामान्य अर्बुदों की अपेक्षा तीव्र होती है। (२) इनकी सीमा परिमित नहीं होती; यह चारों ओर की धातुओं में फैले रहते हैं। कभी-कभी इनका विस्तार अत्यन्त दूरवर्ती अङ्गों में हो जाता है। (३) इनमें छेदन के पश्चात् पुनरुत्पत्ति की अत्यन्त प्रवृत्ति होती है। (४) इन पर कोई परिवेष्टन नहीं होता, यद्यपि इनके चारों ओर की धातुओं के कठिन हो जाने से इनकी सीमा प्रतीत होने लगती है। किन्तु वह वास्तव में नहीं होती। (५) यद्यपि इनकी संख्या प्रायः एक ही होती है, किन्तु इनमें दूरवर्ती अङ्गों में गौण अर्बुद उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। (६) यह प्रायः चर्म को आक्रान्त करके उसमें व्रण उत्पन्न कर देते हैं। जिनसे रक्तस्राव होता है। (७) इनसे एक प्रकार का विष उत्पन्न होकर शरीर में व्याप्त होता रहता है जिससे रोगी कृश और दुर्बल हो जाता है।

बहुधा सामान्य अर्बुद घातक रूप ले लेता है जिससे अर्बुद की धातु-रचना में भिन्नता आ जाती है। इस कारण अर्बुद का निर्णय करते समय उसकी रचना पर अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। उसकी स्थिति, वृद्धि की गति तथा लक्षणों के विचार से अर्बुद का रूप पहचानने का प्रयत्न करना उचित है।

चिकित्सा—अर्बुदों की केवल एक मात्र चिकित्सा सम्पूर्ण छेदन है। जहाँ तक हो सके, कोष सहित छेदन करना चाहिए। घातक अर्बुदों में रेडियम और एक्स-रे का भी प्रयोग किया जाता है जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

संयोजक धातु से उत्पन्न हुए सामान्य अर्बुद

(१) वसार्बुद[1]—यह शरीर की साधारण वसा के बने हुए होते हैं। प्रत्येक अर्बुद में वसा कई भागों में स्थित होती है जिनके बीच में सौत्रिक धातु के फलक रहते हैं, जो परिवेष्टन के साथ मिले होते हैं। इन अर्बुदों के आकार में बहुत भिन्नता पाई जाती है। यह सब अवस्थाओं में उत्पन्न हो सकते हैं। दाबने से यह दब जाते हैं। यदि यह छोटे होते हैं तो अँगुली के नीचे से फ़िसल ज़ाते हैं। इनमें पूय-तरङ्ग की भाँति प्रतीत होती है। यद्यपि यह शरीर में किसी भी स्थान पर उत्पन्न हो सकते हैं तो भी स्कन्ध, पीठ और नितम्ब पर अधिक पाये जाते हैं।

निर्णय करते समय इनको शीतल विद्रधि से पृथक् करना पड़ता है।

यह अर्बुद कभी घातक रूप नहीं लेता और इसे केवल उस समय छेदन द्वारा

---

१. Lipoma.

निकालना पड़ता है जब आकार में किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न हो जाती है अथवा उसका आयाम बहुत बढ़ जाता है।

यह अर्बुद बहुधा शरीर में दोनों ओर समान स्थितियों में पाये जाते हैं। कभी-कभी कक्ष, ग्रीवा तथा पेड़ू के प्रान्त में चर्म के नीचे वसा में अति वृद्धि हो जाती है, किन्तु कोई विशिष्ट अर्बुद नहीं होता। इस दशा को वसाविस्तृति[1] कहते हैं।

पीतार्बुद[2]—इसमें वसा और सौत्रिक दोनों प्रकार की धातुएँ मिली रहती हैं और लालिमायुक्त गहरे पीले रङ्ग के कण पाये जाते हैं। यह दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार में चर्म पर उभरे हुए पीले रङ्ग के भाग दिखाई देते हैं जो पक्ष्म के चर्म पर अधिक मिलते हैं। दूसरी प्रकार के अर्बुद चर्म से उत्क्षेपित और पीत रङ्ग से युक्त दिखाई देते हैं। यह बाल्य तथा प्रारम्भिक युवावस्था में अधिक पाये जाते हैं। कभी-कभी इनका आकार बढ़ जाता है। काटने पर भीतर से यह नारङ्गी रङ्ग के दिखाई देते हैं।

कार्टिलेज-अर्बुद[3]—यह अर्बुद कार्टिलेज के बने होते हैं। इन पर एक कोष होता है। यह दाबने पर लचीले किन्तु दृढ़ प्रतीत होते हैं। जब उनमें चूने के लवण एकत्र हो जाते हैं तब वह कड़े अस्थि की भाँति प्रतीत होते हैं। कभी-कभी कार्टिलेज अस्थि में परिणत हो जाता है। ऐसी अवस्था में भी अर्बुद अत्यन्त कठिन हो जाता है। एक ही अर्बुद में कठिन और कोमल भाग पाये जा सकते हैं।

यह अर्बुद धीरे-धीरे बढ़ता है और इससे प्रायः किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। यदि इससे कोई नाड़ी दबती है तो पीड़ा होने लगती है। इस प्रकार के अर्बुद घातक रूप ले सकते हैं।

यह अर्बुद लघु और दीर्घ दोनों प्रकार की अस्थियों के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं। वह प्रायः अँगुलियों की अस्थियों के सम्बन्ध में अधिक उत्पन्न होते हैं। युवा व्यक्तियों के हाथों की अस्थियों में वह बहुधा देखे जाते हैं और एक ही समय में कई अर्बुद उपस्थित होते हैं। जिस स्थान पर अर्बुद होता है वहाँ अस्थि चौड़ी हो जाती है, जिससे अँगुलियाँ विकृत दिखाई देने लगती हैं। इन अस्थियों में अर्बुद प्रायः उनके सिरों के पास उत्पन्न होते हैं।

लम्बी अस्थियों में अर्बुद की उत्पत्ति अस्थिवेष्ट के नीचे होती है। इस प्रकार वे उस कार्टिलेज से, जो अस्थियों के सिरों में होते हैं, स्वतन्त्र रहते हैं, यद्यपि कुछ विद्वानों की सम्मति के अनुसार इन अस्थियों के सिरों से उत्पत्तिकाल में कार्टिलेज के कुछ भाग वहाँ पहुँच जाते हैं। यदि अर्बुद केवल अस्थि के बाहरी संहत भाग में परिमित रहता है तो वहाँ की अस्थि गलकर पतली हो जाती है जिससे भग्न हो सकता है। कभी-कभी अर्बुद भीतर की ओर अर्बुद की नलिका में फैल जाता है जिससे अस्थि चौड़ी हो जाती है।

इन अर्बुदों को काटने से वह भीतर से हलकी नीलिमायुक्त अर्धपारदर्शी दिखाई देते हैं। उसके भिन्न-भिन्न भागों के बीच में बाहरी कोष से जाते हुए फलक उपस्थित होते हैं। एक्स-रे चित्रण में इन अर्बुदों की छाया नहीं दिखाई देती। किन्तु चूने के एकत्र होने अथवा अस्थिकृत हो जाने पर उनकी अस्थि ही की भाँति छाया बनती है।

---

१. Lipomatosis. २. Zanthoma. ३. Chondroma.

चिकित्सा—इस अर्बुद के बहुधा घातक रूप ले लेने के कारण इसका छेदन करना ही अत्युत्तम है। जहाँ हो सके, कोष सहित अर्बुद को निकाल देना चाहिए। यदि कोष इतना स्पष्ट न हो तो अर्बुद के चारों ओर की अस्थि के कुछ भाग को भी काटकर निकाल देना उचित है। कई अँगुलियों में अर्बुद होने से हाथ के छेदन का प्रश्न उपस्थित होता है। किन्तु अङ्गछेदन के पूर्व एक्स-रे का उपयोग कर लेना चाहिए।

अस्थ्यर्बुद[1]—यह अर्बुद अस्थि-धातु का बना होता है और अस्थियों के सम्बन्ध में पाया जाता है। यह दो प्रकार का होता है—सुषिर[2] और संहत[3]। 'सुषिर' प्रकार का अर्बुद लम्बी अस्थियों के सिरों के पास उत्पन्न होता है जहाँ से वह एक उत्सेध या प्रवर्धन की भाँति निकला रहता है। इस पर 'स्वछ कार्टिलेज[4], का एक स्तर चढ़ा रहता है। कभी-कभी इसका आकार बहुत बढ़ जाता है। यह बालकों या तरुण अवस्थावाले युवाओं में मिलता है, जिनमें अस्थि का सिरा पूर्णतया अस्थिकृत नहीं हुआ है। कभी-कभी वह जन्म ही से उपस्थित होता है। पूर्ण युवावस्था पर पहुँच जाने के पश्चात् इसकी वृद्धि बन्द हो जाती है और यह कभी-कभी पृथक् हो जाता है। इसकी वृद्धि बहुत धीमी होती है और जब तक यह किसी नाड़ी को नहीं दाबता तब तक इससे कोई पीड़ा नहीं होती।

'संहत' प्रकार का अर्बुद संहतास्थि का बना होता है और प्रायः करोटि की अस्थियों से उत्पन्न होता है, जहाँ से वह मस्तिष्क के भीतर की ओर पूर्विका के वायु-विवर अथवा नासिका या नेत्र-गुहा में वृद्धि कर सकता है। कर्ण-विवर में उसको उत्पन्न होते हुए देखा गया है। इस प्रकार वह अत्यन्त विकृति उत्पन्न करने के अतिरिक्त दृष्टि, श्रवण तथा घ्राण शक्ति सबको बिगाड़ सकता है।

मज्जार्बुद[5]—यह अर्बुद अस्थियों की मज्जा से उत्पन्न होता है। काटने से यह भीतर से अत्यन्त गहरे लाल रङ्ग का पाया जाता है। इसमें रक्त का सञ्चार बहुत अधिक होता है और प्रायः रक्तस्राव के कारण इसके भीतर सिस्ट बन जाती हैं। यह लम्बी अस्थियों के, वृद्धि करते हुए, सिरों के पास अधिक पाया जाता है। अन्तर्जंघिका के ऊर्ध्वप्रान्त में यह अर्बुद विशेषतया अधिक होता है। जिस स्थान पर यह उत्पन्न होता है वहाँ पर अस्थि चौड़ जाती है और भीतर की ओर से खोखली हो जाती है, किन्तु वहाँ बाहर की ओर नवीन अस्थि बन जाती है। यह अस्थि धीरे-धीरे पतली होती चली जाती है, यहाँ तक कि उस स्थान पर अस्थि का केवल एक पतला स्तर रह जाता है जो दाबने से भीतर दब जाता है और अण्डे के छिलके की भाँति प्रतीत होता है। कभी-कभी कण्डराओं के परिधान के सम्बन्ध में भी यह अर्बुद उत्पन्न हो जाता है किन्तु वहाँ पर इसका रंग गहरा पीला या नारङ्गी होता है। छेदन के पश्चात् स्पिरिट में रखने से उसका रङ्ग भूरा हो जाता है।

यह अर्बुद बहुकेन्द्रकी-बृहद्-कोषाणुओं का बना होता है जिनके चारों ओर गोल-कोषाणु तथा तर्क्वाकार-कोषाणु उपस्थित होते हैं। इन कोषाणुओं के आकार में बहुत भिन्नता पाई जाती है। किन्तु केन्द्रकों की संख्या सदा अधिक होती है। यह अर्बुद प्रायः घातक रूप धारण नहीं करते। वे कोमल होते हैं और दाबने से सहज में दब जाते हैं। रक्त-

---

१. Osteoma. २. Cancellous. ३. Compact. ४. Hyaline Cartilage. ५. Myeloma.

सञ्चार की अधिकता से कभी-कभी इनमें स्पन्दन प्रतीत होता है। इनसे गौण-वृद्धि नहीं उत्पन्न होती।

चिकित्सा—जहाँ हो सके, उसका सम्पूर्ण छेदन कर देना चाहिए। यदि यह न हो सके तो उसको खुरचकर निकाल देने के पश्चात् चारों ओर के स्थान पर कारबोलिक अम्ल लगाकर गौज़ से भर दिया जाय। अर्बुद के अधिक विस्तृत हो जाने पर अस्थि का आक्रान्त भाग काटना पड़ता है।

मांसार्बुद[1]—यह अनैच्छिक मांस-सूत्रों के बने होते हैं। यह उन अङ्गों में अधिक होते हैं। जिनमें मांस- सूत्रों के स्तर पाये जाते हैं। आमाशय, अन्त्रियों, गर्भाशय इत्यादि में ये अर्बुद उत्पन्न होते हैं। काटने पर उनके भीतर चारों ओर को जाते हुए सूत्र दिखाई देते हैं सूत्रों के गुच्छों की स्थिति में विशेष क्रम पाया जाता है। सूत्रों के कोषाणु लम्बे होते हैं और उनके भीतर स्थित केन्द्रक का आकार भी लम्बा होता है। इन पर एक कोष होता है। रक्त-सञ्चार भी इनमें अधिक होता है। बहुत बार एक से अधिक अर्बुद भी उपस्थित होते हैं। सामान्यतया इनसे कोई कष्ट नहीं होता। किन्तु जब वह समीपवर्ती अङ्ग पर भार डालते हैं तब उनसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

यह अर्बुद गर्भाशय में अधिक पाया जाता है, जहाँ मांस-सूत्रों के साथ सौत्रिक धातु भी मिली रहती है। इसके कारण कभी-कभी गर्भाशय से अत्यन्त रक्त-स्राव हो जाता है।

सौत्रार्बुद[2]—यह सौत्रिक संयोजक धातु का बना होता है। ये अर्बुद दो प्रकार के होते हैं—(१ कठिन और (२) कोमल।

कठिन अर्बुदों में कोषाणु कम होते हैं और सूत्रों की अधिकता होती है। सूत्रों के गुच्छे बहुधा एक केन्द्रीय क्रम में, रक्त नलिकाओं के चारों ओर, स्थित पाये जाते हैं। काटने पर चमकते हुए सूत्र इधर-उधर को जाते हुए दीखते हैं जिस प्रकार वे कण्डराओं में पाये जाते हैं। इनमें रक्त-सञ्चार भी कम होता है। अर्बुद के कोष में बहुधा कुछ बड़े आकार की शिराएँ उपस्थित मिलती हैं जिनसे रक्तस्राव हो सकता है। इस प्रकार के अर्बुदों की वृद्धि धीमी होती है।

कोमल सौत्रार्बुदों में कोषाणु और रक्त नलिकाओं की अधिकता होती है, जिनके बीच में कुछ सूत्र स्थित होते हैं। इनकी वृद्धि कठिन अर्बुदों की अपेक्षा तीव्र गति से होती है। काटने पर वे भीतर से मांस के समान कुछ लाल रङ्ग के दिखाई देते हैं। इनमें सारकोमा से बहुत सफलता होती है।

यह अर्बुद चर्म में,[3] विशेषकर नितम्ब पर, अधिक उत्पन्न होते हैं। इनके आकार में बहुत भिन्नता पाई जाती है। यह प्रायः अकेले होते हैं। किन्तु कई अर्बुद एक साथ उत्पन्न हो सकते हैं। यह सारकोमा का रूप धारण कर सकते हैं जो घातक होता है। इस कारण इनका कोष सहित छेदन करना चाहिए।

मिश्रार्बुद[3]—यह संयोजक धातु के कोषाणुओं का बना होता है जिनके चारों ओर तथा उनके बीच में एक लसदार अर्ध तरल पदार्थ भरा रहता है। इस प्रकार का पदार्थ अन्य

---

१. Myoma. २. Fibroma. ३. Myxoma. ४. Glioma.

कठिन अर्बुदों में भी उनके गलने से उत्पन्न हो जाता है। यह अर्बुद प्रायः श्लैष्मिक कला के पास उत्पन्न होते हैं। यह नाड़ियों के पिधान तथा सुषुम्ना दण्ड के सम्बन्ध में भी पाये जाते हैं।

(२) नाड्यर्बुद[1]--यह अर्बुद नाड्याधार वस्तु से उत्पन्न होते हैं और इस कारण मस्तिष्क, सुषुम्ना, दृष्टि, नाड़ी और नेत्र के अन्तःपटल में पाये जाते हैं। यह कोषाणु और सूत्रों के बने होते हैं और उनकी प्रधानता के अनुसार कठिन तथा कोमल हो सकते हैं। इनका रङ्ग मस्तिष्क पदार्थ के समान होता है जिससे चारों ओर की धातु और अर्बुद में भिन्नता करना कठिन हो जाता है। इनकी वृद्धि की गति में बहुत भिन्नता पाई जाती है। वास्तविक नाड्यर्बुद सदा सामान्य रूप के होते हैं। जो घातक नाड्यर्बुद पाये जाते हैं वह वास्तव में सारकोमा मिश्रित होते हैं।

(३) दन्तार्बुद[2]—यह अर्बुद दाँतों की धातुओं के बने होते हैं। भिन्न-भिन्न अर्बुदों में इन धातुओं का भिन्न अनुपात होता है। इन धातुओं के पूर्ण विकास होने के पूर्व ही यह अर्बुद उत्पन्न हो जाते हैं। ये वृद्धि की अवस्था में मसूड़ों की श्लैष्मिक कला के नीचे छिपे रहते हैं। उनकी स्थिति का पता भी नहीं होता। जब कई वर्ष पश्चात् उनमें पूयोत्पादन होता है तब उनकी ओर ध्यान आकर्षित होता है। इनके कई प्रकार पाये जाते हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं।

उपकलज[3] दन्तार्बुद—यह एनेमल[4] से उत्पन्न होते हैं और विशेषतया अधोहन्विका में पाये जाते हैं। अर्बुद के भीतर कई कोष होते हैं। प्रत्येक कोष उपकला से आवेष्टित रहता है। यह अर्बुद प्रायः युवावस्था के प्रारम्भ में उत्पन्न होते हैं। कोषों के भीतर भूरे रङ्ग का चिकना तरल पदार्थ भरा रहता है।

कोषीय दन्तार्बुद[5]—इस अर्बुद में विकृत दाँत के चारों ओर तरल पदार्थ युक्त एक कोष पाया जाता है जिसके भीतर विकृत दाँत पड़ा रहता है। इस कारण उसका प्रस्फुटन असम्भव होता है। यह अर्बुद प्रायः चर्वण-दन्तों के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं और कभी-कभी बहुत बढ़ जाते हैं।

सौत्रिकदन्तार्बुद[6]—दन्त-कोष के चारों ओर सौत्रिक धातु की अतिवृद्धि हो जाती है, जिससे दाँत के चारों ओर एक कोष बन जाता है जो सौत्रार्बुद के समान प्रतीत होता है।

मिश्रितदन्तार्बुद[7]—दन्त-रचना में भाग लेनेवाले सब अवयवों के मिलने से यह अर्बुद उत्पन्न होता है। इस कारण एनेमल डेंटिन और सीमेंट के बने हुए यह अर्बुद बहुधा अधोहन्विका में पाये जाते हैं। ये बाल्यकाल में ही उत्पन्न हो सकते हैं और गोल कठिन अर्बुद की भाँति प्रतीत होते हैं। जब इनमें पूयोत्पादन होने लगती है तब उनसे दुर्गन्धित स्राव निकलता है।

---

१. Neurogbia. २. Odontoma. ३. Epithelial-odontoma.
४. Enamel. ५. Follicular-odontoma. ६. Fibrous-odontoma.
७. Composite-odontoma.

निर्णय—इनका निर्णय प्रायः छेदन के पश्चात् होता है। युवावस्था अथवा बाल्य-काल में जब कभी हन्वस्थि में कोई परिमित कठिन अर्बुद मिले तब दन्तार्बुद ध्यान में रखना चाहिए।

चिकित्सा—जहाँ तक हो सके, उनका सम्पूर्ण छेदन करना उत्तम है। कोषीय प्रकार के अर्बुदों की भित्ति को काटकर चारों ओर के भाग को खुरच देना चाहिए और कोष के भीतर से दाँत को भी निकाल देना चाहिए।

घातक संयोजक-धातुजन्य अर्बुद—सारकोमा[1]

संयोजक धातु से उत्पन्न हुए किसी प्रकार के अर्बुद को, जो घातक रूप धारण कर लेता है, सारकोमा कहते हैं। इस प्रकार के अर्बुद में कोषाणुओं की अधिकता होती है। कोषाण्वन्तरिक वस्तु कम होती है। इस प्रकार यह रचना में बहुत कुछ भ्रूण-धातु के समान होते हैं। किन्तु कोषाणु एक दूसरे से कोषाण्वन्तरिक वस्तु के द्वारा भिन्न रहते हैं। यह अर्बुद प्रावरणी, चर्म, अस्थिवेष्ट तथा अस्थिमज्जा से प्रायः उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी इनके चारों ओर कोष प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह केवल चारों ओर की धातु होती है जिसमें अर्बुद के कोषाणु फैले रहते हैं। इनमें रक्त-सञ्चार अधिक होने से कभी-कभी उनमें स्पन्दन प्रतीत होता है। रक्त-सञ्चार के लिए कोई विशेष नलिकाएँ नहीं होतीं, किन्तु अर्बुद की वस्तु के भीतर कोषाणुओं के बीच में खुले हुए स्थान होते हैं जो केवल अन्तर्कला[2] से वेष्टित होते हैं। पास की धमनी और शिराएँ भी प्रसरित पाई जाती हैं। रक्त-सञ्चार की अधिकता के कारण अर्बुद से रक्तस्राव की आशंका रहती है। अर्बुद के भीतर के रक्तमार्गों का पास की शिराओं से सम्बन्ध होता है। अर्बुद के कोषाणुओं का विस्तार इन शिराओं ही के द्वारा होता है। अर्बुद के कोषाणु अथवा अर्बुद के छोटे-छोटे भाग अर्बुद से पृथक् होकर शिराओं द्वारा दूरवर्ती अङ्गों में पहुँचकर वहाँ गौण वृद्धि प्रारम्भ कर देते हैं। यह वृद्धियाँ प्रायः फुस्फुस अथवा यकृत् में होती हैं। गुण और रचना में ये मुख्य अर्बुद ही के समान पाई जाती हैं। फुस्फुस तथा यकृत् से ये अर्बुद दूरवर्ती अङ्गों में फैल सकते हैं। कभी-कभी इन अर्बुदों की विस्तृति लसीकावाहिनियों द्वारा भी हो जाती है।

इन अर्बुदों की घातकता और इनके विस्तार की शक्ति में बहुत भिन्नता पाई जाती है। कुछ अर्बुदों की वृद्धि अत्यन्त धीमी होती है। इस प्रकार के अर्बुद प्रायः कठिन होते हैं और उनमें सौत्रिक अथवा कोषाण्वन्तरिक वस्तु अधिक होती है। किन्तु कोमल प्रकार के अर्बुद शीघ्रता से बढ़ते हैं और उनमें विस्तार की शक्ति भी अधिक होती है। इस कारण घातक भी अधिक होते हैं।

यह अर्बुद बाल, युवा तथा प्रौढ़ावस्था में उत्पन्न होते हैं। ये जन्म से उपस्थित हो सकते हैं। इनके रङ्ग में, रक्त-सञ्चार के अनुसार, हलके भूरे से लेकर गहरे लाल तक भिन्नता पाई जाती है। रक्त-सञ्चार जितना अधिक होता है उतना ही रङ्ग गहरा होता है और उतनी ही कोमलता तथा घातकता अधिक होती है।

---

१. Sarcoma २. Endothelium.

अर्बुद-कोषाणुओं के आकार, आकृति तथा स्थितिक्रम के अनुसार, कई कई उपजातियों में विभक्त किये गये हैं। इस प्रकार कोषाणुओं के आकार के अनुसार वह लघु-गोल-कोषाणवीय[१], बृहद्-गोल-कोषाणवीय[२], लघुतर्क्वाकार कोषाणवीय[३] तथा बृहद्-तर्क्वाकार कोषाणवीय[४] सारकोमा कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त अर्बुद में जिस धातु की अधिकता पाई जाती है उसके अनुसार भी अर्बुद को नाम दिया जाता है। जैसे सौत्रिक सारकोमा[५] अस्थिसारकोमा[६], मांससारकोमा[७], इत्यादि। कुछ अर्बुदों का नामकरण रङ्ग के अनुसार भी होता है, जैसे 'क्लोरोमा[८]' अथवा 'मिलेनोटिक[९] सारकोमा'। इस नाम का अर्बुद गहरे भूरे या काले रङ्ग का होता है और अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक घातक होता है। इससे समीपवर्ती लसीका ग्रन्थि तथा आन्तरिक अङ्गों में शीघ्र ही गौण वृद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

निर्णय—सारकोमा को सामान्य अर्बुद, कैन्सर, सिफ़लिस तथा अन्य शोथयुक्त दशाओं से पृथक् करना पड़ता है।

चिकित्सा—जितना भी शीघ्र अर्बुद को छेदन द्वारा निकाला जा सके उतना ही उत्तम है। अर्बुद के कोषाणुओं के विस्तार करने के पश्चात् अर्बुद की पुनरुत्पत्ति का भय रहता है। इस कारण उसकी विस्तृति के प्रारम्भ होने के पूर्व ही छेदन करना आवश्यक है। यह जानना कि विस्तार कहाँ तक हो गया है असम्भव है।

इस कारण अर्बुद के साथ चारों ओर के स्वस्थ भाग का भी पर्याप्त छेदन कर देना चाहिए।

छेदन के पश्चात् पुनरुत्पत्ति का भय रहता है। इसके लिए 'रेडियम' और 'एक्स-रे' दोनों का उपयोग किया जाता है। छेदन के द्वारा 'रेडियम' की एक छोटी नलिका को तागे में बाँधकर उस स्थान के भीतर रख दिया जाता है, जहाँ से अर्बुद निकाला गया था। 'रेडियम' की दूसरी नलिका को चर्म के नीचे रखा जाता है। १० या १२ दिन के पश्चात् इन नलिकाओं को निकाल दिया जाता है। इससे चारों ओर की धातुएँ सिकुड़ती हैं और उनसे स्राव होता है जिसके निकालने के लिए प्रथम ही आयोजन कर देना चाहिए। यदि रेडियम न मिल सके तो 'एक्स-रे' का व्रण पर उपयोग करना उचित है।

अर्बुद के अधिक विस्तृत हो जाने पर वह अच्छेद्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में अर्बुद में एक छेदन करके रेडियम को एक नलिका को गहराई पर और दूसरी को चर्म के नीचे रखना चाहिए। प्रत्येक दूसरे या तीसरे दिवस इन नलिकाओं को इधर-उधर हटाया जाय। यदि इससे अर्बुद का आकार छोटा होकर वह छेद्य हो जावे तो उसको निकाल देना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो रेडियम का कई बार उपयोग किया जा सकता है।

---

१. Small round-celled. २. Large round-celled. ३. Small spindle-celled. ४. Large spindle-celled. ५. Fibro-sarcoma. ६. Osteo-sarcoma. ७. Myo-sarcoma. ८. Chloroma. ९. Milanotic-sarcoma.

उपकला से उत्पन्न हुए अर्बुद

उपकला से निम्न-लिखित अर्बुद उत्पन्न होते हैं—

सामान्य अर्बुद—(१) अङ्कुरार्बुद, (२) ग्रन्थ्यर्बुद।

घातक अर्बुद—कैंसर।

अंकुरार्बुद[1]—इन अर्बुदों की रचना साधारण अङ्कुरों की भाँति होती है। बीच का अक्ष संयोजक धातु का बना होता है जिसमें रक्त-नलिकाओं की सूक्ष्म शाखाएँ भी उपस्थित रहती हैं। इस अक्ष के चारों ओर उसी प्रकार की उपकला चढ़ी रहती है जैसी उस धातु को आच्छादित किये हुए है जिसमें अर्बुद स्थित है। यदि यह अर्बुद चर्म में होता है, तो उपत्वचा[2] अर्बुद को ढके रहती है। आन्त्र इत्यादि के अर्बुद पर श्लैष्मिक उपकला चढ़ी होती है। इस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न प्रकार की उपकला अर्बुद को आच्छादित करती है। प्रायः इस उपकला में अतिवृद्धि हो जाती है और कभी-कभी वह कड़ी पड़ जाती है। किन्तु यह सदा नहीं पाया जाता। बहुधा अर्बुद के पृष्ठ से बहुत से अङ्कुर स्वतः निकले रहते हैं। सारा अर्बुद शहतूत के गुच्छों की भाँति दिखाई देता है।

यह अर्बुद मूत्राशय में अधिक पाये जाते हैं। स्वरयन्त्र तथा ग्रन्थियों के सम्बन्ध में भी यह उत्पन्न होते हैं तथा अन्य अङ्गों में भी पाये जा सकते हैं।

यद्यपि यह अर्बुद सामान्य होते हैं, किन्तु कभी-कभी—विशेषकर अधिक अवस्था वाले व्यक्तियों में—घातक रूप ले लेते हैं। इन अर्बुदों में यह विशेषता होती है कि यह अङ्ग के पृष्ठ से बाहर की ओर को निकलते हैं, भीतर की ओर स्थिति में अथवा उस धातु की ओर वृद्धि नहीं करते।

ग्रन्थ्यर्बुद[3]—इन अर्बुदों की रचना उद्रेचक ग्रन्थियों के बहुत कुछ समान होती है और उन्हीं के सम्बन्ध में वह उत्पन्न भी होते हैं। किन्तु इनमें कोई नलिकाएँ नहीं होतीं और न उनसे उस ग्रन्थि का, जिससे वह उत्पन्न हुए हैं, उद्रेचन ही उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त वह भाग भी, जिनसे उद्रेचन उत्पन्न होता है, पूर्णतया नहीं बनते। कभी-कभी वह उपकला से भरे होते हैं। इनमें संयोजक धातु भी रहती है जिसकी भिन्न-भिन्न अर्बुदों में भिन्न मात्रा पाई जाती है।

यह अर्बुद प्रायः अकेले होते हैं, यद्यपि अनेक अर्बुद भी एक ही समय उत्पन्न हो सकते हैं। इन पर प्रायः कोष चढ़ा रहता है। बहुधा यह जिस ग्रन्थि से उत्पन्न होते हैं उसके साथ एक डण्ठल से जुड़े रहते हैं। इस डण्ठल में होकर रक्त-नलिकाएँ अर्बुद के भीतर प्रवेश करती हैं। यह भी अङ्ग के पृष्ठ से बाहर को निकले रहते हैं। प्रायः इनमें बहुत सी सौत्रिक धातुएँ मिली रहती हैं जिससे वह 'सौत्रिक ग्रन्थ्यर्बुद' कहलाते हैं। इसी प्रकार उनमें अन्य प्रकार की धातु भी पाई जा सकती है। यह अर्बुद सामान्य होते हैं। किन्तु वृद्धा स्त्रियों के स्तनों में कभी-कभी इनको घातक रूप धारण करते हुए देखा गया है। इस कारण इनका छेदन कर देना ही उत्तम है।

---

१. Papilloma. २. Epidermis. ३. Adenoma.

कैन्सर—यह घातक अर्बुद उपकला से उत्पन्न होता है। उपकला के कोषाणुओं में, जो पहले ही से उपस्थित होते हैं, अति शीघ्र गति से विभाजन होता है और इस प्रकार उपकला के कोषों का एक नवीन समूह उत्पन्न होकर चारों ओर की धातुओं में फैल जाता है। इस कारण वह धातु नष्टप्राय होकर इसी समूह में मिल जाती है। यह नवीन कोषाणु स्तम्भों के आकार में स्थित होते हैं। इस प्रकार चारों ओर की धातु में इन स्तम्भों के गुच्छे पाये जाते हैं। इन कोषाणुओं का विशेष गुण उनकी विभाजन की अपरिमित शक्ति है जिसके कारण वह उस स्थान या अङ्ग भर में, जहाँ अर्बुद उत्पन्न हुआ है, फैल जाते हैं और अङ्ग की धातु का नाश सा कर देते हैं। जो अर्बुद अधिक घातक नहीं होते उनके कोषाणुओं में अङ्ग के कोषाणुओं से कुछ समानता पाई जाती है। इन कोषाणुओं के रूप में अङ्ग की धातु के कोषाणुओं से जितनी अधिक भिन्नता होती है उतना ही अर्बुद अधिक घातक होता है। यह कोषाणु न केवल चारों ओर की धातुओं ही में विस्तृत हो जाते हैं, वरन् उनके समूह दूरवर्त्ती अङ्गों में पहुँचकर वहाँ 'गौण वृद्धियाँ' उत्पन्न करना प्रारम्भ कर देते हैं। जिन अर्बुदों में यह शक्ति अधिक होती है वह भयङ्कर होते हैं।

इन अर्बुदों के कोषाणुओं का विस्तार रक्त-नलिकाओं से नहीं होता अथवा बहुत ही कम होता है। इनका सम्बन्ध लसीका स्थानों से होता है और इस कारण कोषाणु-समूह भी लसीका-वाहिनियों द्वारा प्रवाहित होकर दूरवर्ती अङ्गों में पहुंच जाता है। अतएव अर्बुद के समीप की लसीका ग्रन्थियाँ शीघ्र ही आक्रान्त हो जाती हैं और आकार में वर्धित पाई जाती हैं। स्तन के अर्बुद में कक्ष की ग्रन्थियाँ, ओष्ठ से ग्रीवा की ग्रन्थियाँ, जननेन्द्रियों के अर्बुद से वंक्षणी-ग्रन्थि तथा आमाशय के अर्बुद से उसके बाहर उन्नतोदरधारा पर स्थित ग्रन्थियाँ आक्रान्त होकर बढ़ जाती हैं। स्वयं लसीका-वाहिनियाँ भी आक्रान्त हो जाती हैं और चर्म पर आक्रान्त वाहिनियों का जाल सा दिखाई देने लगता है। यह हाथ को पतली कड़ी रज्जु की भाँति प्रतीत होती हैं। स्तन के अर्बुद में वक्ष पर यह दशा अधिक पाई जाती है। लसीका वाहिनियों पर यतस्ततः सूक्ष्म कड़ी ग्रन्थियाँ भी प्रतीत होती हैं। कभी-कभी सारे स्थान का चर्म मोटा और कड़ा पड़ जाता है। लसीका ग्रन्थियों के अतिरिक्त यह गौण वृद्धियाँ यकृत, फुस्फुस, स्नैहिक कला[1] और अस्थि-मज्जा में अधिक होती हैं।

कैन्सर किसी भी स्थान से, जो उपकला से ढका हो, उत्पन्न हो सकता है। ग्रन्थियों के सम्बन्ध में भी वह बहुधा उत्पन्न होता है। किन्तु शरीर के कुछ विशेष स्थान या अङ्गों में उसकी उत्पत्ति अधिक होती है। पुरुषों में अन्य अङ्गों की अपेक्षा आमाशय अधिक आक्रान्त होता है। तत्पश्चात् क्रमानुसार अर्बुद अन्त्रियों, जिह्वा और मुख में उत्पन्न होता है। जननेन्द्रियाँ और चर्म पर भी बहुधा अर्बुद उत्पन्न हो जाता है। पित्ताशय, पौरुष-ग्रन्थि, अवटुका ग्रन्थि, स्वरयन्त्र इत्यादि में भी, अर्बुद उत्पन्न होते देखा गया है। यद्यपि उपर्युक्त अङ्गों की अपेक्षा कम होता है। पुरुषों में ८० प्रतिशत अर्बुद आमाशय और अन्त्रियों में उत्पन्न होता है। किन्तु स्त्रियों में गर्भाशय, अन्य जननेन्द्रियों और स्तनों में ८० प्रतिशत या इससे भी अधिक अर्बुद की उत्पत्ति होती है।

---

१. Serous-membrane.

कैन्सर के उत्पन्न होने के लिए उपयुक्त समय भिन्न-भिन्न धातुओं में भिन्न प्रतीत होता है। जिस समय उस विशेष धातु के कर्मकाल के समाप्त होने पर उसकी शक्ति का ह्रास आरम्भ होता है उसी समय कैन्सर की उत्पत्ति अधिक होती है। स्त्रियों में गर्भाशय का कैन्सर उस समय अधिक होता है जिस समय उनका प्रजनन-काल समाप्त होता है, अर्थात् ४५ या ५० वर्ष की आयु में। इससे अधिक आयु में अर्बुद की उत्पत्ति इतनी अधिक नहीं होती। आमाशय में कैन्सर चर्म की अपेक्षा पूर्व उत्पन्न होता है।

प्रारम्भ में कैन्सर चर्म या श्लैष्मिक कला में एक छोटे अंकुर, सूक्ष्म कठिन ग्रन्थि अथवा केवल विस्तृत शोथ, जिसमें चर्म मोटा किन्तु ताप और पीड़ा-रहित होता है, के रूप में उत्पन्न होता है। उसके चारों ओर कोई कोष नहीं होता और न उसके विस्तार की सीमा ही परिमित होती है। इसी कारण अर्बुद का छेदन करते समय उस समस्त अङ्ग का, जिसमें अर्बुद स्थित है, छेदन कर दिया जाता है। बहुधा यह देखा गया है कि अर्बुद के कोषाणु उस अङ्ग की सीमा को पार करके अन्य समीपवर्ती अंगों में पहुंच जाते हैं। स्तन के कैन्सर में वक्ष का चर्म तथा कक्ष की ग्रन्थियाँ शीघ्र ही आक्रान्त हो जाती हैं। वक्ष की पेशियों में भी अर्बुदोत्पत्ति होने लगती है।

जब अर्बुद के ऊपर की चर्म या श्लैष्मिक कला क्षत हो जाती है तब अर्बुद अंग के पृष्ठ पर स्पष्ट दिखाई देने लगता है और उसका आकार भी बढ़ जाता है, जिसके नीचे का एक भाग एक फल या बड़े आकार के फूल के डण्ठल के समान सङ्कुचित होता है। कभी-कभी वह गोभी के फूल के समान दीखता है। इसको Fungating Cancer कहा जाता है। शिश्न का अर्बुद इसी प्रकार का होता है। यदि चर्म के क्षत होने पर अर्बुद में गलन[1] होने लगती है तो वहाँ एक व्रण बन जाता है। ऐसे व्रण के किनारे मोटे, क्रमहीन और अर्बुद धातु-युक्त होते हैं। उसका तल प्रायः चिकना और समान होता है। वहाँ गलित धातु का कुछ भाग भी उपस्थित मिल सकता है। ऐसे व्रणों से पतला स्राव होता रहता है जो पूयोत्पादक जीवाणुओं के प्रवेश के कारण अत्यन्त दुर्गन्धित हो सकता है। आन्तरिक अङ्गों में जैसे गर्भाशय, गुदा इत्यादि के अर्बुद में रक्तस्राव भी होता है।

कैन्सर की संक्रामकता मालूम करने के लिए अनेकों प्रयोग किये गये हैं। किन्तु इनसे कोई परिणाम नहीं निकला है। एक जन्तु के शरीर के अर्बुद के कुछ भाग को दूसरे जन्तु के शरीर की धातुओं में स्थापित करने से उसके शरीर में अर्बुद सदा उत्पन्न नहीं होता। वास्तव में एक श्रेणी के जन्तु के शरीर के अर्बुद द्वारा दूसरी श्रेणी के जन्तु में कभी भी अर्बुद नहीं उत्पन्न होता। एक ही श्रेणी के जन्तुओं में कभी-कभी हो जाता है।

इन प्रयोगों के परिणामों के अनुसार अर्बुद को संक्रामक नहीं माना जाता। वह एक व्यक्ति से दूसरे को केवल सम्पर्क के कारण उत्पन्न नहीं होता। किन्तु अर्बुद का छेदन करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस चाकू से छेदन किया जाय वह अर्बुद के सम्पर्क में न आने पावे। शस्त्रकर्म के समय अर्बुद शुद्ध तौलियों से ढका रहे और छेदन के पश्चात् तौलियों से ढके हुए अङ्ग को दूर हटा दिया जाय। चाकू के अर्बुद के सम्पर्क में आने पर उसके द्वारा अर्बुद के कोषाणुओं का दूसरे स्थानों में पहुँचना

और गौण वृद्धि उत्पन्न करना सम्भव है। जहाँ अर्बुद तौलिये से न ढका जा सके वहाँ चाकू को अर्बुद की सीमा से पर्याप्त दूर रखना चाहिए। यदि अर्बुद श्लैष्मिक कला या चर्म से ढका हुआ है तो उसका उसी दशा में छेदन करना उचित है। ऊपर के चर्म या श्लैष्मिक कला को क्षत करना उचित नहीं।

साध्यासाध्यता—इस अर्बुद का परिणाम सदा भयङ्कर होता है। किन्तु तो भी वह अर्बुद के प्रकार और स्थिति पर निर्भर करता है। कुछ कैन्सर इतनी धीमी वृद्धि करते हैं कि उनसे जीवन-काल में कोई विशेष न्यूनता नहीं होती। किन्तु जो कोमल प्रकार के कैन्सर होते हैं वह, अति तीव्र वृद्धि और विस्तार करके, जीवन का अन्त कर देते हैं। इन अर्बुदों से एक प्रकार का विष उत्पन्न होकर शरीर में व्याप्त होता रहता है जिससे रोगी का स्वास्थ्य गिर जाता है। उसे हलका ज्वर रहने लगता है। क्षुधा जाती रहती है, शरीर कृष हो जाता है, वर्ण पीला पड़ जाता है और अन्त को रोगी की मृत्यु हो जाती है!

चिकित्सा—सारकोमा की भाँति इस अर्बुद अथवा उस समस्त अङ्ग का, जिसमें अर्बुद स्थित है, छेदन करना आवश्यक है। साथ में अर्बुद के साथ की जितनी लसीका वाहिनियाँ तथा लसीका ग्रन्थियाँ हों उनको भी निकाल देना चाहिए। जहाँ समस्त अङ्ग का छेदन सम्भव न हो वहाँ अर्बुद के साथ चारों ओर की जितनी भी धातु का छेदन किया जा सके, कर देना चाहिए। इस अर्बुद का विस्तार शीघ्रता के साथ लसीका-वाहिनियों द्वारा होता है। परीक्षा से यह मालूम करना असम्भव है कि अर्बुद के कोषाणु कहाँ तक फैल गये हैं। इस कारण विस्तृत प्रान्त का छेदन आवश्यक है।

सारकोमा की भाँति रेडियम और एक्स-रे कैन्सर में भी बहुत उपयोगी प्रमाणित हुए हैं। छेदन के पश्चात्, किन्तु जहाँ आवश्यक हो पूर्व ही, उनका उपयोग करना चाहिए।

कैन्सर के प्रकार—कैन्सर चार प्रकार के पाये जाते हैं। उनमें उपस्थित उपकला के कोषाणुओं के आकार ही के अनुसार उनका नाम रखा गया है। यह निम्न लिखित हैं—

(१) उपकलजार्बुद-ऐपीथीलियोमा[१]—यह अर्बुद उस स्थान से उत्पन्न होता है जो चतुष्कोणाकार कोषाणुओं से निर्मित उपकला से ढका होता है, जैसे चर्म, मुख, गला तथा ओष्ठ। अन्न-प्रणाली, मूत्र-संस्थान तथा जननेन्द्रियों से भी इस प्रकार के अर्बुद की उत्पत्ति हो सकती है। यह अर्बुद अधिक आयुवाले व्यक्तियों में पाया जाता है। यह मन्द गति से वृद्धि करानेवाला कठिन अर्बुद होता है। इसमें प्रायः सदा व्रण बन जाते हैं। इसके किनारे और तल भी मोटे और कड़े होते हैं और इसके पृष्ठ पर बहुत से अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं। इसकी समता खिले हुए गोभी के फूल से दी जाती है। प्रारम्भ में यह एक छोटा अत्यन्त कड़ा उत्सेध सा प्रतीत होता है। यह बहुधा जीर्णव्रण तथा नाड़ीव्रणों में भी उत्पन्न हो जाता है। लसीका-ग्रन्थियाँ भी शीघ्र ही आक्रान्त हो जाती हैं।

(२) बृहत् वृत्ताकार कोषाणवीय अर्बुद[२]—यह अर्बुद ग्रन्थियों के सम्बन्ध

---

१. Epithelioma. २. Spheroidal-celled cancer.

में उत्पन्न होता है जैसे स्तन अथवा श्लैष्मिक-कला की ग्रन्थि। इस अर्बुद में कोषाणुओं का कोई विशेष क्रम नहीं होता। किन्तु वह गुच्छों के रूप में एकत्र पाये जाते हैं जिनके बीच में सौत्रिक धातु होती है। यदि सौत्रिक धातु अधिक होती है तो वह कोषाणुओं के गुच्छों को सङ्कुचित कर देती है। इस प्रकार का अर्बुद कठिन होता है और स्तन में विशेषतया पाया जाता है। इसको Scirrhus कैन्सर कहते हैं। कोषाणुओं के गलने या नष्ट होने से यह अर्बुद और भी कड़ा पड़ जाता है और ऊपर का चर्म उसके साथ जुड़ जाता है, जिससे चर्म भीतर को खिंचा हुआ दीखता है। आमाशय तथा पक्वाशय में इस अर्बुद से सङ्कीर्णता उत्पन्न हो जाती है।

जब कोषाणुओं के गुच्छों की अधिकता होती है और सौत्रिक धातु कम होती है तब अर्बुद मस्तिष्क की भाँति कोमल होता है। इसको Medullary या Eencaphaloid कैन्सर कहा जाता है। इसमें रक्त की अधिकता होती है और इसके कोषाणु थोड़े ही समय में चारों ओर की धातुओं में फैल जाते हैं। ऊपर के चर्म के विस्तार के कारण वहाँ पर उपस्थित शिराएँ चमकने लगती हैं।

(३) स्तम्भाकार कैन्सर[1]—इसके कोषाणु स्तम्भों में स्थित होते हैं। यह सामान्य कैन्सर है, जो पाचन संस्थान में-विशेषकर अन्त्रियों में जहाँ उपकला स्तम्भाकार कोषाणुओं से ढकी होती है—अधिक पाया जाता है। दूसरी ओर वह पेशी के स्तरों के बीच में फैल जाता है। यह भी दो प्रकार के होते हैं, एक कड़े और धीरे-धीरे बढ़नेवाले और दूसरे नरम और शीघ्रता से वृद्धि करनेवाले।

(४) कालाइड कैन्सर[2]—जब कोषाणुओं में गलन प्रारम्भ हो जाती है तब इस प्रकार का अर्बुद बन जाता है। कोषाणुओं में एक प्रकार का स्वच्छ रचना-विहीन पदार्थ भरा हुआ दीखता है। गलन की क्रिया पूर्ण हो जाने पर अर्बुद की घातकता नष्ट हो जाती है।

कुछ अर्बुदों में एक विशेष रंग के कण पाये जाते हैं जो 'मिलेनिन' कहलाते हैं। इस प्रकार का अर्बुद 'मिलेनोटिक कैन्सर' कहलाता है। यह अत्यन्त घातक होता है।

कैन्सर के लक्षणों में स्थानानुसार भिन्नता पाई जाती है। बहुत से स्थानों में उनसे विशेष लक्षण उस समय उत्पन्न होते हैं जब वह नाड़ियों पर दबाव डालते हैं अथवा धमनी, शिरा इत्यादि को अवरुद्ध कर देते हैं या व्रणोत्पत्ति के कारण नाड़ियों के प्रान्त स्पष्ट हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों के अर्बुदों के लक्षण अति संक्षेप से नीचे लिखे जाते हैं।

अस्थि का कैन्सर—प्रायः अन्य स्थानों से अस्थि में कैन्सर उत्पन्न होता है। स्तन के अर्बुद से ऊर्वस्थि के ऊपरी भाग तथा कशेरुओं में कैन्सर उत्पन्न हो जाता है।

अधोहन्विका का कैन्सर—ओष्ठ, जिह्वा अथवा मसूढ़ों के कैन्सर से अधोहन्विका में अर्बुद उत्पन्न हो जाता है। अस्थि के अर्बुद-युक्त भाग को तुरन्त ही काटकर निकाल देना चाहिए। यह प्रायः ऐपीथीलियोमा होता है।

---

१. Columnar cancer. २. Coloid cancer.

अन्त्रियों का कैंसर—यह अर्बुद क्षुद्रान्त्रियों में बहुत कम होता है, किन्तु बृहदान्त्र में बहुधा पाया जाता है। यहाँ अर्बुद शीघ्रता से वृद्धि करता है जिससे थोड़े ही समय में आन्त्र के भीतर का स्थान अर्बुद से भर जाता है। कभी-कभी अर्बुद आन्त्र को बाहर चारों ओर से घेर लेता है जिससे आन्त्र के किसी विशेष स्थान पर अर्बुद का एक कुण्डल सा बन जाता है और भीतर से आन्त्र के मार्ग में सङ्कीर्णता आ जाती है। कभी-कभी अर्बुद इतना बढ़ता है कि वह आन्त्र के मार्ग को पूर्णतया अवरुद्ध कर देता है; उसके द्वारा एक तिनका निकालना भी कठिन होता है। इस स्थान से ऊपर का भाग विस्तृत हो जाता है। श्लैष्मिक कला में वृद्धि हो जाती है और वहाँ व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ समय में पास के अन्य अङ्गों के साथ जुड़ जाता है और लसीका ग्रन्थियों में अर्बुद गौण वृद्धियाँ होने लगती हैं। कैन्सर के कोषाणु बहुत दूर तक फैल जाते हैं।

लक्षण—प्रारम्भ में लक्षण निश्चित नहीं होते। रोगी को कभी कोष्ठबद्धता हो जाती है और कभी दस्त आने लगते हैं। कभी उसको उदर-शूल के समान पीड़ा होती है। मल के साथ रक्त और श्लेष्मा निकलते हैं। रोगी की शारीरिक दशा क्षीण हो जाती है। कुछ समय के पश्चात् रोगी को बद्धान्त्र होकर उसकी मृत्यु हो जाती है।

यदि परीक्षा करने पर उदर में अर्बुद प्रतीत हो अथवा बद्धान्त्र के बार-बार आक्रमण होते हैं और उदर किसी विशेष स्थान पर फूला हुआ प्रतीत हो तथा उदर की भित्तियाँ कड़ी हो गई हों तो शस्त्रकर्म द्वारा तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिए। अर्बुद का प्रथम उदर में चलायमान होना तथा कुछ समय के पश्चात् स्थिर हो जाना अत्यन्त सन्देहजनक है। यदि अर्बुद का तनिक भी सन्देह हो तो उचित परीक्षा द्वारा शीघ्र ही निर्णय करके जितना जल्दी हो सके आन्त्र के आक्रान्त भाग को काटकर निकाल देना चाहिए।

आमाशय का कैन्सर—आमाशय में कैन्सर अधिकतर उस भाग में पाया जाता है जो पक्वाशय के पास रहता है, यद्यपि अन्य भागों में भी होता है। प्रायः कैन्सर आमाशय में पूर्व-जात व्रण पर उत्पन्न होता है। कभी-कभी कैन्सर सारे आमाशय में फैल जाता है जिससे आमाशय की विस्तार या सङ्कोच की शक्ति जाती रहती है। साधारणतया यह अर्बुद एक कठिन ग्रन्थि के समान उत्सेध के रूप में प्रारम्भ होता है। किन्तु उसकी वृद्धि तीव्र गति से होती है और शीघ्र ही उस पर अङ्कुर तथा व्रण दोनों उत्पन्न हो जाते हैं। आमाशय की धाराओं पर जो लसीका ग्रन्थियाँ स्थित होती हैं वह भी आक्रान्त हो जाती हैं। कुछ समय में अर्बुद समीपवर्ती अङ्गों के साथ संयुक्त हो जाता है।

लक्षण—इसके दो विशेष लक्षण हैं—पीड़ा और वमन। प्रारम्भ में उदर में हलकी-हलकी पीड़ा होती है। कुछ समय के पश्चात् पीड़ा बढ़ जाती है और अन्त को अत्यन्त दारुण पीड़ा होने लगती है जो प्रत्येक समय होती रहती है। भोजन से पीड़ा प्रायः बढ़ जाती है, किन्तु कभी-कभी घटती भी देखी गई है।

प्रथम रोगी को खट्टी डकारें आती हैं। कुछ समय में वमन आरम्भ हो जाता है। वमन का रङ्ग काफ़ी के समान मैला लाल होता है। इस रङ्ग का कारण वह रक्त होता है जो अर्बुद के व्रणों से निकलता है। रोगी को भूख नहीं मालूम होती। उसका पाचन बिगड़ जाता है। भोजन पचता नहीं। शरीर कृश होने लगता है। रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है और अन्त को उसकी मृत्यु हो जाती है।

परीक्षा करने पर उदर-भित्तियों के नीचे आमाशय प्रान्त में अर्बुद प्रतीत होता है। किन्तु कभी-कभी अन्त समय तक नहीं मालूम होता। वमन में प्रायः अर्बुद के टुकड़े टूट-टूटकर निकलते हैं। इस कारण वमन की परीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है।

ओष्ठ का कैन्सर—यह ऐपीथोलियोमा जाति का होता है और उन व्यक्तियों में अधिक होता है जो हुक्का, सिगरेट या पाइप इत्यादि का बहुत प्रयोग करते हैं। यह एक कड़े दाने की भाँति प्रारम्भ होता है। अथवा बीच में एक छोटा सा गढ़ा होता है और उसके चारों ओर की धातु कड़ी हो जाती है। कुछ समय में अर्बुद बड़ा हो जाता है और अङ्कुरों का रूप ले लेता है, जिस पर व्रण बन जाते हैं। तत्पश्चात् यह बढ़कर सारे ओष्ठ को घेर लेता है और उस पर व्रण उत्पन्न होने लगते हैं जिनसे दुर्गन्ध निकलती है। धीरे-धीरे पास की धातुओं और लसीका ग्रन्थियों को अर्बुद आक्रान्त कर देता है।

गर्भाशय का कैन्सर—स्त्रियों में ८० प्रतिशत कैन्सर जननेन्द्रियों के सम्बन्ध में होता है। उसमें भी कम से कम ३० प्रतिशत अर्बुद की उत्पत्ति गर्भाशय में होती है। इस अंग में दो स्थानों में अर्बुद की उत्पत्ति हो सकती है-ग्रीवा में अथवा गर्भाशय के गात्र में। प्रायः यह उत्पत्ति प्रथम ग्रीवा पर होती है और वहाँ से गात्र में फैल जाती है। किन्तु कभी-कभी अर्बुद प्रथम गात्र ही में उत्पन्न होता है।

प्रायः अर्बुद ग्रीवा के मुख पर, जो योनि की ओर रहता है, छोटे कड़े दाने के रूप में उत्पन्न होता है। इसको अङ्कुरों के रूप में भी प्रारम्भ होते देखा गया है। कभी-कभी ग्रीवा की भित्ति के भीतर अर्बुद की कई छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ सी बन जाती हैं। कुछ ही समय में अर्बुद ग्रीवा के मुख से योनि में तथा गर्भाशय के विस्तृत[1] बन्धन में भी फैल जाता है। इस नवीन उत्पत्ति पर प्रायः व्रण बन जाते हैं जिनके फैलने से कभी-कभी सारी योनि की भित्ति गल जाती है और मलाशय तथा मूत्राशय तक की [illegible] हो जाती हैं। इन व्रणों में पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश हो जाता [illegible] योनि से अत्यन्त दुर्गन्धि-युक्त रक्तमिश्रित पूय निकलने लगती है जिसमें [illegible] सम्मिलित होते हैं।

जब रोग प्रथम गात्र में होता है तब उसकी उत्पत्ति श्लैष्मिक कला तथा [illegible] ग्रन्थियों में होती है जहाँ से वह थोड़े ही समय में सारे अङ्ग में फैल जाता है। [illegible] गर्भाशय व्रणों का छत्ता सा बन जाता है। अँगुली डालकर परीक्षा करने से सारी श्लैष्मिक कला व्रण-युक्त मालूम होती है। यहाँ से अर्बुद दूसरे अङ्गों में विस्तार कर सकता है।

लक्षण—इस रोग के विशेष लक्षण पीड़ा, रक्तस्राव और दुर्गन्धि-युक्त पूय का निकलना है। पीड़ा उस समय प्रारम्भ होती है जब व्रण बनने लग जाते हैं। अतएव प्रारम्भिक अवस्था में पीड़ा न होने के कारण रोग की ओर ध्यान भी नहीं जाता। रोग के बढ़ जाने पर पीड़ा इतनी दारुण होती है कि उससे रोगी तड़पता है और उसको दूर करने के लिए मार्फ़िया का उपयोग करना पड़ता है।

---

१. Broad ligment.

रक्त-स्राव प्रथम थोड़ा होता है। वह केवल ऐसा प्रतीत होता है जैसे आर्त्तव कुछ अधिक हो गया हो। किन्तु कुछ समय के पश्चात् रक्त-स्राव निरन्तर होने लगता है जिसके साथ श्लेष्मा और पूय भी निकलते हैं। इस कारण रक्त-स्राव अत्यन्त दुर्गन्धित होता है। कुछ समय में रोग गर्भाशय से श्रोणिगुहा के अन्य अङ्गों में फैल जाता है।

रोगी की क्षुधा जाती रहती है। उसको अरुचि उत्पन्न हो जाती है। शरीर का क्षय होने लगता है। पेशियाँ दुर्बल और क्षीण हो जाती हैं। बल जाता रहता है। साथ में अन्त्रियों और मूत्राशय के रोग-ग्रस्त हो जाने से रोगी का कष्ट और भी बढ़ जाता है। पीड़ा के कारण उसको नींद नहीं आती। रोगी की आकृति नैराश्यपूर्ण होती है। कुछ समय के पश्चात् उसकी मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—रोग के प्रारम्भ में रोग-निर्णय हो जाने पर चिकित्सा से लाभ की आशा की जा सकती है। रोग के बढ़ जाने पर शस्त्र-कर्म से भी सन्तोषजनक फल नहीं होता और प्रायः शस्त्र-कर्म करना भी असम्भव होता है क्योंकि रोग अन्य अङ्गों में भी फैल जाता है। इस कारण अत्यन्त सावधानी से रोगी की परीक्षा करनी आवश्यक है। रोग के तनिक से भी लक्षण प्रकट होते ही अथवा रोग का तनिक भी सन्देह होते ही रोगी के आक्रान्त भाग को चमसक से खुरचकर, खुरचे हुए पदार्थ की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। इसमें कैन्सर के कोषाणु उपस्थित मिलेंगे। यदि ऐसा हो तो अङ्ग का सम्पूर्ण छेदन करके उसको निकाल देना होगा। रोग के निर्णय का सूक्ष्मदर्शक के द्वारा परीक्षा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। इस कारण जितना भी शीघ्र हो सके यह परीक्षा की जाय और रोग निश्चित हो जाने पर तुरन्त शस्त्र-कर्म का प्रबन्ध किया जाय।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

शस्त्रकर्म इत्यादि।

शस्त्रकर्म के लिए सबसे उत्तम स्थान अस्पताल हैं, जहाँ रोगी के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ उपस्थित होती हैं। उसकी देखभाल के लिए उपचारकगण अथवा उपचारिकाएँ भी उपस्थित रहती हैं। यदि शस्त्रकर्म के पश्चात् किसी प्रकार का उपद्रव उत्पन्न हो जाता है तो उसका तुरन्त उचित उपचार हो जाता है। साधारण शस्त्रकर्म, जैसे विद्रधि को खोलना या दाँत को निकालना इत्यादि जिनको वास्तव में शस्त्रकर्म के नाम से पुकारना भी नहीं चाहिए, घर पर भी किये जा सकते हैं। किन्तु बड़े शस्त्रकर्मों के लिए घर की अपेक्षा अस्पताल ही उपयुक्त है।

शस्त्रकर्मों को पूर्ण करवाने का भार विशेषकर उन छोटे दर्जे के चिकित्सकों पर रहता है जिनको 'हाउस-सर्जन' कहा जाता है। बड़े अस्पतालों में कोई न कोई सहायक प्रत्येक समय उपस्थित रहता है। यदि कोई ऐसा रोगी आ जाता है जिसकी तीव्र दशा के कारण उसका शस्त्रकर्म उसी समय करना होता है तो वह सहायक हाउस-सर्जन को बुलाकर उस रोगी को उसके सिपुर्द कर देता है। हाउस-सर्जन को रोगी की दशा देखकर, उसकी परीक्षा और रोग का पूर्ण निर्णय करके, मुख्य चिकित्सक या सर्जन को तुरन्त सूचना भेजनी होती है और शस्त्रकर्म के लिए शस्त्र इत्यादि की तैयारी का प्रबन्ध भी करना होता है। साथ में रोगी को भी शस्त्रकर्म के लिए तैयार करना उसी का काम होता है।

साधारणतया भी रोगी को अपने वार्ड में भरती करके उसकी देख-भाल करना, उसको सर्जन को दिखाना तथा शस्त्रकर्म के लिए तैयार करना भी उसी का काम है।

साधारणतया रोगी को वार्ड में शस्त्रकर्म के दो या तीन दिन पूर्व भरती करके रोगी के रोग का पूर्णतया अन्वेषण करना चाहिए। उसके फुस्फुस, हृदय और वृक्क की पूर्ण परीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। मूत्र-परीक्षा के द्वारा यह मालूम कर लेना चाहिए कि वृक्क अपना काम ठीक कर रहे हैं या नहीं। यदि फुस्फुसों में कुछ विकार है तो मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिए कौन सी वस्तु प्रयोग की जाय इस बात का पूर्ण विचार करना होगा। जब रोगी के उदर पर शस्त्रकर्म करना हो तब रोगी को, यदि हो सके तो, एक सप्ताह तक निरीक्षण में रखा जाय। कर्म की सफलता रोगी की शारीरिक दशा पर भी बहुत कुछ निर्भर करती है। इसलिए निरीक्षण में रखकर उचित ओषधियों और भोजन द्वारा रोगी के स्वास्थ्य और शारीरिक दशा को सुधारना चाहिए। यदि क्लोरोफार्म जैसी वस्तु को मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिए प्रयोग करना है अथवा कर्म मुख के किसी भाग पर होनेवाला है तो मुख को जितना शुद्ध किया जा सके करना आवश्यक है। जिन दाँतों में घुन लगा हुआ हो या जो टूटे हों उनको निकाल देना चाहिए। मुख को हाइड्रोजन-पर-आक्साइड या पोटाशियम परमैंगनेट के विलयन से दिन में दो या तीन बार धोया जाय। जिस दिवस प्रातःकाल कर्म होनेवाला है उससे पूर्व सन्ध्या के भोजन के पश्चात् से शस्त्र-

कर्म के समय तक भोजन के लिए कोई वस्तु नहीं देनी चाहिए। पूर्व रात्रि को आधा छटाँक अण्डी का तेल देने के पश्चात् प्रातःकाल वस्तिकर्म द्वारा मलाशय का शोधन कर दिया जाता है।

रोगी के शरीर पर जिस स्थान पर शस्त्रकर्म करना हो वहाँ के चर्म की शुद्धि, पहले बताये गये प्रकार से, पूर्व ही आरम्भ कर दी जाती है। शस्त्रकर्म से पूर्व प्रातःकाल उसकी एक बार फिर शुद्धि की जाती है। यदि रोगी की इच्छा हो अथवा वह दुर्बल हो तो उसको चाय या काफी का एक प्याला देने में कोई हानि नहीं है। इसके पश्चात् रोगी को शस्त्रकर्म के लिए आपरेशन थियेटर में भेजा जा सकता है।

शस्त्रक्रिया-भवन (आपरेशन थियेटर)—यह वह कमरा होता है जहाँ शस्त्र-कर्म किया जाता है। इसकी स्थिति ऐसी होती है कि वह शल्य के रोगियों के रहने के वार्ड के पास होता है। यह कमरा इतना बड़ा होता है कि उसमें सर्जन और उसके सहायक बहुत सुगमता से काम कर सकें। कमरे का बहुत लम्बा-चौड़ा होना भी अवगुण है। इस कमरे में उपस्थित सब वस्तुएँ लोहे की होती हैं और उन पर श्वेत रंग चढ़ा रहता है। कमरे की दीवारें लगभग छः या आठ फुट की ऊँचाई तक टाइल से जड़ी रहती हैं, और फ़र्श पर संगमर्मर के चौकोर टुकड़े लगे रहते हैं। कमरे के कोने गोल कर दिये जाते हैं जिससे वहाँ पर कोई जाला इत्यादि न लग सके। इस स्थान में यह सब प्रबन्ध इसलिए किये जाते हैं कि वह पूर्णतया शुद्ध रहे। इसलिए लोह और संङ्गमर्मर या टाइलों का प्रयोग किया जाता है। दीवारों के ऊपरी भाग और छत को सीमेंट का बनाकर उन पर अनेमल का पेंट करके उस पर वार्निश कर दी जाती है। आपरेशन थियेटर में उत्तर की ओर एक बहुत बड़ी खिड़की होती है जिसमें काँच की बड़ी-बड़ी प्लेट लगी रहती हैं जिससे प्रकाश केवल ठीक उत्तर की ओर से आता है। इस कारण वहाँ चिकित्सक या सहायकों की छाया नहीं पड़ने पाती, क्योंकि प्रकाश विस्तृत रहता है। सीधी सूर्य की किरणें वहाँ नहीं आती। यदि यह खिड़की किसी भी दूसरी दिशा में रखी जाय तो दिन में किसी न किसी समय पर कमरे में सीधी सूर्य की किरणें प्रवेश करके छाया उत्पन्न कर देंगी जिससे शस्त्रकर्म में बाधा पड़ेगी।

इस थियेटर के चारों ओर शस्त्र रखने, चिकित्सक के बैठने, शस्त्रों को शुद्ध करने अथवा उपचारक या उपचारिकाओं के बैठने के लिए कमरे होते हैं। प्रायः इस स्थान का प्रबन्ध भी हाउस-सर्जन ही के आधीन होता है। शस्त्रकर्मों के अनुसार उनके लिए आवश्यक शस्त्रों को शुद्ध करवाना तथा अन्य वस्तुओं को तैयार करवाना उसी का कर्त्तव्य है। बड़े-बड़े अस्पतालों में इसके लिए विशेष उपचारिकाएँ होती हैं जो आपरेशन थियेटर के सब कामों में निपुण होती हैं। उनसे हाउस-सर्जन और चिकित्सक को बहुत सहायता मिलती है।

आपरेशन थिएटर के बीच में वह मेज़ रहती है जिस पर रोगी को लिटाया जाता है। उसका सिरहाना काँच की खिड़की की दूसरी ओर रहता है। वहाँ पर क्लोरोफ़ार्म सुँघानेवाला (Aneesthetist) खड़ा होता है। उसके पास ही अर्थात् मेज़ के सिरहाने की ओर काँच की, एक विशेष प्रकार की, छोटी मेज़ रहती है जिस पर मूर्च्छा-सम्बन्धी बहुत सा

ओषधियाँ रखी रहती हैं। उसी प्रकार की, काँच की, शस्त्र रखने की मेज़ होती है जो सर्जन के दाहिने ओर रखी रहती है। इन पर शस्त्र शुद्ध करके रखे जाते हैं। सर्जन और सहायकों के हाथों को शुद्ध करने के लिए विशेष पात्र होते हैं जिनमें विसंक्रामक द्रव भरे रहते हैं। शस्त्रकर्म के पूर्व इन सब वस्तुओं को शुद्ध कर लिया जाता है।

शस्त्रकर्म में भाग लेनेवाले लोग दो प्रकार के होते हैं—एक शुद्ध और दूसरे अशुद्ध। चिकित्सक और जो सहायक वास्तव में शस्त्रकर्म में भाग लेते हैं—जैसे शस्त्रों को सर्जन को देना, रोगी के कर्म-स्थान को कवलिकाओं द्वारा स्वच्छ करना, सर्जन को वस्त्र, सुई या धागा पकड़ाना आदि—वह सब अपने हाथों को स्वच्छ और शुद्ध करके उन पर शुद्ध किये रबड़ के दस्ताने और शरीर पर शुद्ध की हुई गौन पहिन लेते हैं और साथ में शिर या मुख को भी वस्त्र से ढक लेते हैं। यह सब शुद्ध कहलाते हैं। इन वस्त्रों को धारण करने के पश्चात् वह किसी भी वस्तु को, जो शुद्ध नहीं है, नहीं छूते। दूसरे लोग जो केवल टाँगों को थामे रहते हैं या ऐसे ही दूसरे कर्म करते हैं अशुद्ध कहलाते हैं।

जिस समय सर्जन और उसके सहायक अपने को शुद्ध करते हैं उस समय पास के दूसरे कमरे में रोगी को मूर्च्छित किया जाता है। बड़े अस्पतालों में मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिये एक पृथक् कमरा होता है, किन्तु साधारण अस्पतालों में रोगी को मेज़ पर लिटाकर वहीं मूर्च्छित किया जाता है। इस समय मेज़ के पास शस्त्रोंवाली मेज़ पर शुद्ध किए हुए शस्त्र लगा दिये जाते हैं। प्रायः शस्त्रों को जिस रकाबी में रखते हैं उसमें कारबोलिक विलयन भरा रहता है। कुछ सर्जन शस्त्रों को बिना लोशन के शुष्क रखना पसन्द करते हैं।

रोगी को मेज़ पर लिटाने के पश्चात्, जब वह मूर्च्छित हो जाता है तब, जिस स्थान पर शस्त्रकर्म करना है उसके चारों ओर शुद्ध वस्त्र लगा दिये जाते हैं। चारों ओर के स्थान को शुद्ध वस्त्रों से ढककर एक अशुद्ध सहायक कर्म के स्थान पर बँधे हुए वस्त्रों को हटाता है और अन्त को उस स्थान पर शुद्ध सहायक टिंक्चर आयोडीन का लेप करता है जिसके पश्चात् सर्जन शस्त्रकर्म आरम्भ करता है।

शस्त्रकर्म—शस्त्रकर्म उस समय आरम्भ किया जाता है जिस समय रोगी पूर्णतया मूर्च्छित हो जाता है। एक बार टिंक्चर आयोडीन का फिर से लेप कर दिया जाता है और फिर सर्जन अपना चाकू चलाना आरम्भ करता है। उस समय केवल शुद्ध सहायक ही सर्जन को सहायता देते हैं। मुख्य सहायक का काम शुद्ध किये हुए प्लोत और कवलिकाओं द्वारा रक्त को पोंछना, कटी हुई धमनियों पर संदंश लगाना, कटे हुए चर्म के किनारों को इधर-उधर को खींचे रखना अथवा सर्जन जो विशेष काम करवाना चाहे उसको करना है। रोगी के क्षत से रक्त के निकलने को बन्द करने के लिए धमनी संदंश का उपयोग किया जाता है। ज्यों ही सर्जन के चाकू से कोई धमनी कटे त्योंही उस पर सहायक को संदंश लगा देना चाहिए। कैटगट इत्यादि के द्वारा इनका बन्धन कुछ समय के पश्चात् हो सकता है। कुछ सर्जन स्वयं ही बन्धन लगाते हैं, कुछ सहायकों से यह काम लेते हैं। इसलिए उनको पूर्व ही से बन्धन लगाने का अभ्यास कर लेना चाहिए। दूसरे सहायकों को जो काम दिया गया हो—जैसे अङ्गच्छेदन के समय अङ्ग को थामना या संदंश लगाना अथवा क्लैम्प को पकड़े रखना—उनको भी अत्यन्त सावधानी से अपना काम करते रहना चाहिए, जिससे

सर्जन को पूर्ण सहायता मिले और शस्त्रकर्म उत्तम प्रकार से शीघ्र ही समाप्त हो जावे। सहायकों को सर्जन से आज्ञा पाने की प्रतीक्षा न करनी चाहिए। किन्तु स्वयं ही उसकी आवश्यकताएँ और इच्छा का अनुमान करके, उसके कहने से पूर्व ही, उस काम को पूर्ण करने के लिए तैयार रहना चाहिए। प्रत्येक सहायक को रोगी के निरोग होने की ओर अपना लक्ष्य रखकर सब काम करना चाहिए। जिससें रोगी की भलाई हो वैसा ही करना उचित है।

शस्त्रकर्म के समय कभी-कभी स्ट्रिकनीन या डिजेटेलीन अथवा अन्य उत्तेजक वस्तुओं के इंजेक्शन देने की आवश्यकता होती है। इसलिए इन सब वस्तुओं को पास ही तैयार रखना चाहिए। बड़े शस्त्रकर्मों में, जिनमें कई घण्टे लग जाते हैं या जिनमें रोगी के शरीर से अधिक रक्त निकल जाता है, रोगी के रक्त में प्रक्षेपण विधि द्वारा द्रव पहुँचाना आवश्यक होता है। इसलिए प्रक्षेपण का भी पूर्व ही से प्रबन्ध कर लेना चाहिए।

शस्त्रकर्म के समाप्त हो जाने पर क्षत के भीतर उपचार-वस्त्र रखकर मुख्य सहायक रोगी के शरीर पर से सारा रक्त पोंछकर क्षत के चारों ओर के स्थान को स्वच्छ कर देता है उसके पश्चात् ऊपर से अधिक गौज़ या रूई रखकर पट्टी बाँध दी जाती है और रोगी को वार्ड में भेज दिया जाता है। इसके लिए ट्रौली काम में लाई जाती है। इसके नीचे चार पीतल के पहिए लगे रहते हैं जिन पर रबर चढ़ी होती है। ऊपर लोहे की चादर होती है जिस पर रोगी को शस्त्र-कर्म की मेज़ से उठाकर लिटा दिया जाता है और वार्ड में ले जाकर शय्या पर लिटा दिया जाता है।

रोगी की दशा के अनुसार रोगी के आने से पूर्व वार्ड में उसकी शय्या तैयार की जाती है, उदर के कर्मों के रोगी को फ़ाउलर दशा में रखा जाता है, जिससे रोगी का धड़ ऊँचा रहता है और श्रोणि-प्रान्त नीचा रहता है। किन्तु दोनों ओर के ऊरु को ऊपर की ओर मोड़ दिया जाता है जिससे घुटने मुड़कर ऊँचे हो जाते हैं। रोगी की स्थिति ऐसी हो जाती है जैसी मलत्याग करते समय होती है। केवल वह पीछे की ओर अधिक झुका हुआ रहता है। साथ में यदि शीतकाल है तो रोगी की शय्या के भीतर उष्ण जल से भरी हुई बोतल रखनी होती हैं जिससे शय्या गरम रहे। इन बोतलों और रोगी के शरीर के बीच में कुछ वस्त्र अवश्य रहना चाहिए। बच्चों की शय्या पर इन बोतलों को रखते समय बहुत सावधानी से काम करना होता है। कई बार बोतलों के काग या पीतल की डाट के ढीले रह जाने से बोतल से गरम जल के निकलने से बच्चों के शरीर का चर्म जल गया है।

शस्त्रकर्म के पश्चात् व्रणोपचार—साधारणतया पूयमय स्थानों के शस्त्रकर्म के पश्चात्, यदि क्षत से बहुत रक्त नहीं निकलता है तो, दूसरे दिन प्रातःकाल उपचार-वस्त्रों को बदला जाता है। यदि शस्त्रकर्म के पश्चात् क्षत से रक्त या सीरम अधिक निकलता है और क्षत पर के वस्त्र अथवा पट्टी सब रक्त से भीग जाते हैं तो वस्त्र और पट्टी को तुरत ही बदलना होता है। जितनी बार भी आवश्यक होता है उपचार-वस्त्रों को बदला जाता है। इसलिए हाउस-सर्जन, उपचारक या उपचारिकाओं को प्रथम दिवस यह देखते रहना चाहिए कि क्षत से रक्त का तो अधिक स्राव नहीं हो रहा है। यदि रक्तस्राव अधिक हो तो

स्वयं हाउस सर्जन को क्षत को खोलकर भली भाँति देखना चाहिए कि रक्त कहाँ से आ रहा है। यदि कोई बन्धन ढीला हो गया हो तो उसको फिर नये सिरे से बाँधना चाहिए। यदि रक्त का क्षत के सारे पृष्ठ से स्राव हो रहा है तो उस पर शुद्ध गौज़ को रखकर पट्टी को कसकर बाँध देना चाहिए। यदि किसी कारण से हाउस-सर्जन भी रक्त-प्रवाह को रोकने में असमर्थ हो तो तुरन्त सर्जन को सूचना भेजनी चाहिए।

जो शुद्ध शस्त्रकर्म होते हैं उनमें प्रायः पट्टी को आठ या दस दिन तक नहीं खोला जाता। किन्तु यदि रोगी को ज्वर आने लगता है अथवा क्षत से रक्त का अधिक प्रवाह होता है तो उस समय से पूर्व ही व्रणोपचार करना आवश्यक है। ज्वर के आने से इस बात का सन्देह होता है कि कहीं क्षत में पूय तो नहीं बढ़ गई है। यदि इस प्रकार का कोई उपद्रव न उत्पन्न हो तो क्षत को आठ या दस दिन के पश्चात् खोलना चाहिए। उस समय तक चर्म जुड़ गया होगा। अतएव उस समय टाँकों को काटकर निकाला जा सकता है।

शस्त्रकर्म के पश्चात् व्रणोपचार करने में इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए कि क्षत को जितना कम खोला जा सके उतना ही उत्तम है। किन्तु क्षत के भीतर पूय या सीरम इत्यादि कभी एकत्र न होने चाहिएँ।

व्रणोपचार-वस्त्रों को प्रथम बार बदलते हुए अङ्ग को बहुत धीरे से उठाना चाहिए। अङ्ग को त्वरा के साथ उठाने से रोगी को कष्ट होता है। अङ्ग को उठाकर ऊपर की पट्टी को धीरे-धीरे कैंची से काट देना चाहिए। तत्पश्चात् चिमटी से धीरे-धीरे रुई और गौज़ को हटाकर शुद्ध गरम विसंक्रामक विलयन से क्षत को धोना चाहिए। यदि क्षत में कोई निर्हरण-नलिका लगी हुई हो तो उसको निकालकर उसके स्थान में दूसरी शुद्ध की हुई नलिका को लगाकर गौज़ और रुई से क्षत को ढकने के अनन्तर उस पर पट्टी बाँध देनी चाहिए। जब क्षत से पूय इत्यादि का निकलना बन्द हो जावे तब निर्हरण-नलिका का प्रयोग भी बन्द कर देना चाहिए।

शस्त्रकर्म के पश्चात् उपद्रवों की चिकित्सा—स्तब्धता[1] और अवसन्नता[2]— शस्त्रकर्म के स्थान में उपस्थित नाडियों की क्षति से स्तब्धता की दशा उत्पन्न होती है, जिससे रक्त बड़ी-बड़ी शिराओं में भर जाता है और धमनियाँ खाली हो जाती हैं। अवसन्नता का कारण हृदय या फुप्फुस की नाड़ियों का अवरोध होता है, जो स्तब्धता या पीड़ा के कारण उत्पन्न हो सकता है। इससे हृदय की गति धीमी पड़ जाती है। इन दशाओं के लक्षण रक्तस्राव के समान होते हैं। चर्म का रक्त-रहित दिखाई देना, माथे, मुख और चर्म पर शीतल स्वेद का आना, हृदय की क्रिया का मन्द होना, नाड़ी का दुर्बल और तीव्र हो जाना, श्वास-कर्म का विकृत हो जाना, अथवा लम्बे श्वास आना, रोगी का मूर्च्छित हो जाना इत्यादि विशेष लक्षण होते हैं। शरीर का रक्त-भार बहुत कम हो जाता है।

इस दशा की चिकित्सा रक्त-प्रवाह या स्तब्धता ही के समान होती है जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है। रोगी की शय्या के निचले पाँवों को ऊँचा कर देना चाहिए

---

१. Shock. २. Syncope.

जिससे रोगी के मस्तिष्क में अधिक रक्त पहुँचता रहे। उष्णता पहुँचाने के लिए उष्ण जल की बोतलें रोगी के चारों ओर लगा दी जाती हैं। कम्बलों से उसके शरीर को ढक दिया जाता है। रक्त-भार बढ़ाने के लिए एड्रिनलीन या पिच्यूटरीन का इंजेक्शन दिया जाता है। एड्रिनलीन का प्रभाव बहुत कम समय तक रहता है। इनके अतिरिक्त लवण-विलयन का प्रक्षेपण भी किया जाता है जिसमें पिच्यूटरीन या एड्रिनलीन को मिलाया जा सकता है।

पीड़ा—यदि अधिक हो तो उसको दूर करने के लिए मार्फ़ीन और ऐट्रोपीन $\frac{१}{४}$ और $\frac{१}{१५०}$ ग्रेन का इंजेक्शन देना चाहिए। यदि पीड़ा का कारण पट्टी का कड़ी होना या पट्टी की गाँठ की अनुचित स्थिति हो, तो उसको दूर करना चाहिए। क्षत के स्थान को तनिक ऊँचा कर देने से भी पीड़ा कम हो जाती है।

निद्रा—रोगी को स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए पर्याप्त निद्रा बहुत आवश्यक है। यदि पीड़ा के कारण उसको निद्रा न आवे तो निम्नलिखित योग देना उचित है—

क्लोरल हाइड्रेन	ग्रेन १५
पोटाशियम ब्रोमाइड	ग्रेन १०
सोडियम ब्रोमाइड	ग्रेन १०
अमोनियम ब्रोमाइड	ग्रेन १०
जल	औंस १

यदि आवश्यक हो तो दो घण्टे के पश्चात् ऐसी ही दूसरी मात्रा दी जा सकती है। वेरोनाल ७ ग्रेन अथवा पेरेल्डीहाईड २ ड्राम की मात्रा से भी बहुत लाभ होता है। कभी-कभी मार्फ़ीन देनी पड़ती है।

प्यास—शस्त्रकर्म के पश्चात् प्रायः प्यास बहुत लगती है। प्रथम तीन घण्टे तक प्यास को बुझाने के लिए पानी न देकर बर्फ़ के टुकड़ों को चूसने के लिए देना चाहिए। उसके पश्चात् जितना रोगी माँगे उतना जल उसको पीने को दिया जा सकता है।

भोजन—जल की भाँति शस्त्रकर्म के चार पाँच घण्टे पश्चात् तक रोगी को कोई भोजन नहीं देना चाहिए। उसके पश्चात् उसको तरल भोजन दिया जा सकता है। दूसरे दिवस, यदि उसको ठीक क्षुधा लगे और उसकी दशा भी उत्तम हो तो, साधारण भोजन देने में कोई हानि नहीं है। जब शस्त्रकर्म के पश्चात् वमन आरम्भ हो जावे तब रोगी को प्रथम अल्ब्यूमिन-युक्त जल दिया जाय। यह अण्डे की सफ़ेदी को जल में फेंटकर बनाया जाता है। उस जल का एक ड्राम प्रत्येक आध-आध घण्टे पर देना उचित है। अन्त्रियों के शस्त्रकर्म में भी भोजन के सम्बन्ध में बहुत सावधान रहना पड़ता है। यदि मुख या गले में शस्त्रकर्म हुआ हो तो भोजन आमाशय में इस प्रकार पहुँचाना चाहिए कि वह क्षत के सम्पर्क में न आवे। इसके लिए एक रबर के कैथिटर को मुख के द्वारा गले तक पहुँचाकर उसके द्वारा भोजन, जो तरल हो, भीतर पहुँचाया जा सकता है।

वमन—शस्त्रकर्म के कुछ समय के पश्चात् वमन की प्रवृत्ति रुक जाती है। किन्तु यदि वमन बराबर होता रहे तो रोगी को बर्फ़ के साथ जल पीने को देना चाहिए। प्रथम बार जल का वमन हो जावेगा जिसमें बहुत सा आमाशय के भीतर का श्लेष्मा

निकलेगा। उस श्लेष्मा में मूर्च्छक औषध की गन्ध होगी। इसके पश्चात् वमन बन्द हो जावेगा। यदि इस पर भी वमन होते रहें तो शामक ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। निम्न-लिखित योग से लाभ होता है—

सोडियम बाइ-कार्बोनेट	ग्रेन २०
एसिड हाइड्रोसायनिक डाइल्यूट	बूँद ६
स्पिरिट अमोनिया ऐअरोमेटिक	बूँद १५
जल	औंस १

इस प्रकार की मात्राएँ प्रत्येक चार घण्टे पर देनी चाहिएँ। टिंक्चर आयोडीन भी १ या २ बूँद एक चम्मच पानी में मिलाकर प्रत्येक आध घण्टे पर पीने को देते हैं। इससे लाभ होता है। यदि इन प्रयोगों से वमन न बन्द हो तो सम्भव है कि वमन का कारण बद्धान्त्र, आन्त्र-परिशिष्ट शोथ, विष-सञ्चार इत्यादि हों। इसलिए उनका अन्वेषण करना चाहिएँ।

कोष्ठबद्धता और आध्मान के लिये केलोमिल[१] (२ ग्रेन) उत्तम वस्तु है। बच्चों को हाइड्रार्ज-कम-क्रीटा[२] देना चाहिए। उदर के कर्म के पश्चात् तारपीन के तेल के साथ वस्तिकर्म करने से आध्मान जाता रहता है। जब कभी कोष्ठबद्धता हो तो उसको वस्तिकर्म द्वारा दूर करना चाहिए।

मूत्र—अण्डकोष या उसके पास के स्थान पर शस्त्रकर्म के पश्चात् प्रायः मूत्रत्याग बन्द हो जाता है। ऐसी दशा में प्रथम वस्तिकर्म करना चाहिए। मलत्याग के समय प्रायः मूत्र भी निकला करता है। पेडू के ऊपर और पार्श्व में सेंकना उचित है। इससे भी मूत्रत्याग हो जाता है। यदि इन प्रयोगों से मूत्रत्याग न हो तो कैथिटर द्वारा मूत्र निकालना आवश्यक है। शस्त्रकर्म के पश्चात् मूत्राशय की ओर ध्यान देना चाहिए। ऐसा न हो कि मूत्र के एकत्रित होने से वह इतना विस्तृत हो जावे कि उसके विदार का भय हो।

व्रणोपचार में जो वस्तुएँ—कारबोलिक अम्ल, पारद के योग, आयडोफार्म इत्यादि—प्रयुक्त की जाती हैं, उनसे भी कभी-कभी विष के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यदि ऐसा हो तो जिस वस्तु के लक्षण उत्पन्न हों, उसको बन्द करके दूसरी वस्तु का प्रयोग किया जाय।

शस्त्रकर्म के कुछ दिनों पश्चात् तक बहुत ध्यानपूर्वक रोगी का निरीक्षण करते रहना चाहिए। प्रायः शस्त्रकर्म के दूसरे दिवस रोगी का ताप बढ़ जाता है। प्रथम वह ९९° या १००° फैरनहीट तक पहुँचता है। दूसरे दिवस १००° या १०१° हो जाता है। इसको अभिघातक ज्वर[३] कहते हैं और वह दूसरे दिवस के पश्चात् कम होने लगता है। रोगी को कोई असुविधा नहीं होती। किन्तु कभी-कभी ज्वर कम होने की अपेक्षा बढ़ने लगता है और रोगी को विष के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। क्षत में पीड़ा होने लगती है। जब क्षत के भीतर बहुत सा सीरम एकत्रित हो जाता है और वह बाहर नहीं निकल सकता तब यह लक्षण उत्पन्न होते हैं। क्षत के संक्रमित हो जाने पर भी यही लक्षण

---

१. Calomel. २. Hydrarg cum Creta. ३. Traumatic Fever.

उत्पन्न होते हैं। अतएव इन लक्षणों के प्रत्यक्ष होने पर क्षत को खोलकर देखना चाहिए। यदि उसके भीतर सीरम भरा हो तो टाँकों को काटकर उसको निकालकर उसके भीतर निर्हरण-नलिका रख देनी उचित है। यदि उसके भीतर पूय हो तो सब टाँकों को काटकर पूय को भली भाँति निकालकर क्षत को शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका संक्रमित व्रण की भाँति उपचार किया जाय। नित्य प्रति इसको विसंक्रामक द्रवों से धोना आवश्यक है। साथ में रोगी के बल की वृद्धि भी करनी चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो वैक्सीन का प्रयोग किया जा सकता है।

बाइसवाँ परिच्छेद

संज्ञाहरण (Anaesthesia)

शस्त्रकर्म आरम्भ करने से पूर्व रोगी की चेतनाशक्ति का नाश कर दिया जाता है। जब रोगी पूर्णतया मूर्च्छित हो जाता है तब शस्त्रकर्म आरम्भ किया जाता है। मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिए कई वस्तुओं का प्रयोग होता है और कई प्रकार से मूर्च्छा उत्पन्न की जाती है। मूर्च्छा के प्रयोग से पूर्व शस्त्रकर्म करना बहुत कठिन था। रोगियों को इतनी पीडा होती थी कि वह, शस्त्रकर्म करवाने की अपेक्षा, उत्तम मृत्यु को समझते थे। चिकित्सक को भी बहुत जल्दी करनी पड़ती थी जिससे रोगी को पीड़ा अधिक न हो। इस कारण शस्त्रकर्म को वह इतनी उत्तमता से नहीं कर सकते थे जैसे कि आधुनिक समय में मूर्च्छा की सहायता से कर सकते हैं। सन् १८४६ में अमेरिका में लौंग और मौर्टन नामक चिकित्सकों ने मूर्च्छा के लिए ईथर का प्रयोग किया था और सन् १८४७ में ऐडिनबरा में सर जेम्स सिम्सन ने क्लोरोफ़ार्म का प्रयोग किया। उस समय से शस्त्रकर्म के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ हो गया और जो कर्म पहले जल्दी में करने पड़ते थे वह अत्यन्त सावधानी से, बिना किसी प्रकार की गड़बड़ी के, होने लगे।

पीड़ा का अनुभव नाड़ी-मण्डल का कर्म है। चर्म पर चाकू की नोक लगाने से जो पीड़ा होती है वह उस स्थान की नाड़ियों के क्षत या उत्तेजित हो जाने से प्रतीत होती है। इसलिए नाड़ियों को शिथिल कर देने से पीड़ा का अनुभव नहीं होता। यह नाड़ियों का शिथिल कर देना संज्ञाहरण कहलाता है।

संज्ञाहरण कई प्रकार का होता है और उसको उत्पन्न करने की विधियाँ भी भिन्न होती हैं। निम्न-लिखित विधियाँ मुख्य हैं—

(१) स्थानिक संज्ञाहरण—जिस स्थान पर कर्म करना होता है वहाँ के चर्म को शीत या किसी रासायनिक वस्तु के लेप से या किसी ऐसी वस्तु के इंजेक्शन से, जिससे

वहाँ की नाड़ियाँ संज्ञाहीन हो जाती हैं, अचेतन कर देते हैं। (२) इसी प्रकार की रासायनिक वस्तुओं का नाड़ी के भीतर या उसके पास के तन्तुओं में इंजेक्शन देने से नाड़ी की संज्ञा-वाहिनी शक्ति नष्ट हो जाती है। इस कारण जिस स्थान पर नाड़ियाँ वितरित हैं वहाँ पर उत्पन्न हुई पीड़ा की संज्ञा का वह मस्तिष्क तक संवहन नहीं कर सकती। अतएव रोगी को पीड़ा नहीं प्रतीत होती। यह प्रान्तीय संज्ञाहरण कहलाता है। (३) शारीरिक संज्ञाहरण—क्लोरोफ़ार्म या ईथर इत्यादि के सुँघाने से रोगी की चेतना-शक्ति जाती रहती है। उसका प्रान्तस्थ नाड़ी-मण्डल शिथिल हो जाता है और उसको पीड़ा नहीं मालूम होती। (४) ऐसी ओषधियों को शिरा इत्यादि के द्वारा भी प्रविष्ट किया जाता है जिससे रोगी मूर्च्छित हो जाता है।

(१) स्थानिक संज्ञाहरण[1]—यह दशा थोड़े ही समय तक रहती है। इसलिए छोटे शस्त्रकर्मों के लिए, जो थोड़े ही समय में समाप्त हो जाते हैं, इसका प्रयोग हो सकता है। उसको उत्पन्न करने के लिए कोकेन का प्रयोग किया जाता है। यह एक अल्केलाइड है जो Erythroxylon Cocoa नामक वृक्ष की पत्तियों से निकाला जाता है। यह वृक्ष दक्षिणी अफ्रिका में पाया जाता है। कोकेन के अतिरिक्त जिन वस्तुओं का प्रयोग होता है जैसे नोवोकेन या बीटा यूकेन (B-Eucaine) वह सब कोकेन ही से बनाई जाती हैं।

प्रयोग करते समय कोकेन का ५°/॰ या १०°/॰ विलयन, जो परिस्रुत जल में बनाया जाता है, हायपोडर्मिक सिरिंज द्वारा चर्म में प्रविष्ट किया जाता है। इससे वहाँ की नाड़ियाँ संज्ञाहीन हो जाती हैं और साथ में वहाँ के चर्म में रक्त का सञ्चालन भी बन्द हो जाता है। पाँच या दस मिनट में इसका पूरा प्रभाव हो जाता है। तत्पश्चात् शस्त्र-कर्म आरम्भ किया जा सकता है।

यह वस्तु हृदय की अवरोधक है अर्थात् उसकी क्रिया को घटाती है। इसलिए ½ ग्रेन से अधिक कोकेन को चर्म में प्रविष्ट नहीं करते। इसमें ऐड्रिनेलिन १: १००० के मिला देने से इसकी यह विषैली क्रिया कम हो जाती है। अनुभव से यह मालूम हुआ है कि १°/॰ या २% शक्ति के विलयन को अधिक मात्रा में भी शस्त्रकर्म के स्थान पर प्रविष्ट करने से ५% या १०% विलयन ही के समान सन्तोषजनक फल होते हैं और उनका विषैला प्रभाव भी नहीं होता।

कोकेन के समान जो दूसरी वस्तुएँ हैं उनका भी प्रभाव वैसा ही होता है जैसा कोकेन का, किन्तु हृदय पर उनकी कोई विशेष क्रिया नहीं होती। नोवोकेन, स्टोवेन, बीटा-यूकेन इत्यादि का इसी कारण अधिक उपयोग किया जाता है। नोवोकेन का पहले भी उल्लेख किया जा चुका है। कुछ लोग बीटा-यूकेन का अधिक प्रयोग करते हैं और निम्न-लिखित रीति से उसका विलयन बनवाते हैं—

बीटा-यूकेन (B. Eucaine)	—	३ ग्रेन
सोडियम क्लोराइड	—	१२ ग्रेन
ऐड्रिनेलिन सोल्यूशन १: १०००	—	१० बूँद
परिस्रुत जल	—	३½ औंस

१. Local anaesthesia.

प्रयोगकर्त्ताओं का कथन है कि इस विलयन से रोगी पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। ३० या ४० मिनट तक प्रयोग करने के पश्चात् कर्मक्षेत्र न केवल पूर्णतया संज्ञाहीन ही हो जाता है किन्तु वहाँ का रक्त-सञ्चालन भी बन्द हो जाता है। अवरुद्ध हर्निया, बद्धान्त्र इत्यादि बड़े-बड़े शस्त्र-कर्म इस विलयन के द्वारा किये गये हैं। ७ औंस विलयन तक बिना किसी प्रकार का बुरा प्रभाव उत्पन्न किये हुए प्रयुक्त किया गया है।

जब रोगी की साधारण दशा बहुत हीन होती है और क्लोरोफ़ार्म इत्यादि वस्तुओं का प्रयोग हानिकर समझा जाता है तब इन वस्तुओं का उपयोग किया जाता है।

चर्म को बर्फ़ और नमक के द्वारा भी संज्ञाहीन किया जा सकता है। इथाइल क्लोराइड और ईथर से भी यह काम लिया जाता है। आजकल इथाइल क्लोराइड को अधिक प्रयोग करते हैं। यह वस्तु काँच के एक छोटे फ़्लास्क में भरी हुई आती है जिससे प्रयोग करते समय एक फुहार निकलती है। हाथ में पकड़कर रोगी के जिस स्थान पर कर्म करना है वहाँ पर फुहार को डालते हैं। इससे वहाँ का चर्म संज्ञाहीन हो जाता है और साथ में रक्त-रहित होने के कारण श्वेत दिखाई देने लगता है। यह मूर्च्छा बहुत थोड़े समय तक रहती है। इसी प्रकार ईथर को भी प्रयोग किया जाता है।

(२) प्रान्तीय[1] संज्ञाहरण—इसके लिए नाड़ियों के वितरण का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। क्योंकि उनकी संज्ञा-वाहन-शक्ति के नाश से उन प्रान्तों में, जहाँ उनका अन्तिम वितरण है, मूर्च्छा उत्पन्न हो सकती है। कुछ शारीर-शास्त्रज्ञों ने प्रत्येक नाड़ी के वितरण के चित्र बनाये हैं जिनके द्वारा उन्होंने यह सिखलाया है कि कौन-कौन से प्रान्त में किन-किन नाड़ियों का वितरण है। जब इस प्रकार मूर्च्छा उत्पन्न की जाती है तब जिस द्रव का प्रयोग करना होता है उसको भली भाँति शुद्ध करके नाड़ियों में अथवा उनके चारों ओर प्रविष्ट किया जाता है।

सौषुम्नीय संज्ञाहरण[2]—यह एक प्रकार की प्रान्तीय मूर्च्छा है। औषधि के विलयन को सुषुम्ना नलिका के भीतर प्रविष्ट किया जाता है जिससे नाभि के नीचे के सारे प्रान्त और निम्न शाखाएँ संज्ञाहीन हो जाती हैं। जो औषधि इस नलिका में प्रविष्ट की जाती है वह सुषुम्ना में स्थित नाड़ियों के मूल पर अपना प्रभाव डालती है। पहले इसके लिए कोकेन का प्रयोग करते थे, किन्तु उसके बुरे प्रभाव के कारण अब स्टोवेन या नोवोकेन प्रयुक्त की जाती है। ०·१ ग्राम स्टोवेन तथा नोवोकेन के परिस्रुत जल में बने हुए ऐम्प्यूल आते हैं। इनमें भरे हुए द्रव को सिरिंज में भरकर सुषुम्ना में प्रविष्ट किया जाता है।

सुषुम्ना में इंजेक्शन देने की विधि वही है जो कटि-भेदन में बताई जा चुकी है। रोगी को बिठाकर, अथवा यदि वह लेटा है तो, उसके वक्ष और नितम्बों को आगे की ओर झुकाकर—जिससे कमर पीछे की ओर तन जाती है—चिकित्सक कटि-प्रान्त के तीसरे अन्तर्कशेरुक स्थान में सुई को प्रविष्ट करने के लिए पृष्ठवंश से तनिक बाहर की ओर को एक स्थान चुन लेता है और उसको शुद्ध करने के पश्चात् अपनी सूचिका को—जो दृढ़, कठिन और लगभग तीन या चार इंच लम्बी होती है—दृढ़तापूर्वक भीतर और तनिक

१· Regional anaesthesia. २. Spinal anaesthesia.

ऊपर की ओर को प्रविष्ट कर देता है। प्रथम सूचिका को कशेरुकों के बन्धन का अवरोध करना पड़ता है जो चिकित्सक के हाथ को प्रतीत होता है। उसके पार करने पर जब सूचिका सुषुम्ना के भीतर पहुँच जाती है तब यह अवरोध नहीं मालूम होता और सूचिका द्वारा सुषुम्ना के भीतर का द्रव निकलने लगता है। तत्पश्चात् चिकित्सक सिरिंज को, जिसमें पूर्व ही द्रव भरकर रख दिया गया है, सूचिका के साथ जोड़ देता है और पिस्टन को दबाकर द्रव को सुषुम्ना के भीतर पहुँचा देता है। कुछ चिकित्सक इंजेक्शन के पश्चात् कटि को तीन या चार इंच ऊँचा कर देते हैं जिससे द्रव सुषुम्ना में कुछ ऊपर की ओर भी पहुँच जावे। किन्तु इस स्थिति में अधिक देर तक रखना या अधिक ऊँचा करना उचित नहीं। सुषुम्ना के द्वारा मूर्च्छक द्रव के अधिक ऊँचा पहुँचने से श्वास-पेशियाँ स्तब्ध हो सकती हैं।

पाँच या दस मिनट के पश्चात् मूर्च्छा उत्पन्न होने लगती है। प्रथम वह नितम्बों के बीच में उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् ऊरु और जंघा में फैलती है। तत्पश्चात् ऊपर नाभि तक पहुँच जाती है। कभी-कभी इससे भी ऊपर पहुँचती जाती है। अङ्ग-संचालन की शक्ति बिलकुल जाती रहती है और पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं। रोगी को पीड़ा नहीं प्रतीत होती, इसलिए शस्त्रकर्म के समय उसको बातचीत में संलग्न रखा जा सकता है। कुछ लोगों को दूसरे दिवस शिर में दरद या वमन होता है।

इस प्रकार की मूर्च्छा के सम्बन्ध में चिकित्सकों की सम्मति यह है कि उसका केवल उन रोगियों में प्रयोग करना चाहिए जो अपनी कृश दशा के कारण साधारण मूर्च्छक वस्तुओं को सहन न कर सकते हों। किन्तु साधारणतया नियमानुसार इस विधि का प्रयोग उचित नहीं। शस्त्रकर्म के समय रोगी को शस्त्रकर्म का बराबर भय बना रहता है जिससे उसके मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। कुछ रोगियों में वात-मण्डल के विकार उत्पन्न हो गये हैं तो भी ऐसे रोगियों के लिए, जिनको इक्षुमेह, वृक्क का रोग अथवा हृदय या फुस्फुस का रोग हो, यह विधि उत्तम है।

(३) साधारण या शारीरिक मूर्च्छा[1]—नाइट्रस आक्साइड, क्लोरोफ़ार्म, ईथर या अलकोहल, ईथर और क्लोरोफ़ार्म का मिश्रण अथवा केवल क्लोरोफ़ार्म और अलकोहल के मिश्रण को श्वास द्वारा शरीर के भीतर पहुँचाकर मूर्च्छा उत्पन्न की जाती है। ऊपर बताई हुई दोनों प्रकार की मूर्च्छाओं में रोगी चेतना-युक्त रहता है। किन्तु इस प्रकार की मूर्च्छा से, जिसका आगे वर्णन किया जायगा, रोगी की चेतना-शक्ति जाती रहती है।

नाइट्रस आक्साइड गैस—उससे उत्पन्न हुई मूर्च्छा बहुत थोड़े समय तक रहती है। इसलिए छोटे शस्त्रकर्मों के लिए—जैसे दाँत के शस्त्रकर्म, विद्रधि का खोलना या नख का निकालना इत्यादि—उसका प्रयोग किया जाता है। आजकल अकेले नाइट्रस आक्साइड गैस का उपयोग नहीं किया जाता। उसके साथ आक्सिजन मिलाकर उसका उपयोग करते हैं। कहा जाता है कि आक्सिजन अथवा वायु के मिलाने से नाइट्रस आक्साइड अधिक प्रबल हो जाती है और उससे उत्पन्न हुई मूर्च्छा भी केवल नाइट्रस आक्साइड की मूर्च्छा से अधिक गाढ़ी होती है। कुछ लोगों की सम्मति है कि केवल नाइट्रस आक्साइड

1. General anaesthesia.

का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है। आक्सीजन के मिलाने से अवगुण जाता रहता है। जिन लोगों के हृदय अत्यन्त दुर्बल होते हैं अथवा जिनके फुस्फुस बहुत काल से रोगग्रस्त हों उनको इस गैस के द्वारा मूर्च्छित नहीं करना चाहिए।

इस गैस का प्रयोग करने के लिए एक विशेष यन्त्र की आवश्यकता होती है। यन्त्र में चार सिलिंडर नाइट्रस आक्साइड गैस के ओर एक सिलिंडर आक्सिजन का रहता है जो दूसरे सिलिंडरों से बड़ा होता है। इन सिलिंडरों के मुँह पर एक छोटा सा चक्र लगा रहता है जिसको घुमाकर सिलिंडर के छिद्र को खोल या बन्द कर सकते हैं। आक्सिजन और गैस के सिलिंडरों से दो रबर की नलिकाएँ एक बोतल में जाती हैं जिसके साथ वह दो धातु की नलिकाओं से जुड़ी रहती हैं। धातु की यह दोनों नलिकाएँ शीशी में बहुत नीचे तक पहुँच जाती हैं। इसी बोतल से एक और नलिका उसके काग के द्वारा, जो रबर का बना होता है, ऊपर को जाती है और वहाँ से एक रबर की नली एक दूसरी बोतल तक पहुँचती है। इस बोतल के ऊपर एक पेंच लगा रहता है जिसमें धातु की तीन नलियाँ होती हैं। एक नली बोतल के काग के द्वारा बोतल के भीतर जाती है, शेष दो नलियाँ पार्श्व में खुलती हैं। पेंच के भीतर ऐसा प्रबन्ध है कि पेंच के बाहरी भाग को घुमाकर चाहे जिस नली को बन्द और शेष दोनों नलियों को जोड़ा जा सकता है। इस बोतल में ईथर रहता है। इस बोतल के एक ओर से एक लम्बी रबर की नली एक बैग में जाकर मिलती है जिसके दूसरे सिरे पर रोगी के मुँह पर रखनेवाला भाग लगा होता है। इसके पीछे की ओर एक पेंच रहता है जिससे गैस की मात्रा को घटा-बढ़ा सकते हैं।

प्रयोग करने से पूर्व तीन चौथाई बैग को गैसों से भर दिया जाता है। बैग में ३ भाग नाइट्रस आक्साइड और एक भाग आक्सिजन रहता है। रोगी को $\frac{१}{४}$ ग्रेन मार्फ़िया और $\frac{१}{१२०}$ ग्रेन ऐट्रोपीन का इंजेक्शन दिया जाता है। फिर यन्त्र का मुखवाला भाग रोगी के मुख पर लगा दिया जाता है और उसको इस प्रकार चिपका दिया जाता है कि वायु उसके भीतर न जा सके। दो-तीन श्वास के पश्चात् नाइट्रस आक्साइड की मात्रा बढ़ा दी जाती है जिससे मूर्च्छा शीघ्र उत्पन्न हो जावे। उसके पश्चात् इस गैस की मात्रा को फिर घटा देते हैं। रोगी इस गैस के मिश्रण को, जिसमें उसके श्वास द्वारा निकली हुई कार्बोनिक एसिड गैस भी मिल गई है, बार-बार श्वास द्वारा ग्रहण करता है। इसमें वायु तनिक भी नहीं मिलने दी जाती। कहा जाता है कि कार्बोनिक एसिड मिली हुई गैसों के इस मिश्रण द्वारा रोगी की मूर्च्छा गाढ़ी और उत्तम होती है।

मूर्च्छा के समय रोगी की दशा की ओर पूरा ध्यान रखना पड़ता है। यदि रोगी के चेहरे पर कुछ नीलापन झलकने लगे, अथवा गले में कफ़ के समान शब्द होने लगे तो तुरन्त आक्सिजन की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए।

मूर्च्छा के समाप्त हो जाने पर रोगी को तीन या चार मिनट के पश्चात् होश आ जाता है। और वमन, शिर का दर्द, या अन्य किसी प्रकार के भी दुष्परिणाम नहीं होते, विशेषकर जब कि रोगी श्वास द्वारा निकली हुई वायु से मिश्रित गैस के मिश्रण को बार बार श्वास द्वारा भीतर ग्रहण करता है।

ईथर को क्लोरोफ़ार्म की अपेक्षा उत्तम समझा जाता है क्योंकि यह हृदय का उत्तेजक है। ईथर का तीन प्रकार से प्रयोग किया जाता है—

(१) इसको सुँघाने के लिए क्लोवर या ह्यूलेट अथवा किसी ऐसे ही यन्त्र का प्रयोग किया जाता है जो चित्र १८० में दिखाया गया है। यन्त्र के घ भाग में नली के द्वारा दो या तीन औंस ईथर भर दिया जाता है। यह भाग धातु का बना होता है। इसके ऊपर एक दर्शक लगा हुआ है। ख एक रबर का बैग है जिस पर वस्त्र चढ़ा हुआ है और इसका च भाग से, जो रोगी के मुख पर रहता है, एक नलिका द्वारा सम्बन्ध है। यह नलिका ईथर के कोष्ठ के बीच में होकर जाती है। जब बैग से वायु रोगी के मुख पर जाती है तब वह अपने साथ ईथर को उड़ाकर ले जाती है और रोगी उसको श्वास द्वारा ग्रहण करता है।

प्रयोग करते समय मुख के भाग को रोगी के मुख पर लगा दिया जाता है और उससे श्वास लेने को कहा जाता है। साथ में ईथर के कोष्ठ को इतना घुमा दिया जाता है कि दर्शक ० अङ्क पर आ जाता है। उसके पश्चात् रोगी जब श्वास लेता है तो उसके फुफ्फुस से निकले हुए श्वास से वायु का बैग फूल जाता है। उसके पश्चात् ईथर के कोष्ठ को घुमाकर दर्शक को १ के अङ्क पर ले आया जाता है, तत्पश्चात् धीरे-धीरे २ और ३ के अङ्क पर और अन्त में ४ पर पहुँचा दिया जाता है, जिससे अधिक ईथर जाने लगता है। इसमें १ या १½ मिनट लगता है अर्थात् एक अङ्क से दूसरे अङ्क तक जाने में लगभग १५ या २० सेकण्ड लग जाते हैं। एक से दो मिनिट में रोगी पूर्णतया मूर्च्छित हो जाता है और शस्त्रकर्म आरम्भ किया जा सकता है। तत्पश्चात् ईथर के कोष्ठ को पीछे को घुमाकर दर्शक को फिर २ के अङ्क पर ले आया जाता है और इसी स्थान पर समस्त शस्त्रकर्म के समय में रखा जाता है। साथ में प्रत्येक छटे श्वास पर मुख से यन्त्र के अग्रभाग को हटाकर रोगी को शुद्ध वायु में श्वास लेने दिया जाता है। यदि ईथर सुँघाते समय रोगी का रङ्ग नीला पड़ जावे तो शुद्ध वायु श्वास द्वारा भीतर जाने देनी चाहिए। आक्सिजन सुँघाना उत्तम है।

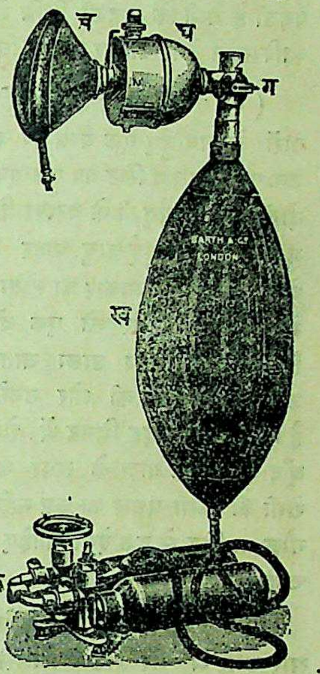

चित्र नं० १८० ह्यूलेट का नाइट्रस आक्साइड और ईथर के मिश्रण सुँघाने का यन्त्र।

च, मुख पर लगाने वाला भाग। घ, ईथर के रहने का कोष्ठ। ग, गैसों को घटाने बढ़ाने का पेंच। ख, रबर का बैग। क, नाइट्रस आक्साइड के सिलिंडर, यदि केवल ईथर प्रयोग किया जाता है तो क और ग से काम नहीं लिया जाता अथवा यन्त्र इन भागों से रहित होता है।

ईथर के प्रयोग से मुँह से श्लेष्मा बहुत निकलता

है। कभी-कभी यह गले के भीतर ही एकत्रित हो जाता है।

मूर्च्छा के पश्चात् मुँह से झागों का निकलना, जी मिचलाना, वमन होना, शिरदर्द, खाँसी इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यह अधिक ईथर के भीतर जाने से उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी निमोनिया या वृक्क रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं।

कुछ लोग नाइट्रस आक्साइड के साथ ईथर को मिलाकर देते हैं। इसके लिए जो यन्त्र प्रयुक्त होता है वह चित्र में दिखाया गया है। इसमें भी वैसी ही सावधानी रखनी पड़ती है जैसी कि पहली विधि में रखी गई है। मुख पर नीलापन आते ही अधिक आक्सिजन देनी चाहिए। इस विधि से रोगी को थोड़ा कष्ट होता है।

(२) दूसरी विधि में, जिसको Oben method कहा जाता है, लोहे या निकल के तारों के बने हुए एक यन्त्र पर बारीक गौज़ के १२ से १६ परत लगा दिये जाते हैं और उन पर साधारण लिंट का एक-एक परत चढ़ा दिया जाता है (चित्र नं० १८१) जिसमें दोनों ओर दो अँगुली के बराबर छिद्र कर दिये जाते हैं। इन छिद्रों के द्वारा रोगी के मुख से निकली हुई वायु बाहर निकली रहती है। इन परतों के ऊपर एक तार का घेरा, जो यन्त्र के आकार का होता है, चढ़ा दिया जाता है जो वस्त्रों को अपने स्थान में रखता है। ईथर को एक बोतल से, जिससे वह केवल बूँद-बूँद करके गिरता है, गौज़ के ऊपर डाला जाता है जो तुरन्त सारे गौज़ पर फैल जाता है और उसके वाष्प रोगी की ओर उठने लगते हैं, क्योंकि दूसरी ओर लिंट उनको रोकता है। दस या पन्द्रह मिनट में रोगी मूर्च्छित हो जाता है। उसके पश्चात् भी ईथर को बूँद-बूँद करके गौज़ के ऊपर डालते रहना चाहिए। इस विधि से मूर्च्छा के पश्चात् रोगी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। ईथर प्रयोग करने से पूर्व रोगी की आँखों को गौज़ या लिंट से ढक देना चाहिए अथवा उनमें अण्डी के तेल की कुछ बूँदें डाल देनी चाहिएँ।

(३) ऊपर बताई हुई विधि से बहुत सा ईथर व्यर्थ नष्ट होता है और उसके वाष्प सारे कमरे में भर जाते हैं जिससे वहाँ पर उपस्थित व्यक्तियों को असुविधा होती है। किन्तु उसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि ईथर के वाष्प के चारों ओर की वायु, जो रोगी के श्वास के साथ बार-बार उसके फुस्फुस में जाती है, इतनी ठण्डी हो जाती है कि उससे रोगी को निमोनिया या कास उत्पन्न होने का भय रहता है। इसके अतिरिक्त रोगी के शरीर का तापक्रम कम हो जाता है जिससे उसकी सहनशक्ति भी घट जाती है। इसलिए कुछ ऐसे यन्त्र बनाये गये हैं जिनके द्वारा ईथर को गरम करके रोगी को सुंघाया जाता है।

(४) क्लोरोफ़ार्म—अन्य वस्तुओं की अपेक्षा क्लोरोफ़ार्म का अधिक प्रयोग होता है क्योंकि इसका प्रयोग करने में नाइट्रस आक्साइड या ईथर के समान गूढ़ यन्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा इसका मूल्य भी कम होता है। इन कारणों से, यद्यपि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा इसका शरीर पर बुरा प्रभाव होता है, तो भी इसका अधिक प्रयोग होता है। इसका प्रयोग भी कई प्रकार से किया जाता है—

(१) ईथर के समान इसका भी, खुली हुई विधि से, प्रयोग किया जा सकता है। इसके लिए शिमिलबुश के यन्त्र को प्रयोग करते हैं। साधारण शुद्ध तौलिया का तिकोना चोंगा, बनाकर उसके भीतर रुई रखकर अथवा बिना रुई ही के उस पर क्लोरोफ़ार्म डालकर उसको भी रोगी के मूर्च्छित करने के काम में लाते हैं। यह विधि उत्तम नहीं है, क्योंकि इसमें यह नहीं मालूम हो सकता कि रोगी को कितनी क्लोरोफ़ार्म सुँघाई गई है। इस कारण इसको उसी समय प्रयोग करना चाहिए, जब दूसरी विधियाँ काम में न लाई जा सकें। जब मास्क या तौलिये के चोंगे के द्वारा क्लोरोफ़ार्म को सुँघाना हो तो रुई या गौज़ पर क्लोरोफ़ार्म डालकर उसको प्रथम रोगी की नाक से तीन या चार इंच की दूरी पर रखना चाहिए और उसके पश्चात् यन्त्र को धीरे-धीरे रोगी के पास लाना चाहिए। जब रोगी मूर्च्छित हो जावे तब उसको फिर कुछ दूर कर देना उचित है। शस्त्रकर्म के समय भी मास्क को कुछ दूर ही रखना उत्तम है जिससे रोगी को कुछ शुद्ध वायु भी मिलती रहे। समय-समय पर लिंट या गौज़ या रूई पर क्लोरोफ़ार्म डालते रहना पड़ेगा। क्लोरोफ़ार्म के सुँघाने के सारे समय में रोगी के मुख, उसके नेत्र की पुतली, हृदय और श्वास पर ध्यान रखना चाहिए। यदि श्वासकर्म में कोई बाधा उत्पन्न हो तो क्लोरोफ़ार्म को तुरन्त ही रोक देना चाहिए। मूर्च्छा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को देखते रहना आवश्यक है।

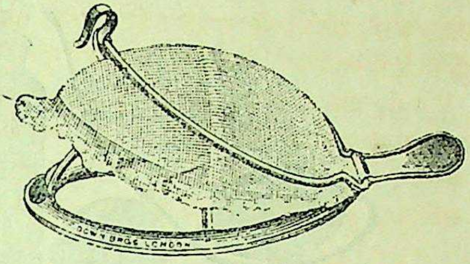

चित्र नं० १८१ शिमिलबुश का यन्त्र

(२) क्लोरोफ़ार्म सुँघाने के लिए जहाँ तक हो सके, सदा ऐसे यन्त्र का प्रयोग करना चाहिए जिसके द्वारा क्लोरोफ़ार्म या वायु की मात्रा को घटा-बढ़ा सकें और जिससे यह मालूम होता रहे कि इन वस्तुओं की कितनी मात्रा रोगी को दी जा चुकी है। इसके लिए वर्नन-हारकोर्ट का यन्त्र सबसे उत्तम है। इसके द्वारा २% से अधिक शक्ति का क्लोरोफ़ार्म और वायु का मिश्रण रोगी को नहीं सुँघाया जा सकता जिसमें २% क्लोरोफ़ार्म और ९८% वायु होती है। इससे जितना चाहें क्लोरोफ़ार्म के परिमाण को कम कर सकते हैं।

(३) दूसरा यन्त्र, जिसका आजकल बहुत प्रयोग किया जाता है, जंकर का क्लोरोफ़ार्म-इनहेलर है। इसमें बीच में क्लोरोफ़ार्म के लिए एक शीशी होती है जिसके मुख पर धातु की डाट लगी रहती है जिसके द्वारा धातु की दो नलिकाएँ शीशी के भीतर जाती हैं। एक नलिका नीचे तक पहुँच जाती है किन्तु दूसरी डाट के नीचे ही समाप्त हो जाती है। यह बड़ी नलिका डाट के बाहर रबर की नली के द्वारा एक रबर की धौंकनी से जुड़ी रहती है, और दूसरी छोटी नलिका रोगी के चेहरे पर रहनेवाले भाग से जुड़ी होती है। धौंकनी के दाबने से वायु शीशी के भीतर पहुँचकर क्लोरोफ़ार्म के वाष्प को साथ लेती हुई अग्रभाग द्वारा निकलकर रोगी के श्वास द्वारा भीतर जाती है। यह यन्त्र यद्यपि वर्नन के यन्त्र से अधिक साधारण है, किन्तु इसके द्वारा क्लोरोफ़ार्म या वायु के ठीक-ठीक परिमाण का पता

नहीं लगता। यह अवश्य मालूम हो जाता है कि रोगी को कितनी क्लोरोफ़ार्म सुँघाई गई है।

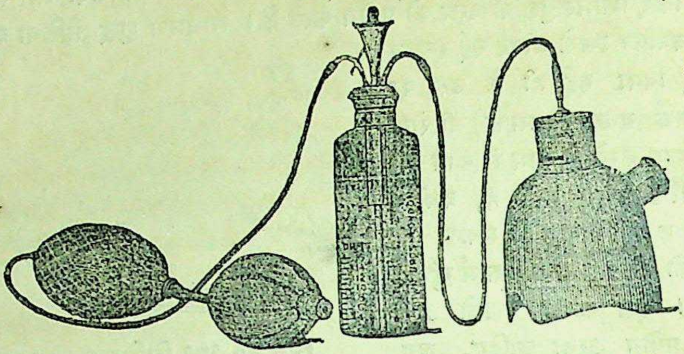

चित्र नं० १८२

जब मुख पर शस्त्रकर्म करना होता है तब मास्क को हटाकर इसके स्थान में एक धातु की मुड़ी हुई नलिका लगाकर नाक के भीतर डाल दी जाती है और उसके द्वारा क्लोरोफ़ार्म के वाष्पों को भीतर पहुँचाया जाता है। जब क्लोरोफ़ार्म समाप्त हो जाता है तब शीशी को डाट से भिन्न करके उसमें क्लोरोफ़ार्म फिर भर दी जाती है। इसमें भी मूर्च्छक को रोगी के श्वास पर पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

क्लोरोफ़ार्म की मूर्च्छा को चार अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है—

(१) पहली अवस्था—इस अवस्था में अपूर्ण चेतना रहती है। रोगी की आँखों के सामने तारे टूटते हुए दीखते हैं, कानों में कुछ शब्द सुनाई देता है और श्वास रुँधता हुआ प्रतीत होता है। रोगी के विचार विकृत हो जाते हैं। नेत्रों के तारे इस अवस्था में वैसे ही रहते हैं। श्वास जल्दी आने लगता है और नाड़ी की गति बढ़ जाती है। रोगी प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करता है।

(२) दूसरी अवस्था—यह अवस्था अङ्गों के पूर्णतया शिथिल होने तक रहती है जब की अङ्गों की सञ्चालन-शक्ति और पीड़ा इत्यादि को अनुभव करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। रोगी गाता या रोता है, हाथों-पावों को खींचता या पटकता है। कभी-कभी रोगी श्वास को बन्द कर लेता है जिससे मुख लाल पड़ जाता है। स्वेद बहने लगता है और गले की शिराएँ फूल जाती हैं। हृदय वेग से धड़कता है और श्वास शीघ्र और हलका आने लगता है। नाड़ी की गति भी बढ़ जाती है। इसको उत्तेजना की अवस्था कहा जाता है। नेत्रों के तारे कुछ-कुछ प्रसारित होने लगते हैं। श्वास गहरा नहीं होता।

(३) तीसरी अवस्था—यह मूर्च्छा की अवस्था होती है। वह सब नाड़ी-केन्द्र, जो पहले उत्तेजित हो गये थे, अब शिथिल हो जाते हैं और स्पर्श का ज्ञान तथा परावर्तन नष्ट हो जाते हैं। अङ्ग ढीले पड़ जाते हैं। यदि उनको उठाकर छोड़ दिया जाय तो वह निर्जीव वस्तु के समान गिर पड़ते हैं। नेत्रों के तारे संकुचित हो जाते हैं और श्वेत पटल परावर्तन जाता रहता है। श्वास धीमा किन्तु गहरा चलने लगता है और बराबर एक समान चलता है। नाड़ी भी धीमी हो जाती है। प्रकाश-परावर्तन नष्ट नहीं होता और न

कभी होना चाहिए। शस्त्रकर्म के लिए यही अवस्था उपयुक्त है। साधारणतया १ से ४ ड्राम तक क्लोरोफ़ार्म सुँघाने पर यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(४) चौथी अवस्था—अधिक क्लोरोफ़ार्म सुँघाने से चौथी अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसमें हृदय और श्वास के केन्द्रों का स्तम्भन आरम्भ हो जाता है। रोगी मूत्र और मल त्याग करने लगता है क्योंकि इन क्रियाओं के केन्द्र शिथिल हो जाते हैं। नेत्रों के तारे प्रसरित होने लगते हैं। यदि ऐसा हो तो समझना चाहिए कि श्वासावरोध आरम्भ हो गया। यह भयङ्कर दशा का सूचक है। रक्तनलिकाओं और केशिकाओं का प्रसार हो जाता है जिससे शरीर का रक्त-भार शून्य हो जाता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसमें प्रकाश-परावर्त्तन जाता रहता है।

क्लोरोफ़ार्म से मृत्यु का कारण—इस सम्बन्ध में मत-भेद है। कुछ की सम्मति है कि श्वासकर्म के बन्द हो जाने से मृत्यु होती है, किन्तु दूसरे मतानुयायी कहते हैं कि प्रथम हृदय अपना कर्म बन्द करता है। निज़ाम हैदराबाद ने जो इस बात के अन्वेषण के लिए दो कमीशन बिठाये थे उनकी सम्मति है कि हृदय के पूर्व श्वास बन्द हो जाता है। इससे विरुद्ध सम्मति रखनेवाले कहते हैं कि मृत्यु का कारण रक्त-भार का कम हो जाना है जिसके कारण हृदय में रक्त नहीं रहता, जिससे हृदय कर्म करना बन्द कर देता है।

पटल परावर्त्तन—यदि नेत्र के पलकों को उठाकर श्वेत भाग को उँगली से स्पर्श किया जावे तो पलक सङ्कोच करने लगते हैं।

प्रकाश परावर्त्तन—यदि तीव्र प्रकाश में बन्द नेत्रों के पलकों को खोल दिया जावे तो नेत्र का तारा संकुचित होता हुआ दिखाई देगा।

क्लोरोफ़ार्म के सम्बन्ध में कुछ विशेष ध्यान देने योग्य बातें

(१) क्लोरोफ़ार्म सदा शुद्ध होनी चाहिए। उसको प्रयोग करने से पूर्व मूर्च्छक को उचित है कि वह क्लोरोफार्म की डाट को खोलकर क्लोरोफार्म को सूँघकर परीक्षा कर ले कि वह ठीक दशा में है अथवा उसका कुछ विश्लेषण हो गया है। यदि गन्ध में कुछ भेद मालूम हो तो उस क्लोरोफ़ार्म का प्रयोग न करके नये द्रव का प्रयोग करना चाहिए। इस बात का ध्यान न रखने से कई बार रोगियों की मृत्यु हो गई है।

(२) क्लोरोफार्म को अग्नि के पास या तेज़ प्रकाश में रखने से उसका विश्लेषण हो जाता है और फौस्जीन नाम की गैस उत्पन्न होती है जिससे रोगी को अथवा उसके पास उपस्थित दूसरे लोगों को बड़ी असुविधा होती है। इससे रोगी को बहुत हानि पहुँच सकती है।

(३) प्रयोग करने से पूर्व यन्त्र के सब भागों को पृथक् करके उनको शुद्ध कर लेना चाहिए। उसके पश्चात् सब भागों को ठीक-ठीक जोड़कर यन्त्र का प्रयोग किया जाय। यह काम विचार और सावधानी के साथ करना चाहिए। बोतल के भीतर रहनेवाली

लम्बी नलिका धौंकनी ही के साथ जुड़े। यदि वह मास्क के साथ जुड़ गई तो क्लोरोफ़ार्म द्रव मास्क में होता हुआ रोगी के मुख पर पहुँच जायगा। ऐसी त्रुटि कभी-कभी हो जाया करती है।

(४) क्लोरोफ़ार्म देते समय मूर्च्छक का ध्यान रोगी के ही ऊपर रहना चाहिए। शस्त्रकर्म को देखना उसका काम नहीं है। मूर्च्छक का कर्म भी वैसा ही महत्त्व और उत्तरदायित्व का है जैसा कि चिकित्सक का। मूर्च्छा की अवस्था को सदा देखते रहना चाहिए। नेत्र के पलक को खोलकर श्वेत पटल-परावर्तन को देखकर यह मालूम किया जा सकता है कि रोगी कौन सी अवस्था में है। यदि चौथी अवस्था आरम्भ होने लगे तो क्लोरोफ़ार्म को रोककर तुरन्त शुद्ध वायु देनी चाहिए। यदि आवश्यक हो तो कृत्रिम श्वास क्रिया करनी चाहिए।

(५) क्लोरोफ़ार्म देते समय उसकी शक्ति को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए और श्वासकर्म पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। यदि उसमें कोई भी अवरोध प्रतीत हो तो क्लोरोफ़ार्म देना बंद कर देना चाहिए। समय समय पर नाड़ी को देखकर हृदय की दशा भी मालूम करते रहना आवश्यक है।

(६) एक बार मूर्च्छा उत्पन्न हो जाने के पश्चात् मूर्च्छा को बनाये रखने के लिए अधिक क्लोरोफ़ार्म की आवश्यकता नहीं है। थोड़ी ही क्लोरोफ़ार्म के प्रयोग से काम चल सकता है।

(७) जिह्वा को पीछे की ओर को नहीं हिलने देना चाहिए। क्योंकि वह पीछे की ओर गिरकर वायु के भीतर जाने के मार्ग को बन्द कर देगी और श्वास का अवरोध हो जायगा। जिह्वा को आगे को खींचने के लिए एक विशेष संदंश काम में लाया जाता है।

अलकोहल, ईथर और क्लोरोफ़ार्म के मिश्रण का भी मूर्च्छा के लिए प्रयोग करते हैं। एक भाग अलकोहल, दो भाग ईथर और तीन भाग क्लोरोफ़ार्म को आपस में मिला दिया जाता है। यह एक विशेष मास्क के द्वारा दिया जाता है जिसको रेंडिल मास्क कहते हैं। केवल क्लोरोफ़ार्म और ईथर के मिश्रण का भी प्रयोग किया जाता है। केवल क्लोरोफ़ार्म की अपेक्षा इस मिश्रण से हानि की कम सम्भावना है।

(४) सुँघाने के अतिरिक्त तीन और प्रकारों से शारीरिक मूर्च्छा उत्पन्न की जा सकती है—(१) शिरा के द्वारा ईथर को शरीर में प्रविष्ट करने से, (२) श्वास-प्रणाली के भीतर ईथर पहुँचाने से और (३) गुदा के द्वारा ईथर को प्रविष्ट करने से।

(१) शिरा के द्वारा ईथर देने के लिए कूर्पर के सामने या गुल्फ के नीचे की शिरा को काम में लाया जाता है। छेदन के द्वारा शिरा को स्पष्ट करके उसके भीतर एक केन्यूला अन्तर्शिरीय प्रक्षेपण की भाँति प्रविष्ट किया जाता है। इस केन्यूला के द्वारा १ भाग ईथर और २० भाग सामान्य लवण (विलयन द्रव) भीतर पहुँचाया जाता है। इससे मूर्च्छा बहुत जल्दी उत्पन्न हो जाती है और सन्तोषजनक होती है। इसके पश्चात् ईथर के मिश्रण की गति को कम कर देते हैं। इस मिश्रण को एक विशेष पात्र में रखा जाता है।

इस विधि से उस समय मूर्च्छा उत्पन्न की जाती है जिस समय रोगी का हृदय पूर्व ही से अवसन्न दशा में होता है अथवा रोगी की दुर्बल और हीन दशा के कारण उसके हृदय के अवसन्न होने का भय रहता है। किन्तु इसमें यह दोष है कि २ सेर या इससे भी अधिक द्रव का प्रयोग करना पड़ता है जिससे हृदय का प्रसार हो जाता है।

(२) रोगी के गले के द्वारा प्रथम एक रबर की नली को श्वास-प्रणाली के भीतर डालना होता है जो स्वरयन्त्र के बीच में होती हुई श्वास-प्रणाली के विभाजित होने के स्थान तक पहुँच जाती है और उसके द्वारा वायु से मिले हुए ईथर के वाष्पों को फुस्फुस के भीतर पहुँचाया जाता है जिससे मूर्च्छा उत्पन्न होती है।

(३) गुदा के द्वारा ईथर देने के लिए पूर्व रात्रि को रोगी को विरेचक औषधि दी जाती है और दूसरे दिवस प्रातःकाल वस्तिकर्म द्वारा मलाशय को स्वच्छ कर दिया जाता है। इसके पश्चात् एक लम्बी सिरिंज से २ औंस ज़ैतून का तेल, ४ औंस ईथर और २ ड्राम पेरेल्डीहाईड उसकी गुदा में पहुंचा दी जाती है। इसके पश्चात् रोगी को उसी के बिस्तर पर विश्राम करने दिया जाता है। कुछ समय के पश्चात् उसको निद्रा हो आती है जो शीघ्र ही मूर्च्छा के रूप में परिणत हो जाती है। उसके पश्चात् रोगी को आपरेशन थियेटर में ले जाकर उस पर शस्त्र-कर्म किया जाता है। साधारणतया रोगी को अधिक ईथर देने की आवश्यकता नहीं होती। यदि मूर्च्छा कम हो जाती है तो एक तौलिये को भिगोकर रोगी के मुँह पर लगा दिया जाता है जिससे रोगी को अपने ही श्वास को कई बार फिर ग्रहण करना पड़ता है। इससे मूर्च्छा अधिक गाढ़ी हो जाती है। यदि आवश्यकता होती है तो थोड़ी क्लोरोफ़ार्म नायट्रस आक्साइड इत्यादि सुँघा देते हैं।

इस प्रकार की मूर्च्छा पर सदा भरोसा नहीं किया जा सकता।

मूर्च्छा के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें

मूर्च्छा का प्रयोग केवल उसी समय करना चाहिए जब अत्यन्त आवश्यक हो। साधारण शस्त्रकर्मों में जहाँ तक हो उसको प्रयोग न करना चाहिए। रोगी पर उसका कुछ न कुछ बुरा प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। जब मूर्च्छा का प्रयोग किये बिना काम नहीं चले तो निम्न-लिखित बातों पर ध्यान रखकर कार्य करना चाहिए—

रोगी को तैयार करना—शस्त्रकर्म से पूर्व रात्रि को एक विरेचन देकर प्रातःकाल वस्तिकर्म के द्वारा मलाशय को स्वच्छ कर देना चाहिए। जिस दिन शस्त्र-कर्म होनेवाला है उसके कम से कम तीन घण्टे पूर्व से रोगी को भोजन न देना चाहिए। उससे पहले चाय या कोको का एक प्याला दिया जा सकता है। इससे रोगी का आमाशय खाली रहेगा और मूर्च्छा में वमन होने पर भी कुछ नहीं निकलेगा। रोगी के मुँह को भली भाँति स्वच्छ करवा देना चाहिए। यदि मुख के भीतर कुछ बने हुए दाँत हों तो उनको मूर्च्छा आरम्भ करने से पहले निकाल देना चाहिए। कई बार मूर्च्छा में यह दाँत दन्त-पंक्ति से खिसककर श्वास-प्रणाली में जाकर अटक गये हैं और उनसे रोगी की मृत्यु हो गई है। वक्ष पर जो कसे हुए वस्त्र इत्यादि हों उनको ढीले कर देने चाहिएँ। दुर्बल रोगियों को बहुधा मूर्च्छा से पूर्व स्ट्रिकनीन का एक इंजेक्शन दे दिया जाता है।

मूर्च्छा के समय में बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। प्रथम या द्वितीय अवस्था में अधिक क्लोरोफ़ार्म या दूसरी वस्तुओं को अधिक न देना चाहिए। जिस समय रोगी अपने श्वास को रोक लेता है उस समय मास्क को मुख पर से हटा लिया जाय। जब वह अपने अङ्ग और पेशियों को ढीला कर ले तब फिर मूर्च्छक वस्तु को सुँघाना चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे ओषधि की शक्ति को बढ़ाकर रोगी को तीसरी अवस्था में लाया जाय। शस्त्रकर्म के लिए वह अवस्था उत्तम है जब रोगी के अङ्ग और पेशियाँ ढीली पड़ जायँ और उसके नेत्रों के तारे सङ्कुचित हो जायँ। यदि वह प्रसारित होने लगें और रोगी के अङ्गों में कड़ापन आने लगे तो समझना चाहिए की अधिक ओषधि की आवश्यकता है। किन्तु यदि कनीनिका का परावर्त्तन जाता रहे तो ओषधि सुँघाना बन्द कर देना चाहिए।

रोगी का श्वास-कर्म, नेत्रों के तारे और नाड़ी यह तीनों मूर्च्छक के पथ-प्रदर्शक हैं जिनके द्वारा मूर्च्छक को रोगी की दशा और अपने कर्त्तव्य का पूरा ज्ञान होता रहता है। रोगी को सबसे अधिक पीड़ा उस समय होती है जब चर्म का छेदन होता है। इसलिए उस समय पूर्ण मूर्च्छा होना आवश्यक है। उसके पश्चात् इतनी गाढ़ी मूर्च्छा की आवश्यकता नहीं है।

शस्त्रकर्म के पश्चात् जब मूर्च्छा समाप्त हो चुकती है तब रोगी को वार्ड में ले जाकर उसके मुख को दाहिनी या बाईं ओर को मोड़कर लिटाना चाहिए और कुछ समय तक उसी दशा में रखना चाहिए। कदाचित् रोगी को कुछ वमन होगा। यह वमन स्वयं ही बन्द हो जाता है। यदि बन्द न हो तो पहले बताई रीति से चिकित्सा करनी चाहिए। तीन या चार घण्टे पश्चात् तक रोगी को कोई भोजन न देना चाहिए। उसके पश्चात् चाय इत्यादि वस्तु दी जा सकती है।

मूर्च्छा में निम्न-लिखित मुख्य उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं जिनका तुरन्त ही उपचार करना चाहिए। कभी-कभी उनसे मृत्यु तक हो जाती है।

(१) श्वासावरोध—जिह्वा के पीछे की ओर गिर कर श्वास-मार्ग को बन्द कर देने से उत्पन्न होता है। कभी-कभी वमन द्वारा निकले हुए पदार्थ श्वास-मार्ग में पहुँच जाते हैं जिससे वायु के भीतर जाने का मार्ग बन्द हो जाता है। इसलिए प्रारम्भ ही से रोगी के मुख को एक ओर को मोड़ देना चाहिए और साथ में अँगुली पर वस्त्र को लपेटकर मुह में डाल कर उसे साफ़ कर देना चाहिए। साथ में अधोहन्वस्थि को आगे की ओर खींचकर रखना चाहिए। यदि मुख को इस प्रकार रखने पर भी अवरोध होने लगे तो ओषधि सुँघाना तुरन्त बन्द कर देना चाहिए और मुँह को खोलकर जीभ को आगे की ओर खींच लेना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो इसके लिये संदंश का प्रयोग किया जा सकता है। साथ में जीभ के पीछे की ओर अँगुली डालकर उसको नीचे की ओर दाब देना चाहिए। यदि श्वास फिर भी बन्द ही रहे तो कृत्रिम-श्वास क्रिया करनी चाहिए।

श्वासावरोध से मृत्यु कभी नहीं होनी चाहिए। उससे केवल मूर्च्छक की असावधानी और अयोग्यता प्रकट होती है।

(२) क्लोरोफ़ार्म की अधिक मात्रा से कभी-कभी रोगी का श्वास एकदम बन्द हो जाता है। ईथर में भी ऐसी घटना देखी गई है। श्वास बन्द होने के पश्चात् भी नाड़ी कुछ मिनट तक चलती रहती है। यदि ऐसा हो तो औषधि को बिलकुल बन्द करके कृत्रिम श्वास-क्रिया तुरन्त आरम्भ कर देनी चाहिए। जिह्वा को आगे की ओर खींच लेना चाहिए और गले को अँगुली डालकर साफ़ कर देना चाहिए। वक्ष को वस्त्र-रहित करके उस पर तौलिये को बार-बार मारना चाहिए। स्ट्रिकनीन का इंजेक्शन और विद्युत् का प्रयोग भी करना चाहिए। कम से कम आध घण्टे तक यह प्रयत्न जारी रखना चाहिए।

(३) हृदय की अवसन्नता—उन लोगों में अधिक होती है जिनके हृदय की पेशियाँ कमज़ोर होती हैं अथवा उनमें वसा बहुत होती है। यह लोग क्लोरोफ़ार्म को भली भाँति सहन नहीं कर सकते। क्लोरोफ़ार्म के अधिक पहुँचने से हृदय अवसन्न हो जाता है। इसकी भी चिकित्सा पहली दशाओं ही की भाँति की जाती है।

कृत्रिम श्वास-क्रिया—श्वासावरोध से फुस्फुस में आक्सिजन पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँचती और न वहाँ की कार्बन-डाइ-आक्साइड ही बाहर निकल पाती है। इस कारण शरीर के तन्तुओं को काफ़ी आक्सिजन नहीं मिलती, जिससे उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है और मृत्यु के लक्षण उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क या नाड़ी-मण्डल पर, जिसका तन्तु बहुत कोमल है, सबसे बुरा प्रभाव पड़ता है।

ऐसी दशा में कृत्रिम श्वास-क्रिया द्वारा फुस्फुस के भीतर अधिक वायु पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है।

शेकर की विधि—रोगी को पृथ्वी पर उसका मुँह नीचे करके लिटा दिया जाता है और शस्त्रकर्म-कर्ता उसकी पीठ पर जमीन में घुटने टेक कर इस भाँति सवार होता है जैसे घोड़े पर चढ़ा जाता है, किन्तु वह वास्तव में रोगी के शरीर पर बैठता नहीं है।

इसके पश्चात् अपने दोनों हाथों [illegible] नीचे के भाग के दोनों ओर रखता है और आगे को झुककर अपने शरीर के भार को हाथों पर डालकर रोगी के वक्ष को खूब दबाता है जिससे फुस्फुस संकुचित होते हैं। तत्पश्चात् वह अपने शरीर को फिर पीछे की ओर पूर्व स्थिति में लौटा लाता है जिससे वक्ष पर का दबाव हट जाता है और संकुचित फुस्फुस फैलते हैं जिससे बाहर से वायु भीतर को खिंचती है।

सिल्वेस्टर की विधि—रोगी को मेज़ या तख्त पर पीठ के बल लिटा दिया जाता है। उसके शिर को तनिक ऊँचा उठा दिया जाता है और जिह्वा को आगे की ओर खींच लिया जाता है। यह एक मुख्य बात है जिसको कभी भी न भूलना चाहिए। जिस प्रकार हो तागे से, संदंश के द्वारा अथवा किसी प्रकार से जिह्वा को आगे की ओर खींच लेना चाहिए। यह कर्म एक सहायक करता है। उसके पश्चात् चिकित्सक सिरहाने की ओर खड़ा होकर कुहनी से रोगी की दोनों बाहुओं को पकड़ कर उसके वक्ष के दोनों ओर रख कर अपने पूरे बल से दाबता है जिससे वक्ष दबता है, और भीतर की वायु बाहर निकलती है। तत्पश्चात् चिकित्सक बाहुओं को वहाँ से बलपूर्वक रोगी के शिर के ऊपर की

ओर ले जाता है। इससे वक्ष चौड़ा होता है और फुस्फुस फैलते हैं जिससे वायु भीतर प्रवेश करती है।

इन विधियों के द्वारा वक्ष का सङ्कोच और प्रसार किया जाता है। यह क्रिया एक मिनट में १५ बार से अधिक नहीं करनी चाहिए और कम से कम आध घण्टे तक जारी रखनी चाहिए।

जल में डूबने पर भी इस प्रकार श्वास का सञ्चार किया जाता है। रोगी को [illegible] इत्यादि अन्य उत्तेजक वस्तुएँ भी दी जाती हैं।

Ayurvedacharya

Dr. Krishna Kumar Awasthi

B.I.M.S.

Physician & Surgeon